प्रकाशक
आचार्य श्री आत्माराम जैन
प्रकाशन समिति, लुधियाना।

मुद्रक
रमेशचन्द्र शर्मा
शर्मा ब्रादर्स इलक्ट्रोमटिक प्रेस
अलवर (राजस्थान)।

श्री उपासकदशाङ्गसूत्र संकेतिका

पृष्ठ संख्या

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रात स्मरणीय जनधर्मदिवाकर, जनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न जनाचार्य श्रद्धेय श्री १००८ श्री आत्मारामजी महाराज से जन समाज का ऐसा विरला ही व्यक्ति होगा जो परिचित न हो। पूज्य आचार्य श्री जी ने अपने जीवन काल म जन धर्मविषयक अनेका ग्रन्था की रचना करके समाज मे अज्ञान अन्धकार को दूर करने का स्तुत्य प्रयास किया। इतना ही नही जनेतर जनता का भी जन धर्म तथा सिद्धान्ता से परिचित कराने के लिए अथक परिश्रम से जनागमा की सरल और सुबोध शली से व्याख्याएँ की और जन शासन का सम्मान बढाया। जन समाज उनकी ज्ञान गरिमा से अपने आपको गौरवान्वित समझता है।

जिन जनागमा की सविस्तर टीकाएँ लिखी हैं, उनका स्वाध्याय करके मुमुक्षुजन अपने को कृतकृत्य मानते हैं। श्री आचाराङ्गसूत्र जसे आगम की भाषा विवेचना अभी अभी आचार्य श्री आत्माराम जन प्रकाशन समिति' की ओर से प्रकाशित हुई है। यह प्रथम अवसर है जबकि इस सूत्र की सम्पूर्ण रूप से विशद व्याख्या प्रकाशित हुई है।

हम अपने प्रमी पाठका के कर कमलो म आचार्यवर्य द्वारा अनुवादित श्रीउपासक दशाङ्गसूत्र का समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। वैसे तो समस्त श्रुतागम आत्मोत्थान का परम श्रेयस्कर साधन है फिर भी प्रस्तुत सूत्र गृहस्थवर्ग के लिए परमोपयोगी है। यदि आज जनता सूत्रोक्त नियमो का अनुकरण करे तो इससे समाज और देश का नतिक तथा चारित्रिक उत्थान हो कर सभी प्रकार की उपस्थित विषम समस्याएं स्वय विलय हो सकती हैं।

हम प्रस्तुत सूत्र का किन्ही विशेष कारणो से प्रकाशन म विलम्ब के लिए पाठका से क्षमा चाहते हैं। प्रकाशन समिति ने शीघ्रातिशीघ्र अन्य सूत्रो के प्रकाशन करने का दृढ सकल्प किया हुआ है। शास्त्रो के प्रकाशन के लिए ६२५) रु० से कोई भी व्यक्ति स्थायी सदस्य बन सकता है। इसके विक्रय से अन्य सूत्र, ग्रन्थ प्रकाशित होते रहेंगे। अन्त मे समिति उन महानुभावो का हार्दिक धन्यवाद करती हैं जिन्होने किसी भी रूप म उक्त शास्त्र के प्रकाशन मे सहायता की है। साथ ही शर्मा प्रेस अलवर के अध्यक्ष तथा उनके कर्मचारियो का भी धन्यवाद करते हैं जिनके सतत प्रयास से सूत्र शीघ्र तथा सुन्दर रूप मे प्रकाशित हो सका है। शास्त्रमाला के सदस्यो की सूची साथ ही दी जा रही है।

निवेदक—पन्नालाल जन,

मन्त्री श्री आचार्य आत्माराम जन प्रकाशन समिति

लुधियाना।

सदस्य-सूची

क्रम	नाम	स्थान
१	श्री सन्तलालजी जैन	लुधियाना
२	श्री सोहनलालजी जैन	,,
३	श्री बख्शीराम चमनलाल जैन	,,
४	श्री नन्दलालजी जैन	,,
५	श्री हुकमचन्दजी जैन	,,
६	श्री सावनमलजी जैन नाहर	,,
७	श्री हंसराजजी जैन	,,
८	श्री मुन्शीरामजी जैन	,,
९	श्री बालकरामजी जैन	,,
१०	श्री प्यारेलालजी जैन	,,
११	श्री बाँकेरायजी जैन	,,
१२	श्री हरिरामजी थापर	,,
१३	श्रीमती भाग्यवती जैन	,,
१४	बहिन देवकीदेवी जैन	,,
१५	श्री तेलूरामजी जैन	,,
१६	श्री अमरनाथजी जैन	,,
१७	श्री ज्ञानचन्दजी जैन	,,
१८	श्री कुलयशरायजी जैन	,,
१९	बहिन शीलादेवी जैन	,,
२०	श्री दौलतरामजी जैन	समराला
२१.	श्री सत्यप्रकाशजी जैन	फगवाडा
२२	श्री बनारसीदास जैन	कपूरथला
२३	श्रीमती द्रौपदीदेवी जैन	,,
२४	श्री चुन्नीलालजी जैन	,,
२५	श्री धनीरामजी जैन	सुलतानपुर
२६	श्री देशराजजी जैन	,,
२७	श्री धूमीरामजी जैन	जालन्धर छा०
२८	श्री तेलूरामजी जैन	,, ,,
२९	श्री सन्तरामजी जैन	अमृतसर
३०	श्री वैष्णवदासजी जैन	,,
३१	श्री गोपीरामजी जैन	होशियारपुर
३२	श्री हंसराजजी जैन	,,
३३	श्री शालिगरामजी जैन	जम्मू
३४	श्रीमती उत्तमीदेवी जैन	,,
३५	बहिन सावित्रीदेवी जैन	जीरा
३६	श्री मुनशीरामजी जैन	फरीदकोट
३७	श्रीमती हुकमीदेवी जैन	,,
३८	श्रीमती विष्णदेवी जैन	जेतो मंडी
३९	श्री कुन्दनलालजी जैन	रामाँ मंडी
४०	श्री मंगलसैन रोशनलाल जैन	भटिण्डा
४१	श्री रामजीदास जैन	मालेरकोटला
४२	श्री अच्छरुमलजी जैन	पटियाला
४३	श्री बरखारामजी जैन	,,
४४	श्री चरणदासजी जैन	चंडीगढ
४५	श्री हरिरामजी जैन	घनौर
४६	श्री मोहनलालजी जैन	बनूड
४७	श्री अमृतसरियामल जैन	सामाना
४८	श्री किशोरचन्दजी जैन	मानसा
४९	श्री शिवजीरामजी जैन	,,
५०	श्री भानचन्दजी जैन	,,
५१	श्री अमोलकसिंह जैन	हाँसी
५२	श्री शिवप्रसादजी जैन	अम्बाला

५३	श्री मन्नान्चीरामजी जैन	देहली	६४	श्री आत्मारामजी जैन	
५४	श्री लद्दूशाहजी जैन		६५	श्री परमानन्दजी जैन	
५५	श्री मुनिलालजी जैन	,	६६	श्री राधीशाहजी जैन	
५६	श्री मितायतीरामजी जैन न्यू० देहली		६७	श्री तजेशाहजी जैन	
५७	श्री कुन्जलालजी जैन	देहली	६८	श्री चूनीशाहजी जैन	
५८	श्री खूबचन्दजी जैन	,,	६९	श्री राधूशाहजी जैन	
५९	श्री अमरनाथजी जैन		७०	श्री नत्थूशाहजी जैन	
६०	श्री मानारामजी जौहरी		७१	श्री जयदयालशाहजी जैन	
६१	श्रीमती वसन्तबाई जैन		७२	श्रीमती मलावीदेवी जैन	
६२	श्रीमती चन्द्रप्रभजैन		७३	श्रीमती खेमीबाई जैन	बम्बई
६३	बहिन महेन्द्रकुमारी	गुडगाँव	७४	श्रीमती अनारबाई लोहामंडी आ०	

नोट—पाँच सौभाग्यवती बहिनों ने गुप्त रूप से सदस्यता स्वीकार करके अनुकरणीय और प्रशस्य आगम सेवा की है। समिति उनका सहर्ष धन्यवाद करती है।

उपरोक्त सदस्यों के फोटो पूर्व प्रकाशित सूत्रों में छप चुके हैं। बहुत से सदस्यों के फोटो मांगने पर नहीं मिल पाए। और कई सदस्यों ने अपने फोटो प्रकाशित नहीं कराए। भविष्य में चित्र छापने का विचार नहीं है क्योंकि बार बार चित्र देने से कागज और धन का सदुपयोग नहीं होता। यदि सदस्य चाहेंगे तो पुनः इस विषय में विचार किया जा सकता है। शास्त्रमाला को व्यवस्थित और सुन्दर बनाने के लिए सदस्य अपने सुझाव दे सकते हैं।

—प्रकाशन समिति।

प्रशस्तिः

जिनेशं श्रीवीरं कृतशबलशोभं चरणयोः, विचित्रज्योतिर्भि विविधमणिरागै सुरुचिभिः ।
स्पृहावद्भिः स्प्रष्टुञ्चरणकमले मौलिलग्नैः, मणीनां रोचिर्भिः सुरनृपकिरीटैः समणिभिः ।।
भजन्नेको युक्तोऽखिल गृहिगुणैर्धर्मसहितैः, शुचि सुव्यापारे यतिचरणसेवी सुकुलवान् ।
अवात्सीत् सिंहान्तोऽमर इति सुनामामृतसरे, महार्घद्रव्याणां पणनधृतबुद्धिर्गृहपतिः ।।
अथैकस्मिन्काले प्रवचनमतेदत्तमतिना, इदं तेन ध्यातं विरतरतिना लोकगतिषु ।
प्रवृत्तिः संसारे सुखशतहृतौ हेतुरुदिता, निवृत्तिस्तस्माद्वै शमसुखकरी तेन गदिता ।।
सपर्या सद्योगै सयमसुधियां क्षेमकरणी, तपश्चर्या घोरा सकलभवकर्मापहरणी ।
श्रुतस्याभ्यासेश विपुलमतिशोभं शुभकर–मधीता या विद्या स्मरणचरणे सा तु सुफला ।।
भविष्यामि त्यागी गुरुचरणवर्त्ती यतिरहम्, रतोज्ञाने ध्याने विजितविषयः शान्तमदनः ।
निमग्न सेवायां सुविपुलतपोलग्नवपुषा, स्वधीष्ये शास्त्राणि स्मृति-धृतिनिदिध्यासकरणैः ।।
गृहित्वा प्रव्रज्यां समधिगतगुप्तिः सुसमितिः, मुनि सञ्जात स स्थविरमुनिषु प्रौढमतिलः ।
प्रवृत्त शास्त्राणं पठनमनने धैर्य-चरणः, सुसेवी पादाना गुरुचरणवर्ती विमलधीः ।।
समुद्र शास्त्राणां स्थिरमनतिकालेन कृतवान्, तत. स्वेसिद्धान्ते विपुलगहने धीरगतिमान् ।
अवाप्तं नैपुण्य परसमयशास्त्रेष्वपिपरम्, व्युपेत संपद्भि श्रमणगणशास्तुः सुवदनः ।।
दधानश्चातुर्य प्रवचन-कथायां बहुमतः, सुशिष्यैर्धीमद्भि परिवृतशरीरो विचरति ।
गुणैस्तैराकृष्टैर्मुनिगृहिभिरादेयवचनः, मिलित्वा सर्वैस्तैर्मुनिगणविधीश प्रकटित. ।।
प्रभुञ्जैनाचार्य मुनिममरसिंहाख्यमतुल, स्वशास्तारं लब्ध्वा यतिगृहिगणा मोदमगमन् ।
चिरं शास्ता संघं जिनवचनवृत्ति सुचरितं, स्वधर्मे शैथिल्य सुयतिगृहिणां दूरमकरोत् ।।
प्रदेशे पञ्जाबे परिविहरमाणेन गणिना, चिराख्यं मिथ्यात्वं परिहृतमशेष कुमतिजम् ।
प्रचार्यैवं धर्म परम-पददं जैनमभितः, प्रसार्येव सङ्घाञ्जगति महती ख्यातिमगमत् ।।

श्रीरामवक्षं निजशिष्यवर्य, नियुक्तवान् स्वीयपदेऽन्तकाले ।
प्रदाय चाचार्यपदं, सुरक्षाभरान्वित प्रापमुदं सुतोषः ।।
सङ्घाग्रणीर्वररुचिवरधीर्मुनीश , रक्षापरः सततसंघशुभानुदर्शी ।
विद्वत्प्रकाण्डमुचितेन परिश्रमेण, स्वग्रे नयन्मुनिगणं त्रिदिवंगत सः ।।

अतो मोतीराम निजगणगणेशं विहितवान्, वराचार्यः सत्सु प्रयुतगणिसम्पत्तिरमद. ।
मनोज रूपेण प्रगुरुममराणां मतिधनै—रध कुर्वन्नासीन्मुनिगणसुरक्षा सततधीः ।।

अवच्छेदात्पूर्वं गण इति क इत्यन्तिमपद, यदास्यात्सम्मेल सुवरपदवीभूषणमणि ।
गुणी वीरो धीरो मुनिपतिसुशिष्यो घनयम, सुधी शा तोदा तो गणपति सुनामामुनिवर ।।
सुशिष्य तस्यापि शुभद जयरामाख्यमनघ, विदुर्लाकाधीर यमिवरमदोष गुणगृहम ।
तदीयान्तेवासो वरगुणगणालङ्कृतशम, मुनिश्शालिग्राम सुगुरुरुचिसङ्केतनिपुण ।।
सुनाम्नात्मारामं नमगतसुशिष्यो वरगुरो—र्वतीह्याबालाद्य समुपचितनेजा वरयमी ।
सुगीतो विद्वद्भि परिविदितशास्त्रस्ततमति, कुले जात क्षात्रे परमकुलदीपो दिनमणि ।।
माता शीलवती पतिव्रतपरा सेवारता प्रेमभाक्, नाम्नासावपरमेश्वरी पतिकुल वर्द्धि नय ती मुदा
पुण्य सूनुमिम सुलक्षणयुत तेजस्विन सुन्दरम, साद्ध प्रादुरभावयत्सुयसा पुञ्जीकृतश्रयसम ।।
वरेण्यस्तेजस्वी सुधनि मनसारामतनुज, सुका त सौम्याभो लघुवयसि सम्प्राप्तविरति ।
प्रशस्त कोशज्ञ तविविधशब्दो निजमतौ, पुरीं गाहों नाम्नीमवतरणपूता विहितवान ।।
सदाभ्यासे लग्नो मननरुचिरासीदविवर सुपाठाच्छास्त्राणामचिरपठिता कण्ठमकरोत ।
अखिल कालज्ञो पवनगतिराप्त समयवित, परेषा शास्त्राणि स्मृतिपथमशेषा यगमयत ।।
महा तोनतार परमवुलविद्वासमविदु, महात्मा वीरात्मा प्रकृतिसरल पूजितपद ।
सदा भक्तौ लीन परिविजितकामो वरधति, मनीषी विख्यात समलभत कीर्ति सुकृतिकृत ।।

पुरातनी भारतराजधानी दिल्लीतिनाम्ना प्रथिता पृथिव्याम ।
निवासिन श्रावकभावुकाजना, रताजिनेशस्य पदाञ्जभक्तौ ।।

एष वाग्मी तथा सम्यक पण्डित सवपूजित, तपस्वी मोहतमसश्छेत्ताय मुनिसत्तम ।
सूयवज्जनसूत्राणा सम्यगथप्रकाशक इति ज्ञात्वा जन प्रोक्तो जन धर्मदिवाकर ।।
उपाध्याय पूर्व चिरमभवदध्यापितमुनि, मुनीनामाचायस्तदनु यमिभिर्निश्चितकृत ।
सुवेत्ता तत्त्वाना गणिगणसुसम्मानितपद, प्रधानाचायश्च श्रमणगणशास्तातदनु च ।।
श्रद्धावन्तो विपुलधनिनो यूथश्रद्धा गहस्था, रूप कान्त रुचिरममल भातिरस्कुर्वदकम ।
दृष्टवा पुण्य मुदितमनसो वदमाना विनीता, शान्तेर्लाभ स्तुतिपठनज प्राप्नुर्वा तरम कामम ।।
एषा व्याख्या सरलसुगमा बोधयन्ती पदार्थान, साद्योपा ता सुविवृतियुता मोदहेतु सुवर्णा ।
प्राचार्यैर्वे रुचिरलिखिता तेन धीरात्मना सा मिथ्यात्वान्ध निखिलमपहतु समर्था सुकल्पा ।।
लभन्ता कल्याण भवजलधिपार जनगणा अह वन्दे भूयश्चरणयुगल पद्मरुचिरम ।
तपस्वी पुण्यात्मा सुविमलयशस्वी भहगणी, मनस्वी योगीश क्रियतु सतत मङ्गलमहो ।।

प्रशस्यो यशस्वी तपस्वी मनोषी, समस्तागमाना पर पारदश्वा ।
जनाना शुभस्योपदेष्टा मुनिर्या, सदा त गुरु श्रीसमेत नमामि ।।

आचार्यचरणकमलचञ्चरीक —
प्रशिष्यो मुनिविक्रम.

प्रस्तावना

[लेखक—डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री]

प्राक्कथन

किसी ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखते समय हमारे सामने उसके दो रूप आते हैं—(१) बहिरङ्ग और (२) अन्तरङ्ग। बहिरङ्ग रूप का अर्थ है उस ग्रन्थ के रचना काल, कर्त्ता भाषा एवं बाह्य आकार से सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातों का निरूपण। उपासकदशाङ्ग सूत्र सातवां अङ्ग है और सभी अङ्ग सुधर्मा स्वामी की रचना माने जाते हैं। उनका निरूपण प्रस्तावना के पहले खण्ड में किया जायेगा।

ग्रन्थ का दूसरा रूप अन्तरङ्ग है। इसका अर्थ है उसमें प्रतिपादित विषयों का निरूपण। उपासकदशाङ्ग में दस आदर्श गृहस्थों का वर्णन है जिन्हें श्रावक कहा जाता है। जैन धर्म में श्रावक का पद जीवन की उस भूमिका को प्रकट करता है जहां त्याग और भोग स्वार्थ और परमार्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है अतः समाज रचना की दृष्टि से इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

उपासकदशाङ्ग में ई० पू० ६०० का सांस्कृतिक चित्र है। आनन्द का जीवन तत्कालीन वाणिज्य व्यवसाय पर प्रकाश डालता है। राजा ईश्वर तल्वर आदि नाम राज्याधिकारियों के परिचायक हैं। गोशालक का निर्देश धार्मिक स्थिति की ओर संकेत करता है। चम्पा राजगृह आदि नगरियों तथा राजाओं के नाम मगध तथा आस पास के जनपदों का भौगोलिक परिचय देते हैं। इन सबका निरूपण विविध परिशिष्टों में किया गया है।

प्रथम खण्ड

आगमो का संक्षिप्त परिचय

आदिकाल

महावीर से पहले का साहित्य—

जैन-साहित्य का प्राचीनतम रूप चौदह पूर्व माने जाते हैं। उनका परिचय आगे दिया जाएगा। यद्यपि इस समय कोई पूर्व उपलब्ध नही है, फिर भी उस साहित्य मे से उद्धृत या उस आधार पर रचे गए ग्रन्थ विपुल मात्रा मे आज भी विद्यमान हैं।

पूर्वो की रचना का काल निश्चित रूप से नही बताया जा सकता। 'पूर्व' शब्द इस बात को सूचित करता है कि वे भगवान महावीर से पहले विद्यमान थे।

भगवती सूत्र में जहाँ भगवान की परम्परा के साधुओ का वर्णन आता है, वहाँ उनके ग्यारह एव बारह अङ्ग पढने का उल्लेख है और जहाँ उनसे पूर्ववर्ती परम्परा वाले साधुओ का वर्णन आता है वहाँ ग्यारह अङ्ग तथा पूर्वो के अध्ययन का निर्देश है। जिनभद्र ने तो यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि साधारण बुद्धि के लोगो के लिए चौदह पूर्वो मे से निकाल कर अङ्गो की रचना की गई। इन सब प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर से पहले का श्रुत-साहित्य ग्यारह अङ्ग तथा पूर्वो के रूप मे था। महावीर के पश्चात् कुछ समय तक बारह अङ्ग और चौदह पूर्व दोनो प्रकार का साहित्य चलता रहा। क्रमश पूर्व साहित्य लुप्त हो गया और अङ्ग-साहित्य पठन-पाठन मे चलता रहा। भगवान पार्श्वनाथ ईसा से ८५० वर्ष पहले हुए। उनमे यदि ईसा के बाद की बीस शताब्दियाँ मिला दी जाएँ, तो कहा जा सकता है कि लगभग ३००० वर्ष पहले जैन परम्परा मे पूर्व नाम का विपुल साहित्य विद्यमान था। उसका आदिकाल इतिहास की पहुँच से पहले का है। उसका माप वर्षो की सख्या द्वारा नही, किन्तु कालचक्र के युगो द्वारा ही किया जा सकता है।

भगवान महावीर के बाद का श्रुत-साहित्य अङ्ग, उपाग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक आदि मे विभक्त है। उसकी सख्या के विषय मे विभिन्न परम्पराएँ हैं,

जिनका परिचय आगे दिया जाएगा। उससे पहले यह जानने की आवश्यकता है कि जैन परम्परा मे शास्त्रीय ज्ञान का क्या स्थान है ?

जैन दर्शन मे ज्ञान के पाँच भेद किए गए हैं। शास्त्र या व्यक्ति द्वारा सीखी गई बातो को दूसरे भेद मे गिना गया है। इसका शास्त्रीय नाम है श्रुतज्ञान। इसका अर्थ है, सुना हुआ ज्ञान। ब्राह्मण परम्परा मे जो महत्व श्रुति या वेद का है जैन परम्परा मे वही महत्व श्रुतज्ञान को दिया गया है। किन्तु दोनो के दृष्टिकोण मे भेद है।

मीमासादर्शन वेद को अनादि मानता है। उसका कहना है कि वेद किसी का बनाया हुआ नही है। वह गुरु और शिष्य की परम्परा मे अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। उसकी परम्परा न कभी प्रारम्भ हुई और न कभी समाप्त होगी।

अन्य वैदिक दर्शन वेद को अनादि नही मानते। वे उसे ईश्वर की रचना मानते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे ईश्वर ऋषियो को वेदो का सन्देश देता है। तत्पश्चात ऋषि उनका प्रचार करते हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ मे इसी प्रकार वेद रचे जाते हैं।

जैन धर्म अपने आगमो को न अनादि मानता है और न ईश्वर की रचना। वह उन्हे ज्ञानी तथा चारित्र सम्पन्न महापुरुषो की रचना मानता है। तीर्थंकर उनका आशय अपने व्याख्यानो मे प्रकट करते हैं। शाब्दिक रचना गणधर करते हैं। वैदिक दर्शन वेदो की रचना के साथ जिस आधिदैविक तत्त्व को जोडते हैं जैन दर्शन उसे नही मानता। वैदिक दर्शन परम्परा को इतना ऊँचा स्थान देते हैं कि वह मानव बुद्धि के लिए अगम्य हो जाती है। जैन दर्शन परम्परा को मानव बुद्धि की देन मानता है।

वैदिक परम्परा के अनुसार वेदो मे परिवर्तन करने का अधिकार किसी को नही है। किन्तु जैन परम्परा मे मानव का अधिकार छीना नही गया है। भगवान पार्श्वनाथ के समय आगमिक साहित्य चौदह पूर्वो मे विभक्त था। भगवान महावीर के समय उसे अङ्ग और उपागो मे बाटा गया। पार्श्वनाथ का चतुर्याम धर्म था, महावीर ने पचयाम की स्थापना की। वस्त्र, प्रतिक्रमण तथा कई दूसरे विषयो मे सशोधन किया गया। उत्तराध्ययन के केशी गौतम सवाद मे उन बातो का वर्णन

मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि जैन आगमो मे अपरिवर्तनीयता की कोई भावना नही रही। इतना ही नही, जीतकल्प के नाम से भिन्न-भिन्न समय मे आचार्यो द्वारा वनाई गई मर्यादाओ को भी आगामो मे स्थान मिलता रहा।

श्रुतज्ञान के विषय मे दूसरा प्रश्न है उसके प्रामाण्य का। मीमासा व वेदान्त-दर्शन वेद को स्वत प्रमाण मानते हैं। उनमे कही हुई वाते इसलिए प्रमाण नही हैं कि उनका कहने वाला कोई निर्दोष विद्वान है वलिक इसलिए प्रमाण है कि वे वेद की वाते हैं। जैन दर्शन भी आगमो को प्रमाण मानता है, किन्तु वह इसलिए कि उनका कहने वाला निर्दोप है। वह जैसा जानता है वैसा कहता है। साथ ही उसका ज्ञान भी ठीक है, क्योकि अभी तक उसकी कोई वात झूठी नही उतरी। इस प्रकार जैनदर्शन और वैदिकदर्शनो के दृष्टिकोण में मौलिक भेद है। दोनो परम्परा का सम्मान करते हैं, किन्तु एक उसे सर्वोपरि सत्य मानता है और दूसरा उसे विशिष्ट ज्ञानी का अनुभव बताता है। दोनो के अनुसार उसमे अक्षर या मात्रा का भी परिवर्तन नही हो सकता। यहाँ तक कि उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरो मे भी परिवर्तन करने पर पाप माना गया है।

जैन दर्शन मे एक और विशेषता है। वहाँ अर्धमागधी भापा मे लिखे गए मूल ग्रन्थो को ही आगम नही माना गया, मूल के साथ अर्थ को भी आगम माना गया है। आचाराग आदि आगमो के अनुवाद भी आगम ही हैं। प्रतिक्रमण मे, जहाँ ज्ञान सम्वन्धी अतिचारो की चर्चा है, तीन प्रकार का आगम वताया गया है—सूत्रागम, अर्थागम तथा तदुभयागम।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि जैन आगमो मे परिवर्तन की गु जाइश है तो "हीणक्खर, अच्चक्खर, पयहीण, विणयहीण, जोगहीण, घोसहीण" आदि मे अक्षरो की न्यूनाधिकता तथा घोष परिवर्तन को दोप क्यो माना गया? इसका उत्तर स्पप्ट है परिवर्तन की योग्यता होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को विना जाने बूझे यह अधिकार नही है। शुद्ध उच्चारण न करना या विना समझे बूझे मूल या अर्थ मे परिवर्तन कर देना तो दोप ही है। साधारण वातचीत मे भी उच्चारण, प्रासगिकता, दवाव आदि का ध्यान रखा जाता है। इसकी उपेक्षा करने पर वाणी का प्रभाव कम हो जाता है। इसी दृष्टि से यदि आगमो मे भी इन वातो को दोप वताया

गया है तो यह उचित ही है। विचारों का परिमार्जन और भाषा का सौष्ठव तो प्रत्येक बात के लिए आवश्यक है।

श्रुतज्ञान का व्यापक अर्थ है साहित्य। वैदिक परम्परा में वेदों को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विविध प्रयत्न किए गए। पदपाठ घनपाठ जटापाठ आदि के द्वारा वेदों के पाठ तथा उच्चारण को अब तक जो अक्षुण्ण रखा गया है वह एक महान आश्चर्य है। हजारों वर्षों से चली आ रही चीज को इस प्रकार स्थिर रखने का उदाहरण संसार में दूसरी जगह नहीं मिलता। किन्तु जैन परम्परा ने इस विषय में जिस विशाल हृदयता का परिचय दिया है वह वैदिक परम्परा में नहीं है। अध्ययन की दृष्टि से देखा जाए तो जैन आचार्यों ने वैदिकदर्शन तथा अन्य साहित्य में जो रुचि दिखाई है वह तो वैदिक परम्परा में नहीं दिखाई देती। जब हम शंकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र सरीखे विद्वानों द्वारा किए गए जैनदर्शन के खण्डन को देखते हैं तो हँसी आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जैनदर्शन का कोई ग्रन्थ उठाकर देखने का प्रयत्न ही नहीं किया। कुछ जैन आचार्यों ने भी वैदिकदर्शनों को बिना समझे ही उसका खण्डन कर दिया है, किन्तु सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक विद्यानन्द वादिदेवसूरि हेमचन्द्र तथा यशोविजय उपाध्याय आदि अनेक विद्वान ऐसे हैं जिनके विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। उन्होंने वैदिक-दर्शनों का विधिपूर्वक पढ़ा है और पूर्वपक्ष के रूप में अच्छी तरह लिखा है। वैदिकदर्शनों में ऐसा एक भी आचार्य नहीं मिलता। ब्राह्मण पण्डितों में अब भी यह धारणा बद्धमूल है कि नास्तिक ग्रन्थों को नहीं पढ़ना चाहिए।

जैन परम्परा में दूसरी बात ग्रन्थ भण्डारों की है। जैसलमेर पाटण आदि के ग्रन्थ भण्डार भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। वहाँ केवल जैन ही नहीं, बौद्ध तथा वैदिक ग्रन्थों का भी इतना अच्छा संग्रह मिला है जिनके आधार पर ही उन ग्रन्थों का सम्पादन किया जा सका है। वैदिक परम्परा में इस प्रकार के भण्डार सुनने में नहीं आए। कुछ भण्डार राज्याश्रित हैं किन्तु उनमें भी प्राचीन साहित्य कम है और मध्यकालीन अधिक।

जैन भण्डार और साहित्य ने भारतीय इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया है। विण्टरनिज के शब्दों में वहाँ उन्हें इतिहास की प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हुई है।

किन्तु उन के संरक्षको द्वारा ग्रन्थ सरक्षण की यह परम्परा आगे जाकर ग्रन्थगोपन के रूप मे परिणत हो गई। ग्रन्थो का पठन-पाठन कम हो गया और उन्हे छिपा कर रखा जाने लगा। उन्हे अपरिचित व्यक्ति को दिखाते हुए भी सकोच होने लगा। सम्भव है मुस्लिम शासन मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई हो, जिससे वाध्य हो कर ऐसा करना पडा।

किन्तु यह प्रवृत्ति अग्रेजो के शासन मे भी चलती रही। परिणामस्वरूप जैन-ग्रन्थो का प्रचार वहुत कम हो पाया।

पूर्वो का परिचय

महावीर के वाद का आगम-साहित्य अङ्गप्रविष्ट तथा अनगप्रविष्ट के रूप में विभक्त हुआ। अङ्गो मे बारहवाँ दृष्टिवाद है। उसके विविध अध्यायो मे १४ पूर्व भी आ जाते हैं। इस प्रकार एक ओर अङ्ग साहित्य की उत्पत्ति पूर्वो से बताई जाती है, दूसरी ओर वारहवे अङ्ग मे सभी पूर्वो का समावेश किया जाता है। इस विरोधाभास का निराकरण इस प्रकार होता है—भगवान महावीर के बाद पूर्वो के आधार पर अङ्गो की रचना हुई। किन्तु पार्श्वनाथ के साधुओ मे पूर्वो की परम्परा लुप्त हो गई थी, सिर्फ ११ अङ्ग सूत्र ही रह गए थे, जब वे महावीर के शासन मे सम्मिलित हो गए तो उनके साहित्य को भी अङ्गो मे सम्मिलित कर लिया गया।

यहाँ एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि चौदह पूर्वो के ज्ञाता को श्रुत केवली कहा गया है। अर्थात् चौदह पूर्व जान लेने के बाद शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण हो जाता है। फिर अन्य अङ्ग साहित्य को पढने की आवश्यकता नही रहती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ११ अङ्गो मे प्रतिपादित ज्ञान पूर्वो से ही शव्दत या अर्थत उद्धृत किया गया।

शीलाकाचार्य ने आचाराग की टीका मे पूर्वो को सिद्धसेन कृत सन्मति तर्क के समान द्रव्यानुयोग मे गिना है। इसका अर्थ यह है कि पूर्वो का मुख्य विपय जैन मान्यताओ का दार्शनिक पद्धत्ति से प्रतिपादन रहा होगा। प्रत्येक पूर्व के अन्त मे प्रवाद शव्द और उनका दृष्टिवाद मे समावेश भी इसी वात को प्रकट करता है। पूर्वो के परिमाण के विषय मे पौराणिक मान्यता है कि अम्वारी सहित खड़े हाथी

का ढकने मे जितनी स्याही लगती है उतनी स्याही से एक पूर्व लिखा जायेगा। इसम भी यही निष्कप निकलता है कि शास्त्रार्थ म जिन युक्तियो का प्रयोग किया जाता था उनका परिमाण विशाल था। दृष्टिवाद तथा पूर्वों का सस्कृत भाषा म होना भी इसी बात की पुष्टि करता है कि उनका प्रयोग विद्वत्सभा म होता होगा।

भगवान महावीर को भी कवल्य प्राप्ति के पश्चात कुछ समय तक विद्वानो से शास्त्रार्थ करना पडा। उनकी तत्कालीन वाणी भी पूर्व साहित्य म सम्मिलित करली गई होगी।

किन्तु महावीर को विद्वानो क साथ शास्त्रार्थ की यह प्रणाली पसन्द नही आई, उन्होने इसे व्यर्थ का वाग्जाल समझा। परिणामस्वरूप सर्वसाधारण मे उपदेश देना प्रारम्भ किया और उसके लिए जनता की बोली अर्धमागधी को अपनाया। अब भगवान का उपदेश पडितो को पराजित करने के लिए नही होता था। उनका ध्येय था जन साधारण को धर्म के तत्त्व से अवगत कराना। जैन परम्परा म यह दृष्टिकोण अब तक विद्यमान है। उस समय उन्होने जो उपदेश दिये वे अङ्ग साहित्य मे उपनिबद्ध हुए। उनम दार्शनिक भूमिका होने पर भी शैली पूर्णतया जनपदीय थी। इसलिए जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है कि स्त्री तथा सर्वसाधारण के लिए पूर्वों के आधार पर द्वादशागी की रचना हुई।

अब हम दृष्टिवाद मे पूर्व साहित्य के सन्निविष्ट होने क प्रश्न को लेते हैं। नन्दी सूत्र मे जहा दृष्टिवाद क उपकरणो का उल्लेख है वहा पूर्वगत' शब्द आया है। इसका अर्थ यह है कि दृष्टिवाद का वह प्रकरण पूर्व साहित्य के आधार पर रचा गया या उसका सार रहा होगा। पूर्व म जिन विषयो तथा मत मतान्तरो को लेकर विस्तत चर्चा रही होगी इसम इन्ही का सक्षिप्त परिचय रहा होगा।

अब हमारे सामने प्रश्न आता है पूर्व साहित्य तथा दृष्टिवाद के लोप का। यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर स्वामी के बाद एक हजार वर्ष तक जैन परम्परा का मुख्य लक्ष्य आत्मसाधना चारित्र विकास तथा साधारण जनता मे प्रचार रहा है। मतमतान्तरो के खण्डन मण्डन तथा विद्वानो म प्रयुक्त सस्कृत भाषा की ओर जैन मुनियो ने विशेष ध्यान नही दिया। खडन मडन को कोरा वाग्जाल समझ कर जन मानस तक पहुँचने के लिए स्थानीय बोलियो को अपनाया तत्कालीन

जैन साहित्य मे शास्त्रार्थ पद्धति तथा हेतुविद्या सम्बन्धी उल्लेख आते हैं, इससे यह तो नही कहा जा सकता कि जैन आचार्य उनसे अनभिज्ञ थे, किन्तु उनकी स्वाभाविक रुचि दूसरी ओर थी। अत पूर्वो तथा दृष्टिवाद के अध्ययन अध्यापन का क्रम टूट गया, तथा काल की गति के अनुसार धारणाशक्ति भी धीरे-धीरे क्षीण होती चली गई, जिससे समग्र पूर्व साहित्य और दृष्टिवाद का व्यवच्छेद हो गया। इस बात को प्रमाणित करने के लिए भगवती सूत्र मे आया हुआ भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद पर्याप्त स्पष्टीकरण करता है। गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने स्वय प्रतिपादन किया है कि मेरे प्रवचन सम्बन्धी पूर्वो का ज्ञान एक हजार वर्ष तक विद्यमान रहेगा।

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्पराओ के अनुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी थे। भद्रबाहु का स्वर्गवास वीरनिर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। उन्ही के साथ चतुर्दश पूर्वधर या श्रुतकेवली का लोप हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार यह लोप वीरनिर्वाण के १६२ वर्ष बाद माना जाता है। इस प्रकार दोनो मे ८ वर्ष का अन्तर है।

आचार्य भद्रबाहु के बाद दस पूर्वधरो की परम्परा चली। उसका अन्त आर्यवज्र स्वामी के साथ हुआ। उनकी मृत्यु वीरनिर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात् अर्थात् ११४ वि० मे हुई। दिगम्बर मान्यतानुसार अन्तिम दश पूर्वधर धरसेन हुए और उनकी मृत्यु वीरनर्वाण के २४५ वर्ष पश्चात् हुई। श्रुतकेवली के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओ मे विशेष अन्तर नही है। दोनो की मन्यताओ मे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। उस समय मे भी केवल ८ वर्ष का अन्तर है। इसका अर्थ यह है कि उस समय तक दोनो परम्पराएँ प्राय एक थी। किन्तु दसपूर्वधर के विषय मे नाम का भेद है और समय मे भी २३६ वर्ष का भेद है। दिगम्बर परम्परानुसार भद्रबाहु के बाद दस पूर्वधरो की परम्परा केवल १८३ वर्ष रही। श्वेताम्बरो के अनुसार यह परम्परा ४१४ वर्ष तक चलती रही।

आर्यव्रज के पश्चात् आर्यरक्षित हुए। वे ९ पूर्व सम्पूर्ण और दसवे पूर्व के २४ यविक जानते थे। ज्ञान का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। आर्यरक्षित के शिष्यो मे केवल दुर्बलिका पुष्यमित्र नौ पूर्व सीख सके किन्तु वे भी अनाभ्यास के कारण नवम पूर्व को भूल गए। वीर-निर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् पूर्वो का ज्ञान सर्वथा

लुप्त हो गया। दिगम्बर मा यतानुसार यह स्थिति वीर निवाण के ६८३ वप पश्चात हो गई।

पूर्वाश्रित साहित्य—

पूर्वो के लुप्त हा जाने पर भी उनके आधार पर बना हुआ या उनम से उद्धत साहित्य पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है। इस प्रकार के साहित्य को नियूहित (प्रा० णिज्जूहिय) कहा गया है। इस प्रकार के ग्र थो के कुछ नाम निम्नलिखित हैं—

ग्र थ का नाम	पूव का नाम
१ उवसग्गहरथोत	अज्ञात
२ श्रोहणिज्जुत्ति	पच्चक्खाणप्पवाय
३ कम्मपयडी	कम्मप्पवाय
४ प्रतिष्ठाकल्प	विज्जप्पवाय
५ स्थापनाकल्प	
६ सिद्धप्राभत	अग्गाणीय
७ पज्जोयाकप्प	
८ धम्मपण्णत्ति	आयप्पवाय
९ वक्कसुद्धि	सच्चप्पवाय
१० दशवकालिक के दूसरे अध्ययन	पच्चक्खाणप्पवाय
११ परिसहज्भयण	कम्मप्पवाय
१२ पचकप्प	अज्ञात
१३ दशाश्रुतस्क ध कल्प व्यवहार	पच्चक्खाणप्पवाय
१४ महाकप्प	अनात
१५ निशीथ	पच्चक्खाणप्पवाय
१६ नयचक्र	नाणप्पवाय
१७ सयग	अनात
१८ पचसग्रह	अज्ञात
१९ सत्तरिया (कमग्रन्थ)	कम्मप्पवाय
२० महाकमप्रकृति प्राभत	

२१ कषायप्राभृत — अग्गाणीय

२२ जीवसमास — अज्ञात

दिगम्बरो मे आगम रूप से माने जाने वाले षट्खण्डागम और कषायप्राभृत भी पूर्वो से उद्धृत कहे जाते हैं.।

चौदह पूर्वों के नाम तथा विषय—

१ उत्पाद–द्रव्य तथा पर्यायो की उत्पत्ति ।

२ अग्रायणीय–सब द्रव्यो तथा जीवो के पर्यायो का परिमाण । अग्र का अर्थ है परिमाण और अयन का अर्थ है परिच्छेद ।

३ वीर्यप्रवाद–सकर्म एव अकर्म जीव तथा पुद्गलो की शक्ति ।

४ अस्तिनास्तिप्रवाद–धर्मास्तिकाय आदि वस्तुएँ स्वरूप से हैं और पररूप से नही हैं, इस प्रकार स्याद्वाद का वर्णन ।

५ ज्ञान प्रवाद–मति आदि पाँच ज्ञानो का स्वरूप एव भेद प्रभेद ।

६ सत्य प्रवाद–सत्य, सयम अथवा सत्य वचन और उसके प्रतिपक्ष असत्य का निरूपण ।

७. आत्म प्रवाद–जीवन का स्वरूप विविध नयो की अपेक्षा से ।

८ कर्म प्रवाद या समय प्रवाद–कर्मो का स्वरूप भेद प्रभेद आदि ।

९ प्रत्याख्यान प्रवाद–व्रत नियमों का स्वरूप ।

१० विद्यानुप्रवाद–विविध प्रकार की आध्यात्मिक सिद्धियाँ और उनके साधन।

११ अवन्ध्य–ज्ञान, तप, सयम आदि का शुभ एव पाप कर्मो का अशुभ फल । इसे कल्याणपूर्व भी कहा जाता है ।

१२ प्राणायु–इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, मन आदि प्राण तथा आयुष्य ।

१३. क्रिया विशाल–कायिक, वाचिक आदि विविध प्रकार की शुभाशुभ क्रियाएँ।

१४ विन्दुसार–लोक-विन्दुसार लब्धि का स्वरूप एव विस्तार ।

पूर्व साहित्य इस वात का द्योतक है कि जैन परम्परा महावीर से पहले भी विद्यमान थी और उस समय उसके पास विशाल साहित्य था ।

वतमान आगम

जन परम्परा के अनुसार श्रुत साहित्य का प्रारम्भ त्रिपदी स होता है। तीथकर भगवान तीन पदा का उच्चारण करत हैं और गणधर उसी बीज को लेकर विशाल श्रुत साहित्य की रचना करते हैं। वह त्रिपदी निम्नलिखित है—

उप्पन्नइ वा विगमइ वा, धुवेइ वा।"

अर्थात प्रत्येक वस्तु उत्पन होती है, नष्ट होती है और स्थिर रहती है। *उत्पत्ति स्थिति और विनाश वस्तु का लक्षण है। इसी सूत्र का विस्तार विशाल* जन दशन है।

भगवान महावीर की परम्परा म उपरोक्त त्रिपदी का विस्तार करके सुधमा स्वामी ने बारह अङ्गो की रचना की।

(१) आचाराङ्ग	(७) उपासकदशाङ्ग
(२) सूत्रकृताङ्ग	(८) अ तकृद्दशा
(३) स्थानाङ्ग	(९) अनुत्तरोपपातिक
(४) समवायाङ्ग	(१०) प्रश्न व्याकरण
(५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)	(११) विपाक
(६) ज्ञाताधर्म कथा	(१२) दष्टिवाद

कालक्रम से बारहवें दष्टिवाद का लोप हो गया। शेष अङ्ग भी अपने मूल रूप म उपलब्ध नही हैं फिर भी ये महावीर की मौलिक परम्परा क प्रतीक हैं। दिगम्बर परम्परा म यह माना जाता है कि मूल आगम सवथा लुप्त हो गए और इस समय जो उपलब्ध हैं वे भगवान महावीर के ९८० वष पश्चात देवर्द्धिगणी के सकलित किए हुए हैं।

गणधरो के बाद चौदह पूर्वो का ज्ञान रखने वाले मुनिवरो ने जो कुछ लिखा वह आगमो म सम्मिलित कर लिया गया। जैन परम्परा म चौदह पूवधारी का श्रुत केवली कहा जाता है अर्थात वह सम्पूण शास्त्रीय ज्ञान का धारक होता है।

इसके बाद सम्पूण दस पूर्वो का ज्ञान रखने वाले मुनियो ने जो कुछ लिखा उसे भी आगमो म स्थान द दिया गया। *कहा जाता है—दस पूर्वो का ज्ञान सम्यग्दष्टि ही प्राप्त कर सकता है।* मिथ्यादष्टि दसव पूव का पूरी तरह नही जान सकता।

दस पूर्वधारी का सम्यग्दृष्टि होना अनिवार्य है, इसलिए उसके द्वारा रचा गया साहित्य भी आगम कोटि मे आ गया।

पूर्वो का ज्ञान लुप्त होने के वाद जो साहित्य रचा गया, उसे भी आगमो मे स्थान मिला। इस प्रकार हम देखते है कि वीर-निर्वाण के वाद लगभग एक हजार वर्ष तक नए प्रकरण रचे गए और उन्हे आगमो मे स्थान भी मिलता गया। यह कार्य नीचे लिखी तीन वाचनाओं में हुआ।

तीन वाचनाएँ

पाटलिपुत्र परिषद् (वी० नि० १६०)—

भगवान महावीर के १६० वर्ष पश्चात् मगध में वारह वर्ष का भयकर दुर्भिक्ष पडा। साधुओ को आहार-पानी मिलना कठिन हो गया। वे इधर-उधर विखर गए। उनके साथ आगमो का ज्ञान भी छिन्न-भिन्न हो गया।

दुर्भिक्ष का अन्त होने पर समस्त सघ एकत्रित हुआ और आगमो को सुरक्षित रखने पर विचार हुआ। जिस मुनि को जितना स्मरण था, उसने कह सुनाया। इस प्रकार ११ अङ्ग तो सुरक्षित हो गए किन्तु वारहवाँ दृष्टिवाद किसी को याद न निकला। उस समय आर्य भद्रबाहु ही चौदह पूर्वो के ज्ञाता थे और वे योग साधना के लिए नैपाल गए हुए थे। सघ ने श्रुत-रक्षा के लिए स्थूलभद्र तथा अन्य पाँच सौ साधुओ को उनके पास भेजा। भद्रबाहु महाप्राण नामक ध्यान मे लगे हुए थे। इसलिए अध्यापन के लिए समय कम मिलता था। ऊव कर दूसरे साधु तो वापिस चले आए किन्तु स्थूलभद्र वहाँ रह गए। उन्होने सेवा एवं परिश्रम द्वारा दस पूर्वो का ज्ञान प्राप्त कर लिया। किन्तु शेष चार पूर्वो को केवल मूलमात्र सीख सके। उसके लिए भी दूसरो को सिखाने की मनाही थी। इस प्रकार भगवान महावीर के दो सौ वर्ष पश्चात् श्रुतज्ञान का ह्रास प्रारम्भ हो गया। वी० नि० १६१ मे आर्यसुहस्ति के समय भी राजा सम्प्रति के राज्य मे दुर्भिक्ष पडा। ऐसे सकटो के समय श्रुतज्ञान का ह्रास स्वाभाविक था।

पाटलिपुत्र वाचना का विस्तृत वर्णन तित्थोगाली पइण्णय, आवश्यकचूर्णि और

हमच द्र के परिशिष्ट और आदि पर्वो मे मिलता है। तित्थोगालीय का साराश निम्नलिखित है—

भगवान महावीर के बाद सातवे पुरुष चौदह पूवधारी भद्रबाहु हुए जिन्होने बारह वष तक योगमाग का अवलम्बन किया और सूत्राथ की निबन्धो के रूप म रचना की।

उस समय मध्यप्रदेश म प्रबल अनावृष्टि हुई। इस कारण साधु दूर देशो म चले गए। कोई वेताढ्य पवत की गुफाओ मे, कोई नदियो के तट पर और कोई समुद्र के तट पर जाकर सयमी जीवन बिताने लगे। सयम म दोष लगने से डरने वाले कुछ साधुओ ने अन्न जल का परित्याग करके अतिम सलेखना व्रत ले लिया।

बहुत वर्षो बाद जब दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तो बचे हुए साधु फिर मगध देश म आ पहुचे और चिरकाल के पश्चात एक दूसरे को देखकर अपना नया जन्म मानने लगे।

इसके बाद साधुओ ने परस्पर पूछ-ताछ कर ग्यारह अङ्ग सकलित किए पर दृष्टिवाद का जानने वाला कोई न मिला। वे कहने लगे—पूवश्रुत के बिना हम जिन प्रवचन का सार कैसे समझ सकेंगे? हा चौदह पूर्वो के ज्ञाता आय भद्रबाहु इस समय भी विद्यमान हैं। उनके पास से इस समय भी पूवश्रुत प्राप्त हो सकता है। परन्तु उन्होने बारह वष के लिए योग धारण कर रखा है इसलिए वाचना देंगे या नही यह सन्देहास्पद है। इसके बाद श्रमण सघ ने अपने दो प्रतिनिधि भेजे और भद्रबाहु से प्राथना की— पूज्य क्षमाश्रमण! वतमान समय म आप जिन तुल्य हैं। पाटलिपुत्र मे 'महावीर का सघ' आपसे प्राथना करता है कि आप श्रमण सघ को पूवश्रुत की वाचना दें।'

प्राथना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा— श्रमणो! मैं इस समय वाचना देने म असमथ हूँ। आध्यात्मिक साधना म व्यस्त होने के कारण मुझे वाचना से कोई प्रयोजन भी नहीं है।'

भद्रबाहु के उत्तर से नाराज होकर स्थविरो ने कहा— क्षमाश्रमण! इस प्रकार प्रयोजन का अभाव बता कर आप सघ की अवज्ञा कर रहे हैं। इस पर आपको क्या दण्ड मिलेगा यह विचार कीजिए।

भद्रबाहु ने कहा—"मैं जानता हूँ, इस प्रकार बोलने वाले का सघ बहिष्कार कर सकता है।"

स्थविर बोले—"आप यह जानते हुए भी सघ की प्रार्थना का अनादर करते हैं ? आप ही बताइये, हम आपको सघ के अन्दर कैसे रख सकते हैं ? क्षमाश्रमण ! हमने आपसे प्रार्थना की किन्तु आप वाचना देने के लिए तैयार नही हुए। इसलिए आज से आप सघ से पृथक् कर दिए गए। बारह मे से किसी प्रकार का व्यवहार आपके साथ न रखा जाएगा।"

भद्रबाहु यशस्वी पुरुष थे। अपयश से डरते थे। जल्दी सम्भल गए और बोले—"श्रमणो ! मैं एक शर्त पर वाचना दे सकता हूँ। वह यह है कि वाचना लेने वाले मुझे न बुलावे और मैं उनको न बुलाऊँ। यदि यह स्वीकार है तो कायोत्सर्ग का ध्यान पूरा होने के बाद, यथा अवकाश मैं वाचना दे सकूँगा।"

भद्रबाहु की शर्त को स्वीकार करते हुए स्थविरो ने कहा—"क्षमाश्रमण ! जैसा आप कहेंगे और जैसी आपकी इच्छा है हम मानने को तैयार हैं।"

इसके बाद ग्रहण और धारण मे समर्थ बुद्धिशाली ५०० साधु विद्यार्थी के रूप मे और प्रत्येक की सेवा-सुश्रूषा के लिए दो-दो साधु इस प्रकार १५०० साधु भद्रबाहु स्वामी के पास पहुँचे।

वाचना की इच्छा से इतने साधु वहाँ पहुँच तो गए किन्तु कठिनाई मे पड गए। भद्रबाहु ने वाचना का जो क्रम रखा उससे उन्हे सन्तोष नही हुआ। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे वे विदा होने लगे और अन्त मे केवल स्थूलभद्र रह गए। एक पद, आधा पद जो कुछ भी मिलता वे नम्रतापूर्वक सीख लेते किन्तु हताश होकर छोडने को तैयार नही हुए। इस प्रकार रहते-रहते आठ वर्षो मे स्थूलभद्र ने आठ पूर्वो का अध्ययन कर लिया। इसके बाद भद्रबाहु की योग साधना पूरी होगई और उन्होने सर्वप्रथम स्थूलभद्र से सम्भाषण करते हुए पूछा—"भद्र ! तुम्हे भिक्षा और स्वाध्याय योग मे किसी प्रकार का कष्ट तो नही है ?"

स्थूलभद्र ने कहा—"मुझे कोई कष्ट नही है। मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। अब तक मैंने कितना सीख लिया और अभी कितना शेष है ?"

भद्रबाहु ने कहा—"अभी तक तुमने सरसो के दाने जितना सीखा है, और मेरु जितना शेष है।"

स्थूलभद्र तनिक भी विचलित या हतोत्साह नहीं हुए। फिर बोले— 'भगवन ! मैं अध्ययन से थका नहीं हूँ। मन में एक ही विचार आता है कि अपने इस अल्प जीवन में उस मेरु तुल्य श्रुतज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकूँगा ?

स्थूलभद्र का विचार सुनकर स्थविर भद्रबाहु ने कहा— स्थूलभद्र ! अब तुम इस विषय की चिन्ता मत करो। मेरा ध्यान पूर्ण हो गया है और तुम बुद्धिमान हो। मैं दिन रात वाचना देता रहूँगा, इससे दृष्टिवाद पूर्ण हो जाएगा।'

स्थूलभद्र प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने लगे और उन्होंने दस पूर्व साङ्गोपाङ्ग सीख लिए।

एक दिन स्थूलभद्र एकान्त में बैठकर ग्यारहवाँ पूर्व याद कर रहे थे। उस समय उनकी सात बहनें भद्रबाहु के पास वन्दनार्थ आई और स्थूलभद्र के विषय में पूछने लगीं। भद्रबाहु ने स्थान बता दिया। उधर स्थूलभद्र पूर्वों में प्रतिपादित मन्त्र विद्या का परीक्षण कर रहे थे। इसलिए वे सिंह का रूप बनाकर बैठ गए। साध्वियाँ सिंह को देख कर डर गई वापिस लौट आईं और भद्रबाहु से कहने लगीं— क्षमाश्रमण ! आपने जो स्थान बताया वहाँ स्थूलभद्र नहीं हैं। उनके स्थान पर विकराल सिंह बैठा हुआ है। न जाने स्थूलभद्र का क्या हुआ !'

भद्रबाहु ने कहा— 'आर्यिकाओ, ! वह सिंह तुम्हारा भाई स्थूलभद्र ही है।'

आचार्य के वचन सुनकर साध्वियाँ फिर वहाँ गई तो स्थूलभद्र को बैठा पाया।

बहनों को विदा करके स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास वाचना लेने गए। भद्रबाहु ने कहा— 'अनगार! जो तुमने पढ़ा है वही बहुत है। तुम्हें आगे पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। गुरु के वचन से स्थूलभद्र को अपनी भूल का ख्याल आया। वे पश्चात्ताप करने लगे और गुरु के चरणों में गिरकर अपराध के लिए क्षमा मांगने लगे। गच्छ के दूसरे साधुओं ने भी स्थूलभद्र की इस भूल को क्षमा करके आगे की वाचना देने के लिए प्रार्थना की।

स्थूलभद्र और श्रमण संघ की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा— श्रमणो ! इस विषय में अधिक आग्रह मत करो। मैं वाचना क्यों नहीं देना चाहता इसका विशेष कारण है। मैं स्थूलभद्र के दोष के कारण नहीं किन्तु भविष्य का विचार करके शेष पूर्वों का अध्ययन बन्द करना चाहता हूँ। जब स्थूलभद्र सरीखा त्यागी भी श्रुतज्ञान का दुरुपयोग करने के लिए तैयार हो गया तो दूसरों की बात ही

क्या है ? श्रमणो ! उत्तरोत्तर विपम समय आ रहा है। मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियो का ह्रास हो रहा है। मनुष्य की क्षमता एव गभीरता नष्ट हो रही है। ऐसी स्थिति मे शेप पूर्वो का प्रचार करना कुशलदायी नही है।"

आचार्य का यह उत्तर सुन कर स्थूलभद्र दीनता पूर्वक बोले—"भगवन् ! अब कभी दुरुपयोग नही करूँगा। आप जैसा कहेगे सभी नियमो का पालन करूँगा। कृपया मुझे तो शेष चार पूर्व वता ही दीजिए।"

अति आग्रह के वश हो कर भद्रवाहु ने कहा—"स्थूलभद्र ! विशेष आग्रह है तो मै शेष पूर्व तुम्हे बता दू गा। पर उन्हे दूसरो को पढाने की अनुज्ञा नही दू गा। तुम्हे यह अनुज्ञा केवल दस पूर्वो के लिए मिलेगी। शेष चार पूर्व तुम्हारे साथ ही समाप्त हो जाएँगे।" इस प्रकार अतिम चार पूर्व विछिन्न हो गए।

भद्रवाहु और स्थूलभद्र की उपरोक्त घटनाएँ कई महत्वपूर्ण वातो को प्रकट करती है। इनसे प्रतीत होता है कि—१ उस समय सघ का सगठन इतना दृढ था कि भद्रवाहु सरीखे समर्थ महापुरुप भी उसकी अवहेलना नही कर सकते थे सघ का कार्य आत्म-साधना से भी वढ कर माना जाता था।

२ ग्यारह अगो के होते हुए भी पूर्वो को विशेष महत्व दिया जाता था। इसका कारण उनका सूक्ष्म विचार रहा होगा।

३ साधु के लिए लौकिक विद्याओ का उपयोग वर्जित था।

४ ज्ञान-दान करते समय योग्यायोग्य पात्र का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था।

माथुरी वाचना (वी० नि० ८२७-८४०)

जैन आगमो का सकलन करने के लिए दूसरी वाचना वीर-निर्वाण के बाद ८२७ और ८४० के वीच मथुरा मे हुई। इसीलिए यह माथुरी वाचना कही जाती है। इसके सयोजक आचार्य स्कन्दिल थे। वे पादलिप्त सूरि के कुल मे विद्याधर गच्छ के आचार्य थे। आर्यसुहस्ति के शिष्य सुस्थित और सुप्रतिवुद्ध हुए उनके चार शिष्यो ने चार गच्छ चलाए। द्वितीय शिष्य विद्याधरगोपाल ने विद्याधर गच्छ की स्थापना की। उस परम्परा मे खपटाचार्य और पादलिप्त सूरि भी हुए। युग-प्रधान पट्टावली मे इनका युग इस प्रकार वताया गया है वज्र (वर्प) आर्यरक्षित (१३ वर्प) पुष्पमित्र (२० वर्ष) वज्रसेन (३ वर्ष) नागहस्ती (६९ वर्ष) रेवती-मित्र (५९ वर्प) ब्रह्मदीपकसिह (७८ वर्ष) स्कन्दिल (१३ वर्प)।

जिस प्रकार भद्रबाहु के समय दुर्भिक्ष के कारण श्रुत परम्परा छिन्न भिन्न हो गई थी, उसी तरह आचार्य स्कंदिल के समय भी दुष्काल के कारण आगमों का ज्ञान अस्तव्यस्त हो गया। बहुत से श्रुतधर स्थविर परलोकवासी हो गए। अवशिष्ट श्रमणों में भी पठन पाठन की प्रवृत्ति बन्द हो गई। आचार्य स्कंदिल ही एक श्रुतधर बचे थे। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर उनकी अध्यक्षता में मथुरा में श्वेताम्बर श्रमण संघ एकत्रित हुआ और आगमों को व्यवस्थित करने में लग गया। उनको जितना पाठ याद था उतना लिख लिया गया। इस प्रकार सारा पाठ लिख लेने के बाद आर्य स्कंदिल ने साधुओं को उसकी वाचना दी। इसको स्कंदिली वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी वाचना का वर्णन आचार्य मलयगिरि की नन्दी टीका, ज्योतिषकरण्ड की टीका, भद्रेश्वर की कथावली और हेमचन्द्र के योगशास्त्र में मिलता है। कहा जाता है कि उस समय कालिक श्रुत और अवशिष्ट पूर्व-श्रुत का सगठित किया गया। माथुरी वाचना से नीचे लिखी महत्त्वपूर्ण बात मालूम पड़ती हैं—

१ उन दिनों जैनधर्म का केन्द्र मगध से हट कर मध्यदेश में आ गया था। सम्भवतया दुर्भिक्षों के कारण ऐसी स्थिति आई हो और मगध के दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधु इधर चले आए हों और वहीं विचरने लगे हों।

२ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की मान्यता है कि मथुरा ई० पू० द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा के बाद ग्यारहवीं शताब्दी तक लगभग १३०० वर्ष जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। (देखो श्रमण अगस्त १९५२) कंकाली टीले में जैन स्तूप या स्थापत्य के जो अन्य अवशेष मिले हैं वे तो ई० पू० छठी शताब्दी अर्थात भगवान महावीर के समकालीन हैं। किन्तु शिलालेख प्रायः ई० पू० द्वितीय शताब्दी से पश्चादवर्ती हैं। इससे जैन परम्परा की यह बात पुष्ट होती है कि भगवान महावीर के समय जैन धर्म बहुत अधिक फैला हुआ था।

३ वीर निर्वाण के ३०० वर्ष बाद मौर्य राजा बृहद्रथ को मार कर उसका सेनानी पुष्यमित्र मगध के सिंहासन पर बैठ गया। वह केवल वैदिक धर्म का अनुयायी ही नहीं था अन्य धर्मों से द्वेष भी करता था। नन्द और मौर्य राजाओं ने अपने २ धर्म में निष्ठा के साथ अन्य धर्मों का उचित सत्कार किया। अशोक और सम्प्रति ने तो बौद्ध और जैन धर्म के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए। पुष्यमित्र ने

उनके द्वारा वनाए हुए सघाराम और उपाश्रयो को नष्ट करके जैन एव बौद्ध भिक्षुओ को भगाना आरम्भ किया। उसने साधुओ पर कर लगाया और उनके कपडे उतरवा लिए। सम्भवतया उसी समय मगध जैन एव बौद्ध श्रमणो से शून्य हो गया।

वल्लभी वाचना (वी० नि० ८३० के लगभग)

जिस समय मथुरा मे आर्य स्कन्दिल ने आगामोद्धार करके उनकी वाचना शुरु की उसी समय नागार्जुन सूरि ने वल्लभी नगरी (सौराष्ट्र) मे श्रमण-सघ एकत्रित किया। और दुर्भिक्ष के वाद बचे हुए आगमो का उद्धार किया। वाचक नागार्जुन एव अन्य श्रमणो को जो जो आगम अथवा प्रकरण ग्रन्थ याद थे वे सव लिख लिए गए। विस्मृत स्थलो का पूर्वापर सम्वन्ध देखकर सन्दर्भ मिलाया गया और फिर वाचना दी गई। इस वाचना मे आचार्य नागार्जुन प्रमुख थे, इसलिए इसे नागार्जुनी वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी और वल्लभी दोनो स्थानो की वाचनाएँ प्राय एक ही समय में हुई। इसलिए यह कहना अनावश्यक है कि आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन एक ही समय मे विद्यमान थे। किन्तु वाचनाओ के वाद उनका परस्पर मिलना नही हुआ। इसलिए दोनो वाचनाओ मे परस्पर कुछ पाठ-भेद रह गया, उसका उल्लेख टीकाओ मे अब तक पाया जाता है। नागार्जुन की वाचनाओ मे मेल वाले अश को टीकाकार "नागार्जुनीयास्तु" कह कर वता देते हैं। वल्लभी वाचना का वैशिष्ट्य यह है कि उसमे प्रकरण ग्रन्थो को भी श्रुत-ज्ञान मे स्थान मिल गया।

देवर्द्धिगणी (वी० नि० ९८०)

उपरोक्त वाचनाओ के लगभग १५० वर्ष पश्चात् वल्लभी नगर (सौराष्ट्र) मे श्रमण सघ फिर सम्मिलित हुआ। उस सम्मेलन के अध्यक्ष देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण थे। उसमे उपरोक्त वाचनाओ मे सम्मिलित साहित्य के अतिरिक्त जो ग्रन्थ या प्रकरण आदि थे, उन्हे सुरक्षित करने का प्रयत्न किया गया।

इस श्रमण सम्मेलन मे दोनो वाचनाओ के पाठो का परस्पर समन्वय किया गया और जहाँ तक हो सका उन्हे एक रूप दे दिया गया। जो महत्वपूर्ण भेद थे, उन्हे पाठान्तर के रूप मे चूर्णियो मे सगृहीत किया। कुछ प्रकीर्ण ग्रन्थ जो एक ही वाचना मे थे वे ज्यो के त्यो प्रमाण मान लिए गए।

उपर्युक्त व्यवस्था के वाद सभी आगम एव प्रकरण-ग्रन्थ स्कन्दिल की माथुरी

वाचना के अनुसार लिखे गए। नागार्जुनी वाचना का पाठ भेद टीका म लिख दिया गया। जिन पाठा तरा को नागार्जुन की परम्परा वाले छोडन को तयार नही थे उनका मूलसूत्र मे भी (वाचना तरे पुन) वायणतरे पुण (देखो कल्पसूत्र वायणा तरे पुण अय तेणउए सवच्छरे काले गच्छइ दीसइ) शब्दा द्वारा उल्लेख किया गया।

देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता म जा वाचना हुई उसम नीचे लिखी बात महत्व पूण हैं—

१ माथुरी और नागार्जुनी वाचनाओ का समन्वय किया गया। जन परम्परा के लिए यह अत्यन्त महत्व की बात है।

२ शास्त्रा के लेखन की परिपाटी आरभ की गई। यद्यपि लेखन आय स्कन्दिल के समय ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु इसे प्रोत्साहन देवर्द्धिगणी के बाद ही मिला।

३ जन आगमा का अन्तिम रूप स्थिर कर दिया गया। इसके बाद जा ग्रन्थ रचे गए उन्ह आगमा म नही लिया गया।

नन्दी-सूत्र के अनुसार आगमो का ग्रन्थ विभाजन—

आगमा की सख्या क विषय म कई मान्यताएँ हैं। एक परम्परा चौरासी आगम मानती है। दूसरी परम्परा के अनुसार उनकी सख्या पतालीस है। स्थानक-वासी सम्प्रदाय केवल बत्तीस आगमा को प्रमाण मानती है। आधुनिक प्रचलित मान्यताओ की चर्चा मे न जाकर इस नन्दी सूत्र द्वारा किए गए विभाजन का प्रस्तुत करत हैं। सक्षेप म आगम दा प्रकार के हैं—अगप्रविष्ट और अगबाह्य।

अगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आयार, सूयगड ठाण, समवाअ विवाहपन्नत्ती नायाधम्मकहाओ उवासगदसाओ अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ पण्हवा गरणाइ विवागसुअ दिट्ठिवाअ।

अगबाह्य क दा भेद हैं—आवश्यक तथा आवश्यक व्यतिरिक्त।

आवश्यक क छ भेद हैं—सामाइय चउवीसत्थव वदणय पडिक्कमण काउसग्ग तथा पच्चक्खाण।

आवश्यक व्यतिरिक्त क दा भेद हैं—कालिय तथा उक्कालिय।

कालिक के अनेक भेद हैं—उत्तराज्भयण दसा कप्प ववहार निसाह महानि-सीह इसिभासिय जबूदीवपन्नत्ती दीवसागरपन्नत्ती चदपन्नत्ती खुड्डिया विमाणविभत्ती महल्लियाविमाणविभत्ती अगचूलिया वग्गचूलिया, विवाह

चूलिया, अरुणोववाअ, वरुणोववाअ, गरुलोववाअ, धरणोववाअ, वेसमणोववाअ, वेलधरोववाअ, देविदोववाअ, उट्ठाणसुअ, नागपरियावणिआ, निरयावलिया, कप्पिआ, कप्पवडसिआ, पुप्फिआ, पुप्फचूलिआ, वण्हीदसा इत्यादि। इनके अतिरिक्त प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के चौरासी हजार प्रकीर्णक। दूसरे से लेकर तेइसवे तीर्थंकर तक सख्यात प्रकीर्णक। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के चौदह हजार प्रकीर्णक। उत्कालिक-श्रुत भी अनेक प्रकार के हैं—दशवैकालिक, कप्पिआकप्पिअ, चुल्लकप्पसुअ, महाकप्पसुअ, उववाइअ, रायपसेणिअं, जीवाभिगम, पण्णवणा, महापण्णवणा, पमायप्पमाय, नदी, अणुओगदाराइ, देविदत्थओ, तदुलवेआलिय, चदविज्झय, सूरपण्णत्ती, पोरिसीमडल, मडलपवेस, विज्जाचरणविणिच्छय, गणिविज्जा, झाणविभत्ती, मरणविभत्ती, आयविसोही, वीयरायसुअ, सलेहणासुअ, विहारकप्प, चरणविही, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण इत्यादि।

उपरोक्त विभाजन मे बहुत से ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही हैं। आवश्यक के वन्दना आदि छ भेद स्वतन्त्र आगम न होकर एक ही आगम के विभिन्न प्रकरण हैं। अगो मे बारहवे दृष्टिवाद का लोप हो चुका है। आज कल नीचे लिखे अनुसार विभाजन किया जाता है—

१ ग्यारह अग दृष्टिवाद को छोड कर।

२ बारह उपाग—उववाइय, रायप्पसेणिय, जीवाभिगम, पण्णवणा, सूरपण्णत्ती जबूदीवपण्णत्ती, चदप्पण्णत्ती, कप्पिया, कप्पवडसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वण्हीदसा।

३ चार मूल—आवस्सय, दसवेआलिय, उत्तरज्झयण और पिडनिज्जुत्ति।

४. छेद—निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, पचकप्प, महानिसीह।

५ दस पइण्णा—चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, सथारओ, तदुलवेयालिय, चन्दवेज्झओ, देविदत्थव, गणिविज्जा महापच्चक्खाण वीरत्थव।

आगमों का विषय विभाजन—

आर्यरक्षित ने आगमो को विषय की दृष्टि से चार अनुयोगो मे विभक्त किया है।

१ चरणकरणानुयोग २ धर्मकथानुयोग ३ गणितानुयोग ४ द्रव्यानुयोग।

आचार का प्रतिपादन करने वाले आचाराग, दशवैकालिक, आवश्यक आदि

सूत्रो को प्रथम अनुयोग म गिना जाता है। धार्मिक दृष्टान्त, कथा एव चरित्रो का वणन करने वाले ज्ञाताधमकथा, उत्तराध्ययन आदि दूसरे अनुयोग म आते हैं। गणित का प्रतिपादन करने वाले सूरपण्णत्ती चदपण्णत्ती आदि गणितानुयोग म आते हैं। दार्शनिक तत्त्वो का प्रतिपादन करने वाले दृष्टिवाद आदि द्रव्यानुयोग म आते हैं।

उपरोक्त चार अनुयोगो म विषय की दृष्टि स आगमो का विभाजन होने पर भी भेद रेखा स्पष्ट रूप से नही खीची जा सकती। उत्तराध्ययन म धमकथाओ के साथ साथ दार्शनिक तथ्यो का भी पर्याप्त निरूपण है। भगवती तो सभी विषयो का समुद्र है। आचाराग म भी यत्र तत्र दार्शनिक तत्त्व मिल जाते हैं। इसी प्रकार कुछ को छोडकर अन्य सभी आगमो म चार अनुयोगो का सम्मिश्रण है। इसलिए उपरोक्त विभाजन को मुख्य विषय की दृष्टि से स्थूल विभाजन ही मानना चाहिए।

श्रीमद्राजचन्द्र इन चारो अनुयोगो का आध्यात्मिक उपयोग बताते हुए लिखते हैं—

यदि मन शकाशील हो गया हो तो द्रव्यानुयोग का चिन्तन करना चाहिए। प्रमाद मे पड गया हो तो चरणकरणानुयोग का, कषाय म अभिभूत हो गया हो तो धमकथानुयोग का और जडता प्राप्त कर रहा हो गणितानुयोग का।

साख्यदशन की दृष्टि से देखा जाय तो शका और कषाय रजोगुण के परिणाम हैं और प्रमाद एव अज्ञान (जडता) तमोगुण के उन दोनो प्रभावो को दूर करके सत्व गुण की वृद्धि के लिए उपरोक्त अनुयोगो का चिन्तन लाभदायक है। इनमे दूसरे अनुयोगो का चिन्तन करणानुयोग के लिए है। द्रव्यानुयोग स दशन अर्थात दृष्टि की शुद्धि होती है और दृष्टि की शुद्धि स सम्यक चारित्र की प्राप्ति होती है। इसलिए चरणकरणानुयोग ही प्रधान है।

भगवदगीता या हिन्दु साधना के साथ तुलना की जाय तो कहा जा सकता है कि द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध ज्ञानयोग से है चरणकरणानुयोग का कमयोग स तथा धमकथानुयोग का भक्तियोग से। गणितानुयोग मन को एकाग्र करने की एक प्रणाली है अत यह राजयोग स सम्बन्ध रखता है।

भारतीय संस्कृति के दो स्रोत

भारत का सास्कृतिक इतिहास दो परम्पराओ के सघर्ष का परिणाम है। एक ओर धर्म को जीवन निर्वाह का साधन मानकर चलने वाली ब्राह्मण परम्परा है, दूसरी ओर जीवन को धर्म साधना का उपकरण मानने वाली श्रमण परम्परा। एक ने धर्म को व्यवसाय के रूप मे अपनाया, दूसरी ने आध्यात्मिक साधना के रूप मे। एक ने भौतिक सुख को मुख्य रख कर धर्म को उसकी साधना माना, दूसरी ने भौतिक एपणाओ से ऊपर उठकर आत्मसाक्षात्कार को लक्ष्य बनाया। एक ने प्रेम की उपासना की, दूसरी ने श्रेय की। एक ने चाहा "हम सौ साल तक जीएँ, हमारा शरीर तथा इन्द्रियाँ स्वस्थ रहे, गौएँ दूध देने वाली हो, समय पर वृष्टि हो, शत्रुओ का नाश हो।" दूसरी ने कहा "आत्मसाधना के पथ पर आगे बढते जाओ, जीने या मरने की चिन्ता मत करो, इस शरीर, इन इन्द्रियो को, धन सम्पत्ति तथा सर्वस्व को आत्म साधना के पथ पर स्वाहा कर दो।" एक ने सुख सम्पत्ति के लिए देवताओ की खुशामद की, उनसे भीख माँगी। दूसरी ने कहा "सयम और तप के मार्ग पर चलो, देवता तुम्हारे चरण चूमेगे।" एक ने शरीर को प्रधानता दी, दूसरी ने आत्मा को। एव ने बाह्य क्रिया-कांड को महत्व दिया, दूसरी ने मनोभावो को। एक ने मनुष्य को किसी दिव्य-शक्ति के हाथ मे कठपुतली समझा, दूसरी ने कहा तुम स्वय उस दिव्य शक्ति के केन्द्र हो।

वैदिक काल से लेकर आज तक का समस्त साहित्य इन दो धाराओ के सघर्ष को प्रकट करता है। जहाँ मन्त्र और ब्राह्मणो मे पहली परम्परा का विकास है, उपनिषदो मे उसकी प्रतिक्रिया है। एक ओर यज्ञो के अनुष्ठान मे सारा जीवन लगा देने को कहा गया है, दूसरी ओर यज्ञ रूपी नौका को अदृढ बताया गया है। एक ओर वैदिक क्रिया काड को सर्वोत्कृष्ट माना गया है, दूसरी ओर उसे अपरा विद्या कह कर आत्मविद्या की उपेक्षा होना बतलाया है। सूत्रकाल मे गृह्यसूत्र फिर उसी क्रियाकाड मे समाज को बाँधने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर जैन, बौद्ध, आजीविक आदि के रूप मे स्वतन्त्र विचारधाराएँ उसका विरोध करती हैं। महाभारत तथा पुराणो में सभी प्रकार के विचारो का सकलन है। मध्यकाल मे श्रमण परम्परा के दो रूप हो गए हैं। पहला रूप जैन और बौद्ध धर्म के रूप मे पल्लवित हुआ, जिसने वैदिक परम्परा का सर्वथा त्याग कर के स्वतन्त्र विकास किया। दूसरा

वेदा त, सांख्ययाग, याय, वशेषिक आदि दशना क रूप म प्रस्फुटित हुआ। जिन्हाने वेद पुराण को मानते हुए भी आत्म साधना को मुख्य लक्ष्य बनाया। जि होने वदिक क्रिया काड को या ता सवथा उपेक्षा कर दी या उसे चित्तशुद्धि मानकर आध्यात्मिक साधना का अङ्ग बना दिया। शकराचाय न वद प्रामाण्य की रक्षा करते हुए जिस प्रकार अद्वत का प्रतिपादन किया है वह इसी मनोवत्ति का सु दर निदशन है। पद्रहवी शताब्दी के पश्चात सत परम्परा के रूप म बाह्य क्रियाकाड का जो विराध हुआ उसम भी सघप झलकता है। वतमान युग मे महात्मा गाधी ने फिर उसकी प्राण प्रतिष्ठा की।

जन धम इसी श्रमण परम्परा की एक धारा है। किन्तु इमस यह न समझना चाहिए कि इसका ज म वदिक युग की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ। वदिक साहित्य म अहत, निग्र थ यति मुनि आदि अनेक ऐसी परम्पराओ का निर्देश है जा त्याग प्रधान हाते हुए भी वदा से पहले विद्यमान थी। सहिता साहित्य म इन्द्र का मुनियो का मित्र तथा यतियाका शत्रु बताया गया है। तत्तिरीय सहिता म लिखा है— इ द्र ने यतिया को कुत्तो की भेंट कर दिया। ऐतरय ब्राह्मण म भी उसी प्रकार का उल्लेख है। यति और मुनिया का आचार प्राय एक सरीखा था। कि तु यतिया का सम्ब ध भारत के मूल निवासियो से था और मुनिया का आर्यों स। यह उद्धरण दा सम्प्रदाया के साधुओ और भक्ता म प्रचलित पारस्परिक कलह को प्रकट करता है। जन धम के प्रथम तीथकर भगवान ऋषभदेव का नाम वदिक साहित्य म आता है।

स्वय ऋषभदेव को विष्णु का अवतार तथा अहिंसा और सयम का उपदेष्टा बताया गया है। उनकी अपनी तपस्या तथा कवल्य का भी विस्तत वणन है। ये सब प्रमाण जन परम्परा की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं। यह निश्चित है कि भारत मे वदिक प्रभाव फलने स पहले इसका अस्तित्व था। ऋषभदेव के प्रभावशाली व्यक्तित्व को देखकर ही वदिक परम्परा ने उ ह स्वीकार किया होगा।

वास्तव म देखा जाय ता इस समय हि दु धम क नाम स जा परम्परा प्रचलित है और जिसका मूल वदो मे बताया जाता है उस पर अवदिक तत्त्व इतने छा गए हैं कि मूल स्रोत छिप सा गया है। शिव दुर्गा राम कृष्ण लक्ष्मी आदि जिन देवो की पूजा इस समय हिन्दुओ म प्रचलित है उसमे से एक भी वदिक नहीं है। इ द्र

वरुण, रुद्र, यम आदि वैदिक देवता अब केवल साहित्य मे ही मिलते है। हिन्दु सस्कारो मे अग्नि की साक्षी अवश्य एक ऐसा रिवाज है जो वैदिक यज्ञो की सूचना देता है। इसके अतिरिक्त राजसूय, पुत्रेष्टि, दर्श-पूर्णमास आदि यज्ञ भी प्राय समाप्त हो चुके हैं। आश्रम व्यवस्था तो सभवतया कभी रही ही नही, वर्ण व्यवस्था भी टूट चुकी है। दार्शनिक क्षेत्र मे तो वैदिक मान्यताओ को कोई स्थान नही है। उपनिषदो को आधार रूप से माना जाता है किन्तु उनकी व्याख्या अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार की जाती है। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के रूप मे एक ही प्रस्थान होने पर भी अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टताद्वैत, शुद्धद्वैत, द्वैत आदि परस्पर विरोधी मतो का आविर्भाव इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि वैदिक परम्परा मे ऋषभदेव का सम्मानित स्थान होने पर भी उनके द्वारा सचालित धार्मिक परम्परा को वैदिक परम्परा में क्यो नही स्थान मिला ? वैदिक दर्शन अर्थात् मीमासा के साथ साख्य और वेदान्त का जितना भेद है, उतना जैन दर्शन का नही है। फिर भी जैन दर्शन को वेद-बाह्य परपरा मे रखे जाने का एक मात्र कारण यही है कि उसने वेदो को प्रमाण नही माना।

जैन धर्म

प्रसिद्ध इतिहासकार टायन वी० के शब्दो मे विश्व की सबसे बडी समस्या है मनुष्य का 'स्वकेन्द्रित होना।' प्रत्येक मनुष्य अपने को केन्द्र मे रखकर सोचता है, अपने ही सुख-दु ख का ध्यान रखता है तथा अपने ही विचारों को सर्वोपरि मानता है। धर्म का लक्ष्य है उसे 'स्व' परिधि से निकाल कर 'सर्व' की ओर उन्मुख करना। 'स्व' से सर्व की ओर अग्रसर होने के दो प्रेरक तत्त्व रहे हैं--(१) स्वार्थ और (२) परमार्थ। अपने भौतिक अस्तित्व के सरक्षण, धन-सम्पत्ति तथा अन्य लौकिक आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए भी मनुष्य अपने 'स्व' को निजी व्यक्तित्व से बढाकर कुल, परिवार, जाति, प्रात या राष्ट्र तक विस्तृत कर देता है। विभिन्न परिधियो मे सीमित परस्पर सहयोग एव सहानुभूति की इस भावना को कुल-धर्म, जाति-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि शब्दो से कहा जाता है। प्राचीन समय मे ऐसा कोई लौकिक स्वार्थ नही रहा जो मनुष्य को राष्ट्र की सीमा से आगे ले जा सके।

परिणामस्वरूप बहुत से धर्म राष्ट्र या जाति तक सीमित रह गए। उदाहरण के रूप में ब्राह्मण धर्म राष्ट्र तक सीमित रहा। और यहूदी तथा पारसी धर्म जाति विशेष तक। इन सब धर्मों को लौकिक धर्म कहा गया।

इनके विपरीत बुद्ध धर्मों ने मानवता की समस्याओं का मूल ज्ञान के लिए आध्यात्मिकता का आश्रय लिया। उन्होंने दार्शनिक चिन्तन द्वारा यह प्राप्त किया कि भौतिक अस्तित्व तथा बाह्य वस्तुओं के प्रति ममत्व ही सब समस्याओं का बीज है। इन धर्मों के सामने जाति या भूभाग सम्बन्धी कोई परिधि न था। वे लोकोत्तर धर्म कहे गए।

भारत की लोकोत्तर धर्म परम्पराओं में तीन दृष्टिकोण मिलते हैं। पहला दृष्टिकोण अद्वैतवादी परम्पराओं का है। उनकी मान्यता है कि 'स्व' को इतना व्यापक बना दो, जिसमें सब कुछ समा जाय। 'पर' कुछ न रहे। जब तक दूसरा है भय बना रहेगा (द्वितीयाद्वै भयम् भवति) जब सब एक ही हो गए तो कौन किस से डरेगा और किस की हिंसा करेगा? दूसरा दृष्टिकोण शून्यवादी परम्पराओं का है। उनका कथन है कि परमार्थ सत्य कुछ भी नहीं है। विचार करने पर कोई पदार्थ सत्य सिद्ध नहीं होता (यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा)। बौद्ध परम्परा ने मुख्यतया इस बात पर बल दिया है। जब वास्तव में सब शून्य है तो अहंता या ममता कैसी?

उपरोक्त दोनों मान्यताओं का मुख्य आधार तर्क है। लौकिक प्रत्यक्ष उनका समर्थन नहीं करता। लौकिक दृष्टि से बाह्य और आभ्यन्तर प्रतीत होने वाली सभी वस्तुएँ सत्य हैं। उन में रहने वाली अनेकता एवं विषमता भी सत्य है। इनका अपलाप नहीं किया जा सकता। फिर भी विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि समानता स्वाभाविक है और विषमता परापेक्ष। घट और पट के परमाणुओं में समानता होने पर भी रचना आदि में भेद होने के कारण विषमता हो गई। इसी प्रकार सभी जीवों या आत्माओं में मौलिक समानता होने पर भी विविध प्रकार की *विकृतियों के कारण विषमता आ गई। प्राणियों का पृथक् २ अस्तित्व बुरा नहीं है।* बुराई या दुःखों का कारण परस्पर वैषम्य भावना है। इस वैषम्य बुद्धि को दूर करके प्राणी मात्र के प्रति समता की बुद्धि स्थापित करना जैन धर्म का लक्ष्य बिन्दु है। उसकी मान्यता है कि 'स्व' बुरा नहीं है किन्तु दूसरों के प्रति वैषम्य

बुद्धि ही बुरी है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में सन्ध्योपासना तथा मुसलमानो मे नमाज नित्यकर्म के रूप मे विहित है, इसी प्रकार जैन गृहस्थो के लिए सामायिक है। उसका अर्थ है—समता की आराधना या उसे जीवन मे उतारने का अभ्यास। सामायिक जैन साधु का तो जीवन-व्रत है, महाव्रत, तप आदि अन्य सभी बाते उसी के सहायक तत्त्व हैं। क्षेत्र की दृष्टि से समता की इस आराधना के दो विभाग हैं, आचार मे समता और विचार में समता। आचार मे समता का अर्थ है, अहिंसा और यह जैन आचार-शास्त्र का केन्द्र बिन्दु है। विचार मे समता का अर्थ है, स्याद्वाद, यह जैन दर्शनशास्त्र का केन्द्र बिन्दु है।

अहिंसा की व्याख्या करते हुए जैन परम्परा मे बताया गया है कि स्वार्थ बुद्धि या कषाय से प्रेरित होकर दूसरे के प्राणो को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। प्राण दस हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, वचन, और शरीर, श्वासोच्छ्वास तथा आयु। इसका अर्थ प्राण ले लेना या शारीरिक कष्ट पहुँचाना ही हिसा नही है। किन्तु दूसरे की ज्ञानेन्द्रियो पर प्रतिबन्ध लगाना अर्थात् उन्हे स्वतन्त्र होकर देखने, सुनने आदि से रोकना, स्वतन्त्र चिन्तन एव भाषण पर प्रतिबन्ध लगाना एव स्वतन्त्र विचरण में रुकावट डालना भी हिसा है।

स्याद्वाद—का अर्थ है दूसरे के दृष्टिकोण को उतना ही महत्व देना जितना अपने दृष्टिकोण को दिया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई ज्ञान सर्वथा मिथ्या नही है और न सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी का ज्ञान पूर्ण सत्य है। सभी प्रतीतियाँ सापेक्ष सत्य हैं अर्थात् एक ही वस्तु को भिन्न अपेक्षाओ से अनेक रूपो मे प्रकट किया जा सकता है। वे रूप आपातत परस्पर विरोधी होने पर भी मिथ्या नही है। अपनी २ अपेक्षा से प्रत्येक दृष्टिकोण सत्य है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। व्यक्ति अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा से किसी एक धर्म को मुख्यता देता है। यदि वह अन्य धर्मो को गौण समझता है तो उसका ज्ञान सत्य है। यदि उनका अपलाप करता है, तो मिथ्या है।

आचार और विचार की इस समता को जीवन मे उतारने के लिए आचाराङ्ग-सूत्र मे एक उपाय बताया है कि व्यक्ति दूसरे के साथ व्यवहार करते समय, उसके स्थान पर अपने को रख कर देखे। जिस व्यवहार को वह अपने लिए बुरा मानता है, उसे दूसरे के साथ न करे।

वेदान्त के अनुसार व्यक्तित्व के स्व केन्द्रित होने का कारण अविद्या अर्थात् अनात्मा में आत्म बुद्धि है। बौद्ध धर्म के अनुसार इसका कारण तृष्णा है। जैन धर्म के अनुसार विषमता का कारण मोह है। इसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जीवन में जैसे २ इनकी उत्कटता घटती जाती है, आत्मा की निर्मलता बढ़ती जाती है और उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं को चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—जिस जीव में मोह की उत्कृष्ट मात्रा है वह मिथ्यात्वी है। अर्थात वह आत्म विकास के मार्ग पर आया ही नहीं। वह दृष्टि एवं चारित्र दोनों दृष्टियों से अविकसित है। दूसरी श्रेणी अपेक्षाकृत मन्द कषाय वाले उन व्यक्तियों की है जो आत्म विकास के मार्ग को अच्छा तो मानते हैं किन्तु उस पर चलने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। वे सम्यग दृष्टि हैं अर्थात दृष्टि की अपेक्षा ठीक मार्ग पर होने पर भी चारित्र की दृष्टि में अविकसित हैं। तीसरी श्रेणी मन्दतर कषाय वाले गृहस्थों की है जो चारित्र को आंशिक रूप से अपनाते हैं। चौथी श्रेणी मन्दतम कषाय मुनियों की है जो चारित्र को पूर्णतया अपनाते हैं। कषाय के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर व्यक्ति कैवल्य या आत्म विकास की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

उपरोक्त श्रेणी विभाजन का आधार कर्म सिद्धान्त है और यह माना गया है कि प्राणियों में विषमता का कारण कर्म बन्धन है। व्यक्ति के भले बुरे आचार एवं विचारों के अनुसार आत्मा के साथ कर्म परमाणु बंध जाते हैं और वे ही सुख दुःख आदि का कारण बनते हैं। वे जैसे २ दूर होते जाते हैं आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता जाता है। पूर्णतया शुद्ध आत्मा ही परमात्मा कहा जाता है। जितने आत्मा इस प्रकार शुद्ध हो गए हैं सभी परमात्मा बन गये हैं। उनके अतिरिक्त जगत का रचयिता या नियन्ता कोई व्यक्ति विशेष नहीं है।

व्यवहारिक क्षेत्र में विषमता का कारण ममत्व या परिग्रह है। वह दो प्रकार का है—बाह्य वस्तुओं का परिग्रह और विचारों का परिग्रह। वस्तुओं का परिग्रह आचार में हिंसा को जन्म देता है और विचारों का परिग्रह विचार सम्बन्धी हिंसा को।

जैन साधुओं के लिये पांच महाव्रतों का विधान है अहिंसा सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वास्तव में देखा जाय तो ये अहिंसा या अपरिग्रह का ही

विस्तार है। अपरिग्रह के विना अहिसा की साधना नही हो सकती। ये पाचो महाव्रत जैन साधना के मूल तत्त्व हैं।

जैन धर्म, दर्शन एवं परम्परा को विहगम दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि सब का केन्द्र विन्दु एक मात्र समता है। वही समता नीचे चार क्षेत्रो में वट गयी है—

१ आचार मे समता—अहिसा जैन आचार का मूल तत्त्व।

२ विचार मे समता—स्याद्वाद जैन-दर्शन का मूल तत्त्व।

३ प्रयत्न और फल मे समता—कर्म सिद्धान्त—जैन नीतिशास्त्र का मूल तत्त्व।

४ सामाजिक समता—व्यक्ति पूजा के स्थान पर गुण पूजा—जैन सघ व्यवस्था का मूल आधार।

प्रथम तीन समताओं के विषय मे सक्षिप्त वताया जा चुका है। चौथी के विषय मे कुछ लिखने की आवश्यकता है।

जो व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है उसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को छोड कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म मे विश्वास प्रकट करना होता है। देव आदर्श का कार्य करते हैं, गुरु उस आदर्श पर पहुँचने के लिये पथ-प्रदर्शक का और धर्म वह पथ है। देव या गुरु के स्थान पर किसी लौकिक या लोकोत्तर व्यक्ति विशेप को नही रखा गया न ही किसी वर्ण विशेप को महत्व दिया गया है। किन्तु आध्यात्मिक विकास के द्वारा प्राप्त पदो को महत्व दिया गया है। जो विकास की सर्वोच्च भूमिका पर पहुँच गये हैं वे देव हैं और जो साधक होने पर भी अपेक्षाकृत विकसित है, वे गुरु हैं।

जैन परम्परा मे नमस्कार मत्र तथा मगल पाठ का बहुत महत्व है। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे उसका उच्चारण किया जाता है। नमस्कार मन्त्र मे पॉच पदो को नमस्कार है। अर्हन्त अर्थात् जीवन-मुक्त, सिद्ध अथवा पूर्ण-मुक्त ये दोनो देव तत्त्व के रूप मे माने जाते हैं। शेप तीन हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीनो गुरु तत्त्व मे आते हैं।

मगल-पाठ मे अर्हन्त, सिद्ध, साधु एव धर्म इन चार को मगल, लोकोत्तम तथा शरण वताया गया है।

जैन अनुष्ठानो मे सामायिक के वाद प्रतिक्रमण का स्थान है। इसका अर्थ है—प्रत्यालोचना। व्यक्ति जान कर या अनजान मे किये गये कार्यो का पर्यवेक्षण

करता है और अङ्गीकार किये हुए व्रतों में किसी प्रकार की स्खलना के लिये पश्चात्ताप प्रकट करता है। यह प्रतिक्रमण रात्रि के लिए प्रातः सूर्योदय से पहले तथा दिन के लिये सायं सूर्यास्त होने पर किया जाता है। साधु के लिए दोनों समय वाला प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। पन्द्रह दिन के लिए किया जाने वाला पाक्षिक चार मास के पश्चात किया जाने वाला चातुर्मासिक तथा वर्ष के अन्त में किया जाने साम्वत्सरिक प्रतिक्रमण कहलाता है। जिस दिन यह प्रतिक्रमण किया जाता है उसे संवत्सरी या पर्युषण कहते हैं। यह जैन धर्म का सबसे बड़ा पर्व है। जो व्यक्ति उस दिन प्रतिक्रमण करके पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि नहीं करता उसे अपने को जैन कहने का अधिकार नहीं है।

प्रतिक्रमण के अन्त में संसार के समस्त जीवों से क्षमा प्रार्थना द्वारा मैत्री की घोषणा की जाती है। यह घोषणा प्रतिक्रमण का निष्कर्ष है। वह इस प्रकार है—

खामेमि सव्वजीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ ण केणई॥

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। सब प्राणियों से मेरी मित्रता है किसी से वैर नहीं है।

संक्षेप में जैन धर्म का लक्ष्य बिन्दु

नीचे लिखे सिद्धान्तों में प्रकट किया जा सकता है—

१ प्राणी मात्र के प्रति समता की आराधना ही जैन साधना का लक्ष्य है।

२ विषमता का कारण मोह है। विचारों का मोह एकान्त या दृष्टि दोष है। व्यवहार में मोह चरित्र दोष है। इन दोनों को दूर करके ही आत्मा परम आत्मा बन सकता है।

३ मनुष्य के सुख दुःख पर किसी बाह्य शक्ति का नियन्त्रण नहीं है व्यक्ति स्वयं ही उनका कर्ता तथा भोक्ता है।

४ मनुष्य सर्वोपरि है चारित्र सम्पन्न होने पर वह देवों का भी पूज्य बन जाता है।

५ मनुष्यो मे परस्पर जन्मकृत कोई भेद नही है। ब्राह्मण या शूद्र सभी साधना के द्वारा परम-पूज्य अर्थात् देवाधिदेव बन सकते हैं।

जैन धर्म और व्यक्ति

व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से देखा जाय तो जैन धर्म मे वे सभी तत्त्व मिलते हैं जो पूर्णतया विकसित एव शक्तिशाली व्यक्तित्व के लिए आवश्यक हैं।

हमारा व्यक्तित्व कितना दुर्बल या सबल है इसकी कसौटी प्रतिकूल परिस्थिति है। जो मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियो मे घबरा जाता है उसका व्यक्तित्व उतना ही दुर्बल समझना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थिति को हम नीचे लिखे तीन भागो मे बॉट सकते हैं—

१ प्रतिकूल व्यक्ति—जो व्यक्ति हमारा शत्रु है हमे हानि पहुँचाने वाला है या हमारी रुचि के अनुकूल नहीं है, उसके सम्पर्क मे आने पर यदि हम घबरा जाते हैं या मन ही मन कष्ट का अनुभव करते हैं तो यह व्यक्तित्व की पहली दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमने अहिसा को जीवन मे नही उतारा और सर्वमैत्री का पाठ नही सीखा।

२ प्रतिकूल विचार—अपने जमे हुए विश्वासो के विपरीत विचार उपस्थित होने पर यदि हम घृणा का अनुभव करते है, उन विचारो को नही सुनना चाहते या उन पर सहानुभूति के साथ मनन नही कर सकते तो यह दूसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि के अनुसार इसका अर्थ होगा कि हमने स्याद्वाद को जीवन मे नही उतारा।

३ प्रतिकूल वातावरण—इसके तीन भेद हैं—

(क) इष्ट की अप्राप्ति अर्थात धन-सम्पति सुख-सुविधाएँ परिजन आदि जिन वस्तुओ को हम चाहते हैं उनका न मिलना।

(ख) अनिष्ट की प्राप्ति—अर्थात् रोग प्रियजन का वियोग सम्पत्ति-नाश आदि जिन बातो को हम नही चाहते उनका उपस्थित होना।

(ग) विघ्न-बाधाएँ—अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि मे विविध प्रकार की अडचने आना। इन तीनो परिस्थितियो मे घबरा जाना व्यक्तित्व की तीसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमे कर्म सिद्धान्त पर विश्वास नही है। दूसरे शब्दो

म व्याकुलता घबराहट एव उत्साह हीनता क दो कारण हैं। या तो हम पराव लम्बी हैं अर्थात हम मानते हैं की सुख की प्राप्ति आत्मा को छाडकर अन्य तत्त्वा पर अवलम्बित है अथवा ये मानते हैं कि आत्मा दुबल होन क कारण प्रतिकूल परिस्थिति एव विघ्न बाधाओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। जन धम म आत्मा को अनन्त चतुष्टयात्मक माना गया है। अर्थात यह अन त ज्ञान अनन्त दशन अनन्त सुख और अनन्त वीय स्वरूप है। सुख का बाहर ढूढने का अर्थ है हम आत्मा के अन त सुख म विश्वास नही है इसी प्रकार विघ्न बाधाओं के सामन हार मानने का अर्थ है हमे आत्मा के अनन्त वीय म विश्वास नही है। इस प्रकार हम दखते हैं जन धम व्यक्तित्व विकास के सभी आवश्यक तत्वों का उपस्थित करता है।

जन धम और समाज

समाज शास्त्र का अर्थ है—'स्व और 'पर क सम्बन्धों की चर्चा। इसकी दो भूमिकाएँ हैं लौकिक तथा लोकोत्तर। दार्शनिक या आध्यात्मिक भूमिका को लोकोत्तर भूमिका कहा जायेगा और भौतिक अस्तित्व के लिये जो परस्पर व्यवहार आवश्यक है उस लौकिक भूमिका। लोकोत्तर भूमिका की दृष्टि स वेदान्त का कथन है कि स्व' को इतना व्यापक बना दो कि 'पर' कुछ न रह। तत्त्वमसि का सदश सकुचित परिधि वाले जीव को प्रेरणा देता है कि वह अपने को ब्रह्म समझे जिसमे जड और चेतन, सारा विश्व समाया हुआ है। जिसम भिन्न कुछ नहीं है। दूसरी ओर बौद्ध दशन का सदेश है, कि स्व का इतना सूक्ष्म बनाते जाओ कि वह कुछ न रह। सब कुछ पर हो जाये। तुम्हारा रहन सहन जीवन यहा तक कि आध्यात्मिक साधना भी 'पर क लिए बन जाय। महायान इसी का प्रतिपादन करता है। जन धम का कथन है कि स्व' और पर दोनो का अस्तित्व वास्तविक है वह अब तक रहा है और भविष्य म रहगा उसे मिटाया नहीं जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि 'स्व का जीवन ऐसा बन जाय जिसस पर' का लेश मात्र भी शोषण न हो। इसी प्रकार वह इतना स्वावलम्बी हो जाय कि 'पर' उसका शोषण न कर सक। जब तक भौतिक अस्तित्व है यह अवस्था नही प्राप्त हो

सकती। अत भौतिक अस्तित्व के साधना-काल मे इन दोनो वृत्तियो का अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास के पूर्ण होने पर मानव समस्त भौतिक वन्धनो से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम मोक्ष, परमात्मावस्था या परमपद है।

लौकिक दृष्टि से मनुष्य की वृत्तियो को तीन भूमिकाओ मे वॉटा जा सकता है–(१) स्वार्थ (२) परार्थ और (३) परमार्थ।

(१) स्वार्थ भूमिका मे मनुष्य अपने भौतिक अस्तित्व तथा सासारिक कामनाओं की पूर्ति को सर्वोपरि मानता है। इसके लिए दूसरो की हिंसा या शोषण करने मे किसी प्रकार का सकोच नही करता। यह भूमिका धर्म शास्त्र की दृष्टि में ससार या पाप की भूमिका समझी जाती है। वेदान्त मे इसे अविद्या कहा गया है। बौद्ध दर्शन मे मोह या मिथ्यात्व। योगदर्शन मे चित्तवृत्ति के दो प्रवाह वताए गए हैं–ससार प्राग्भारा और कैवल्यप्राग्भारा। उपरोक्त अवस्था का सम्वन्ध प्रथम प्रवाह से है।

(२) परार्थवृत्ति मे मनुष्य 'स्व' के क्षेत्र को कुटुम्व, परिवार, जाति तथा राष्ट्र से वढाता हुआ समस्त विश्व तक फैला देता है। उसके हित को अपना हित तथा अहित को अपना अहित मानने लगता है क्षेत्र जितना सकुचित होगा व्यक्ति उतना ही स्वार्थी कहा जाएगा। तथा क्षेत्र जितना विकसित होगा उतना ही परार्थी। जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि की उन्नति के लिए जो कार्य किए जाते हैं वे सभी इस कोटि मे आते हैं।

(३) परार्थ की तरतमता को जानने के चार तत्त्व हैं–(१) क्षेत्र की व्यापकता (२) त्याग की उत्कटता (३) उद्देश्य की पवित्रता और (४) परिणाम का मगलमय होना। क्षेत्र की व्यापकता का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। यहॉ यह प्रश्न उपस्थित होता है, क्या क्षेत्र विशेप तक सीमित परार्थ वृत्ति धर्म का अङ्ग वन सकती है ? एक व्यक्ति अपनी जाति अथवा राष्ट्र की सीमा मे प्रत्येक सदस्य का कल्याण एव विकास चाहता है और इसके लिए उस क्षेत्र के वाहर हिसा तथा अत्याचार करने मे भी नही हिचकता। हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं। उन्होने जिस वर्ग या क्षेत्र को ऊँचा उठाया वह उन्हे देवता या ईश्वर मानता रहा किन्तु वाह्य क्षेत्र के लिए वे दानव सिद्ध हुए। दूसरी श्रेणी उन लोगो की है जो अपने क्षेत्र मे परस्पर रचनात्मक परार्थवृत्ति का अनुसरण करते हैं।

कि तु उसके बाहर तटस्थ हैं। तीसरे वे हैं जिनका लक्ष्य व्यापक है कि तु कायक्षत्र की दष्टि से अपनी शक्ति तथा मर्यादा के अनुसार आगे बढते हैं अर्थात व समस्त विश्व का कल्याण चाहते हैं। किन्तु रचनात्मक काय करने के लिए सुविधानु सार क्षेत्र चुन लेत हैं। उपरोक्त दाना वग धम की काटि म आत हैं।

यहा एक प्रश्न और उपस्थित होता है, पराथ के लिए रचनात्मक काय का रूप *क्या होगा ? क्या कोई ऐसा काय है जिससे किसी को कष्ट न पहुँचे ?* एक व्यापारी अपन जाति ब धु का ऊँचा उठाने के लिए व्यापार मे लगा देता है और कुछ ही दिनो मे उसे लखपति बना देता है। क्या यह उपकार धम कहा जाएगा ? इसक उत्तर मे कई अपक्षाएँ हैं व्यापारी ने यदि उसकी सहायता किसी लौकिक स्वाथ से की है तो वह काय सामाजिक दष्टि से उचित हाने पर भी धम काटि मे नही आता कि तु यदि ऐसा कोई स्थूल स्वाथ नही है ता स्वाथ त्याग की दष्टि से वह धम है। साथ ही उसका परिणाम दरिद्र जनता का शाषण है तो वह आदि म मगल होने पर भी परिणाम म मगल नही है। परिणाम मे मगल तभी हा सकता है जब व्यक्ति अपने आध्यात्मिक गुणा का विकास करता हुआ ऊँचा उठे और किसी के लिए अमगल न बने। भौतिक दष्टि से की गई सहायताआ मे धम का यह शुद्ध रूप नही आता। वह त्यागी जीवन मे ही आ सकता है। अत जिस प्रकार परम मगल की पराकाष्ठा भौतिक अस्तित्व की समाप्ति मे हाती है इसी प्रकार परम मगल की शुद्ध साधना मुनि जीवन मे ही हा सकती है। सामाजिकता और शुद्ध धम का मेल सम्भव नही।

फिर भी व्यक्ति जब तक उस स्तर पर नही पहुचता तब तक स्वाथवत्ति से ऊपर उठकर धीरे धीर सामाजिकता का विकास उपादय ही है। पराथ, परमाथ पर पहुँचने की साधना है। स्वाथ क लिए सब कुछ करना किन्तु पराथ के समय हिंसा अहिंसा आदि की चर्चा करना दम्भ या मिथ्याचार है।

जन धम म व्यक्ति का लक्ष्य परमाथ माना गया है कि तु उसका साधना क *लिए पराथ या समाज हित का भी उपादय बताया गया है। इस भूमिका को श्रावक* की भूमिका कहा गया है। जहाँ व्यक्ति पर शोषण की वत्ति को उत्तरोत्तर घटाता जाता है और उसक लिए विधि तथा निषेध दानो मागा को अपनाता है। विधि

के रूप मे वह पर-पोषण अर्थात् पर-हित या परोपकार के कार्यो को अपनाता है। और निषेध के रूप मे पर-शोषण के क्षेत्र को सकुचित करता जाता है।

आध्यात्मिक या कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यह बताया जा चुका है कि जैन धर्म मोहनाश पर बल देता है। इसके मुख्य चार भेद हैं--क्रोध, मान, माया और लोभ।

मनुष्य का आध्यात्मिक विकास इन्ही की उत्तरोत्तर न्यूनता पर अवलम्बित है। यह न्यूनता दो प्रकार से सम्पादित होती है, निरोध द्वारा तथा मगली-करण द्वारा। मन मे क्रोध उठने पर उसके बुरे परिणामो को सोचना, मैत्रीभावना द्वारा द्वेषवृत्ति को शान्त करना, चित्त को आत्मचिन्तन मे लगा देना आदि निरोध के मार्ग हैं किन्तु क्रोध को किसी उपयोगी प्रवृत्ति मे बदल देना उसका मगलीकरण है। क्रोध का उदय तब होता है जब व्यक्ति की स्वतन्त्र वृत्ति मे बाधा खडी हो जाती है। वह बोलना चाहता है किन्तु किसी कारण नही बोल पाता, करना चाहता है किन्तु नही कर पाता। इसी प्रकार खाने-पीने, उठने-बैठने, देखने-सुनने आदि के विषय मे इच्छा का व्याघात होने पर मनुष्य क्रोध करने लगता है। वास्तव मे देखा जाय तो यह उत्साह का व्याघात है। इसकी सहारक प्रतिक्रिया क्रोध है और रचनात्मक प्रतिक्रिया शुभकार्य मे द्विगुणित उत्साह है। व्यक्ति जब दूसरे का हित करता है तो छिपे रूप मे अस्मिता का पोषण होता है, और उसे सात्विक आनन्द प्राप्त होता है, उत्साह की वृद्धि होती है और क्रोध वृत्ति अपने आप घट जाती है। यह क्रोध के मगलीकरण की प्रतिक्रिया है।

दूसरी कषाय 'मान' है। यह अहकार, अभिमान, दर्प आदि शब्दो द्वारा प्रकट किया जाता है। इसमे मनुष्य अपने को दूसरो की अपेक्षा बडा समझता है और दूसरो से आदर सत्कार की अपेक्षा रखता है। यह आकाक्षा वेश-विन्यास, आडम्बर, धन-वैभव का प्रदर्शन या अन्य बाह्य तत्त्वो के आधार पर पूरी की जाती है तो वह हेय है किन्तु यदि उसी आकाक्षा को दूसरो की सहायता, उदारता तथा आन्तरिक गुणो के विकास द्वारा पूरा किया जाए तो व्यक्ति समाजहित के साथ-साथ आत्म-शुद्धि की ओर अग्रसर होता है।

तीसरी कषाय 'माया' है। दूसरे की निन्दा, कपट, कुटिलता आदि इसी मे आते हैं। जब इसका प्रयोग किसी के प्रति ईर्ष्या या बुरी भावना से प्रेरित होकर किया

जाता है तो हय है पर तु यदि इसका प्रयोग दूसरो के हित साधन या रचनात्मक कार्यो म किया जाए तो उसीका नाम काय कुशलता हो जाता है जा समाज के लिए उपयोगी तत्त्व है।

चौथी कपाय लोभ है। व्यक्ति जब धन सम्पत्ति या अ य किसी बाह्य वस्तु मे इतना आसक्त हो जाता है कि भले बुरे का विवेक नही रहता, उस वस्तु की प्राप्ति क लिए सब कुछ करने को तयार हो जाता है तो वह लोभ है और वह हय है कि तु यदि मूर्छा अथवा आसक्ति को कम करते हुए लगन या निष्ठा को कायम रखा जाय तो वही वत्ति उपयोगी तत्त्व बन जाती है।

राग द्वप आदि अ य पाप वत्तियो का भी इसी प्रकार परिष्कृत और मगलमय बनाया जा सकता हैं। श्रावक की चया म इसी मगलीकरण की मुख्यता है। वह सामाजिकता के द्वारा चित्त का परिष्कार करता है और इस प्रकार आत्मशुद्धि की ओर बढता है।

जहा समाज सगठन का लक्ष्य स्व वग तक सीमित है और उसके सामने विश्व कल्याण या आत्मशुद्धि सरीखा कोई पारमार्थिक लक्ष्य नही है। वहा सामाजिकता या राष्ट्रीयता घातक बन जाती है। हिटलर कालीन जमनी तथा दूसरो के उत्पीडन द्वारा अपने भौतिक विकास की इच्छा करने वाले अनेक सगठनो क उदाहरण हमार सामने हैं। उन्ह स्वस्थ समाज नही कहा जा सकता। रचनात्मक काय की दष्टि से सामाजिकता किसी क्षेत्र तक सीमित रह सकती है कि तु उसका लक्ष्य सर्वोदय या आत्मकल्याण ही होना चाहिए तभी उसे स्वस्थ सामाजिकता कहा जा सकता है। प्रत्येक श्रावक प्रतिदिन घोषणा करता है कि मेरी सब प्राणियो से मित्रता है। किसी स वर नही है। सद्धा तिक दष्टि से व्यापक होने पर भी मित्रता का वि या त्मिक रूप असीम नहो हो सकता अत उसके साथ यह भी लगा हुआ है कि मेरा किसी से वर नही है। अर्थात क्षत्र विशेष म मित्रता का पोषण दूसरो के शोषण द्वारा नही होना चाहिए। यह आदश स्वस्थ समाज रचना के लिए अनिवाय है।

द्वितीय खण्ड

उपासकदशांग-अन्तरंग परिचय

जैन साधना या विकास का मार्ग—

जैन धर्म के अनुसार साधना द्वारा किसी वाह्य वस्तु की प्राप्ति नही की जाती, किन्तु अपना ही स्वरूप जो वाह्य प्रभाव के कारण छिप गया है, प्रकट किया जाता है। जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो वही परमात्मा बन जाता है। परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन साधना का लक्ष्य है। इस पद की प्राप्ति के लिए जीव अपने विकारो को दूर करता हुआ क्रमश आगे बढता है। विकास की इन अवस्थाओ को गुण-श्रेणी कहा जाता है। इनका विभाजन आचार्यो ने कई प्रकार से किया है। पूज्यपाद ने अपने समाधि-तन्त्र मे नीचे लिखी तीन श्रेणिया बताई हैं—

१ बहिरात्मक—मिथ्यात्व से युक्त आत्मा, जो वाह्य प्रवृत्तियो मे फसा हुआ और आत्मोन्मुख नही हुआ।

२ अतरात्मा—सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् और पूर्ण विकास से पहले, साधक आत्मा।

३ परमात्मा—पूर्ण विकास कर लेने के पश्चात्।

गुणस्थानो की दृष्टि से उन्ही को चौदह श्रेणियो मे बाँटा गया है। कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा से उन्हे चार श्रेणियो मे बाटा गया है।

आत्मा मे जो चार अनन्त बताए गए हैं उनको दबाने वाले चार कर्म हैं। ज्ञानावरणीय कर्म अनन्त ज्ञान को ढापता है, दर्शनावरणीय दर्शन को, अन्तराय वीर्य को और मोहनीय आध्यात्मिक सुख को। इनमे से पहले तीन कर्मो का नाश विकास की अन्तिम अवस्था मे होता है। बीच की अवस्था मे जो विकास होता है वह मोहनीय कर्म के क्रमिक हटने से सम्बन्ध रखता है। ज्यो ज्यो मोहनीय का प्रभाव कम होता जाता है त्यो-त्यो जीव ऊची श्रेणियो मे चढता जाता है। और अन्त मे उसका सर्व नाश करके कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। बौद्ध दर्शन में जो स्थान तृष्णा का है, वही स्थान जैन दर्शन मे मोह का है। जिसे कर्म सिद्धान्त मे मोहनीय-

कम कहा जाता है । इसके दो भेद हैं—दशनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । दशन का अथ है श्रद्धा । दशनमोहनीय मिथ्यात्व या विपरीत श्रद्धा को उत्पन्न करता है । उसका प्रभाव हटने पर ही जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है । इसलिए आध्यात्मिक विकास क्रम मे पहला कदम सम्यक्त्व है ।

चारित्रमोहनीय चारित्र का बाधक है । उसके कारण जीव क्रोध मान, माया तथा लोभ म फसा रहता है । उपरोक्त कषायो की तीव्रता एव म दता के आधार पर प्रत्येक के चार भेद किए गए हैं—अन तानुब धी अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्याना वरणी और सज्वलन । इनम अन तानुब धी तीव्रतम है । उसके रहते जीव सम्यक्त्व का भी नही प्राप्त कर सकता । उसे तथा दशन मोहनीय को दूर करके ही जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है । दूसरी शक्ति अप्रत्याख्यानावरणी का दूर करके वह श्रावक बनता है तीसरी को दूर करके साधु और चौथी को दूर करके परमात्मा । उसी आधार पर विकास माग का भी नीचे लिखी चार श्रेणिया म विभाजन किया जाएगा—सम्यग्दष्टि, श्रावक साधु और केवली ।

सम्यग्दष्टि—

आत्म शुद्धि के माग पर चलने की पहली सीढी सम्यक्त्व है । इसी का सम्यग दशन या सम्यग्दष्टि भी कहा जाता है । सम्यक्त्व का अथ है ठीक रास्ते का प्राप्त करना । जब जीव इधर उधर भटकना छोडकर आत्म विकास के ठीक रास्ते को प्राप्त कर लेता है तो उसे सम्यग्दष्टि या सम्यक्त्व वाला कहा जाता है । ठीक माग का प्राप्त करने का अथ है मन मे पूरी श्रद्धा होना कि यही माग कल्याण की ओर ले जाने वाला है । उस माग पर चलने की रुचि जागत होना और विपरीत मार्गो का परित्याग करना ।

शास्त्रो म सम्यक्त्व के दो रूप मिलते हैं—पहला बाह्य रूप है । इस का अथ है देव गुरु और धम म श्रद्धा । दूसरा आभ्य तररूप है इसका अथ है आत्मा की वह निमलता जिससे सत्य को जानने की स्वाभाविक अभिरुचि जागत हो जाए । नीचे इन दोनो रूपो का वणन किया जायगा ।

सम्यक्त्व का बाह्य रूप—

जब कोई व्यक्ति जन धम स्वीकार करता है तो नीचे लिखी प्रतिज्ञा करता है—

अरिहतो मह देवो, जाव जीवाए सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्त तत्त, इअ सम्मत्त मए गहिय ।।

अर्थात्—समस्त जीवन के लिए अरिहन्त मेरे देव हैं । साधु गुरु हैं और जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादन किया हुआ तत्त्व ही धर्म है । इस प्रकार मैं सम्यक्त्व को ग्रहण करता हूँ ।

देव—

मम्यक्त्व की व्यवस्था मे सवसे पहले देव-तत्त्व आता है । भारतीय परम्परा मे उसकी कल्पना के दो रूप हैं । पहला रूप वैदिक परम्परा मे मिलता है । उसमे देव की कल्पना वरदाता के रूप में की गई है । इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओ की स्तुति करने से वे इच्छापूर्ति करते थे । उसके वाद जव अनेक देवताओ का स्थान एक देवता ने ले लिया तो वह भी भक्तो को सुख देने वाला बना रहा । जिन धर्मो का मुख्य ध्येय सासारिक सुखो की प्राप्ति है, उन्होने देवतत्त्व को प्राय इसी रूप मे माना है ।

जैन धर्म अपने देवता से किसी वरदान की आशा नही रखता । वह उसे आदर्श के रूप मे स्वीकार करता है । वास्तव मे देखा जाय तो आत्मशुद्धि के मार्ग मे वरदान का कोई स्थान नही है । इस मार्ग मे आगे बढने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वय परिश्रम करना होता है । कदम कदम वढा कर आगे चलना होता है । कोई किसी को उठा कर आगे नही रख सकता । यहाँ कोई दूसरा यदि उपयोगी हो सकता है तो इतना ही कि मार्ग बताने के लिए आदर्श उपस्थित कर दे । जिससे साधक उस लक्ष्य को सामने रख कर चलता रहे । जैन धर्म का देवतत्त्व उसी आदर्श का प्रतीक है । वह वताता है कि हमे कहाँ पहुँचना है । वह हमारी यात्रा का चरम लक्ष्य है ।

अरिहन्त और ईश्वर—

पातञ्जलयोगदर्शन मे भी ईश्वर की कल्पना आदर्श के रूप मे की गई है । उसमे बताया गया है कि जो पुरुष विशेष सासारिक क्लेश, कर्म विपाक तथा उनके फल से सदा अछूता रहा है, वही ईश्वर है । उसीका ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है । और साधक उत्तरोत्तर विशुद्धि तथा ऊँची समाधि को प्राप्त करता है । जैन धर्म मे भी अरिहन्त का ध्यान उसी उद्देश्य से किया जाता है । किन्तु अरिहन्त

और यागदशन के ईश्वर म भी एक भेद है। योगदशन का ईश्वर कभी कर्मों स लिप्त नही हुआ। वह सदा स अलिप्त है। इसके विपरीत अरिहन्त हमारे सरीखी साधारण अवस्था से उठ कर परम अवस्था को पहुचे हैं। व जीवात्मा म परमात्मा बने हैं। योगदशन का ईश्वर सदा स सिद्ध है। जन धम के अरिह त साधना द्वारा सिद्ध हुए हैं। यागदशन के ईश्वर आदश थे और आदश रहगे। जीव उस अवस्था को कभी नही पहुँच सकता। अरिह त भी आदश हैं कि तु साधना करता हुआ प्रत्येक जीव उनके बराबर हो सकता है। यागदशन का ईश्वर समुद्र म चलन वाले जहाजो के लिए ध्रुव के समान है। जिसे दख कर सभी चलत हैं कि तु वहाँ पहुँचता कोई नही। अरिहन्त परल किनार पर पहुचे हुए जहाज के प्रकाश स्तम्भ के समान हैं जहा पहुचने पर प्रत्येक जहाज स्वय प्रकाशस्तम्भ बन जाएगा।

अरिहन्त शब्द की व्याख्या—

अरिहन्त शब्द की व्याख्या तीन प्रकार से की जाती है। पहली व्याख्या के अनुसार अरिह त शब्द का अथ है—शत्रुओ का नाश करने वाला। जिस साधक न क्रोध मान माया लोभ राग, द्वेष आदि आत्म शत्रुओ का नाश कर दिया है वही अरिह त है। जन साधक अपने आदश के रूप मे एस व्यक्तित्व को रखता है जिसने आत्मा की सभी दुबलताओ का अन्त कर दिया है। अरिहन्त शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति 'अहत' के रूप म की जाती है। इसका अथ है योग्य। जो जीव आत्म विकास करते हुए पूणता को प्राप्त कर लेता है मुक्त होन की योग्यता प्राप्त कर लेता है वह अहत है। जनदशन के अनुसार आत्मा म अनन्तज्ञान है अन त दशन है अन त सुख है और अन त वीय है। कर्मों के आवरण के कारण आत्मा की ये शक्तियाँ दबी हुई हैं। अहन् अवस्था म वे पूणतया प्रकट हो जाती हैं। इस शब्द की तीसरी व्युत्पत्ति सस्कृत की अह् पूजायाम् धातु से की जाती है अथात जो व्यक्ति पूजा के योग्य है वह अहत है।

यहा एक बात उल्लेखनीय है। जन धम देवतत्त्व के रूप म किसी व्यक्ति विशेष को स्वीकार नही करता। जिस आत्मा ने पूण विकास कर लिया वह चाहे कोई हो अरिहन्त है और दव के रूप म व दनीय है।

यद्यपि जन परम्परा इतिहास के रूप मे चौबीस तीथकरो तथा दूसरे महापुरुषो को मानती है। उन्हे वन्दना भी करती है कि तु इसलिए कि उन्होने आत्मा का

पूर्ण विकास कर लिया। उसमे गुणो का महत्व है, व्यक्ति का नही। प्रत्येक नए काल के साथ नए तीर्थकर उत्पन्न होते हैं, नए युगप्रवर्तक होते हे, नए वन्दनीय होते हैं। पुराने मोक्ष चले जाते हैं, फिर वापिस नही लौटते। धीरे-धीरे उनकी स्मृति भी काल के गर्भ मे विलीन हो जाती है। नए युग की जनता नए तीर्थकरो की वदना करती है। पुरानो को भूल जाती है। अरिहन्त न तो ईश्वर के अवतार हैं, न ईश्वर के भेजे हुए दूत हैं, न ईश्वर के अश हैं। वे वह आत्माएँ हैं जिन्होने अपने आप मे सोए हुए ईश्वरत्व को प्रकट कर लिया है। जो अपनी तपस्या तथा परिश्रम के द्वारा जीवात्मा से परमात्मा बने हैं। जैन धर्म उन्ही को देव के रूप मे मानता है।

गुरु——

देवतत्त्व के बाद दूसरा नम्बर गुरुतत्त्व का आता है। प्रत्येक जैन यह प्रतीज्ञा करता है कि साधु मेरे गुरु हैं। साधु का अर्थ है पॉच महाव्रतो की साधना करने वाला। वे महाव्रत निम्नलिखित हैं—

(१) पाणाइवाआओ वेरमण—प्राणातिपात अर्थात् हिसा का परित्याग।

(२) मुसावाआओ वेरमण—मृषावाद अर्थात् असत्य भाषण का परित्याग।

(३) अदिन्नादानाओ वेरमण—अदत्तादान अर्थात् चोरी का परित्याग।

(४) मेहुणाओ वेरमण—मैथुन का परित्याग।

(५) परिग्गहाओ वेरमण—परिग्रह का त्याग।

इन महाव्रतो की रक्षा के लिए साधु पॉच समितियाँ तथा तीन गुप्तियो का पालन करता है। बाइस परीषहो को जीतता है। भिक्षाचरी, निवास, विहार, भोजन आदि प्रत्येक चर्या मे सावधान रहता है।

सयम के लिए आवश्यक उपकरणो को छोड़कर अपने पास कोई परिग्रह नही रखता। रुपया, पैसा तथा धातु से बनी हुई वस्तुएँ रखना भी जैन साधु के लिए वर्जित है। वस्त्र-पात्र भी इतने ही रखते हैं जिन्हे स्वयं उठा सके। विहार में किसी सवारी को काम मे नही लाते। सदा पैदल चलते हैं। अपना सारा सामान अपने ही कंधों पर उठाते हैं, नौकर या कुली नही रखते। स्वावलम्बन उनकी चर्या का मुख्य अङ्ग है।

प्राकृत भाषा मे जैन साधुओ के लिए समण शब्द का प्रयोग होता है। उसके

सम्यक्त्व म तीन रूप होन हैं—श्रमण, गमन और समता। इन तीन रूपा म जन साधु की चर्या का निचोड आ जाता है। सबसे पहले जन साधु श्रमण होता है। वह आ यात्मिक तथा आधिभौतिक सभी बातो म अपने ही श्रम पर निर्भर रहना है। आध्यात्मिक विकास क लिए तपस्या तथा सयम द्वारा स्वय श्रम करना है। भौतिक निर्वाह क लिए भी दूसर पर निर्भर नही रहता। अपने सारे काम स्वय करता है। भिक्षा क लिए भी कई घरा से थोडा थोडा आहार लेकर अपना निर्वाह करता है। किसी पर बोझ नहीं बनता। जब साधु गमन भी होना है। वह क्रोध मान, माया और लोभ रूप कषायो तथा इन्द्रिय वत्तियो का गमन करता है। अपनी आवश्यकताओ तथा इच्छाओ की सीमा म रखता है। अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि साधु समता का आराधक होता है। वह सभी प्राणियो पर सम दृष्टि रखता है। न किसी को शत्रु समझता है और न किसी को मित्र। सुख और दुख म समान रहता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता म समान रहता है। निन्दा और स्तुति मे समान रहता है। स्व और पर के प्रति समान रहना है। इस प्रकार वह समस्त विश्व को समान दृष्टि से देखता है। इसी बात को लक्ष्य म रख कर उत्तराध्ययन सूत्र म कहा गया है 'समयाए समणा होइ।'

देवतत्त्व साधना के आदर्श को उपस्थित करता है तो गुरुतत्त्व साधना का मार्ग बताता है। साधक का इधर उधर विचलित होने से रोकता है। शिथिलता आने पर प्रोत्साहन देता है। गर्व आने पर शान्त करता है।

धर्म तत्त्व—

सम्यक्त्व म तीसरी बात धर्म तत्त्व अर्थात दार्शनिक सिद्धान्तो की है। इसके लिए जन कहता है कि जिन ने जो कुछ कहा है वही मेरे लिए तत्त्व है। जन शब्द भी इसी आधार पर बना है। जिना के द्वारा बताए हुए रास्ते पर चलने वाला जन है।

जिन का अर्थ है जिसने राग, द्वेष को जीत लिया है। शास्त्रा म जिन की परिभाषा देते हुए दो बातें बताई जाती हैं। पहली—जिसने राग द्वेष को जीत लिया है। दूसरी जिसने पूर्ण ज्ञान का प्राप्त कर लिया है। कोई व्यक्ति जब गलत बात कहता है तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो कहने वाला उस बात को पूरी तरह जानता ही नही या जानते हुए भी किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर अन्यथा

कहता है। जिसमे ये दोनो दोष नही हैं। वे पूर्णज्ञानी भी हे और स्वार्थो से ऊपर हैं। इसलिए उनके द्वारा कही हुई वात मिथ्या नही हो सकती।

यहाँ बुद्धि-वादियो की ओर से यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति प्रत्येक वात को अपनी बुद्धि से जाँच कर क्यो न स्वीकार करे। किन्तु यह शर्त ठीक नही है। मनुष्य की बुद्धि इतनी क्षुद्र है कि सभी बातो का परीक्षण वह स्वय नही कर सकती। विज्ञान के क्षेत्र मे भी हमे प्राचीन अन्वेषणो को मान कर चलना होता है। यदि नया युग पुराने अनुभवो से लाभ न उठाए और प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्वेषण नए सिरे से प्रारम्भ करे तो प्रगति असम्भव है। हम जहाँ थे, वहाँ रह जाएँगे। इसलिए पुराने अनुभवो पर विश्वास करते हुए आगे वढना होता है। कुछ दिनो वाद व्यक्ति स्वय उन अनुभवो को साक्षात्कार कर लेता है। उस समय दूसरे के अनुभव पर विश्वास के स्थान पर सारा अनुभव अपना ही वन जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे इसी को कैवल्य अवस्था कहते हैं। उस दशा को प्राप्त करने से पहले दूसरे के अनुभवो पर विश्वास करना आवश्यक है।

बुद्धि मे एक दोष और भी है। वह प्राय हमारे मन मे जमे हुए अनुराग के सस्कारो का समर्थन करती है। यदि हम किसी को अच्छा मानते हैं तो बुद्धि उसी का समर्थन करती हुई दो गुण वता देगी। यदि किसी को बुरा मानते हैं तो बुद्धि उसके दोप निकाल लेगी। बुद्धि के आधार पर सत्य को तभी जाना जा सकता है जव चित्त शुद्ध हो। यह अनुराग और घृणा से ऊँचा उठा हुआ हो। चित्त शुद्धि के लिए साधना आवश्यक और श्रद्धा उसका पहला पाया है। हाँ, श्रद्धेय मे जिन गुणो की आवश्यकता है उसे जिन शब्द द्वारा स्पष्ट वता दिया गया है। जो व्यक्ति राग, द्वेप से रहित तथा पूर्ण ज्ञान वाला है चाहे कोइ भी हो उसकी वाणी मे विश्वास करने से कोई हानि नही है।

इसी वात को ऐतिहासिक दृष्टि से लिया जाता है तो श्रुतज्ञान या जैन आगमो की चर्चा की जाती है। जो ज्ञान दूसरो के अनुभव सुनकर प्राप्त किया जाय उसे श्रुत-ज्ञान कहा जाता है। जैन परम्परा मे जो ज्ञानवान् महापुरुप हुए हैं उनका अनुभव आगमो मे मिलता है, इसीलिए आगमो मे श्रद्धा रखने का प्रतिपादन किया जाता है।

सम्यक्त्व का आभ्यन्तर रूप—

देव गुरु और धर्म में विश्वास के रूप में सम्यक्त्व का जो स्वरूप बताया गया है वह बाह्य कारणों की अपेक्षा रखता है इसलिए बाह्य है। सम्यक्त्व का आभ्यन्तर रूप आत्मा की शुद्धि पर निर्भर है। वास्तव में देखा जाय तो बाह्य रूप आभ्यन्तर रूप की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जब आत्मा में विशेष प्रकार की शुद्धि आती है तो जीव में सत्य को जानने की स्वाभाविक रुचि प्रकट होती है। उस शुद्धि से पहले जीव सासारिक सुखों में फँसा रहता है।

जब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि जीव में पहले पहल उस प्रकार की शुद्धि कैसे आती है। इसके लिए सक्षेप में आत्मा का स्वरूप और उसके ससार में भटकने के कारणों को जानना आवश्यक है। जैन धर्म के अनुसार आत्मा अनादि तथा अनन्त है। न तो यह कभी उत्पन्न हुआ और न कभी नष्ट होगा। चार अनन्त इसके स्वभाव हैं—अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख अनन्त वीर्य। अर्थात आत्मा अनन्त वस्तुओं को जान सकता है। वह अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति का भंडार है।

आत्मा के ये गुण कर्मबन्ध के कारण दबे हुए हैं। कर्मों के कारण वह अल्पज्ञ, अल्पद्रष्टा अल्पसुखी तथा अल्पशक्ति बना हुआ है। कर्मों का बन्धन दूर होते ही उसके स्वभाविक गुण प्रकट हो जाएगे और वह अनन्तज्ञानी अनन्तद्रष्टा अनन्तसुखी तथा अनन्तशक्ति वाला बन जाएगा। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है कर्मबन्धन से छुटकारा पाने का प्रयत्न। कर्मों का आवरण जैसे जैसे पतला और अल्प होता जाता है आत्मा के गुण अपने आप प्रकट होते जाते हैं।

कर्म दो प्रकार के हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। पुद्गल द्रव्य के वे परमाणु जो आत्मा के साथ मिल कर उसकी विविध शक्तियों को कुण्ठित कर डालते हैं वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं। क्रोध मान माया, लोभ आदि के वे सस्कार जो आत्मा को बहिर्मुखी बनाए रखते हैं उसे अपने स्वरूप का भान नहीं होने देते वे भावकर्म हैं। इन कर्मों के कारण जीव अनादिकाल से ससार में भटकता रहा है और तब तक भटकता रहेगा जबतक उनसे छुटकारा नहीं पा लेता।

सम्यक्त्व के पाच चिह्न—

सम्यग्दृष्टि के जीवन में स्वाभाविक निर्मलता आ जाती है। उसका चित्त शान्त हो जाता है। दृष्टि दूसरे के गुणों पर जाती है दोषों पर नहीं। दुखी का

देखकर उसके मन मे स्वाभाविक करुणा उत्पन्न होती है। विना किसी स्वार्थ के दूसरे की सेवा करके उसके मन में प्रसन्नता होती है। शास्त्रो मे सम्यग्दृष्टि के पॉच चिन्ह वताए गए हैं—

१ शम—सम्यग्दृष्टि व्यर्थ के झगडे तथा कदाग्रहो से दूर रहता है, उसकी वृत्तिया शान्त होती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय मन्द होते हैं। राग और द्वेष मे उत्कटता नही होती। इसी का नाम शम है।

२ सवेग—सम्यग्दृष्टि का मन सासारिक सुखो की ओर आकृष्ट नही होता। गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी उसका मन त्याग की ओर झुका रहता है। शास्त्रो में इसकी उपमा तप्त-लोह पदन्यास से दी है। जिस प्रकार किसी मनुष्य को तपे हुए लोहे पर चलने के लिए कहा जाय तो वह डरते-डरते पैर रखता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सासारिक प्रपचो में डरते-डरते घुसता है।

३ निर्वेद—सासारिक भोगो के प्रति स्वाभाविक उदासीनता।

४ अनुकम्पा—ससार के सभी प्राणियो का दुःख दूर करने की इच्छा।

५. आस्तिक्य—आत्मा आदि तत्त्वो के अस्तित्व में दृढ विश्वास।

सम्यक्त्व के भेद—

कारक, रोचक तथा दीपक——

यह वताया जा चुका है कि देव, गुरु और धर्म मे दृढ श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। विश्वास कई प्रकार का होता है। असली विश्वास वह है जो कार्य करने की प्रेरणा दे। हमे यदि विश्वास हो जाय कि जिस कमरे मे हम वैठे हैं उसमे साप है तो कभी निश्चिन्त होकर नही वैठ सकते। वार-वार चारो ओर दृष्टि दौडाते रहेगे और पूरी तरह सावधान रहेगे। कोशिश यह करेगे कि जल्दी से जल्दी उस कमरे से वाहर निकल जाये। इसी प्रकार जिस व्यक्ति मे यह विश्वास जम गया कि सासारिक काम-भोग दुर्गति मे ले जाने वाले हैं वह कभी निश्चिन्त होकर नही वैठ सकता। वह कभी धन, सम्पत्ति, सन्तान आदि के मोह मे नही फस सकता। कर्त्तव्य वुद्धि से जव तक गृहस्थ अवस्था मे रहेगा, निर्लेप होकर रहेगा। हमेशा यह भावना रखेगा कि इस प्रपच से छुटकारा कव मिले। इस प्रकर की चित्तवृत्ति को सम्यक्त्व कहा जाता है। वह मनुष्य को कुछ करने के लिए प्रेरित करता है। वहाँ सोचना और करना एक-साथ चलते हैं। यही सम्यक्त्व मनुष्य को आगे वढाता है।

रोचक सम्यक्त्व—

कुछ लोगो का विश्वास रुचि उत्पन्न करके रह जाता है। ऐसे विश्वास वाला व्यक्ति धर्म मे श्रद्धा करता है, धर्म की बात उसे सुनना अच्छा लगता है। धार्मिक पुरुषो के दर्शन व धर्मचर्चा मे आनन्द आता है किन्तु वह कुछ करने के लिए तयार नही होता। ऐसे सम्यक्त्व को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं।

दीपक सम्यक्त्व—

कुछ लोग श्रद्धावान न होने पर भी दूसरो मे श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ऐसा सम्यक्त्व दीपक सम्यक्त्व कहलाता है। वास्तव मे देखा जाय तो यह मिथ्यात्व ही है। फिर भी दूसरो मे सम्यक्त्व का उत्पादक होने से सम्यक्त्व कहा जाता है।

सम्यक्त्व के पाच अतिचार—

ऊपर बताया जा चुका है कि अगीकृत मार्ग मे दृढ विश्वास साधना की प्रथम भूमिका है। डावाडोल मन वाला साधक आगे नही बढ सकता। उसे सदा सावधान रहना चाहिए कि मन मे किसी प्रकार की अस्थिरता या चचलता तो नही आ रही है। जैन शास्त्रो मे इसके निम्नलिखित पाच दोष बताए गए हैं—

१ शका—शास्त्रो द्वारा प्रतिपादित तात्त्विक बातो मे सन्देह होना। जिस व्यक्ति की आत्मा उसके ज्ञान दर्शन आदि स्वाभाविक गुणो तथा उनको आच्छन्न करने वाले कर्मो का उनसे छुटकारा प्राप्त करने के लिए प्रतिपादित मार्ग मे विश्वास नही है वह आगे नही बढ सकता। अत सिद्धान्तो मे अविचल विश्वास होना आवश्यक है। उनमे शका या सन्देह होना सम्यक्त्व का पहला दोष है।

२ काक्षा—अपने मार्ग को छोड कर दूसरे मार्ग की ओर झुकाव। प्राय देखा गया है कि व्यक्ति जिन बातो से अधिक परिचित हो जाता है उनके प्रति आकर्षण कम हो जाता है और नई बाते अच्छी लगती हैं। अगीकृत मार्ग मे भी ऐसी कठिनाइया आने लगती हैं लेकिन यह हृदय की दुर्बलता है। साधना का मार्ग कठोर है और कठोर रहेगा। उससे बचने के लिए इधर उधर भागना एक प्रकार का विघ्न है। आज कल धार्मिक उदारता के नाम पर इस दोष का प्रश्रय दिया जा रहा है और एक निष्ठा को साम्प्रदायिकता या सकुचित मनोवृत्ति कह कर बदनाम किया जा रहा है। इन दोनो का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए यदि धार्मिक कट्टरता दूसरो से द्वेष या घृणा के लिये प्रेरित करती है तो यह वास्तव मे बुरा है।

धर्म किसी से द्वेष करने के लिये नही कहता, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि सभी मार्गों को एक सरीखा कह कर किसी पर चलने का प्रयत्न न किया जाय। एक ही लक्ष्य पर अनेक मार्ग पहुँच सकते हैं किन्तु चलना एक ही पर होगा। जैन शास्त्रों मे सिद्धो के जो पन्द्रह भेद बताए गए हैं उनमे स्वलिग सिद्ध के समान परलिग सिद्ध को भी स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ है कि साधक साधु के वेश मे हो या अन्य किसी वेश मे, जैन परम्परा का अनुयायी हो या अन्य का, चारित्र शुद्धि द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। फिर भी किसी एक मार्ग को पकड कर उस पर दृढतापूर्वक चलना आवश्यक है। सर्व-धर्म समभाव का यह अर्थ नही है कि किसी पर न चला जाय। जो व्यक्ति आन्दोलन द्वारा लोक प्रिय बनना चाहता है वह कैसी ही बाते करे किन्तु किसी दूसरे मार्ग को बुरा न मानते हुए भी चलना किसी एक पर ही होगा, साधक का कल्याण इसी मे है। एक लक्ष्य और एक निष्ठा साधना के अनिवार्य तत्त्व हैं। प्रथम दोष लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है और द्वितीय निष्ठा से।

३ विचिकित्सा—फल के प्रति सन्देहशील होना। धार्मिक साधना का अतिम फल मोक्ष या निर्वाण है। आवान्तर फल आत्म शुद्धि है जो निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास के पश्चात् प्राप्त होती है। तब तक साधक को धैर्य रखना चाहिये और अपने अनुष्ठानो मे लगे रहना चाहिए। लक्ष्य सिद्धि के प्रति सन्देहशील होना साधना का तीसरा दोष है।

४ पर-पाषड प्रशसा—इसका अर्थ है अन्य मतावलम्बी की प्रशसा करना। यहाँ 'पर' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। पहला अर्थ है स्वय जिस मत को स्वीकार किया है उससे भिन्न मत की प्रशसा। उदाहरण के रूप मे बताया गया है कि व्यक्ति पुरुषार्थ तथा पराक्रम द्वारा अपने भविष्य को बदल सकता है। उसे बनाना या बिगाडना उसके हाथ मे है। इसके अतिरिक्त गोशालक नियतिवाद को मानता है उसका कथन है कि पुरुषार्थ व्यर्थ है जो कुछ होना है अवश्य होगा। उसमे परिवर्तन लाना सम्भव नही है। तीसरी परम्परा ईश्वरवादियो की है जिनका कथन है कि हमारा भविष्य किसी अतीन्द्रिय शक्ति के हाथ मे है हमे अपने उद्धार के लिये उसी से प्रार्थना करनी चाहिए। इन मान्यताओ के सत्यासत्य की चर्चा मे न जाकर यहा इतना कहना ही पर्याप्त है कि साधक इनकी प्रशसा करता है या इन के प्रति

सहानुभूति रखता है तो उसकी निष्ठा में शिथिलता आ जायेगी, अतः इस से बचे रहने की आवश्यकता है। पर शब्द का दूसरा अर्थ अन्य मतावलम्बी है। शिष्टाचार के नाते सभी को आदर देना साधक का कर्तव्य है। किन्तु प्रशंसा का अर्थ है उसकी विशेषताओं का अभिनन्दन। यह तभी हो सकता है जब साधक या तो उन्हें अच्छा मानता है या हृदय में बुरा मानता हुआ भी ऊपर से तारीफ करता है। पहली बात शिथिलता है जो कि साधना का विघ्न है दूसरी बात कपटाचार की है जो चारित्र शुद्धि के विपरीत है।

५ परपाषंड संस्तव—इसका अर्थ है भिन्न मत या उसके अनुयायी के साथ परिचय या मेल मिलाप रखना। यह भी एक निष्ठा का बाधक है। पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में चित्त विक्षेप के रूप में साधना के नौ विघ्न बतलाए हैं—व्याधि स्त्यान संशय प्रमाद आलस्य अविरति भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। इनमें संशय उपरोक्त शंका के समान है और भ्रांतिदर्शन विचिकित्सा के समान। बौद्ध धर्म में इन्हीं के समान पांच नीवरण बताए गए हैं।

श्रावक धर्म

जैन साधक की दूसरी श्रेणी श्रावक धर्म है। इसे संयमासंयम, देशविरति गृहस्थ धर्म आदि नामों द्वारा प्रकट किया जाता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि श्रमण परम्परा में त्याग पर अधिक बल दिया गया है। वहां विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है और यदि बाह्य सुख सामग्री उसमें बाधक है तो उसे भी हेय बताया गया है। फिर भी जैन परम्परा ने आध्यात्मिक विकास की मध्यम श्रेणी के रूप में एक ऐसी भूमिका को स्वीकार किया है जहां त्याग और भोग का सुन्दर समन्वय है। बौद्ध संघ में केवल भिक्षु ही सम्मिलित किये जाते हैं गृहस्थों के लिये स्थान नहीं है। किन्तु जैन संघ में दोनों सम्मिलित हैं। जहां तक मुनि की चर्या का प्रश्न है जैन परम्परा ने उसे अत्यन्त कठोर तथा उच्चस्तर पर रखा है। बौद्ध भिक्षु अपनी चर्या में रहता हुआ भी अनेक प्रवृत्तियों में भाग ले सकता है किन्तु जैन मुनि ऐसा नहीं कर सकता। परिणामस्वरूप जहाँ तप और त्याग की आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्वलित रखना साधु संस्था का कार्य है संघ के भरण पोषण एवं बाह्य सुविधाओं का ध्यान रखना श्रावक संस्था का कार्य है।

जैन साहित्य मे श्रावक शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। पहला, "श्रू" धातु से बना है, जिसका अर्थ है सुनना। जो सूत्रो का श्रवण करता है और तदनुसार चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है वह श्रावक है। श्रावक शब्द से साधारणतया यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। प्रतीत होता है जैन परम्परा मे श्रावको द्वारा स्वयं शास्त्राध्ययन की परिपाटी नही रही। यत्र तत्र साधुओ के अध्ययन और उन्हे पढाने वाले वाचनाचार्य का वर्णन मिलता है। अध्ययन करने वाले साधुओ की योग्यता तथा आवश्यक तपोनुष्ठान का विधान भी किया गया है। इसका दूसरा अर्थ "श्रा-पाके" धातु के आधार पर किया जाता है। इस धातु से सस्कृत रूप "श्रापक" बनता है जिसका प्राकृत मे "सावय" हो सकता है किन्तु सस्कृत मे "श्रावक" शब्द के साथ इसकी सगति नही बैठती। इस शब्द का आशय है वह व्यक्ति, जो भोजन पकाता है।

श्रावक के लिए बारह व्रतो का विधान है। उनमे से प्रथम पॉच अणु-व्रत या शील-व्रत कहे जाते हैं। अणु-व्रत का अर्थ है छोटे व्रत। साधु हिसा आदि का पूर्ण परित्याग करता है अत उसके व्रत महाव्रत कहे जाते हैं। श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप मे करता है अत उसके अणुव्रत कहे जाते हैं। शील का अर्थ है आचार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पॉच चारित्र या आचार की आधार शिला हैं। इसीलिए इनको शील कहा जाता है। बौद्ध साहित्य मे भी इनके लिए यही नाम मिलता है। योग-दर्शन में इन्हे यम कहा गया है और अष्टाग योग की आधारशिला माना गया है। और कहा गया है कि ये ऐसे व्रत हैं जो सार्वभौम हैं। व्यक्ति, देश-काल तथा परिस्थिति की मर्यादा से परे हैं अर्थात् धर्माधर्म या कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निरूपण करते समय अन्य नियमो की जॉच अहिसा आदि के आधार पर करनी चाहिए। किन्तु इन्हे किसी दूसरे के लिए गौण नही बनाया जा सकता। हिसा प्रत्येक अवस्था मे पाप है उसके लिए कोई अपवाद नही है। कोई व्यक्ति हो या कैसी ही परिस्थिति हो हिसा पाप है अहिसा धर्म है, सत्य आदि के लिए भी यही बात है। किन्तु इनका पूर्णतया पालन वही हो सकता है जहॉ सब प्रवृत्तियॉ बन्द हो जाती हैं। हमारी प्रत्येक हलचल मे सूक्ष्म या स्थूल हिसा होती रहती है अत: साधक के लिए विधान है कि उस लक्ष्य पर दृष्टि रखकर यथाशक्ति आगे बढता चला जाय। साधु और श्रावक इसी प्रगति की दो कक्षाएँ हैं। श्रावक के शेष

सात व्रतो को शिक्षा व्रत कहा गया है। वे जीवन मे अनुशासन लाते हैं। इनमे से प्रथम तीन बाह्य अनुशासन के लिए हैं और हमारी व्यावसायिक हल चल, दैनन्दिन रहन सहन एव शरीर सचालन पर नियन्त्रण करते हैं और शेष चार आतरिक शुद्धि के लिए हैं। इन दोनो श्रेणियो म विभाजन करने के लिए प्रथम तीन को गुण व्रत और शेष चार को शिक्षा व्रत भी कहा जाता है।

इन बारह व्रता के अतिरिक्त पूर्व भूमिका के रूप मे सम्यक्त्व व्रत है। जहाँ साधक की दृष्टि अन्तमुखी बन जाती है और वह आन्तरिक विकास को अधिक महत्त्व देने लगता है इसका निरूपण पहले किया जा चुका है। बारह व्रता का अनुष्ठान करता हुआ श्रावक आध्यात्मिक शक्ति का सचय करता जाता है। उत्साह बढने पर वह घर का भार पुत्र को सौंप कर धर्म स्थान मे पहुँच जाता है और सारा समय तपस्या और आत्म चिन्तन मे बिताने लगता है। उस समय वह ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार करता है और उत्तरोत्तर बढता हुआ अपनी चर्या का मुनि के समान बना लेता है। जब वह यह देखता है कि मन म उत्साह होने पर भी शरीर कृश हो गया है और बल क्षीण होता जा रहा है तो नही चाहता की शारीरिक दुर्बलता मन को प्रभावित करे और आत्मचिन्तन के स्थान पर शारीरिक चिन्ताएँ होने लगे। इस विचार के साथ वह शरीर का ममत्व छोड देता है। आहार का परित्याग करके निरन्तर आत्म चिन्तन म लीन रहता है। जहाँ वह जीवन की इच्छा का परित्याग कर देता है वहा यह भी नही चाहता कि मृत्यु शीघ्र आ जाए। जीवन और मृत्यु सुख और दुःख सब के प्रति समभाव रखता हुआ समय आने पर शान्त चित्त से स्थूल शरीर को छोड देता है। श्रावक की इस दिनचर्या का वर्णन उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथम आनन्द नामक अध्ययन म है। अब हम सक्षेप म इन व्रता का निरूपण करेंगे। प्रत्येक व्रत का प्रतिपादन दो भागो मे विभक्त है। पहला भाग विधान के रूप मे है। जहा साधक अपनी व्यवहार मर्यादा का निश्चय करता है उस मर्यादा को सकुचित करना उसकी अपनी इच्छा एव उत्साह पर निर्भर है किन्तु मर्यादा से आगे बढने पर व्रत टूट जाता है। दूसरे भाग म उन दोषो का प्रतिपादन किया गया है जिनकी सम्भावना बनी रहती है और कहा गया है कि श्रावक को उन्हे जानना चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए। श्रावक के लिए दिनचर्या के रूप म प्रतिक्रमण का विधान है। उसम वह प्रतिदिन इन व्रता एव

मर्यादित दोषों की तालिका है किसी प्रकार का दोष ध्यान में आने पर प्रायश्चित्त करना है और भविष्य में उनसे निर्दोष रहने की घोषणा करना है। इन मर्यादित दोषों को अतिचार कहा गया है।

जैन साधना में व्रत के अतिक्रमण की चार कोटियाँ बताई गई हैं—

१. अतिक्रम—व्रत का उल्लंघन करने का मन में सोच या ध्यान रूप में विचार करना।

२. व्यतिक्रम—उल्लंघन करने के लिए प्रवृत्ति।

३. अतिचार—व्रत का आंशिक रूप में उल्लंघन।

४. अनाचार—व्रत का पूर्णतया टूट जाना।

अतिचार की सीमा वहाँ तक है जब कोई दोष अनजान में लग जाता है, जान-बूझ कर व्रत भंग करने पर अनाचार हो जाता है।

अहिंसा व्रत—

अहिंसा जैन परम्परा का मूल है। जैन धर्म और दर्शन का समस्त विकास इसी मूल तत्त्व को लेकर हुआ है। आचारांग सूत्र में भगवान महावीर ने घोषणा की है कि जो अरिहन्त भूतकाल में हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं तथा जो भविष्य में होंगे उन सबका एक ही कथन है, एक ही उपदेश, एक ही प्रतिपादन है तथा एक ही उद्घोष या स्वर है कि विश्व में जितने प्राणी, भूत, जीव या सत्व हैं किसी को नहीं मारना चाहिए। किसी को नहीं सताना चाहिए। किसी को कष्ट या पीड़ा नहीं देनी चाहिए। जीवन के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन समता के आधार पर करते हुए उन्होंने कहा जब तुम किसी को मारना, सताना या पीड़ा देना चाहते हो तो उसके स्थान पर अपने को रख कर सोचो, जिस प्रकार यदि कोई तुम्हें मारे या कष्ट देवे तो अच्छा नहीं लगता। उसी प्रकार दूसरे को भी अच्छा नहीं लगता। उसी सूत्र में भगवान् ने फिर कहा है—अरे मानव, अपने आपसे युद्ध कर, बाह्य युद्धों से कोई लाभ नहीं।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अहिंसा के दो रूप उपस्थित किये। एक बाह्य रूप जिसका अर्थ है किसी प्राणी को कष्ट न देना। दूसरा आभ्यन्तर रूप है जिसका अर्थ है किसी के प्रति दुर्भावना न रखना, किसी का बुरा न सोचना।

दशवैकालिक सूत्र मे धम को उत्कृष्ट मगल बताया है। इसका अथ है जा आदि, मध्य तथा अत म तीनो अवस्थाओ मे मगल रूप है वह धम है। साथ ही उसके तीन अग बताए गए हैं—१ अहिसा, २ सयम ३ तप। वास्तव मे देखा जाए तो सयम और तप अहिसा के ही दो पहलू हैं। सयम का सम्बन्ध बाह्य प्रवत्तियो के साथ है और तप का आन्तरिक मलिनताओ या कुसस्कारा के साथ। श्रावक के अणुव्रता तथा शिक्षाव्रतो का विभाजान इन्ही दो रूपा का सामने रख कर किया गया है। सयम और तप की पूणता के रूप मे ही मुनिया के लिए एक ओर महाव्रत, समिति गुप्ति आदि उनकी सहायक क्रियाओ का विधान है और दूसरी ओर बाह्य आभ्यन्तर अनेक प्रकार की तपस्याओ का विधान है। पाच महाव्रता म भी वस्तुत देखा जाए तो सत्य और अस्तेय, बाह्य अहिसा अर्थात व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखते हैं ब्रह्मचय तथा अपरिग्रह आन्तरिक अहिसा अर्थात विचार के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

व्यास ने पातञ्जल योग के भाष्य मे कहा है—"अहिसा भूतानामनभिद्रोह ।" द्रोह का अथ है ईर्ष्या या द्वेष बुद्धि उसम मुख्यतया विचार पक्ष को सामने रखा गया है जन दशन विचार और व्यवहार दोना पर बल देता।

जन दशन का सवस्व स्याद्वाद है, वह विचारो की अहिसा है इसका अथ है व्यक्ति अपने विचारा को जितना महत्व दता है दूसरो के विचारो को भी उतना दे। असत्य सिद्ध होने पर अपन विचारो को छोडने पर तयार रह और सत्य सिद्ध होने पर दूसरे के विचारो का भी स्वागत करे। जन दशन का कथन है कि व्यक्ति अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणो का भी उपस्थित करते हैं। व दृष्टिकाण मिथ्या नही होत किन्तु सापेक्ष हाते हैं। परिस्थिति तथा समय के अनुसार उनम से किसी एक का चुनाव किया जाता है। इस चुनाव का द्रव्य, क्षेत्र काल तथा भाव शब्दा द्वारा प्रकट किया गया है।

उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र म हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है— प्रमत्तयोगात प्राणव्यपरोपण हिंसा। इस व्याख्या क दो भाग हैं पहला भाग है— प्रमत्तयोगात। योग का अथ है मन वचन और काया की प्रवत्ति प्रमत्त का अथ है—प्रमाद स युक्त। व पाँच हैं—

१. **मद्य**—अर्थात् ऐसी वस्तुएँ जिनसे मनुष्य की विवेक शक्ति कुण्ठित हो जाती है।

२. **विषय**—रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय, जिनके आकर्षण मे पड़कर मनुष्य अपने हिताहित को भूल जाता है।

३. **कषाय**—क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोवेग जो मनुष्य को पागल बना देते हैं।

४. **निद्रा**—आलस्य या अकर्मण्यता।

५. **विकथा**—स्त्रियो के सौन्दर्य, देश-विदेश की घटनाएँ, भोजन सम्बन्धी स्वाद तथा राजकीय उथल-पुथल आदि के सम्बन्ध मे व्यर्थ की चर्चाएँ करते रहना। प्रमाद की अवस्था मे मन, वचन और शरीर की ऐसी प्रवृत्ति करना जिससे दूसरे के प्राणो पर आघात पहुँचे यह हिसा है। इसका अर्थ है यदि गृहस्थ हित बुद्धि से प्रेरित होकर कोई कार्य करता है और उससे दूसरे को कष्ट पहुँचता है तो वह हिसा नही है।

उपरोक्त व्याख्या मे प्राणशब्द अत्यन्त व्यापक है। जैन शास्त्रो मे प्राण के दस भेद हैं। पाँच इन्द्रियो के पाँच प्राण हैं, मन, वचन, काया के तीन, श्वासोच्छ्वास और आयु। इनका व्यपरोपण दो प्रकार से होता है आघात द्वारा तथा प्रतिबन्ध द्वारा। दूसरे को ऐसी चोट पहुँचाना जिससे देखना, या सुनना बन्द हो जाए आघात है। उसकी स्वतन्त्र प्रवृत्तियों मे बाधा डालना प्रतिबन्ध है। दूसरे के स्वतन्त्र चिन्तन, भाषण अथवा यातायात मे रुकावट डालना भी प्रतिबन्ध के अन्तर्गत है और हिसा है। दूसरे की खुली हवा को रोकना, उसे दूषित करना, श्वासोच्छ्वास पर प्रतिबन्ध है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जहाँ एक नागरिक अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्तियो के कारण दूसरे नागरिक के रहन सहन एव सुख-सुविधा मे बाधा डालता है, उसके वैयक्तिक जीवन मे हस्तक्षेप करता है चोरी, डकैती तथा अन्य अपराधो द्वारा शान्ति भग करता है क्या उस पर नियन्त्रण करना आवश्यक नही है? यही साधु और श्रावक की चर्या मे अन्तर हो जाता है। साधु किसी पर हिंसात्मक नियत्रण नही करता वह अपराधी को भी उसके कल्याण की बुद्धि से उपदेश द्वारा समझाता है, उसे किसी प्रकार का कष्ट नही देना चाहता। इसके विपरीत श्रावक को इस बात की

छूट रहती है वह अपराधी को दण्ड दे सकता है। नागरिक जीवन में बाधा डालने वाले पर यथोचित नियन्त्रण रख सकता है।

साधु और श्रावक की अहिंसा में एक बात का अन्तर और है। जैन धर्म के अनुसार पृथ्वी पानी अग्नि, वायु तथा वनस्पतियों में भी जीव हैं और उन्हें स्थावर कहा गया है। दूसरी ओर चलने वाले जीवों को त्रस कहा गया है।

साधु अपने लिए, भोजन बनाना पकाना, मकान बनाना, आदि कोई प्रवृत्ति नहीं करता वह भिक्षा पर निर्वाह करता है इसके विपरीत श्रावक अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए मर्यादित रूप में प्रवृत्तियाँ करता है और उनमें पृथ्वी, पानी अग्नि आदि स्थावर जीवों की हिंसा होती ही रहती है। उस सूक्ष्म हिंसा का उसे त्याग नहीं होता वह केवल स्थूल अर्थात त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है। इस प्रकार श्रावक की चर्या में दो छूटें हैं। पहली अपराधी को दण्ड देने की और दूसरी सूक्ष्म हिंसा की। इसी आधार पर श्रावक के व्रतों को सागारी अर्थात छूट वाले कहा जाता है इसके विपरीत साधु को अनगार कहा जाता है।

अहिंसा का विध्यात्मक रूप—

अहिंसा को जीवन में उतारने के लिये मैत्री भावना का विधान किया गया है श्रावक प्रतिदिन यह घोषणा करता है—मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें मेरी सब से मित्रता है, किसी से वैर नहीं है। इस घोषणा में श्रावक सर्वप्रथम स्वयं क्षमा प्रदान करता है और कहता है कि मुझसे किसी को डरने की आवश्यकता नहीं है मैं सबको अभय प्रदान करता हूँ। दूसरे वाक्य द्वारा वह अन्य प्राणियों से क्षमा याचना करता है और स्वयं निर्भय होना चाहता है। वह ऐसे जीवन की कामना करता है जहां वह शोषक न बने और न शोषित न भयोत्पादक बने और न भयभीत और न त्रासक बने और न त्रस्त न उत्पीडक बने न पीडित। तीसरे चरण में वह सब से मित्रता की घोषणा करता है। अर्थात सबको समता की दृष्टि से देखता है। मित्रता का मूल आधार है प्रति दान की आशा न रखते हुए दूसरे को अधिक से अधिक प्रदान करने की भावना। एक *मित्र को दूसरे मित्र की सुख सुविधा आवश्यकता का जितना ध्यान रहता है उतना* अपना नहीं रहता इसके विपरीत जब अपनी सुख सुविधा के लिये दूसरे का हक छीनने की भावना आ जाती है तभी शत्रुता का मिश्रण होने लगता है। मित्रता

की घोपणा द्वारा श्रावक अन्य सब प्राणियो का हितैपी एवं रक्षक बनने की प्रतिज्ञा करता है। चौथा चरण है, मेरा किसी से वैर नही है। वह कहता है—ईर्ष्या, द्वेष, मनोमालिन्य आदि शत्रुता के जितने कारण है, मैं उन सब को धो चुका हूँ और शुद्ध एव पवित्र हृदय ले कर विश्व के सामने उपस्थित होता हूँ। जो व्यक्ति कम से कम वर्ष मे एक बार इस प्रकार घोपणा नही करता, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार नही है। यदि प्रत्येक व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र इस घोपणा को अपना ले तो विश्व की अनेक समस्याएँ सुलझ जाएँ।

अहिसा और कायरता—

अहिसा पर प्राय यह आक्षेप किया जाता है कि यह कायरता है। शत्रु के सामने आने पर जो व्यक्ति सघर्ष की हिम्मत नही रखता, वही अहिसा को अपनाता है, किन्तु यह धारना ठीक नही है। कायर वह होता है जो मन मे प्रतिकार की भावना होने पर भी डर कर प्रत्याक्रमण नही करता है, ऐसे व्यक्ति का आक्रमण न करना या शत्रु के सामने झुक जाना अहिसा नही है, वह तो आक्रमण से भी बडी हिसा है। महात्मा गाधी का कथन है कि आक्रमक या क्रूर व्यक्ति विचारो में परिवर्तन होने पर अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर के लिए अहिंसक बनना असम्भव है। अहिसा की पहली शर्त शत्रु के प्रति मित्रता या प्रेम भावना है। छोटा बालक बहुत सी वस्तुएँ तोड-फोड डालता है, माता को उससे परेशानी होती है, किन्तु वह मुस्करा कर टाल देती है। बालक के भोलेपन पर उसका प्रेम और भी बढ जाता है। मित्रता या प्रेम की यह पहली शर्त है कि दूसरे द्वारा हानि पहुँचाने पर क्रोध नही आता प्रत्युत् उपस्थित किये गये कष्टो, झंझटो तथा हानियो से सघर्ष करने में अधिकाधिक आनन्द आता है। अहिसक शत्रु से डर कर क्षमा नही करता। किन्तु उसकी भूल को दुर्बलता समझ कर क्षमा करता है।

अहिसा की इस भूमि पर विरले ही पहुँचते हैं। जो व्यक्ति पूर्णतया अपरिग्रही हैं, अर्थात् जिन्हे धन-सम्पति, मान-अपमान तथा अपने शरीर से भी ममत्व नही है, जो समस्त स्वार्थो को त्याग चुके हैं वे ही ऐसा कर सकते हैं। दूसरो के लिए अहिंसा की दूसरी कोटि है कि निरपराध को दण्ड न दिया जाए किन्तु अपराधी का दमन करने के लिए हिसा का प्रयोग किया जा सकता है। उसमे भी अपराधी को

सुधारने या उसके कल्याण की भावना रहनी चाहिए उसे नष्ट करने की नही। द्वेष बुद्धि जितनी कम होगी व्यक्ति उतना ही अहिंसा की ओर अग्रसर कहा जाएगा।

भारतीय इतिहास मे अनेक जन राजा मन्त्री सेनापति तथा बडे बडे व्यापारी हो चुके हैं। समस्त प्रवृत्तिया करते हुए भी वे जन बने रहे। उनक उदाहरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि प्रवृत्तिमय जीवन म भी अहिंसा का पालन किया जा सकता है।

श्रावक अपने प्रथम अणुव्रत म यह निश्चय करता है कि म निरपराध त्रस जीवो की हिंसा नही करूँगा अर्थात उन्ह जान बूझ कर नही मारूंगा। इस व्रत के पाच अतिचार हैं जिनकी तत्कालीन श्रावक के जीवन मे सम्भावना बनी रहती थी। वह इस प्रकार हैं—

१ बन्ध—पशु तथा नौकर चाकर आदि आश्रित जना का कष्टदायी बन्धन म रखना। यह बन्धन शारीरिक आर्थिक, सामाजिक आदि अनक प्रकार का हो सकता है।

२ वध—उन्ह बुरी तरह पीटना।

३ छविच्छेद—उनक हाथ, पाँव आदि अगा का काटना।

४ अतिभार—उन पर अधिक बोझ लादना। नौकरो से अधिक काम लेना भी अतिभार है।

५ भक्तपानविच्छेद—उन्ह समय पर भोजन, पानी न देना। नौकर को समय पर वतन न दना जिससे उसे तथा घर वालो को कष्ट पहुचे।

इन पाच अतिचारा स ज्ञात होता है कि श्रावक सस्था का विकास मुख्यता वश्य वग मे हुआ था। कृषि गोपालन तथा वाणिज्य उनका मुख्य धधा था। आनन्द क अध्ययन म इन तीनो का विस्तृत वणन है। भगवान महावीर क गहस्थ अनुयायिया म राजा सनापति तथा अन्य आयुध जीवी भी सम्मिलित थे। किन्तु महावीर का मुख्य लक्ष्य मध्यवग था। उनक मतानुसार स्वस्थ समाज की रचना ऐसा वग ही कर सकता है जो न स्वय दूसरे का शोषण करता है और न दूसरे क शोषण का लक्ष्य बनता है। तत्कालीन समाज म ब्राह्मण और क्षत्रिय शासक थे एक बुद्धि द्वारा शोषण करता था एक शस्त्र द्वारा। दोना परस्पर मिलकर समाज पर आधिपत्य जमाये हुए थ। दूसरी ओर शूद्रा का शोषितवग था उन्ह सम्पत्ति

रखने का अधिकार नही था। दूसरो की सेवा करना और दूसरो द्वारा दिए गए बचे-खुचे भोजन तथा फटे-पुराने वस्त्रो पर निर्वाह करना ही एकमात्र धर्म था। ब्राह्मण-क्षत्रिय तथा शूद्र महावीर के श्रमण सघ मे सम्मिलित होकर एक सरीखे हो गए, उनका परस्पर भेद समाप्त हो गया और सर्व-साधारण के वन्दनीय वन गए। किन्तु जहाँ तक गृहस्थ जीवन का प्रश्न है महावीर ने वैश्य-समाज को सामने रक्खा और वह परम्परा अब तक चली आ रही है।

सत्य व्रत--

श्रावक का दूसरा व्रत मृषावाद-विरमण अर्थात् असत्य भाषण का परित्याग है। उमास्वाति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'असदभिधानमनृतम्' असद् के तीन अर्थ हैं—(१) असत् अर्थात् जो बात नही है उसका कहना। (२) बात जैसी है उसे वैसी न कहकर दूसरे रूप मे कहना, एक ही तथ्य को ऐसे रूप मे भी उपस्थित किया जा सकता है जिससे सामने वाले पर अच्छा प्रभाव पडे उसी को विगाड कर रक्खा जा सकता है जिससे सामने वाला नाराज हो जाए। सत्यवादी का कर्तव्य है कि दूसरे के सामने वस्तु को वास्तविक रूप मे रखे उसे बनाने या विगाडने का प्रयत्न न करे। (३) इसका अर्थ है असत्-बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना। यह दुर्भावना दो प्रकार की है (१) स्वार्थ सिद्धि मूलक-अर्थात् अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरे को गलत बात बताना। (२) द्वेषमूलक--दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना।

इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध भाषण के साथ है। किन्तु दुर्भावना से प्रेरित, मानसिक चिन्तन तथा कायिक व्यापार भी इसमे आ जाते हैं।

सत्य की श्रेष्ठता के विषय मे दो वाक्य मिलते हैं। पहला उपनिषदो मे है—'सत्यमेवजयते नानृत' अर्थात् सत्य की जीत होती है, झूठ की नही। दूसरा वाक्य जैन-शास्त्रो मे मिलता है 'सच्च लोगम्मि सारभूय' अर्थात् सत्य ही दुनिया मे सारभूत है। इन दोनो मे भेद बताते हुए काका कालेलकर ने लिखा है कि प्रथम वाक्य मे हिसा मिली हुई है जीत मे हारने वाले की हिसा छिपी हुई है, अहिसक मार्ग तो वह है जहाँ शत्रु और मित्र दोनो की जीत होती है। हार किसी की नही होती। दूसरा वाक्य यह बताता है कि सत्य ही विश्व का सार है उसी पर दुनिया टिकी हुई है। जिस प्रकार गन्ने का मूल्य उसके सार अर्थात् रस पर आश्रित है इसी प्रकार जीवन

का मूल्य सत्य पर ग्राधारित है यहा जीत ग्रौर हार का प्रश्न नही है ।

उपनिषदो मे सत्य को ईश्वर का रूप बताया गया है ग्रौर उसे लक्ष्य मे रख कर ग्रभय ग्रर्थात ग्रहिंसा का उपदश दिया गया है । जन धम ग्राचार प्रधान है ग्रत ग्रहिंसा को सामने रखकर उम पर सत्य की प्रतिष्ठा करता है ।

श्रावक ग्रपने सत्य व्रत मे स्थूल मषावाद का त्याग करता है । उन दिनो स्थूल-मषावाद के जो रूप थे यहा उनकी गणना की गई है ।

१ क यालीक--ववाहिक सम्ब ध के समय क या के विषय मे झूठी बातें कहना । उसकी ग्रायु स्वास्थ्य, शिक्षा ग्रादि के विषय म दूसरे को धोखा देना । इस ग्रसत्य के परिणाम स्वरूप वर तथा क यापक्ष मे ऐसी कटुता ग्रा जाती है कि क या का जीवन दूभर हो जाता है ।

२ गवालीक--गाय भस ग्रादि पशुग्रा का लेन देन करते समय झूठ बोलना । वतमान समय को लक्ष्य म रखकर कहा जाए तो क्रय विक्रय सम्ब धी सारा झूठ इसम ग्रा जाता है ।

३ भूम्यलीक--भूमि के सम्ब ध म झूठ बोलना ।

४ स्थापनामषा--किसी की धरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के लिए झूठ बोलना ।

५ कूटसाक्षी--लोभ म ग्राकर झूठी साक्षी देना । उपरोक्त पाँचो बाते व्यवहार शुद्धि से सम्ब ध रखती हैं ग्रौर स्वस्थ समाज के लिए ग्रावश्यक हैं । इस व्रत के पाँच ग्रतिचार निम्नलिखित हैं—

(१) सहसाभ्याख्यान--बिना विचारे किसी पर झूठा ग्रारोप लगाना ।

(२) रहस्याभ्याख्यान--राग म ग्राकर विनोद के लिए किसी पति पत्नी ग्रथवा ग्र य स्नेहियो को ग्रलग कर दना किंवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना ।

(३) स्वदार म त्रभेद--ग्रापस म प्रीति टूट जाए इस ख्याल से एक दूसरे की चुगली खाना या किसी की गुप्त बात का प्रकट कर देना ।

(४) मिथ्योपदेश--सच्चा झूठा समझा कर किसी को उल्टे रास्ते डालना ।

(५) कूट लेखक्रिया--मोहर हस्ताक्षर ग्रादि द्वारा झूठी लिखा पढी करना तथा खोटा सिक्का चलाना ग्रादि ।

तत्त्वार्थ सूत्र मे सहसाभ्याख्यान के स्थान पर न्यासापहार है इसका अर्थ है किसी की धरोहर रखकर इन्कार कर जाना ।

अचौर्य व्रत--

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य है वह स्थूल चोरी का त्याग करता है । इसके नीचे लिखे रूप हैं--

दूसरे के घर मे सेध लगाना, ताला तोडना या अपनी चावी लगा कर खोलना, विना पूछे दूसरे की गाठ खोल कर चीज निकालना, यात्रियों को लूटना अथवा डाके मारना ।

इस व्रत के पॉच अतिचार नीचे लिखे अनुसार है--

१ स्तेनाहृत--चोर के द्वारा लाई गई चोरी की वस्तु खरीदना या घर मे रखना ।

२ तस्कर-प्रयोग--आदमी रख कर चोरी, डकेती, ठगी आदि कराना ।

३ विरुद्धराज्यतिक्रम--भिन्न-भिन्न राज्य वस्तुओ के आयात-निर्यात पर कुछ वन्धन लगा देते हैं अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं ऐसे राज्य के नियमो का उल्लघन करना विरुद्धराज्यातिक्रम है ।

४ कूटतुला-कूटमान--नाप तथा तोल मे बेईमानी ।

५ तत्प्रतिरूपक-व्यवहार--वस्तु मे मिलावट या अच्छी वस्तु दिखा कर बुरी वस्तु देना ।

सत्य तथा अचौर्य व्रत के अतिचारो का व्यापार तथा व्यवहार मे कितना महत्त्व-पूर्ण स्थान है यह बताने की आवश्यकता नही ।

स्वदार-सन्तोष व्रत—

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है । इसमे वह परायी स्त्री के साथ सहवास का परित्याग करता है और अपनी स्त्री के साथ उसकी मर्यादा स्थिर करता है । यह व्रत सामाजिक सदाचार का मूल है । और वैयक्तिक विकास के लिये भी अत्या-वश्यक है । इसके पॉच अतिचार निम्न हैं—

१. इत्वरिक परिगृहीतागमन—ऐसी स्त्री के साथ सहवास करना जो कुछ समय के लिये ग्रहण की गई हो । भारतीय संस्कृति मे विवाह-सम्वन्ध समस्त जीवन के लिए होता है ऐसी स्त्री भोग और त्याग दोनो मे सहयोग देती है जैसा कि

आनन्दादि श्रावकों की पत्नियों के जीवन से सिद्ध होता है। इसके विपरीत जो स्त्री कुछ समय के लिए अपनाई जाती है वह भोग के लिये होती है, जीवन के उत्थान में सहायक नहीं हो सकती। श्रावक को ऐसी स्त्री के पास गमन नहीं करना चाहिए।

२ अपरिगृहीतागमन—वन्या आदि के साथ सहवास।

३ अनङ्गक्रीडा—अप्राकृतिक मैथुन अर्थात सहवास के प्राकृतिक अंगो को छोड कर अन्य अंगो से सहवास करना।

४ परविवाहकरण—दूसरो का परस्पर सम्बन्ध कराना।

५ कामभोग तिव्राभिलाष—विषय भोग तथा काम वासना में तीव्र आसक्ति।

परविवाहकरण अतिचार होने पर भी श्रावक के लिए उसकी मर्यादा निश्चित है अपनी सन्तान तथा आश्रित जनो का विवाह करना उसका उत्तरदायित्व है। इसी प्रकार पशु धन रखने वाले को गाय भैंस आदि पशुओ का सम्बन्ध भी करना पडता है श्रावक को इसकी छूट है।

परिग्रह-परिमाण व्रत—

इसका अर्थ है श्रावक को धन सम्पत्ति की मर्यादा निश्चित करनी चाहिए और उससे अधिक सम्पत्ति न रखनी चाहिए। सम्पत्ति हमारे जीवन निर्वाह का एक साधन है। साधन वहीं तक उपादेय होता है जहाँ तक वह अपने साध्य की पूर्ति करता है यदि सम्पत्ति सुख के स्थान पर दुखो का कारण बन जाती है और आत्म विकास को रोकती है तो हेय हो जाती है। इसीलिए साधु सम्पत्ति का सर्वथा त्याग करता है और भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है। वहा साधु वस्त्र पात्र आदि उपकरणो के साथ ही अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नही करता। श्रावक भी उसी लक्ष्य को आदर्श मानता है किन्तु लौकिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये मर्यादित सम्पत्ति रखता है।

वर्तमान मानव भौतिक विकास को अपना लक्ष्य मान रहा है। वह स्व के लिये सम्पत्ति के स्थान पर सम्पत्ति के लिए 'स्व' को मानने लगा है। भौतिक आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए समस्त आध्यात्मिक गुणो को तिलाजलि दे रहा है। परिणाम स्वरूप तथाकथित विकास विभीषिका बन गया है। परिग्रह परिमाण व्रत इस बात की ओर सकेत करता है कि जीवन का लक्ष्य बाह्य सम्पत्ति नही है।

इस व्रत का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है। ससार मे सोना चादी भूमि

अन्न, वस्त्रादि सम्पत्ति कितनी भी हो, पर वह अपरिमित नही है। यदि एक व्यक्ति उसका अधिक सचय करता है तो दूसरे के साथ सघर्ष होना अनिवार्य है। इसी आधार पर राजाओ और पूँजीपतियो मे परस्पर चिरकाल से सघर्ष चले आ रहे हैं, जिनका भयंकर परिणाम साधारण जनता भोगती आ रही है। वर्तमान युग मे राजाओं और व्यापारियो ने अपने २ संगठन बना लिए हैं और उन सगठनो मे परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है यह सब अनर्गल लालसा और सम्पत्ति पर किसी प्रकार की मर्यादा न रखने का परिणाम है। इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया के रूप मे रूस ने राज्य-क्रान्ति की और सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया। दूसरी ओर भूपतियो की सत्ता लालसा और उसके परिणाम-स्वरूप होने वाले भयकर युद्धो को रोकने वाले लोकतन्त्री शासन-पद्धति प्रयोग मे लाई गई फिर भी समस्याएँ नही सुलझी। जब तक व्यक्ति नही सुधरता सगठनो से अपेक्षित लाभ नही मिल सकता। क्योकि सगठन व्यक्तियो के समूह का ही नाम है। परिग्रह परिमाण-व्रत वैयक्तिक जीवन पर अकुश रखने के लिए कहता है। इसमे नीचे लिखे नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा का विधान है।

१ क्षेत्र—(खेत) अर्थात् उपजाऊ भूमि की मर्यादा।
२ वस्तु—मकान आदि।
३. हिरण्य—चाँदी।
४ सुवर्ण—सोना।
५ द्विपद—दास, दासी।
६ चतुष्पद—गाय, भैस, घोडे आदि, पशु-धन।
७ धन—रुपये पैसे आदि सिक्के या नोट।
८ धान्य—अन्न, गेहूँ, चावल आदि खाद्य-सामग्री।
९ कुप्य या गोप्य—तावा, पीतल आदि अन्य धातुएँ।

कही २ हिरण्य मे सुवर्ण के अतिरिक्त शेष सब धातुएँ ग्रहण की गई हैं और कुप्य या गोप्य धन का अर्थ किया है—हीरे, माणिक्य, मोती आदि रत्न।

इस व्रत के अतिचारो मे प्रथम आठ को दो दो की जोडी में इकट्ठा कर दिया गया है और नवे को अलग लिया गया है, इस प्रकार नीचे लिखे पाँच अतिचार बताए गए हैं—

१ क्षेत्रवस्तु परिमाणातिक्रम २ हिरण्यसुवर्ण परिमाणातिक्रम ३ द्विपदचतुष्पद परिमाणातिक्रम ४ धन धान्य परिमाणातिक्रम ५ कुप्य परिमाणातिक्रम।

दिशा-परिमाण व्रत—

पाचवें व्रत में सम्पत्ति की मर्यादा स्थिर की गई है। छठे दिशा परिमाण व्रत में प्रवृत्तियों का क्षेत्र सीमित किया जाता है। श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे एवं चारों दिशाओं में निश्चित सीमा से आगे बढ़ कर मैं कोई स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नहीं करूँगा। साधु के लिये क्षेत्र की मर्यादा का विधान नहीं है क्योंकि उसकी प्रवृत्ति हिंसात्मक या स्वार्थमूलक नहीं होती। वह किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता प्रत्युत धर्म प्रचारार्थ ही घूमता है। विहार अर्थात धर्म प्रचार के लिए घूमते रहना उसकी साधना के आवश्यक अंग हैं किन्तु श्रावक की प्रवृत्तियाँ हिंसात्मक भी होती हैं अतः उनकी मर्यादा स्थिर करना आवश्यक है।

विभिन्न राज्यों में होने वाले संघर्षों को सामने रखकर विचार किया जाए तो इस व्रत का महत्व ध्यान में आ जाता है और यह प्रतीत होने लगता है कि वर्तमान युग में भी इसका कितना महत्व है। यदि विभिन्न राज्य अपनी अपनी राजनीतिक एवं आर्थिक सीमाएँ निश्चित करलें तो बहुत से संघर्ष रुक जाएँ। श्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रों में परस्पर व्यवहार के लिये पंचशील के रूप में जो आचार-संहिता बनाई है उसमें इस सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया है कि कोई राज्य दूसरे के राज्य में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ ऊर्ध्वदिशा में मर्यादा का अतिक्रमण।

२ अधोदिशा में मर्यादा का अतिक्रमण।

३ तिरछीदिशा अर्थात पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण में मर्यादा का अतिक्रमण।

४ क्षेत्रवृद्धि—अर्थात असावधानी या भूल से मर्यादा के क्षेत्र को बढ़ा लेना।

५ स्मृति अन्तर्धान—मर्यादा का स्मरण न रखना।

उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत—

सातवें व्रत में वैयक्तिक आवश्यकताओं पर नियन्त्रण किया गया है उपभोग का अर्थ है भोजन पानी आदि वस्तुएँ जो एक बार ही काम में आती हैं। परिभोग का

अर्थ है वस्त्र, पात्र शय्या आदि वस्तुएँ जो अनेक वार काम मे लाई जा सकती हैं। उपभोग और परिभोग शब्दो का उपरोक्त अर्थ भगवतीसूत्र शतक ७ उद्देशा २ में तथा हरिभद्रीयावश्यक अध्ययन ६ सूत्र ७ मे किया गया है। उपासकदशागसूत्र की अभयदेवीय टीका मे उपरोक्त अर्थ के साथ विपरीत अर्थ भी दिया गया है अर्थात् एक वार काम में आने वाली वस्तु को उपभोग बताया गया है।

इस व्रत मे दो दृष्टियाँ रखी गई हैं भोग और कर्म। भोग की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर २६ बाते गिनाई गई हैं जिनकी मर्यादा स्थिर करना श्रावक के लिये आवश्यक है उनमे भोजन, स्नान, विलेपन, दन्तधावन, वस्त्र आदि समस्त वस्तुएँ आ गई हैं। इनसे ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन मे किस प्रकार का अनुशासन था किस प्रकार वह अपने कार्य मे जागरूक है। उनमे स्नान तथा दन्त-धावन आदि का स्पष्ट उल्लेख है। अतः जैनियों के गन्दे रहने का जो आरोप लगाया जाता है वह मिथ्या है अपने आलस्य या अविवेक के कारण कोई भी गन्दा रह सकता है वह जैन हो या अजैन उसके लिए धर्म को दोष देना उचित नही है। दूसरी दृष्टि कर्म की अपेक्षा से है। श्रावक को ऐसे कर्म नही करने चाहिएँ जिनमे अधिक हिसा हो जैसे—कोयले बनाना, जंगल साफ करना, बैल आदि को नथना या खस्सी करना आदि। उसको ऐसे धन्दे भी नही करने चाहिएँ जिनसे अपराध या दुराचार की वृद्धि हो जैसे—दुराचारिणी स्त्रियो की नियुक्ति करके वेश्यावृत्ति कराना, चोर, डाकुओ को सहायता देना आदि। इसके लिए १५ कर्मादान गिनाए गए हैं। उपरोक्त २६ बातो तथा १५ कर्मादानो के लिये प्रथम आनन्द नाम का अध्ययन देखना चाहिए।

अनर्थदण्ड विरमण व्रत—

पाँचवे व्रत मे सम्पत्ति की मर्यादा की गई और छठे मे सम्पत्ति या स्वार्थमूलक प्रवृत्तियो की, सातवे मे प्रतिदिन व्यवहार मे आने वाली भोग्यसामग्री पर नियत्रण किया गया, आठवे मे हलचल या शारीरिक चेष्टाओ का अनुशासन है श्रावक के लिए व्यर्थ की वाते करना, शेखी मारना, निष्प्रयोजन हाथ-पैर हिलाना वर्जित है। इसी प्रकार उन्हे अपनी घरेलू वस्तुएँ व्यवस्थित रखनी चाहिएँ। ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिए जिससे लाभ कुछ भी न हो और दूसरे को कष्ट पहुँचे। अनर्थ-दण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन हिसा के चार रूप बताए गए हैं—

१ अपध्यानाचरित—बिना या क्रूर विचारों के कारण होने वाली हिंसा। धन सम्पत्ति का नाश, पुत्र-स्त्री आदि प्रियजन का वियोग आदि कारणों से मनुष्य को चिन्ताएँ होती रहती हैं किन्तु उनसे लाभ कुछ भी नहीं होता किन्तु अपनी ही आत्मा निर्बल होती है इसी प्रकार क्रूर या द्वेषपूर्ण विचार रखने पर भी कोई लाभ नहीं होता ऐसे विचारों को अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहा गया है।

२ प्रमादाचरित—आलस्य या असावधानी के कारण होने वाली हिंसा। घी तेल तथा पानी वाली खाद्य वस्तुओं को बिना ढक रखना तथा अन्य प्रकार की असावधानी इस श्रेणी में आ जाती है। यदि कोई व्यक्ति सड़क पर चलते समय, यात्रा करते समय या अन्य व्यवहार में दूसरे का ध्यान नहीं रखता और ऐसी चेष्टाएँ करता है जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे ये सब प्रमादाचरित हैं।

३ हिंस्रप्रदान—दूसरे व्यक्ति को शिकार खेलने आदि के लिए शस्त्रास्त्र देना जिससे व्यर्थ हो हिंसा के प्रति निमित्त बनना पड़े। हिंसात्मक कार्यों के लिए आर्थिक या अन्य प्रकार की सभी सहायता इसमें आ जाती है।

४ पापकर्मोपदेश—किसी मनुष्य या पशु को मारने पीटने या तंग करने के के लिए दूसरों को उभारना। बहुधा देखा गया है कि बालक बिना किसी द्वेष बुद्धि के किसी भिखमंगे या घायल पशु को तंग करने लगते हैं पास में खड़े दूसरे मनुष्य तमाशा देखने के लिए उन्हें उकसाते हैं यह सब पापकर्मोपदेश है। इसी प्रकार चोरी, डकैती, वेश्यावृत्ति आदि के लिए दूसरों को प्रेरित करना ऐसी सलाह देना इसी के अन्तर्गत है।

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ कन्दर्प—कामोत्तेजक चेष्टाएँ या बातें करना।

२ कौत्कुच्य—भांडों के समान हाथ, पैर मटकाना नाक मुँह आँख आदि से विकृत चेष्टाएँ करना।

३ मौखरिता—मुखर अर्थात् वाचाल बनना। बढ़-चढ़ कर बात करना और अपनी शेखी मारना।

४ संयुक्ताधिकरण—हथियारों एवं हिंसक साधनों को आवश्यकता के बिना ही जोड़ कर रखना।

५ उपभोगपरिभोगातिरेक—भोग्य सामग्री को आवश्यकता से अधिक बढ़ाना।

वैभव प्रदर्शन के लिए मकान, कपड़े, फर्नीचर आदि का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना इस अतिचार के अन्तर्गत है। इसमे दूसरो मे ईर्ष्या-वृत्ति उत्पन्न होती है और अपना जीवन उन्ही की व्यवस्था मे उलझ जाता है।

सामायिक व्रत--

छठे, सातवे और आठवे व्रत मे व्यक्ति का बाह्य चेष्टाओ पर नियन्त्रण बताया गया। नवे से लेकर बारहवे तक चार व्रत आन्तरिक अनुशासन या शुद्धि के लिए है। इनका अनुष्ठान साधना के रूप मे अल्प समय के लिए किया जाता है।

जिस प्रकार वैदिक परम्परा मे सध्या वन्दन तथा मुसलमानो मे नमाज दैनिक कृत्य के रूप मे विहित है उसी प्रकार जैन परम्परा मे सामायिक और प्रतिक्रमण है। सामायिक का अर्थ है जीवन मे समता को उतारने का अभ्यास। साधु का सारा जीवन सामायिक रूप होता है अर्थात् उसका प्रत्येक कार्य-समता का अनुष्ठान है। श्रावक प्रतिदिन कुछ समय के लिए उसका अनुष्ठान करता है। समता का अर्थ है 'स्व' और 'पर' मे समानता। जैन धर्म का कथन है जिस प्रकार हम सुख चाहते हैं और दु ख से घबराते है उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी चाहता है। हमे दूसरे के साथ व्यवहार करते समय उसके स्थान पर अपने को रख कर सोचना चाहिए, उसके कष्टो को अपना कष्ट उसके सुख को अपना सुख मानना चाहिए। समता के इस सिद्धान्त पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति किसी की हिसा नही करेगा। किसी को कठोर शब्द नही कहेगा और न किसी का बुरा सोचेगा। पहले बताया जा चुका है कि व्यवहार मे समता का अर्थ हे अहिसा, जो कि जैन आचार शास्त्र का प्राण है। विचार मे समता का अर्थ है स्याद्वाद जो कि जैन दर्शन की आधार शिला है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है वापिस लौटना। साधक अपने पिछले कृत्यो की ओर लौटता है उनके भले बुरे पर विचार करता है, भूलो के लिए पश्चात्ताप करता है और भविष्य मे उनसे बचे रहने का निश्चय करता है। श्रावक और साधु दोनो के लिए प्रतिक्रमण का विधान है इसका दूसरा नाम आवश्यक है अर्थात् यह एक आवश्यक दैनिक कर्तव्य है।

श्रावक के व्रतो मे सामायिक का नवाँ स्थान है किन्तु आत्म शुद्धि के लिए विधान किए गए चार व्रतो मे इसका पहला स्थान है। इसके पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ मनोदुष्प्रणिधान--मन में बुरे विचार लाना ।
२ वचन दुष्प्रणिधान--वचन का दुरुपयोग, कठोर या असत्य भाषण ।
३ काय दुष्प्रणिधान--शरीर की कुप्रवृत्ति ।
४ स्मृत्यकरण—सामायिक का भूल जाना अर्थात समय आने पर न करना ।
५ अनवस्थितता—सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता में करना ।

देशावकाशिक व्रत—

इस व्रत में श्रावक यथाशक्ति दिन रात या अल्प समय के लिए साधु के समान चर्या का पालन करता है। सामायिक प्राय दो घडी के लिए की जाती है और उसमें सारा समय धार्मिक अनुष्ठान में लगाया जाता है। खाना, पीना, नीद लेना आदि वर्जित हैं इस व्रत में भोजन आदि वर्जित नही है किन्तु उसमें अहिंसा का पालन आवश्यक है ।

इस व्रत को देशावकाश कहा जाता है। अर्थात इसमें साधक निश्चित काल के लिए देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है, उसके बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नही करता।

श्रावक के लिए चौदह नियमों का विधान है अर्थात उसे प्रतिदिन अपने भोजन, पान तथा अन्य प्रवृत्तियों के विषय में मर्यादा निश्चित करनी चाहिए इससे जीवन में अनुशासन तथा दृढता आती है। इस व्रत के निम्नलिखित पाच अतिचार हैं-

१ आनयनप्रयोग--मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मँगाने के लिए किसी को भेजना ।
२ प्रेष्यप्रयोग--नौकर चाकर आदि को भेजना ।
३ शब्दानुपात--शाब्दिक संकेत द्वारा बाहर की वस्तु मँगाना ।
४ रूपानुपात--हाथ आदि का इशारा करना ।
५ पुद्गलप्रक्षेप--कंकर, पत्थर आदि फेंक कर किसी को संबोधित करना ।

पौषधोपवास व्रत--

पौषध शब्द संस्कृत के उपवसथ शब्द से बना है। इसका अर्थ है धर्माचार्य के समीप या धर्म स्थान में रहना। आज कल इसी को उपाश्रय या पौषधशाला

कहा जाता है। उपवसथ अर्थात् धर्म स्थान मे निवास करते हुए उपवास करना पौषधोपवास व्रत है। यह दिन-रात अर्थात् आठ प्रहरो का होता है और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियो पर किया जाता है।

इस व्रत मे नीचे लिखा त्याग किया जाता है—

१ भोजन, पानी आदि चारो प्रकार के आहारो का त्याग।

२ अब्रह्मचर्य का त्याग।

३ आभूपणो का त्याग।

४ माला, तेल आदि सुगधित द्रव्यो का त्याग।

५ समस्त सावद्य अर्थात् दोषपूर्ण प्रवृत्तियो का त्याग।

इसके पॉच अतिचार निवास-स्थान की देख रेख के साथ सम्बन्ध रखते है।

अतिथि संविभाग व्रत—

सविभाग का अर्थ है अपनी सम्पत्ति या अपनी भोग्य वस्तुओ मे विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना। अतिथि के लिए किया जाने वाला विभाजन अतिथि सविभाग है। वैदिक परम्परा मे भी अतिथि सेवा गृहस्थ के प्रधान कर्त्तव्यो मे गिनी गई है किन्तु जैन परम्परा मे अतिथि शब्द का अर्थ कुछ भिन्न है। यहाँ निर्दोष जीवन व्यतीत करने वाले विशिष्ट व्यक्तियो को ही अतिथि माना गया है। उन्हे भोजन, पानी, वस्त्र आदि देना अतिथि सविभाग व्रत है। इसके नीचे लिखे पॉच अतिचार हैं—

१ सचित्त-निक्षेपण—साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोप आहार मे कोई सचित्त वस्तु मिला देना जिससे वह ग्रहण न कर सके।

२ सचित्तपिधान—देने योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु से ढक देना।

३ कालातिक्रम—भोजन का समय व्यतीत होने पर निमन्त्रित करना।

४ परव्यपदेश—न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी बताना।

५ मात्सर्य—मन मे ईर्ष्या या दुर्भावना रख कर दान देना।

जैन धर्म मे अनुकम्पादान और सुपात्र दान का विशेष महत्व है। अनुकम्पा सम्यक्त्व का अग है इसका अर्थ प्रत्येक दुखी या अभावग्रस्त को देख कर उसके प्रति करुणा या सहानुभूति प्रगट करना और उसके दुख को दूर करने के लिए यथाशक्ति यथोचित सहायता देना अनुकम्पा मे सम्मिलित है। इससे आत्मा में उदारता,

मैत्री आदि सद्गुणों की वृद्धि होती है। साधु सघ के आहार पानी तथा नागरिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना श्रावक का धर्म है। अतिथि संविभाग व्रत उसी का प्रकट करता है।

ग्यारह प्रतिमाएँ—

लम्बे समय तक व्रतों का पालन करता हुआ श्रावक पूर्ण त्याग की ओर अग्रसर होता है। उत्साह बढने पर एक दिन कुटुम्ब का उत्तरदायित्व सन्तान को सौंप देता है और पौषधशाला में जाकर सारा समय धर्मानुष्ठान में बिताने लगता है। उस समय वह उत्तरोत्तर साधुता की ओर बढता है। कुछ दिनों तक अपने घर से भोजन मगाता है और फिर उसका भी त्याग करके भिक्षा पर निर्वाह करने लगता है। इन व्रतों को ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में प्रकट किया गया है। प्रतिमा शब्द का अर्थ है सादृश्य। जब श्रावक साधु के सदृश होने के लिए प्रयत्नशील होता है तो उसे प्रतिम कहा जाता है। इनकी विस्तृत चर्चा के लिए आनन्द नामक प्रथम अध्ययन देखना चाहिए।

सलेखना व्रत—

श्रमण परम्परा जीवन को अपने आप में लक्ष्य नही मानती। उसका कथन है कि साधना का लक्ष्य आत्मा का विकास है और जीवन उसका साधन मात्र है। जिस दिन यह प्रतीत होने लगे कि शरीर शिथिल हो गया है वह सहायक होने के स्थान पर विघ्न बाधाएँ उपस्थित करने लगा है तो उस समय यह उचित है कि उसका परित्याग कर दे। इसी परित्याग को अतिम सलेखना व्रत कहा है। इसमे श्रावक या साधु आहार का परित्याग करके धर्म चिन्तन में लीन हो जाता है न जीवन की आकाक्षा करता है न मृत्यु की न यश की न ऐहिक या पारलौकिक सुख की। धन सम्पत्ति परिवार, शरीर आदि सबसे अनासक्त हो जाता है। इस प्रकार आयुष्य पूरा होने पर शान्ति तथा स्थिरता के साथ देह का परित्याग करता है।

इस व्रत को आत्म हत्या कहना भूल है। व्यक्ति आत्म हत्या तब करता है जब किसी कामना को पूरा नहीं कर पाता और वह इतनी बलवती हो जाती है कि उसकी पूर्ति के बिना जीवन बोझ जान पडता है और उस बोझ को उतारे बिना शान्ति असम्भव प्रतीत होती है। आत्म हत्या का दूसरा कारण उत्कट वेदना या

मार्मिक आघात होता है। दोनो परिस्थितियाँ व्यक्ति की निर्बलता को प्रकट करती हैं। इसके विपरीत सलेखना त्याग की उत्कटता तथा हृदय की परम दृढता को प्रकट करती है। जहाँ व्यक्ति विना किसी कामना के शान्तिपूर्वक अपने आप जीवन का उत्सर्ग करता है। आत्म-हत्या निराशा तथा विवशता की पराकाष्ठा है, सलेखना वीरता का वह उदात्त रूप है जहाँ एक सिपाही हसते-हसते प्राणो का उत्सर्ग कर देता है। सिपाही मे आवेश रहता है किन्तु सलेखना मे वह भी नही होता।

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकाक्षा करना।
२ स्वर्ग के सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी वात की आकाक्षा करना।
३ जीवन की आकाक्षा करना।
४ कष्टो से घवरा कर शीघ्र मरने की आकाक्षा करना।
५ अतृप्त कामनाओ की पूर्ति के रूप मे काम भोगो की आकाक्षा करना।

उपसंहार—

सम्यक्त्व से लेकर सलेखना तक जिन व्रतो का प्रतिपादन किया गया है वे एक आदर्श गृहस्थ की चर्या को प्रकट करते हैं। उपासकदशाङ्ग-सूत्र के प्रथम अध्ययन मे इन सब का वर्णन है। इस अध्ययन का कथा-नायक आनन्द है, जो आदर्श जैन श्रावक माना जाता है। शेष श्रावको के लिये भी इन्ही व्रतो का विधान किया गया है।

जैन धर्म आश्रम व्यवस्था को नही मानता, उसकी दृष्टि मे यह आवश्यक नही है कि व्यक्ति वृद्ध होने पर ही त्याग की ओर प्रवृत्त हो। फिर भी श्रावको के जीवन से उस व्यवस्था की झाँकी मिलती है। वारह व्रत गृहस्थ आश्रम को प्रकट करते हैं, प्रतिमाएँ वानप्रस्थ आश्रम को और मुनि धर्म सन्यास को।

आचार्य श्री जी की श्रुत-साधना

मानव का जीवन एक सतत प्रवाह शील सरिता के समान है। यह विराट विश्व उस प्रवाह की आधार भूमि है। विश्व के इस आधार तल म ही जीवन की सरिता का प्रवाह प्रवहमान रहता है। जीवन और जगत दशन शास्त्र के मुख्य विषय हैं। *जीवन क्या है? जगत क्या है?* और उन दोनो मे *क्या सम्ब ध है?* दर्शन शास्त्र का यही प्रतिपाद्य विषय रहा है। जीवन, चि तन का पूवगामी धम है और जगत जीवन का आवश्यक आधार है। प्रसिद्ध ग्रीक दाशनिक प्लेटो के अनुसार दाशनिक सम्पूण जगत का द्रष्टा है। यदि जीवन के भौतिक धर्मों के परिपालन की विवशता को दाशनिक जीवन की सीमा कहा जाए, तो उक्त धर्मों का पालन करत हुए भी विचार और चि तन द्वारा उनका सस्कार और उस सस्कार के द्वारा मानवी सस्कृति का विकास करने का प्रयास दाशनिक की विशेषता है।

आचार्य श्रद्धय आत्मारामजी महाराज अपने युग के एक गम्भीर दाशनिक विद्वान थे। व समाज और राष्ट के केवल द्रष्टा ही नहीं रहे बल्कि प्रेरक भी रहे हैं। जीवन और जगत की समस्याओं का गम्भीर अध्ययन कर के उ होंने उनम *सामञ्जस्य* स्थापित करने का प्रयत्न भी किया था। जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक पक्षो म समन्वय साधने का प्रयास उ होंने किया था। अपने युग के प्रसुप्त मानव को झकझोर कर उन्होंने जागत किया था और कहा था—Stand up be hold and be strong उठो, वीर बनो और सुदृढ हो कर जीवन के समर म खडे हो जाओ। इस ससार मे विजेता वही बनता है जो अपने व्यतीत अतीत पर आसू नही बहाता। तुम बहुत विलाप कर चुके हैं। अब रोना ब द करो और अपने परो पर खडे हो कर सच्चा इन्सान बनने का प्रयत्न करो—We have wept long enough no more weeping but stand on your feet and be men

आचार्य श्री जी अपने युग के एक महान विद्वान और आगमो के व्याख्याकार थे। आगमो पर सुन्दर सरल और सरस भाषा म व्याख्या करके उन्होंने जनता का महान उपकार किया है। स्वाध्याय प्रेमी जनता के लिए उन्होंने आगम के रहस्य को समझने के लिए एक सरल माग बना दिया है। जो कुछ भी और जितना भी

ज्ञान उन्होंने अपने गुरु से प्राप्त किया था, उसे अपने स्वय के श्रम से पल्लवित करके जन-जन के जीवन की भूमि मे उन्होंने उसे मुक्त हस्त बिखेर दिया था। कोई भी ज्ञान पिपासु उनके द्वार पर आ कर प्यासा नही लौटता था। अतः आचार्य श्री जी अपने युग के एक प्रकाश स्तम्भ थे। उन का जीवन एक ज्योतिर्मय जीवन था, जिससे हजारो हजार लोगो ने प्रेरणा एव स्फूर्ति प्राप्त की थी—In him was a life and the life was the light of men

आचार्य श्री जी क्या थे ? ज्ञान के सागर और शान्ति के अग्रदूत। समाज के एक वर्ग विशेष को उनकी शान्ति नीति पसन्द नही थी। अत वे लोग उनकी तीव्र आलोचना भी करते थे। परन्तु अपनी आलोचना से व्याकुल हो कर उन्होने कभी भी अपने शान्ति-पथ का परित्याग नही किया। वे अपने शान्ति के पथ पर आगे ही बढते रहे। उनकी इस मधुरता का और मृदुता का बहुत से लोगो ने मजाक भी उडाया। आचार्य श्री जी फिर भी अपने पथ से विचलित नही हुए। संघ-हित मे वे सदा अभय हो कर अग्रसर होते रहे। सघ को वे व्यक्ति से अधिक पूज्य एव श्रेष्ठ मानते थे। यही कारण है कि सघ सेवा मे उन्होने कभी प्रमाद नही किया। अपने आलोचको से उन्होने ईसा की भाषा मे यही कहा—Father, forgive them, for they know not what they are doing वास्तव मे आलोचक वैर-भाव मे अपने दिल और दिमाग की शान्ति को खो बैठे थे। फिर भी आचार्य श्री जी ने उन पर प्रसन्नता की ही वर्षा की। यही उनकी सब से बडी महानता थी।

आचार्य श्री जी का जीवन बाल्य काल से ही ज्ञान-साधना मे सलग्न रहा। उन्होने अपनी सहज एव तीव्र बुद्धि से अल्प काल मे ही सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश जैसी कठिन प्राचीन भाषाओ को सहज ही सीख लिया। प्राकृत भाषा पर तो आपका असाधारण अधिकार था। प्राकृत भाषा में आप निबन्ध भी लिखते रहते थे। स्थानकवासी समाज मे प्राकृत सस्कृत के अध्ययन की ओर सब से पहले आपने ही ध्यान खीचा था। आगमो का गम्भीर और सर्वांगीण अध्ययन कर आपने अनेक ग्रन्थो की रचना की थी। स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना के अतिरिक्त आपने अनेक आगमो की हिन्दी भाषा मे व्याख्या कर स्वाध्याय प्रेमियो के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। आज भी उनके अनेक व्याख्या ग्रन्थ समाज मे बडे आदर के साथ पढे

आदि का वणन है। ४ पिण्डविशुद्धिया ५ समितिया, १२ भावनाएँ, १२ प्रतिमाएँ ५ इन्द्रिया का निग्रह २५ प्रकार की प्रतिलेखना, ३ गुप्तिया ४ प्रकार के अभिग्रह भी चरणकरणानुयोग मे आते हैं। आचाराङ्ग, आदि सूत्र इसी अनुयोग का प्रतिपादन करते हैं। धमकथानुयोग मे ज्ञाता धमकथाङ्ग (नायाधम्म कहाओ), उपासकदशाङ्ग (उवासगदसाओ) अन्तकृद्दशाग (अतगडदसाओ), अनुत्तरोपपातिक (अणुत्तरोववाई), विपाक (विवाग), औपपातिक (उववाई), राजप्रश्नीय (रायप्प सेणीय) पाच निरयावलिकादि (निरयावलिआओ) तथा उत्तराध्ययनादि आते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बूद्दीवपण्णत्ति) चन्द्रप्रज्ञप्ति (चदपण्णत्ति) तथा सूय प्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ति), गणितानुयोग विषयक हैं। सूत्रकृताङ्ग (सूयगडाङ्ग), स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग), (समवायाङ्ग), भगवती (विवाहपण्णत्ति), (जीवाभिगम), प्रज्ञापना (पण्णवणा) नन्दी तथा अनुयोगद्वार द्रव्यानुयोग का प्रतिपादन करते हैं। प्रस्तुत सूत्र मे धम कथानुयोग का वणन है। अवसर्पिणी काल के चतुथ आरक के अतिम भाग म चम्पा नाम का नगरी थी। उसके बाहर ईशान कोण मे पूणभद्र नाम का चत्य था। इन दोनो का वणन औपपातिक सूत्र के समान समझ लेना चाहिए। काल वह द्रव्य है जिसके कारण दिन पक्ष मास वष आदि का व्यवहार होता है अथवा समयो के समूह का नाम काल है और समय काल के अविभाज्य अश को कहत हैं। पूणभद्र यक्ष के आयतन के कारण उक्त उद्यान का नाम पूणभद्र प्रसिद्ध हो गया।

जम्बू स्वामी का प्रश्न और प्रस्तुत सूत्र का निर्देश—

मूलम—तेण कालेण तेण समएण अज्ज सुहम्मे समोसरिए, जाव जम्बू पज्जुवासमाणे एव वयासी—"जइ ण भते! समणेण भगवया महावीरेण जाव सपत्तेण छट्ठस्स अगस्स नायाधम्मकहाण अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तमस्स ण भते! अगस्स उवासगदसाण समणेण जाव सपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते?"

एव खलु जम्बू! समणेण जाव सम्पत्तेण सत्तमस्स अगस्स उवासग दसाण दस अज्झयणा पण्णत्ता। त जहा—आणदे१, कामदेवे य२, गाहावइचुलणीपिया३, सुरादेवे४, चुल्लसयए५, गाहावइकुडकोलिए६, सद्दालपुत्ते७, महासयए८, नदिणीपिया९, सालिहीपिया१० ॥

जइ णं, भंते ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स णं भंते ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? ।। २ ।।

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये आर्यसुधर्मा समवसृतः । यावत् जम्बूः पर्युपासीनः एवमवादीत्—यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन षष्ठस्य अंगस्य ज्ञाताधर्मकथानाम् अयमर्थः प्रज्ञप्तः सप्तमस्य खलु भदन्त ! अंगस्य उपासकदशानां श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ? एवं खलु जम्बू ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अंगस्य उपासकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा—आनन्दः, कामदेवश्च गाथापतिश्चुलिनीपिता सुरादेवः चुल्लशतकः, गाथापति कुण्डकौलिकः, सद्दालपुत्रः, महाशतकः, नन्दिनीपिता, शालिहीपिता च ।

यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अंगस्य उपासकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, प्रथमस्य खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ?

शब्दार्थ—**तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल और उस समय, **अज्ज सुहम्मे**—आर्य सुधर्मा स्वामी, **समोसरिए**—चम्पा नगरी में आये, **जाव**—यावत्, **जम्बू पज्जुवासमाणे**—जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए **एवं वयासी**—यह कहा—**जइणं भन्ते !**—हे भदन्त ! यदि **समणेणं भगवया महावीरेण जाव सम्पत्तेणं**—श्रमण भगवान् महावीर ने यावत् जिन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। **छट्ठस्स अंगस्स नायाधम्मकहाणं**—ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अङ्ग का, **अयमट्ठे पण्णत्ते**—यह अर्थ कहा है तो, **सत्तमस्स णं भन्ते ! अंगस्स उवासगदसाणं**—हे भगवन् ! उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग का, **के अट्ठे पण्णत्ते**—क्या अर्थ बताया है ? , **एवं खलु जम्बू !** हे जम्बू ! इस प्रकार, **समणेणं जाव सम्पत्तेणं**—मोक्षस्थित श्रमण भगवान् महावीर ने, **सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं**—उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग के, **दस अज्झयणा पण्णत्ता**—दश अध्ययन कहे हैं, **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**आणंदे**—आनन्द, **कामदेवे य**—और कामदेव, **गाहावइचुलिणीपिया**—चुलिनीपिता, **सुरादेवे**—सुरादेव, **चुल्लसयए**—चुल्लशतक, **गाहावइकुण्डकोलिए**—गाथापति कुण्डकौलिक,

जात हैं। दशवकालि उत्तराध्ययन आदि आगम ग्र थ बहुत प्रसिद्ध हो चुके हैं। आपकी व्याख्या शली अत्य त सु दर, सरल और सरस होती है जिससे साधारण पाठक भी लाभ उठा सकता है।

अब उपासकदशाङ्ग सूत्र का प्रकाशन हो रहा है। प्रस्तुत आगम म भगवान महावीर क दस प्रमुख श्रावको के जीवन का सुन्दर वणन किया है। आनन्द श्रावक के जीवन मे श्रावक के द्वादश व्रतो का बडे विस्तार के साथ वणन किया गया है। आशा है, कि अन्य आगमो की भाति इसका प्रकाशन भी बहुत सुन्दर होगा। आचाय श्री जी के अन्य आगम भी यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित होने चाहिए। क्या ही अच्छा हो! यदि आचाय श्री जी के समस्त ग्र थो का नवीन शली म सुन्दर प्रकाशन हो सके। इससे पाठको का बडा हित होगा।

आचाय श्री आत्माराम जी महाराज ने केवल श्रुत सेवा ही नही की बल्कि समाज सेवा भी की है। पजाब सम्प्रदाय के पहले व उपाध्याय थे फिर पजाब सघ के आचाय बने। सादडी सम्मेलन मे सब ने मिलकर उन्हाने आचाय पद पर आसीन किया था। श्रमण सघ के आचाय पद पर रहकर आपने जो सघ सेवा की वह सब विदित है सघ को आपने एक सूत्र मे बाध रखने का पूरा प्रयत्न किया। कुछ लोगो ने आपकी निन्दा और अवहेलना भी की। फिर भी आपने अपने माग का परित्याग नही किया। आप की सघ सेवा भी आपकी श्रुत सेवा के सम्मान सदा अजर अमर रहेगी।

मेरे स्नेही स्वामी श्री रत्न मुनि जी आचाय श्री जी के ग्रन्थो का प्रकाशन कर रहे हैं। उन की यह श्रुत भक्ति आचाय श्री जी की सच्ची सेवा होगी। श्री रत्न मुनि जी ने अपने तन से और अपने मन से आचाय श्री जी की जो सेवा भक्ति और उपासना की है वह उनके जीवन की एक महान विशेषता है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य म भी व अपने इस सेवा पथ पर अग्रसर होते रहगे और आचाय श्री जी के अमूल्य ग्र थो का प्रकाशन करा कर समाज म से ज्ञान की अमर ज्योति को बुझने न दगे।

जन भवन
लोहा मडी आगरा।

विजय मुनि

❀ णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ❀

उपासकदशांग-सूत्रम्

(उवासगदसाओ)

प्रथम अध्ययन

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं णयरी होत्था । वण्णओ । पुण्णभद्दे चेइए । वण्णओ ॥ १ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगरी आसीत् । वर्णकम् । पूर्णभद्रचैत्यम् । वर्णकम् ॥

शब्दार्थ—तेणं कालेणं—उस काल । तेण समएणं—उस समय अर्थात् अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे के अन्तिम समय मे । चम्पा नाम णयरी—चपा नाम की नगरी थी । वण्णओ—नगरी का वर्णन अन्यत्र वर्णित नगरी के समान समझ लेना चाहिए । पुण्णभद्दे चेइए—नगरी के वाहर पूर्णभद्र यक्ष का चैत्य था । वण्णओ—यक्ष चैत्य का वर्णन भी अन्य चैत्यो के समान ही है ।

भावार्थ—उस समय अर्थात् प्रस्तुत अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे के अन्त मे चम्पा नाम की प्रसिद्ध नगरी थी उसका वर्णन अन्य नगरियो के समान समझ लेना चाहिए । नगरी के वाहर पूर्णभद्र यक्ष का चैत्य था ।

टीका—इस सूत्र मे धर्मकथानुयोग का वर्णन है । अर्थ के रूप मे आगम का प्रतिपादन तीर्थङ्कर करते हैं । उसका सूत्र के रूप मे गुम्फन गणधर करते हैं । समस्त आगम साहित्य चार अनुयोगो मे विभक्त है । (१) चरणकरणानुयोग (२) धर्मकथानुयोग (३) गणितानुयोग तथा (४) द्रव्यानुयोग । प्रथम अनुयोग मे ५ महाव्रत, १० श्रमणधर्म, १७ प्रकार के सयम, १० वैयावृत्य, ९ ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ, ज्ञानादि तीन रत्न, १२ प्रकार का तप तथा चार कषायो के निग्रह

आदि का वणन है। ४ पिण्डविशुद्धियाँ, ५ समितियाँ, १२ भावनाएँ १२ प्रतिमाएँ, ५ इन्द्रिया का निग्रह, २५ प्रकार की प्रतिलेखना, ३ गुप्तियाँ ४ प्रकार के अभिग्रह भी चरणकरणानुयोग म आते हैं। आचाराङ्ग आदि सूत्र इसी अनुयोग का प्रतिपादन करते हैं। धमकथानुयोग म ज्ञाता धमकथाङ्ग (नायाधम्म कहाओ), उपासकदशाङ्ग (उवासगदसाओ) अन्तकृद्दशाग (अतगडदसाओ), अनुत्तरोपपातिक (अणुत्तरोववाई), विपाक (विवाग), औपपातिक (उववाई), राजप्रश्नीय (रायप्पसेणीय) पाच निरयावलिकादि (निरयावलिआओ) तथा उत्तराध्ययनादि आते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बूद्दीवपण्णत्ति), चन्द्रप्रज्ञप्ति (चदपण्णत्ति) तथा सूयप्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ति) गणितानुयोग विषयक हैं। सूत्रकृताङ्ग (सूयगडाङ्ग), स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) (समवायाङ्ग) भगवती (विवाहपण्णत्ति), (जीवाभिगम), प्रज्ञापना (पण्णवणा), नन्दी तथा अनुयोगद्वार द्रव्यानुयोग का प्रतिपादन करते हैं। प्रस्तुत सूत्र म धम कथानुयोग का वणन है। अवसर्पिणी काल के चतुथ आरक के अतिम भाग मे चम्पा नाम की नगरी थी। उसके बाहर ईशान कोण मे पूणभद्र नाम का चत्य था। इन दोनो का वणन औपपातिक सूत्र के समान समझ लेना चाहिए। काल वह द्रव्य है जिसके कारण दिन पक्ष मास वष, आदि का व्यवहार होता है अथवा समयो के समूह का नाम काल है और समय काल के अविभाज्य अश को कहते हैं। पूणभद्र यक्ष के आयतन के कारण उक्त उद्यान का नाम पूणभद्र प्रसिद्ध हो गया।

जम्बू स्वामी का प्रश्न और प्रस्तुत सूत्र का निर्देश—

मूलम्—तेण कालेण तेण समएण अज्ज सुहम्मे समोसरिए, जाव जम्बू पज्जुवासमाणे एव वयासी—"जइ ण भते! समणेण भगवया महावीरेण जाव सपत्तेण छट्ठस्स अगस्स नायाधम्मकहाण अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तमस्स ण भते! अगस्स उवासगदसाण समणेण जाव सपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते?"

एव खलु जम्बू! समणेण जाव सम्पत्तेण सत्तमस्स अगस्स उवासगदसाण दस अज्झयणा पण्णत्ता। त जहा—आणदे१, कामदेवे य२, गाहावइचुलणीपिया३, सुरादेवे४, चुल्लसयए५, गाहावइकुडकोलिए६, सद्दालपुत्ते७, महासयए८, नदिणीपिया९, सालिहीपिया१० ॥

जइ णं, भंते ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स णं भंते ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? ।। २ ।।

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये आर्यसुधर्मा समवसृतः। यावत् जम्बूः पर्युपासीनः एवमवादीत्—यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन षष्ठस्य अंगस्य ज्ञाताधर्मकथानाम् अयमर्थः प्रज्ञप्तः सप्तमस्य खलु भदन्त ! अंगस्य उपासकदशानां श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ? एवं खलु जम्बू ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अंगस्य उपासकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा—आनन्दः, कामदेवश्च गाथापतिश्चुलिनीपिता सुरादेवः चुल्लशतकः, गाथापति कुण्डकौलिकः, सद्दालपुत्रः, महाशतकः, नन्दिनीपिता, शालिहीपिता च।

यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अंगस्य उपासकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, प्रथमस्य खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ?

शब्दार्थ—**तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल और उस समय, **अज्ज सुहम्मे**—आर्य सुधर्मा स्वामी, **समोसरिए**—चम्पा नगरी मे आये, **जाव**—यावत्, **जम्बू पज्जुवासमाणे**—जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए **एवं वयासी**—यह कहा—**जइणं भन्ते !**—हे भदन्त ! यदि **समणेणं भगवया महावीरेण जाव सम्पत्तेणं**—श्रमण भगवान् महावीर ने यावत् जिन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। **छट्ठस्स अंगस्स नायाधम्मकहाणं**—ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अङ्ग का, **अयमट्ठे पण्णत्ते**—यह अर्थ कहा है तो, **सत्तमस्स णं भन्ते ! अंगस्स उवासगदसाणं**—हे भगवन् ! उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग का, **के अट्ठे पण्णत्ते**—क्या अर्थ बताया है ?, **एवं खलु जम्बू !** हे जम्बू ! इस प्रकार, **समणेणं जाव सम्पत्तेणं**—मोक्षस्थित श्रमण भगवान् महावीर ने, **सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं**—उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग के, **दस अज्झयणा पण्णत्ता**—दश अध्ययन कहे है, **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**आणंदे**—आनन्द, **कामदेवे य**—और कामदेव, **गाहावइचुलिणीपिया**—चुलिनीपिता, **सुरादेवे**—सुरादेव, **चुल्लसयए**—चुल्लशतक, **गाहावइकुण्डकोलिए**—गाथापति कुण्डकौलिक,

सद्दालपुत्ते—सद्दालपुत्र, महासयए—महाशतक, नन्दिनीपिया—नन्दिनीपिता, सालिहीपिया—और सालिहीपिता।

जइण भंते!—जम्बू स्वामी ने पूछा—हे भगवन! यदि समणेण जाव सम्पत्तेण—मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने, सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाण—सप्तम अंग उपासकदशा के दस अज्झयणा पण्णत्ता—दस अध्ययन प्रतिपादन किये हैं। पढमस्स ण भंते!—तो हे भगवन! प्रथम अध्ययन का, समणेण जाव सम्पत्तेण—मोक्ष स्थित श्रमण भगवान महावीर ने के अट्ठे पण्णत्ते—क्या अर्थ प्रतिपादन किया है?

भावार्थ—उस काल तथा उस समय आर्य सुधर्मा स्वामी चम्पा नगरी में आये। जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए पूछा—हे भगवन! मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने छटे अङ्ग ज्ञाताधर्मकथा का जो भाव बताया है उसे मैं सुन चुका हूँ। हे भगवन! मोक्ष स्थित श्रमण भगवान महावीर ने सातवें अङ्ग उपासकदशा का क्या भाव बताया है? आर्य सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू! मुक्ति प्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने सातवें अङ्ग उपासकदशा के दस अध्ययन प्रतिपादित किये हैं। वे इस प्रकार हैं—१ आनन्द २ कामदेव ३ गाथापति चुलनिपिता ४ सुरादेव ५ चुल्लशतक ६ गाथापति कुण्डकौलिक ७ सद्दालपुत्र ८ महाशतक ९ नन्दिनी पिता और १० सालिहीपिया।

जम्बू स्वामी ने फिर पूछा—हे भगवन! यदि श्रमण भगवान महावीर ने सप्तम अङ्ग उपासकदशा के दस अध्ययन निरूपित किये हैं तो प्रथम अध्ययन का क्या भाव बताया है?

टीका—उन दिनों आर्य सुधर्मा स्वामी पूर्णभद्र नामक उद्यान में आये उनके सुशिष्य आर्य जम्बू स्वामी ने उपासना करते हुए पूछा हे भगवन! श्रमण भगवान ने ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र का जो वर्णन किया है वह मैंने सुन लिया अब मुझे बताइये कि भगवान ने सातवें अङ्ग उपासकदशाङ्ग का क्या अर्थ बताया है? इस प्रश्न के उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा—हे जम्बू! भगवान ने उपासकदशाङ्ग सूत्र में १० अध्ययनों का वर्णन किया है। आनन्द कामदेव गाथापति चुलनीपिता सुरादेव

चुल्लशतक, गाथापति कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता तथा शालिहीपिया ।

सुधर्मा के साथ अज्ज (आर्य अथवा अर्य) विशेषण है उसका भाव निम्नलिखित है—"'अज्ज' इति अर्यते-प्राप्यते यथाभिलषित तत्त्वजिज्ञासुभिरित्यर्यः, आर्यो वा स्वामीत्यर्थः, समस्तेभ्यो हेयधर्मेभ्य आरात्-पृथक् यायते-प्राप्यते अर्थाद् गुणैरिति, अथवा विषयकाष्ठ कर्तकत्वेनारा सादृश्यादारा—रत्नत्रयम्, तद् याति—प्राप्नोति इति निरुक्तवृत्त्याऽऽकारलोपे कृते—आर्यः, सर्वथा सकलकल्मषराशिकलुषितवृत्ति-रहित इत्यर्थः", तथा चोक्तम्—

अज्जइ भविहिं आरा जाइज्जइ हेय धम्मओ जो वा ।
रयणत्तयरूवं वा, आरं जाइत्ति अज्ज इय वुत्तो ।।*

'अज्ज' शब्द की सस्कृत छाया अर्य और आर्य दोनो प्रकार की होती है। तत्त्व के जिज्ञासुओ द्वारा जो प्राप्त किया जाता है उसे आर्य कहते हैं और अर्य का अर्थ स्वामी है । अथवा जो त्यागने योग्य समस्त धर्मो से भिन्न गुणो के कारण प्राप्तव्य हो उसे आर्य कहते हैं। अथवा रत्नत्रय १ सम्यग् दर्शन २ सम्यग् ज्ञान और ३ सस्यक् चरित्र—आरा के समान हैं, क्योकि वे पॉच इन्द्रियो के विषय रूपी काष्ठ को काटते हैं, उस रत्नत्रय की जिन्हे प्राप्ति हो गई है, उन्हे आर्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन की वृत्ति पूर्ण रूप से निर्दोप है, वे आर्य हैं ।

'सत्तमस्स अंगस्स' जैन परम्परा मे श्रुतज्ञान को पुरुप का रूप दिया गया है और आचाराङ्गादि आगमो को अङ्ग वताया है। इस क्रम मे उपासकदशाङ्ग नामक आगम का सातवा स्थान है अत इसे सप्तम अङ्ग कहा गया है, श्रुत पुरुप के १२ अङ्ग हैं, वह रूपक इस प्रकार है—

"यथा पुरुषस्य द्वौ चरणौ, द्वे जंघे, द्वावूरू, द्वौ गात्रार्द्धौ, द्वौ वाहू, ग्रीवा शिरश्चेत्येतैर्द्वादशभिरंगैरभिव्यक्ति दीप्तिरुपलब्धिश्च भवति, तथात्र श्रुतरूपस्य परमपुरुपस्य सन्त्याचारादीनि द्वादशांगानि ।"

---

* अर्यते भविभि, आरात् यायते, हेयधर्मतो यो वा ।
रत्नत्रयरूप वाऽऽर यातीति आर्य इत्युक्त ।।

तत्र १ दक्षिणचरणस्थानीयमाचाराङ्गम, २ वामचरणस्थानीय सूत्रकृताङ्गम, ३ दक्षिणजङ्घास्थानीय स्थानाङ्गम ४ वामजङ्घा स्थानीय समवायाङ्गम ५ दक्षिणोरुस्थानीय भगवतीसूत्रम, ६ वामोरुस्थानीय ज्ञाताधमकथाङ्गम, ७ दक्षिण पाश्वस्थानीय उपासकदशाङ्गम ८ वामपाश्वस्थानीयम तकृद्दशाङ्गम ९ दक्षिणवाहु स्थानीयमनुत्तरौपपातिकम १० वामबाहुस्थानीय विपाकसूत्रम ११ प्रश्नव्याकरणम ग्रीवास्थानीयम १२ मस्तक स्थानीय दृष्टिवाद नामाङ्गम ।'

जसे पुरुप के दो पर दा पिण्डलिया, दो जघन दा पसवाड (गात्राध) दा भुजायें एक ग्रीवा (गदन) और एक सिर होता है, इन बारह अगा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति प्रकटीकरण (दीप्ति प्रकाश) और उपलब्धि (प्राप्ति) हाती है, इसी प्रकार श्रुत रूपी महापुरुष के आचारादि १२ अग हैं—पहला आचाराङ्ग दाये पर के समान, दूसरा सूत्रकृताङ्ग बायें पर के समान, तीसरा स्थानाङ्ग दक्षिण जघा क समान चौथा सम वायाङ्ग वाम जङ्घा के समान, पाचवा भगवती दक्षिण जघन के समान, छटा ज्ञाता धम कथाङ्ग वाम जधन के समान सातवा उपासकदशाङ्ग दक्षिण पाश्व के समान, *आठवा अतकृद्दशाङ्ग वाम पाश्व के समान नौवाँ औपपातिक दक्षिण भुजा के* समान दसवा प्रश्नव्याकरण वाम भुजा के समान ग्यारहवा विपाकसूत्र ग्रीवा क समान और बाहरवा दृष्टिवाद सिर के समान है।

'एव खलु जम्बू' इस पद से यह प्रकट होता है कि वत्तमान अङ्गसाहित्य सुधर्मा स्वामी की वाचना है। जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से जा जा प्रश्न किये, सुधर्मा स्वामी ने उनका स्पष्टीकरण किया है। भगवान महावीर स्वामी के ११ गणधर थे और ९ वाचनाएँ मानी जाती हैं। प्रस्तुत वाचना सुधर्मा स्वामी की है।

वाणिज्य ग्राम और आनन्द—

मूलम्—**एव खलु जम्बू! तेण कालेण तेण समएण वाणियगामे नाम नयरे होत्था। वण्णओ। तस्स ण वाणियगामस्स नयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसी-भाए दूइपलासए नाम चेइए होत्था। तत्थ ण वाणियगामे नयरे जियसत्तू नाम राया होत्था। वण्णओ। तत्थ ण वाणियगामे आणदे नाम गहावई परिवसइ अड्ढे जाव अपरिभूए ॥३॥**

छाया—एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाणिज्यग्रामो नाम नगरमासीत् । वर्णकम् । तस्माद् वाणिज्यग्रामाद् नगराद् बहिरुत्तर पौरस्त्ये दिग्विभागे दूतीपलाशो नाम चैत्यम् आसीत् । तत्र खलु वाणिज्यग्रामे नगरे जितशत्रु राजा आसीत्, वर्णकम् । तत्र खलु वाणिज्यग्रामे आनन्दो नाम गाथापतिः परिवसति । आढ्यो यावत् अपरिभूतः ।

शब्दार्थ—जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे आर्य सुधर्मा स्वामी ने कहा—**एवं खलु जम्बू !**—इस प्रकार हे जम्बू ! **तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल उस समय जबकि भगवान् महावीर विद्यमान थे, **वाणियगामे नयरे होत्था**—वाणिज्यग्राम नाम का नगर था, **तस्स वाणियगामस्स नयरस्स बहिया**—उस वाणिज्य ग्राम नगर के बाहर **उत्तर पुरत्थिमे दिसि भाए**—उत्तरपूर्व दिशा—ईशानकोण में **दुइपलासए नामं चेइए**—दूतीपलाश नामक चैत्य था । **तत्थ णं**—वहा, **वाणियगामे नयरे**—वाणिज्यग्राम नगर मे, **जियसत्तू नामं राया होत्था**—जितशत्रु राजा था । **वण्णओ**—राजा का वर्णन कूणिक की तरह है, **तत्थ णं**—वहाँ, **वाणियगामे नयरे**—वाणिज्यग्राम नामक नगर मे, **आणंदे नामं गाहावई परिवसइ**—आनन्द नामक गाथापति रहता था । **अड्ढे जाव अपरिभूए**—वह धनाढ्य यावत् अपरिभूत था ।

भावार्थ—सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! उस काल और उस समय वाणिज्यग्राम नामक नगर था, अन्य नगरो के समान उसका वर्णन जान लेना चाहिए । उस वाणिज्यग्राम नगर के बाहर उत्तरपूर्व अर्थात् ईशान कोण में दूतीपलाश नामक चैत्य था । वाणिज्यग्राम नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था । वह भी वर्णनीय था । उस नगर में आनन्द नामक गाथापति रहता था । वह धनाढ्य यावत् अपरिभूत था ।

टीका—इस सूत्र मे वाणिज्यग्राम नगर का वर्णन किया गया है । सुधर्मा स्वामी कहते हैं । हे जम्बू ! उस काल उस समय वाणिज्यग्राम नाम का एक नगर था और उसके बाहर ईशान कोण मे दूतीपलाश नाम का चैत्य था । वहा जितशत्रु राजा राज्य करता था । उसी नगर मे आनन्द नामक गाथापति रहता था वह धनी और सब प्रकार से समर्थ था ।

तत्र १ दक्षिणचरणस्थानीयमाचाराङ्गम् २ वामचरणस्थानीय सूत्रकृताङ्गम ३ दक्षिणजङ्घास्थानीय स्थानाङ्गम ४ वामजङ्घा स्थानीय समवायाङ्गम ५ दक्षिणारूस्थानीय भगवतीसूत्रम्, ६ वामारुस्थानीय ज्ञाताधमकथाङ्गम् ७ दक्षिण पाश्वस्थानीय उपासकदशाङ्गम् ८ वामपाश्वस्थानीयम तकृद्दशाङ्गम ९ दक्षिणबाहु-स्थानीयमनुत्तरौपपातिकम् १० वामबाहुस्थानीय विपाकसूत्रम ११ प्रश्नव्याकरणम ग्रीवास्थानीयम् १२ मस्तक स्थानीय दष्टिवाद नामाङ्गम।

जसे पुरुष के दो पैर दो पिण्डलिया दो जघन दो पसवाड (गात्राध) दो भुजाय एक ग्रीवा (गदन) और एक सिर होता है इन बारह अगो द्वारा उसकी अभिव्यक्ति प्रकटीकरण (दीप्ति प्रकाश) और उपलब्धि (प्राप्ति) होती है इसी प्रकार श्रुत रूपी महापुरुष के आचारादि १२ अग हैं—पहला आचाराङ्ग दाये पर के समान, दूसरा सूत्रकृताङ्ग बाय पर के समान तीसरा स्थानाङ्ग दक्षिण जघा के समान चौथा सम वायाङ्ग वाम जङ्घा के समान पाचवा भगवती दक्षिण जघन के समान छटा ज्ञाता-धम कथाङ्ग वाम जघन के समान, सातवा उपासकदशाङ्ग दक्षिण पाश्व के समान आठवा अन्तकृद्दशाङ्ग वाम पाश्व के समान, नौवा औपपातिक दक्षिण भुजा के समान दसवा प्रश्नव्याकरण वाम भुजा के समान, ग्यारहवां विपाकसूत्र ग्रीवा के समान और बारहवा दष्टिवाद सिर के समान है।

'एव खलु जम्बू' इस पद से यह प्रकट होता है कि वत्तमान अङ्गसाहित्य सुधर्मा स्वामी की वाचना है। जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से जो जो प्रश्न किये, सुधमा स्वामी ने उनका स्पष्टीकरण किया है। भगवान महावीर स्वामी के ११ गणधर थे और ९ वाचनाएँ मानी जाती हैं। प्रस्तुत वाचना सुधर्मा स्वामी की है।

वाणिज्य ग्राम और आनन्द—

मूलम्—एव खलु जम्बू! तेण कालेण तेण समएण वाणियगामे नाम नयरे होत्था। वण्णओ। तस्स ण वाणियगामस्स नयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसी-भाए दूइपलासए नाम चेइए होत्था। तत्थ ण वाणियगामे नयरे जियसत्तू नाम राया होत्था। वण्णओ। तत्थ ण वाणियगामे आणदे नाम गहावई परिवसइ अड्ढे जाव अपरिभूए ॥३॥

आनन्द की धन-सम्पत्ति का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर पउत्ताओ, चत्तारि वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था ॥ ४ ॥

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथापतेश्चतस्रो हिरण्यकोटयः निधानप्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोटयो वृद्धि प्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोटय. प्रविस्तर प्रयुक्ताः, चत्वारो व्रजाः, दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन अभवन् ।

शब्दार्थ—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स—उस आनन्द गाथापति के, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड सुवर्ण, निहाणपउत्ताओ—कोष मे थी, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ—चार करोड वृद्धि के लिए व्यापार में लगे हुए थे। चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड सुवर्ण पवित्थर पउत्ताओ—प्रविस्तर गृह तथा तत्सम्बन्धी सामान मे लगे हुए थे। चत्तारि वया-दस गोसाहस्सिएणं—प्रत्येक मे दस हजार गायों वाले चार व्रज थे।

भावार्थ—आनन्द गाथापति के चार करोड सुवर्ण निधान अर्थात् कोष मे सञ्चित थे। चार करोड व्यापार में लगे हुए थे और चार करोड घर तथा तत्सम्बन्धी सामान मे लगे हुए थे। इस प्रकार उसके पास १२ करोड सुवर्ण (दीनार) थे। इसके अतिरिक्त उसके पास चार व्रज थे। प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाये थी।

टीका—प्रस्तुत पाठ मे धन का परिमाण हिरण्य-कोटि के रूप में बताया गया है। साधारणतया इसका अर्थ सुवर्ण किया जाता है। प्रतीत होता है, उस समय हिरण्य नाम की मुद्रा प्रचलित होगी। यह शुद्ध सोने की हुआ करती थी, इसका तोल ३२ रत्ती होता था। उत्तरवर्ती काल मे शको के आने पर इसी को दीनार के रूप मे प्रचलित किया गया।

आनन्द के पास चार व्रज थे और प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाये थी। यहाँ गाय शब्द समस्त पशुधन का बोधक है।

इस सूत्र म 'वण्णग्रो' शब्द दो बार आया है। पहली बार वाणिज्य ग्राम के लिए और दूसरी बार जितशत्रु राजा के लिए। इसका यह आशय है कि नगर और राजा का वर्णन औपपातिक सूत्र के समान समझ लेना चाहिए। नगर का नाम वाणिज्य ग्राम है। प्रतीत होता है कि वह वाणिज्य अर्थात व्यापार का केंद्र रहा होगा।

जिस प्रकार चम्पा नगरी का सविस्तर वर्णन औपपातिक सूत्र म किया गया है उसी प्रकार इस नगर का वर्णन भी जान लेना चाहिए। उसके ईशान कोण म दूतीपलाश नाम का चैत्य था। उसका वर्णन पूर्णभद्र चैत्य के समान जानना चाहिए। जिस प्रकार औपपातिक सूत्र म कोणिक राजा का वर्णन किया गया है, उसी के समान जितशत्रु राजा का भी वर्णन जान लेना चाहिए। उसी नगर म आनन्द नामक गाथापति रहता था।

गाथापति का अर्थ है—"गीयते स्तूयते लोकधनधान्यादि समृद्धि युक्ततयेति यद्वा गाथ्यते धनधान्य-पशुवश समुन्नत्यादिना। अहो! धन्यमिद सकलसमृद्धिसम्पन्न गृहमित्येव प्रशसितत्वात प्रतिष्ठिता भवतीति गाथा प्रशस्ततम गृह तस्या पति-अध्यक्ष स तथा क्षेत्र-वास्तु हिरण्य पशु दास पौरुष समलङ कृत सर्वगृहस्थ इत्यर्थ, परिवसति। नित्य सर्वतोभावेन वा वसति स्मेति शेष।"

धन धान्य और समृद्धि के कारण होने वाली प्रशसा को गाथा कहते हैं और उसके स्वामी को गाथापति कहा जाता है। अथवा गाथा शब्द का अर्थ है वह सम्पन्न घर जिसकी धन धान्य पशुवश आदि के रूप म होने वाली सर्वतोमुखी समृद्धि को देखकर सर्वत्र प्रशसा होती है।

यावत शब्द से अनेक अन्य बातें प्रकट की गई हैं। इसका अर्थ है कि आनन्द गाथापति के पास भवन शयन रथ शकट तथा अन्य वाहनों की विशाल संख्या थी। सोना चादी बहुमूल्य धातुओं का पर्याप्त सग्रह और पशु धन भी विपुल परिमाण म था। दास दासियो की विशाल सख्या थी। प्रतिदिन भोजनोपरान्त पर्याप्त खाद्य सामग्री बच जाती थी और उससे अनेक अनाथो एव भिक्षुओ का पोषण होता था। ऐसे घर के स्वामी को गाथापति कहा जाता है।

आनन्द की धन-सम्पत्ति का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर पउत्ताओ, चत्तारि वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था ॥ ४ ॥

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथापतेश्चतस्रो हिरण्यकोटयः निधानप्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोटयो वृद्धि प्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोटयः प्रविस्तर प्रयुक्ताः, चत्वारो व्रजाः, दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन अभवन् ।

शब्दार्थ—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स—उस आनन्द गाथापति के, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड सुवर्ण, निहाणपउत्ताओ—कोप मे थी, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ—चार करोड वृद्धि के लिए व्यापार मे लगे हुए थे। चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड सुवर्ण पवित्थर पउत्ताओ—प्रविस्तर गृह तथा तत्सम्वन्धी सामान मे लगे हुए थे। चत्तारि वया-दस गोसाहस्सिएणं—प्रत्येक मे दस हजार गायो वाले चार व्रज थे।

भावार्थ—आनन्द गाथापति के चार करोड सुवर्ण निधान अर्थात् कोष मे सञ्चित थे। चार करोड व्यापार मे लगे हुए थे और चार करोड घर तथा तत्सम्वन्धी सामान मे लगे हुए थे। इस प्रकार उसके पास १२ करोड सुवर्ण (दीनार) थे। इसके अतिरिक्त उसके पास चार व्रज थे। प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाये थी।

टीका—प्रस्तुत पाठ मे धन का परिमाण हिरण्य-कोटि के रूप मे बताया गया है। साधारणतया इसका अर्थ सुवर्ण किया जाता है। प्रतीत होता है, उस समय हिरण्य नाम की मुद्रा प्रचलित होगी। यह शुद्ध सोने की हुआ करती थी, इसका तोल ३२ रत्ती होता था। उत्तरवर्ती काल मे शको के आने पर इसी को दीनार के रूप मे प्रचलित किया गया।

आनन्द के पास चार व्रज थे और प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाये थी। यहाँ गाय शब्द समस्त पशुधन का बोधक है।

संस्कृत टीका म आनंद को प्रदीप्त कहा गया है अर्थात वह दीपक के समान प्रकाशमान था। जिस प्रकार दीपक म तेल वत्ती और शिखा होते हैं तथा वायु रहित स्थान म वह स्थिर होकर प्रकाश देता है उसी प्रकार आनन्द भी स्थिर होकर सबको प्रकाश दे रहा था। उसकी सम्पत्ति एव वभव की तुलना तेल तथा वत्ती से की गई है। उदारता तेजस्विता आदि गुणो की शिखा से और सयमी जीवन एव मर्यादा पालन की वायु रहित स्थान से। मूल सूत्र म उसके जीवन का दो शब्दो द्वारा प्रकट किया गया है अथात वह आढ्य था और अपरिभूत था। आढय शब्द भौतिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति को प्रकट करता है, और अपरिभूत शब्द उसके प्रभाव को। इसका अथ है आन द को कही भी अपमानित या निराश नही होना पडता था। वह कही भी असफल नही होता था। ये दोनो गुण शक्तिशाली व्यक्तित्व के आवश्यक अङ्ग हैं।

आनन्द का समाज में स्थान—

मूलम—से ण आणदे गाहावई बहूण राईसर जाव सत्थवाहाण बहूसु कज्जेसु य कारणे सु य मतेसु य कुडुम्बेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सवि य ण कुडुम्बस्स मेढी, पमाण, आहारे, आलबण, चक्खू, मेढीभूए जाव सव्व कज्जवड्ढावए यावि होत्था ॥ ५ ॥

छाया—स खलु आन दो गाथापति बहूना राजेश्वराणा यावत साथवाहाना बहुषु कार्येषु च कारणेषु च मन्त्रेषु च कुटुम्बेषु च गुह्येषु च रहस्येषु च निश्चयेषु च व्यवहारेषु च आप्रच्छनीय परिप्रच्छनीय स्वकस्यापि च खलु कुटुम्बस्य मेधि, प्रमाणम, आधार, आलम्बनम, चक्षुर्मेधिभूतो यावत सवकायवधकश्चापि आसीत।

शब्दार्थ—से ण आणदे गाहावई—वह आनन्द गाथापति बहूण राईसर जाव सत्थवाहाण—बहुत से राजा ईश्वर यावत साथवाहो का बहूसु—अनेक, कज्जेसु य—कार्यों म, कारणेसु य—कारणा म मतेसु य—विचार विमर्शों मे कुडुम्बेसु—कौटुम्बिक समस्याओ म, गुज्झेसु—गुह्य बातो मे, रहस्सेसु य—रहस्यो मे निच्छएसु—निश्चयो म ववहारेसु य—और व्यवहारा मे आपुच्छणिज्जे—परामश का पडिपुच्छणिज्जे—और

बार २ पूछने का विषय था। **सयस्सवि य णं कुडुम्बस्स**—तथा वह अपने परिवार का भी, **मेढी**—मेढी अर्थात् काष्ठदण्ड के समान, **पमाण**—प्रमाण, **आहारे**—आधार, **आलबणं**—आलम्बन, **चक्खू**—चक्षु स्वरूप, **मेढी भूए**—केन्द्र भूत काष्ठ दण्ड था, **जाव**—यावत्, **सव्व कज्ज वड्ढावए यावि होत्था**—सब कार्यो मे प्रेरक था।

भावार्थ—नगर के राजा, सेनापति, सार्थवाह आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति आनन्द से प्रत्येक बात मे परामर्श लिया करते थे। विविध कार्यो, योजनाओ, मन्त्रणाओ, कौटुम्बिक प्रश्नो, कलङ्क या दोष आदि गोपनीय बातो, अनेक प्रकार के रहस्यो, निश्चयो, निर्णयो तथा लेन-देन आदि से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहारो मे, उससे पूछते रहते थे और उसकी सम्मति को महत्त्वपूर्ण मानते थे। वह अपने कुटुम्ब का भी स्तम्भ के समान आधार भूत था, उसका आलम्बन अर्थात् सहारा था और चक्षु अर्थात् पथ-प्रदर्शक 'मेढी' अर्थात् केन्द्र स्तम्भ था। इतना ही नही, वह समस्त अनुष्ठानो का प्रेरक था।

टीका—इस सूत्र मे यह बतलाया गया है कि आनन्द का समाज मे क्या स्थान था। नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रत्येक बात मे उससे परामर्श करते थे। उसकी सम्मति को बहुमूल्य मानते थे। स्वजन-सम्बन्धियो का तो वह एकमात्र आधार, सहारा और पथप्रदर्शक था।

मेढी उस काष्ठदण्ड को कहते हैं जो खलियान के बीच गाड दिया जाता है और गेहूँ आदि धान्य निकालने के लिए बैल जिसके चारो ओर घूमते हैं। आनन्द को भी मेढी बताया गया है अर्थात् वह समस्त कार्यो के लिए केन्द्रभूत था, उसी को मध्य मे रखकर अनेक प्रकार के लौकिक अनुष्ठान किये जाते थे। **मेधिः-व्रीहि-यव-गोधूमादिमर्दनार्थं खले स्थापितो दार्वादिमय पशुबन्धनस्तम्भः। यत्र पंक्तिशो बद्धा बलीवर्दादयो व्रीह्यादिमर्दनाय परितो भ्राम्यन्ति तत्सादृश्यादयमपि मेधिः।** गाथापति आनन्द अपने कुटुम्ब के मेधि के समान थे अर्थात् कुटुम्ब उन्ही के सहारे था, वे ही उसके व्यवस्थापक थे।

मूल पाठ मे 'वि' अपि—शब्द है उसका तात्पर्य यह है कि वे केवल कुटुम्ब के ही आश्रय न थे वरन् समस्त लोगो के भी आश्रय थे, जैसा कि ऊपर बताया जा

चुका है। आगे भी जहाँ-जहाँ वि अपि—आया है वहाँ सवत्र यही तात्पय समझना चाहिए।

सूत्र म आनन्द का चक्षु बताया है। इसका यह भाव है—जिस प्रकार चक्षु पदार्थों का प्रकाशक है उसी प्रकार आनन्द भी सकल पदार्थों का प्रदर्शक था। मधि प्रमाण आधार, आलम्बन और चक्षु इन शब्दों के साथ भूत शब्द लगाने से वे सब उपमावाची बन जाते हैं।

आनन्द को 'सव्वकज्ज वड्ढावए' अर्थात सब कार्यों का प्रेरक या बढाने वाला बताया गया है। जो व्यक्ति अन्य लोगों के काम आता है वह माननीय हो जाता है।

आनन्द की पत्नी शिवानन्दा का वणन—

मूलम्—तस्स ण आणंदस्स गहावइस्स सिवनंदा (सिवानंदा) नाम **भारिया होत्था, अहीण जाव सुरुवा। आणंदस्स गाहावइस्स इट्ठा, आणंदेण गाहावइणा सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता, इट्ठे सद्द० जाव पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरइ ॥ ६ ॥**

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथापते शिवानन्दा नाम भार्या आसीत, अहीना यावत सुरूपा। आनन्दस्य गाथापतेरिष्टा। आनन्देन गाथापतिना साद्धमनुरक्ता, अविरक्ता, इष्टान शब्दान यावत पञ्चविधान मानुष्यान कामभोगान प्रत्यनुभवन्ती विहरति।

शब्दाथ—तस्स ण आणंदस्स गाहावइस्स—उस आनन्द गाथापति की सिवनंदा नाम भारिया होत्था—शिवानन्दा नामक भार्या थी। अहीण जाव सुरुवा—अहीन अर्थात पूर्ण अङ्गोपाङ्ग वाली तथा रूपवती थी। आणंदस्स गाहावइस्स—आनन्द गाथापति की इट्ठा—प्रिय थी आणंदेण गाहावइणा सद्धिं अणुरत्ता—आनन्द गाथापति के प्रति अनुरक्त थी अविरत्ता—अविरक्त थी इट्ठे—मनोनुकूल सद्द जाव पञ्चविहे—शब्दादि पाच प्रकार के माणुस्सए—मानवीय कामभोए—कामभोगों का, पच्चणुभवमाणी विहरइ—आनन्द लेती हुई जीवन यापन कर रही थी।

भावार्थ—आनन्द गाथापति की शिवानन्दा नामक पत्नी थी। वह सर्वाङ्ग परिपूर्ण एवं सुन्दरी थी। आनन्द को अत्यन्त प्रिय थी। उसके प्रति अनुरक्त एवं अविरक्त थी। और उसके साथ इच्छानुकूल शब्द, रूप आदि पाँच प्रकार के मनुष्य-जन्म सम्बन्धी कामभोगो का उपभोग करती हुई जीवन यापन कर रही थी।

टीका—इस सूत्र में आनन्द गाथापति की भार्या का वर्णन है। वह सर्वांग सुन्दर तथा स्वस्थ थी। रूप-लावण्य तथा सुलक्षणो से सम्पन्न थी। वह आनन्द गाथापति को प्रिय थी और आनन्द उसे प्रिय था। दोनो शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सम्बन्धी इन्द्रिय सुखो का आनन्द लेते हुए जीवन यापन कर रहे थे। सूत्रकार ने स्त्री की योग्यता के विषय मे दो पद दिये हैं—अनुरक्ता और अविरक्ता। अनुरक्ता की व्याख्या निम्नलिखित है—

"घर कम्म वावडा जा, सव्वसिणेहप्पवड्ढणी दक्खा।
छाया विव भत्तणुगा, अणुरत्ता, सा समक्खाया॥"[1]

जो स्त्री घर के काम-काज मे लगी रहती है, सबका स्नेह बढाने वाली तथा चतुर होती है एवं परछाई की तरह पति की अनुगामिनी होती है, उसे शास्त्रो मे अनुरक्ता कहा गया है। अविरक्ता की व्याख्या इस प्रकार है—

पडिऊले वि य भत्तरि किंचिवि रुट्ठा ण जा हवइ।
जाउ मिउ भासिणी य णिच्चं सा अविरत्तत्ति णिद्दिट्ठा॥[2]

पति के प्रतिकूल होने पर भी जो स्त्री तनिक रोष नही करती, सदा मधुर वाणी बोलती है, वह अविरक्ता कही जाती है। इस कथन द्वारा सूत्रकर्त्ता ने पतिव्रता स्त्री के दो पदो मे समस्त लक्षण बता दिये हैं। शिवानन्दा भार्या इन्द्रिय और मन को प्रसन्न करने वाले मनुष्य सम्बन्धी पाँच प्रकार के कामभोगो का उपभोग कर रही थी।

---

[1] गृहकर्म व्यापृता या सर्वस्नेहप्रवर्द्धनी दक्षा।
छायेव भर्त्रनुगा अनुरक्ता, सा समाख्याता॥

[2] प्रतिकूलेऽपि च भर्त्तरि, किञ्चदपि रुष्टा न या भवति।
या तु मृदुभाषिणी च नित्यं सा अविरक्तेति निर्दिष्टा॥

चुका है। आगे भी जहां जहां 'वि' अपि—आया है वहां सर्वत्र यही तात्पर्य समझना चाहिए।

सूत्र में आनन्द को चक्षु बताया है। इसका यह भाव है—जिस प्रकार चक्षु पदार्थों का प्रकाशक है उसी प्रकार आनन्द भी सकल पदार्थों का प्रदर्शक था। मेधि प्रमाण आधार, आलम्बन और चक्षु इन शब्दों के साथ भूत शब्द लगाने से वे सब उपमावाची बन जाते हैं।

आनन्द को 'सव्वकज्ज वड्ढावए' अर्थात् सब कार्यों का प्रेरक या बढ़ाने वाला बताया गया है। जो व्यक्ति अन्य लोगों के काम आता है वह माननीय हो जाता है।

आनन्द की पत्नी शिवानन्दा का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स सिवनंदा (सिवानन्दा) नामं भारिया होत्था, अहीण जाव सुरूवा। आणंदस्स गाहावइस्स इट्ठा, आणंदेणं गाहावइणा सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता, इट्ठे सद्द० जाव पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरइ ॥ ६ ॥

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथापतेः शिवानन्दा नाम भार्या आसीत् अहीना यावत् सुरूपा। आनन्दस्य गाथापतेरिष्टा। आनन्देन गाथापतिना सार्द्धमनुरक्ता, अविरक्ता, इष्टान् शब्दान् यावत् पञ्चविधान् मानुष्यान् कामभोगान् प्रत्यनुभवन्ती विहरति।

शब्दार्थ—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स—उस आनन्द गाथापति की, सिवनंदा नामं भारिया होत्था—शिवानन्दा नामक भार्या थी। अहीण जाव सुरूवा—अहीन अर्थात् पूर्ण अङ्गोपाङ्ग वाली तथा रूपवती थी। आणंदस्स गाहावइस्स—आनन्द गाथापति को इट्ठा—प्रिय थी आणंदेणं गाहावइणा सद्धिं अणुरत्ता—आनन्द गाथापति के प्रति अनुरक्त थी अविरत्ता—अविरक्त थी इट्ठे—मनोनुकूल सद्द जाव पञ्चविहे—शब्दादि पांच प्रकार के, माणुस्सए—मानवीय, कामभोए—कामभोगों का, पच्चणुभवमाणी विहरइ—आनन्द लेती हुई जीवन यापन कर रही थी।

भय। जब नगर निर्भय होता है, तभी उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। परिणाम स्वरूप धन-धान्य आदि की वृद्धि होती है और वह व्यापार का केन्द्र बन जाता है, कोल्लाक नामक सन्निवेश उक्त गुणो से युक्त था। सन्निवेश उसे कहते हैं—"सन्निविशन्ति जना यस्मिन् स ग्रामविशेषः" अर्थात् जिसमे जन निवेश करते है, उसी का नाम सन्निवेश (पडाव) है। कोल्लाक सन्निवेश वाणिज्यग्राम के समीप एक पडाव या बस्ती थी, जो व्यक्त तथा सुधर्मा गणधरो का जन्म स्थान मानी जाती है। भगवान् महावीर स्वामी को यहाँ रहने वाले बहुल ब्राह्मण के घर से प्रथम भिक्षा प्राप्त हुई थी।

आनन्द के स्वजन सम्बन्धियो का वर्णन—

मूलम्—**तत्थ णं कोल्लाए सन्निवेसे आणंदस्स गाहावइस्स बहुए मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परिजणे परिवसइ, अड्ढे जाव अपरिभूए ॥ ८ ॥**

छाया—**तत्र खलु कोल्लाक सन्निवेशे आनन्दस्य गाथापतेर्बहुको मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-सम्बन्धि-परिजन. परिवसति, आढ्यो यावदपरिभूतः।**

शब्दार्थ—**तत्थ ण**—उस, **कोल्लाए सन्निवेसे**—कोल्लाक सन्निवेश मे, **आणंदस्स गाहावइस्स** आनन्द गाथापति के, **बहुए**—बहुत से, **मित्तणाइणियगसयण संबंधि परिजणे**—मित्र, ज्ञाति, आत्मीय, स्वजन-सम्बन्धी और परिजन रहा करते थे। **अड्ढे जाव अपरिभूए**—वे भी आढ्य यावत् अपरिभूत थे।

भावार्थ—उस कोल्लाक सन्निवेश मे आनन्द गाथापति के बहुत से मित्र, जाति-बन्धु, आत्मीय, स्वजन, सम्बन्धी तथा परिजन निवास करते थे। वे भी सम्पन्न तथा अपरिभूत थे।

टीका—इस सूत्र मे आनन्द गाथापति के स्वजनो का वर्णन किया गया है। मित्रादि के लक्षण निम्नलिखित दो गाथाओ मे वर्णित हैं—

"मित्तं सयेगरूवं, हियमुवदिसइ, पियं च वितणोइ।
तुल्लायार वियारी, सज्जाइ वग्गो य सम्मया णाई ॥"[1]

---

[1] मित्र सदैकरूप हितमुपदिशति प्रिय च वितनोति।
तुल्याचारविचारी, स्वजाति वर्गश्च सम्मता ज्ञाति ॥

कामभोग—शब्द रूप आदि जिन विषयों का आनन्द एक साथ अनेक व्यक्ति ले सकते हैं, वे काम कहे जाते हैं तथा भोजन पान शय्या आदि को भोग कहते हैं जहां भोग्य वस्तु भिन्न २ रहती है।

कोल्लाक सन्निवेश का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं वाणियगामस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं कोल्लाए नामं सन्निवेसे होत्था। रिद्ध त्थिमिय जाव पासादीए, दरसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे ॥ ७ ॥

छाया—तस्मात् खलु वाणिज्य ग्रामाद् बहिरुत्तर पौरस्त्ये दिग्विभागेऽत्र खलु कोल्लाको नाम सन्निवेश आसीत् ऋद्ध स्तिमितो यावत् प्रासादीयः, दर्शनीयः, अभिरूपः प्रतिरूपः।

शब्दार्थ—तस्स णं—उस, वाणियगामस्स—वाणिज्यग्राम के, बहिया—बाहर उत्तरपुरत्थिमे—उत्तर पूर्व दिसी भाए—दिशा में एत्थणं—यहां कोल्लाए नाम सन्निवेसे—कोल्लाक नामक सन्निवेश होत्था—था। वह रिद्ध त्थिमिय जाव पासादीए—ऋद्ध अर्थात् सम्पन्न स्तिमित अर्थात् सुरक्षित यावत् पासादीय—प्रासादों से सुशोभित दरिसणिज्जे—दर्शनीय था। अभिरूवे—अभिरूप अर्थात् सुन्दर और पडिरूवे—प्रतिरूप अर्थात् जैसा होना चाहिए वैसा था।

भावार्थ—वाणिज्यग्राम के बाहर ईशान कोण में कोल्लाक नामक सन्निवेश अर्थात् उपनगर था। वह ऋद्ध—धन धान्य आदि से सम्पन्न स्तिमित—तस्कर आदि के उपद्रवों से रहित प्रासादीय—मनोहर दर्शनीय—देखने योग्य अभिरूप—शोभापूर्ण तथा प्रतिरूप—अलौकिक छवि वाला था।

टीका—सूत्रकार ने 'रिद्ध त्थिमिय समिद्ध' ये तीन पद दिये हैं इनके द्वारा नगर का समस्त वर्णन कर दिया है। विशाल भवनों से नगर की शोभा बढ़ती है। किन्तु वही नगर वृद्धिशाली हो सकता है जो निर्भय हो अर्थात् जहां राजा तस्कर आदि किसी प्रकार का भय न हो। शास्त्रों में भय के अनेक प्रकार बताये हैं—राजभय तस्करभय जनभय अग्निभय वनचरभय तथा जनता के असन्ताप का

टीका—सूत्र मे परिषद् (परिसा) शब्द दिया हुआ है उसका यह भाव है—**परि-सर्वतोभावेन सीदन्ति—उपविशन्ति-गच्छन्ति वा जना यस्यां सा परिषत्—सभा।** अर्थात् जिस स्थान पर लोग विचार-विनिमय करने के लिए बैठते हैं, उसका नाम परिषत् है। यह तीन प्रकार की होती है—

१ ज्ञा परिषद्—निपुण, बुद्धि सपन्न, विचारशील, गुण दोष को जानने वाली दीर्घदर्शी एव औचित्यानुचित्य का विवेक करने वाली 'ज्ञा' परिषद् होती है।

२ अज्ञा परिषद्—अज्ञानी किन्तु विनयशील तथा शिक्षा मानने मे तत्पर जिज्ञासुओ की सभा, 'अज्ञा' परिषद् होती है।

३ दुर्विदग्धा परिषद्—मिथ्या अहङ्कार से युक्त, तत्त्व बोध से रहित एव दुराग्रही व्यक्तियो की सभा 'दुर्विदग्धा' परिषद् कही जाती है।

आनन्द का भगवान के दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—**तए णं से आणंदे गहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे "एवं खलु समणे जाव विहरइ, तं महप्फलं, जाव गच्छामि णं। जाव पज्जुवासामि" एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए, सुद्धप्पा मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिए, अप्पमहग्घाभरणालंकिय सरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता सकोरेण्ट मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते पायविहारचारेणं वाणियग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणामेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्त वंदइ नमंसइ जाव पज्जुवासइ॥ १०॥**

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिरस्यां कथायां लब्धार्थः सन्, "एवं खलु श्रमणो यावद् विहरति, तन्महत् फलम्, गच्छामि खलु यावत् पर्युपासे" एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य स्नातः, शुद्धप्रवेश्यानि माङ्गल्याणि वस्त्राणि प्रवरपरिहितः, अल्पमहर्घाभरणालंकृतशरीरः स्वकात् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य सकुरण्टमाल्यदाम्ना छत्रेण ध्रियमाणेन मनुष्यवागुरा परिक्षिप्तः पादविहारचारेण वाणिज्यग्रामं नगरं मध्यं मध्येन

"माया पिउ पुत्ताई, णियगो, सयणो, पिउव्व भायाई ।
सबधी ससुराई, दासाई परिजणो णेओ ॥"[1]

मित्र वह है जो सदा हित की बात बताता है और सदा हित ही करता है। समान आचार विचार वाले स्वजाति वर्ग को ज्ञाति। माता पिता पुत्र आदि को निजक। भाई आदि को स्वजन। श्वसुर आदि को सम्बन्धी और दास आदि को परिजन कहते हैं।

भगवान् महावीर का समवसरण—

मूलम्—तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे जाव समोसरिए। परिसा निग्गया। कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू निगच्छइ। निग्गच्छित्ता जाव पज्जुवासइ ॥ ६ ॥

छाया—तस्मिन काले तस्मिन समये श्रमणो भगवान महावीरो यावत समवसत। परिषर्निगता। कूणिको राजा यथा, तथा जितशत्रुर्निगच्छति। निगत्य यावत पयु पास्ते।

शब्दार्थ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल उस समय, समणे भगव महावीरे जाव समोसरिए—श्रमण भगवान महावीर यावत वाणिज्यग्राम में आये, कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू निगच्छइ—कूणिक राजा के समान जितशत्रु राजा भी निकला निग्गच्छित्ता—निकलकर जाव—यावत पज्जुवासइ—भगवान के पास आया और उसने भगवान महावीर की वन्दना तथा चरणसेवा की।

भावार्थ—उस समय श्रमण भगवान महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए वाणिज्यग्राम नगर के बाहर दूतिपलाश चैत्य में पधारे। परिषद् वन्दन करने को निकली। कूणिक के समान जितशत्रु राजा भी वैभव के साथ निकला और भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ।

[1] माता पित पुत्रादिर्निजक स्वजन पितृव्यभ्रात्रादि।
सम्बन्धी श्वसुरादिर्दासादि परिजनो ज्ञेय ॥

टीका—सूत्र मे परिषद् (परिसा) शब्द दिया हुआ है उसका यह भाव है—परि-सर्वतोभावेन सीदन्ति—उपविशन्ति-गच्छन्ति वा जना यस्यां सा परिषत्—सभा। अर्थात् जिस स्थान पर लोग विचार-विनिमय करने के लिए बैठते हैं, उसका नाम परिषत् है। यह तीन प्रकार की होती है—

१ ज्ञा परिषद्—निपुण, बुद्धि सपन्न, विचारशील, गुण दोष को जानने वाली दीर्घदर्शी एव औचित्यानुचित्य का विवेक करने वाली 'ज्ञा' परिषद् होती है।

२ अज्ञा परिषद्—अज्ञानी किन्तु विनयशील तथा शिक्षा मानने मे तत्पर जिज्ञासुओ की सभा, 'अज्ञा' परिषद् होती है।

३ दुर्विदग्धा परिषद्—मिथ्या अहङ्कार से युक्त, तत्त्व बोध से रहित एव दुराग्रही व्यक्तियो की सभा 'दुर्विदग्धा' परिषद् कही जाती है।

आनन्द का भगवान के दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—**तए णं से आणंदे गहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे "एवं खलु समणे जाव विहरइ, तं महप्फलं, जाव गच्छामि णं। जाव पज्जुवासामि" एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए, सुद्धप्पा मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिए, अप्पमहग्घाभरणालंकिय सरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता सकोरेण्ट मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते पायविहारचारेणं वाणियग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणामेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्त वंदइ नमंसइ जाव पज्जुवासइ ॥ १० ॥**

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिरस्या कथायां लब्धार्थः सन्, "एवं खलु श्रमणो यावद् विहरति, तन्महत् फलम्, गच्छामि खलु यावत् पर्युपासे" एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य स्नातः, शुद्धप्रवेश्यानि माङ्गल्याणि वस्त्राणि प्रवरपरिहितः, अल्पमहर्घाभरणालंकृतशरीरः स्वकात् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य सकुरण्टमाल्यदाम्ना छत्रेण ध्रियमाणेन मनुष्यवागुरा परिक्षिप्तः पादविहारचारेण वाणिज्यग्रामं नगरं मध्यं मध्येन

निगच्छति, निगत्य यत्रव दूतिपलाशचत्यम, यत्रव श्रमणो भगवान महावीरस्त त्रवोपागच्छति, उपागत्य त्रिकृत्व आदक्षिण प्रदिक्षणा करोति, कृत्वा वदते नमस्यति, यावत पयु पास्ते ।

न्दाय—तए ण—तदनतर से—वह आणदे गाहावई—आनद गाथापति, इमी से कहाए—इस कथा म लद्धट्टे समाणे—लब्धार्थ हुआ—अथात आनद का भी यह ात हुआ कि एव खलु समणे जाव विहरइ—चम्पा क बाहर दूतीपला उद्यान मे श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं त महप्फल—महान् फल होगा यदि मैं जाव गच्छामिण—यावत भगवान के दान करने जाऊँ जाव—यावत पज्जुवासामि—और उपासना करूँ एव सपहेइ—आनद न इस भाति विचार किया सपहित्ता—विचार करके ण्हाए—स्नान किया सुद्धप्पा-वेसाइ मगलाइ वत्थाइ—और शुद्ध तथा सभा म प्रवेश करने योग्य माङ्गलिक वस्त्र पवर परिहिए—भली भाति पहने अप्पमहग्घाभरणालकिय सरीरे—और अल्प किन्तु बहुमूल्य आभूपणो से शरीर को अलकृत किया। सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ—इस प्रकार सज्जित होकर वह अपने घर से निकला। पडिनिक्खमित्ता—निकल कर सकोरेंटमल्लदामेण छत्तेण धरिज्जमाणेण—कुरण्ट पुष्पो की माला से युक्त छत्र धारण किय मणुस्स वागुरा परिक्खित्ते—मनुष्य समूह से घिरा हुआ पायविहारचारेण—पदल ही चलता हुआ वाणिय गाम नयर मज्झ मज्झेण निग्गच्छइ—*वाणिज्य ग्राम नगर के बीच होता हुआ निकला,* निग्गच्छित्ता—निकल कर जेणामेव दुइपलासे चेइए—जहा दुतिपलाश चत्य था, जेणेव समणे भगव महावीरे—जहा श्रमण भगवान महावीर विराजते थे। तेणेव उवागच्छइ—वहा आया उवागच्छित्ता—आकर, तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ—तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की करेत्ता—प्रदक्षिणा करके वदइ नमसइ—वदना की और नमस्कार किया। जाव—यावत पज्जुवासइ—पयु पासना की।

भावाथ—राजा आदि नगर के प्रमुख जनो को भगवान की वदना के लिए जाते दखकर आनद को ज्ञात हुआ कि महावीर स्वामी नगर के बाहर उद्यान म ठहरे हुए हैं। उसके मन म विचार आया कि मुझे भी भगवान के दशनाय जाना चाहिए और विधि पूवक उपासना करनी चाहिए इससे महान फल की प्राप्ति होगी। यह विचार कर उसने स्नान किया, शुद्ध एव सभा म प्रवेश करने योग्य

मङ्गल वस्त्र पहने, अल्प परन्तु बहुमूल्य आभूषणों द्वारा शरीर को विभूषित किया। इस भांति सुसज्जित होकर वह अपने घर से निकला। कोरंट पुष्पो की माला से अलंकृत छत्र धारण किया और जन समुदाय से घिरा हुआ, पैदल ही वाणिज्यग्राम नगर के बीचो-बीच होता हुआ, दुतिपलाश चैत्य मे जहाँ भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहां पहुँचा। वहाँ जाकर भगवान् महावीर की तीन बार प्रदक्षिणा की, वन्दना तथा नमस्कार किया, यथाविधि पर्युपासना की।

टीका—सूत्र मे 'यावत्' शब्द से निम्नलिखित पाठ की ओर सकेत किया गया है—"समणं भगवं महावीरं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइय विणएणं ··।"

भगवान् की वन्दना करते समय उनकी इस प्रकार स्तुति की जाती है—आप कल्याण करने से कल्याण रूप हैं, दु खो और विघ्नो को उपशमन करने से मङ्गल रूप हैं, तीन लोक के नाथ होने से आप आराध्य देव स्वरूप हैं, विशिष्ट ज्ञानवान् हैं अथवा चित्तशुद्धि के हेतु होने से आप चैत्य-ज्ञान स्वरूप हैं। उक्त चार पदो की व्याख्या राजप्रश्नीय सूत्रान्तर्गत सूर्याभदेव के वर्णन मे आचार्य मलयगिरि ने निम्न प्रकार की है—"कल्लाणं मगल देवयं चेइयं पज्जुवासामि, कल्याणं—कल्याणकारित्वात्, मंगलं—दुरितोपशमकारित्वात्, देवतां—देवं त्रैलोक्याधिपतित्वात्, चैत्यं—सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात् पर्युपासितुम्—सेवितुम् ।"

भगवान की धर्मकथा का वर्णन—

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे आणंदस्स गाहावइस्स, तीसे य महइ-महालियाए परिसाए जाव धम्म कहा। परिसा पडिगया, राया य गओ ॥ ११ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः आनन्दाय गाथापतये तस्यां च महातिमहत्यांपरिषदि यावद् धर्मकथा। परिषत् प्रतिगता, राजा च गतः।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, आणंदस्स गाहावइस्स—आनन्द गाथापति को, तीसे य महइ महालियाए परिसाए—उस

महनीय परिषद् मे, धम्म कहा—धमकथा कही, परिसा पडिगया—उपदेशानन्तर परिषद् चली गई, राया य गओ—राजा भी चला गया।

भावाथ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द गाथापति तथा उस महती परिषद् को धम उपदेश दिया। धम प्रवचन के पश्चात परिषद चली गई और जितशत्रु राजा भी चला गया।

टीका—इस सूत्र मे भगवान की धमकथा का उल्लेख किया गया है। भगवान महावीर ने आनन्द गाथापति और जितशत्रु राजा आदि प्रधान पुरुषो की महासभा मे धमकथा की। उसका विस्तृत वणन औपपातिक सूत्र मे किया गया है। भगवान ने सव प्रथम आस्तिक्वाद का निरूपण किया। जन दशन के अनुसार लोक अलोक, जीव अजीव पुण्य पाप आश्रव सवर निजरा बन्ध और मोक्ष रूप पदार्थो का वास्तविक अस्तित्व है। जन शास्त्रो म इनका नय और प्रमाणो द्वारा निरूपण किया गया है। प्रत्येक पदाथ स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दष्टि से अस्ति अर्थात विद्यमान है और पर द्रव्य आदि की अपेक्षा से नास्ति अर्थात अविद्यमान है। इसका विस्तृत वणन सप्तभङ्गी न्याय द्वारा किया गया है। भगवान् ने सम्यग् दशन सम्यग ज्ञान सम्यक चारित्र और तप का मोक्ष माग के रूप म निरूपण किया है। साथ ही चार गतियो चार कषायो चार सज्ञाओ, षड् जीवनीकाया तथा चार विकथाओ अथात स्त्रीविकथा भक्तविकथा देशविकथा तथा राजविकथा का विस्तार पूवक वणन किया गया है। इसके अतिरिक्त चार प्रकार की धम कथाओ का स्वरूप बताया गया है वे इस प्रकार हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी सवेगनी और निर्वेदनी। उक्त चार धम कथाओ का श्रीठाणाङ्ग सूत्र मे विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

धर्मोपदेश श्रवण के अनन्तर आनन्द की प्रतिक्रिया—

मूलम्—तए ण से आणदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव एव वयासी—सद्दहामि ण, भते! णिग्गथ पावयण, पत्तियामि ण, भते! णिग्गथ पावयण, रोएमि ण, भते! निग्गथ पावयण, एवमेय, भते! तहमेय, भते! अवितहमेय, भते!

इच्छियमेयं, भंते ! पडिच्छियमेयं, भंते ! इच्छिय-पडिच्छियमेयं, भंते ! से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु, जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुम्बिय-सेट्ठि-सेणावई सत्थवाहप्पभिइओ मुण्डा भवित्ता आगराओ अणगारियं पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए। अहं णं देवाणप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि धम्मं पडिवज्जिसामि। अहासुहं, देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ॥ १२ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके धर्म श्रुत्वा निशम्य हृष्टस्तुष्टः यावदेवमवादीत्—श्रद्दधामि खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं, प्रत्येमि खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं, रोचते मे खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनम्। एवमेतद् भदन्त ! तथ्यमेतद् भदन्त ! अवितथमेतद् भदन्त ! इष्टमेतद् भदन्त ! प्रतीष्टमेतद् भदन्त ! इष्टप्रतीष्टमेतद् भदन्त ! तद् यथैतद् यूयं वदथेति कृत्वा, यथा खलु देवानुप्रियाणामन्तिके बहवो राजेश्वर-तलवर-माडम्बिक-कौटुम्बिक-श्रेष्ठि-सेनापति-सार्थवाह प्रभृतयो मुण्डीभूय आगाराद् अनगारतां प्रव्रजिताः, नो खलु अहं तथा शक्नोमि मुण्डो यावत् प्रव्रजितुम्। अहं खलु देवानुप्रियाणामन्तिके पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं गृहिधर्म प्रतिपत्स्ये। यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धं कुरु।

शब्दार्थ—तए णं से—तत्पश्चात् आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स—आनन्द गाथापति श्रमण भगवान् महावीर के अंतिए—पास धम्मं—धर्म को सोच्चा—सुनकर निसम्म—हृदय मे धारण करके हट्ठ तुट्ठ जाव एवं वयासी—हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रसन्न होकर इस प्रकार बोला, सद्दहामिण, भंते ! निग्गंथं पावयणं—हे भगवन् ! मैं निर्गन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, पत्तियामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं—हे भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मैं विश्वास करता हूँ। रोयमिणं भंते! निग्गथं पावयणं—हे भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे अच्छा लगता है। एवमेयं भंते!—हे भगवन् (सत्य का स्वरूप) ऐसा ही है, तहमेयं भंते!—भगवन् ! यही तथ्य है, अवितहमेयं भते!—हे भगवन् ! यह यथार्थ है। इच्छियमेयं भंते!—हे भगवन् !

यह अभिलपणीय है पडिच्छियमेय भते !—हे भगवन ! यह अभीप्सनीय है इच्छिय पडिच्छियमेय भंते !—हे भगवन यह अभिलपणीय तथा अभीप्सनीय है। से जहेय तुब्भे वयह—यह प्रवचन ठीक वसा ही है जसा आप ने कहा है। त्ति कट्टु—अत जहाण देवाणुप्पियाण अतिए—जिस प्रकार देवानुप्रिय क पास बहवे राईसर-तलवर-माडबिए-कोडुबिए-सेट्ठि सेणावई सत्यवाह पभिइया— बहुत मे राजा ईश्वर-तल्वर-माडम्बिक कौटुम्बिक श्रेष्ठी सनापति सार्थवाह आदि मुण्डा भवित्ता—मुण्डित होकर, अगाराओ अणगारिय पव्वइत्ता—घर छोडकर मुनि बने, नो खलु अह तहा सचाएमि मुण्डे जाव पवइत्तए—म उस प्रकार मुण्डित यावत् प्रव्रजित होने मे समर्थ नही हूँ। अह ण देवाणुप्पियाण अतिए पचाणुव्वइय सत्त सिक्खावइय—मैं तो दवानुप्रिय के पास पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत इस प्रकार दुवालसविह गिह धम्म—द्वादशविध गहस्थ धम का पडिवज्जिसामि—स्वीकार करूगा। अहासुह देवाणुप्पिया—भगवान ने कहा है देवानुप्रिय ! जस तुमको सुख हो वसे करो, मा पडिबध करेह—विलम्ब मत करो।

भावार्थ—तत्पश्चात् आनन्द गाथापति श्री भगवान महावीर स्वामी क पास धर्मोपदेश सुन कर हृष्ट-तुष्ट एव प्रसन्न होकर इस प्रकार कहने लगा—भगवन ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ विश्वास करता हूँ वह मुझे अच्छा लगता है। भगवन् ! यह ऐसा ही है जसा आपने कहा। निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, यथार्थ है तथ्य है मुझे अभीप्सित है तथा अभीप्रेत है। हे दवानुप्रिय ! आपके पास जिस प्रकार राजा ईश्वर तलवर माडम्बिक कौटुम्बिक-श्रेष्ठी सेनापति सार्थवाह मुण्डित होकर—घर छोड कर मुनि बने हैं। किन्तु मैं उस प्रकार मुण्डित एव प्रव्रजित होने म समर्थ नही हूँ। अत देवानुप्रिय ! म आपके पास पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत स्वरूप द्वादशविध गहस्थ धर्म को अङ्गीकार करना चाहता हूँ। आनन्द गाथापति क इस प्रकार कहने पर भगवान महावीर ने उत्तर दिया—दवानुप्रिय ! जस तुम्हे सुख हो उस प्रकार करो विलम्ब मत करो।

टीका—धर्म के दो रूप हैं श्रुतधर्म और चारित्रधर्म, श्रुतधर्म का अर्थ है—धर्म के स्वरूप का ज्ञान और उसमे श्रद्धा। चारित्रधर्म का अर्थ है—सयम और तप। सयम द्वारा आत्मा को पाप अथवा अशुभ प्रवृत्तियो से बचाया जाता है और तप द्वारा

पूर्व सचित कर्मो अथवा अशुद्धि को दूर किया जाता है। मुनि पूर्ण सयम का पालन करता है और गृहस्थ आशिक रूप मे, आनन्द ने भगवान का प्रवचन सुनकर उसे अच्छी तरह समझा और दृढ विश्वास जमाया। तदनन्तर अगले कदम के रूप मे श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये। उसने अपने विश्वास को जिन शब्दो द्वारा प्रकट किया है वह उसकी दृढ श्रद्धा को प्रकट करते हैं। इसी को जैन दर्शन मे सम्यग्-दर्शन कहा गया है जो कि मोक्ष मार्ग की आधार शिला है।

भगवान् ने आनन्द को सम्बोधित करते हुए देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार आनन्द ने भी भगवान् के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है, वह व्यक्ति जो देवताओं को भी प्रिय लगता है अर्थात् जिसके जीवन के लिए देवता भी स्पृहा करते हैं।

राजा, ईश्वर आदि शब्द तत्कालीन सामाजिक एवं राजकीय प्रतिष्ठा के द्योतक हैं। इनका अर्थ परिशिष्ट मे देखे।

आनन्द का व्रतग्रहण—

प्रथम अहिसा व्रत

मूलम्—तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥१३॥

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिः श्रमणस्य भगवतो महवीरस्य अन्तिके तत्प्रथमतया स्थूलं प्राणातिपातं प्रत्याख्याति, यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से—उस आणदे गाहावई—आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के अंतिए—पास मे तप्पढमयाए—सर्वप्रधान, थूलगं पाणाइ-वायं—स्थूलप्राणातिपात का, पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया। जावज्जीवाए—समस्त जीवन के लिए, दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से अर्थात् न करेमि—न करूगा न कारवेमि—न कराऊँगा मणसा—मन से वयसा—वचन से कायसा—और काय से।

भावार्थ—इसके पश्चात आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान महावीर के पास अखिल व्रतो मे श्रेष्ठ प्रथम व्रत के रूप म स्थूल प्राणातिपात अर्थात स्थूल हिंसा का दो करण तीन योग से परित्याग किया। उसने निश्चय किया कि यावज्जीवन मन वचन और शरीर से स्थूल प्राणातिपात न स्वय करूगा और न दूसरा से कराऊँगा।

टीका—दुविहं तिविहेणं—किसी काय या वस्तु का परित्याग कई प्रकार से किया जाता है। किसी काय को हम स्वय नही करत किन्तु दूसरे से कराने या अन्य व्यक्ति द्वारा स्वय करने पर उसके अनुमोदन का त्याग नही करत। इस दृष्टि से जन धम म ४९ भग अर्थात प्रकार बताये गय हैं। करना, कराना तथा अनुमोदन करना ये तीन कारण हैं और मन, वचन तथा काय के रूप मे तीन योग हैं। सर्वोत्कृष्ट त्याग तीन करण तीन योग से होता है, इसका अर्थ है किसी काय का मन, वचन तथा काय से न स्वय करना न दूसरे से कराना और न करने वाले का अनुमोदन करना। इस प्रकार का त्याग समस्त सासारिक प्रवत्तिया से निवत्त मुनि के लिए सम्भव है। त्याग की निम्नतम श्रेणी एक करण, एक योग है अर्थात अपने हाथ से स्वय न करना। अन्य कोटिया इन दोनो के मध्यवर्ती हैं। श्रावक अपने व्रतो को साधारणतया दो करण तीन योग मे स्वीकार करता है अर्थात वह निश्चय करता है कि स्थूल हिंसा आदि पाप कार्यों को मन वचन और काय के द्वारा म न स्वय करूगा और न दूसरे से कराऊगा। जहाँ तक अनुमोदन का प्रश्न है उसे छूट रहती है। उपरोक्त ४९ भग अथवा प्रकारा म प्रस्तुत भग का ४० वा स्थान है जो २३ अर्थात दो और तीन के अङ्क द्वारा प्रकट किया जाता है।

थूलग पाणाइवाय—जन धम म जीवा का विभाजन दो श्रेणिया म किया गया है। साधारण कीड मकोडा से लेकर मनुष्य पयन्त जो जीव स्वच्छानुसार चल फिर या हिल सकते हैं उन्हे त्रस कहा गया है। पृथिवी जल अग्नि वायु तथा वनस्पति के जीव स्थावर कहे गये हैं। स्थूल हिंसा से तात्पय है—त्रस जीवा की हिंसा। आनन्द श्रावक ने भगवान से यह व्रत ग्रहण किया कि निरपराधी चलने फिरने वाले प्राणिया की मैं हिंसा नही करूगा इसलिए उसने दो करण और तीन योग स मारी हिंसा का परित्याग किया। श्रावक को स्थावर जीवा की हिंसा का पूण रूपेण परित्याग नही होता। मुनि को स्थावर तथा त्रस दोनो की हिंसा का पूणतया परित्याग होता है।

द्वितीय सत्य व्रत—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥१४॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलक मृषावादं प्रत्याचष्टे, यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि, न कारयामि, मनसा, वचसा कायेन ।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—और उसके अनन्तर, **थूलगं मुसावायं**—स्थूल मृपा-वाद का, **पच्चक्खाइ**—प्रत्याख्यान किया, **जावज्जीवाए**—यावज्जीवन, **दुविहं तिवि-हेणं**—दो करण तीन योग से, **न करेमि**—न करूँगा, **न कारवेमि**—न कराऊँगा, **मणसा**—मन से, **वयसा**—वचन से, **कायसा**—शरीर से ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द ने स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान किया कि याव-ज्जीवन दो करण तीन योग से अर्थात् मन वचन और काय से स्थूल मृपावाद का प्रयोग न स्वय करूँगा और न दूसरो से कराऊँगा ।

तृतीय अस्तेय व्रत—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं थूलगं अदिण्णादाणं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा ॥१५॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकं अदत्तादानं प्रत्याख्याति यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि, मनसा वचसा कायेन ।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—तदनन्तर, **थूलगं अदिण्णादाणं**—स्थूल अदत्तदान का, **पच्चक्खाइ**—प्रत्याख्यान किया कि, **जावज्जीवाए**—यावज्जीवन, **दुविहं तिविहेणं**—दो करण तीन योग से अर्थात्, **मणसा**—मन से, **वयसा**—वचन से, **कायसा**—और शरीर से, **न करेमि**—स्थूल चोरी न करूँगा, **न कारवेमि**—न कराऊँगा ।

भावार्थ—इसके वाद आनन्द ने स्थूल अदत्तादान अर्थात् चौर्य का प्रत्याख्यान किया कि यावज्जीवन दो करण तीन योग से अर्थात् मन से वचन से और काय से स्थूल चोरी न करूँगा और न कराऊँगा ।

चतुर्थ स्वदारसंतोष व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सदारसंतोसीए परिमाणं करेइ, नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि ॥१६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्वदारसन्तोषिके परिमाणं करोति, नान्यत्र एकस्याः शिवानन्दाया भार्याया अवशेषं सर्वं मैथुनविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, सदारसंतोसीए—स्वदार संतोष सम्बन्धी व्रत के सम्बन्ध में पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया। नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए—एक शिवानन्दा भार्या के अतिरिक्त अवसेसं—अवशिष्ट, सव्वं मेहुण विहिं—सब प्रकार के मैथुन सेवन का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तत्पश्चात् आनन्द ने स्वदार सन्तोष सम्बन्धी व्रत को स्वीकार किया और यह मर्यादा स्वीकार की कि शिवानन्दा नामक विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान करता हूँ।

टीका—प्रस्तुत व्रत में योग और करण का उल्लेख नहीं किया गया। आवश्यक सूत्र में केवल एक करण एक योग का उल्लेख है। इसका अर्थ है श्रावक मर्यादित क्षेत्र से बाहर केवल काया से स्वयं मैथुन सेवन का परित्याग करता है। गृहस्थ जीवन में सन्तान आदि का विवाह करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार पशुपालन करने वाले के लिए उनका परस्पर सम्बन्ध कराना भी अनिवार्य हो जाता है। अतः इसमें दो करण और तीन योग न कहकर श्रावक को अपनी परिस्थिति एवं सामर्थ्य पर छोड़ दिया है। जो श्रावक घर के बाहर उत्तरदायित्व से निवृत्त हो चुका है वह यथाशक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ सकता है।

पञ्चम इच्छा परिमाण व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं इच्छाविहिपरिमाणं करेमाणे हिरण्णसुवण्ण विहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं निहाण पउत्ताहिं, चउहिं वुड्ढि पउत्ताहिं, चउहिं पवित्थर पउत्ताहिं, अवसेसं सव्वं हिरण्ण सुवण्णविहिं पच्चक्खामि ॥१७॥

तयाणंतरं च णं चउप्पय विहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वएहि दसगोसाहस्सिएणं वएणं, अवसेसं सव्वं चउप्पयविहिं पच्चक्खामि ॥१८॥

तयाणंतरं च णं खेत्त-वत्थु विहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ पंचहिं हलसएहि नियत्तण-सइएणं हलेणं अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थु विहिं पच्चक्खामि ॥१९॥

तयाणंतरं च णं सगडविहि परिमाण करेइ, नन्नत्थ पंचहिं सगडसएहिं दिसायत्तिएहिं, पञ्चहि सगडसएहि संवाहणिएहिं, अवसेसं सव्वं सगडविहि पच्चक्खामि ॥२०॥

तयाणंतरं च णं वाहणविहिं परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वाहणेहिं दिसायत्तिएहिं, चउहि वाहणेहिं संवाहणिएहिं, अवसेसं सव्वं वाहणविहिं पच्चक्खामि ॥२१॥

छाया—तदनन्तरं च खलु इच्छाविधि परिमाण कुर्वन् हिरण्यसुवर्णविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र चतसृभ्यो हिरण्यकोटिभ्यो निधानप्रयुक्ताभ्यः, चतसृभ्यो वृद्धि-प्रयुक्ताभ्यः, चतसृभ्यः प्रविस्तरप्रयुक्ताभ्यः, अवशेषं सर्व हिरण्यसुवर्णविधिं प्रत्याचक्षे।

तदनन्तरं च खलु चतुष्पदविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र चतुर्भ्यो व्रजेभ्यो दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन, अवशेषं सर्वम् चतुष्पदविधिं प्रत्याचक्षे।

तदनन्तरं च खलु क्षेत्रवास्तुविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र पञ्चभ्यो हल-शतेभ्यो निवर्तनशतिकेन हलेन, अवशेषं सर्व क्षेत्रवस्तुविधिं प्रत्याचक्षे।

तदनन्तरं च खलु शकटविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र पञ्चभ्यः शकटशतेभ्यो-दिग्यात्रिकेभ्यः, पञ्चभ्यः शकटशतेभ्यः सांवाहनिकेभ्यः, अवशेषं सर्व शकटविधिं प्रत्याचक्षे।

तदनन्तरं च खलु वाहनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र चतुर्भ्यो वाहनेभ्यो दिग्यात्रिकेभ्यः, चतुर्भ्यो, वाहनेभ्यः संवाहनिकेभ्यः, अवशेषं सर्व वाहनविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके पश्चात् आनन्द ने इच्छाविहिपरिमाणं करेमाणे—इच्छा विधि का परिमाण करते हुए, हिरण्णसुवण्णविहिपरिमाणं—हिरण्य सुवर्ण विधि का परिमाण करेइ—किया कि, चउहिं हिरण्ण कोडीहिं निहाणपउत्ताहिं—कोष में सञ्चित चार कोटि हिरण्य सुवर्ण चउहिं वुड्ढि पउत्ताहिं—वृद्धि अर्थात् व्यापार में लगी चार कोटि हिरण्य चउहिं पवित्थर पउत्ताहिं—प्रविस्तर अर्थात् गृह एवं गृहोपकरण सम्बन्धी चार हिरण्य कोटि के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—समस्त हिरण्ण सुवण्णविहिं—हिरण्य-सुवर्ण संग्रह का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर चउप्पयविहि परिमाणं—चतुष्पद विधि का परिमाण करेइ—किया कि दसगोसाहस्सिएणं वएणं चउहिं वएहिं—प्रत्येक में दस हजार गौओं वाले चार व्रजों के, नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेसं सव्वं—अन्य सब, चउप्पयविहिं पच्चक्खामि—चतुष्पद अर्थात् पशु संग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर खेत्तवत्थु विहि परिमाणं—क्षेत्र-वास्तु विधि का परिमाण, करेइ—किया नियत्तण-सइएणं हलेणं—सौ बीघा भूमि का एक हल ऐसे पञ्चहिं हलसएहिं—पाँच सौ हलों के, नन्नत्थ—सिवा अवसेसं—अन्य सव्वं—सब खेत्तवत्थुविहिं—क्षेत्र-वास्तुविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—तदनन्तर सगडविहिपरिमाणं करेइ—शकट विधि का परिमाण किया कि पञ्चहिं सगड सएहिं दिसायत्तिएहिं—पाँच सौ शकट विदेश यात्रा करने वाले और पञ्चहिं सगड सएहिं संवाहणिएहिं—पाँच सौ हलों के, नन्नत्थ—सिवा अवसेसं—अन्य सव्वं—सब खेत्तवत्थु विहिं—क्षेत्र-वास्तुविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

तयाणंतरं च णं—तदनन्तर वाहणविहिपरिमाणं—वाहन विधि का परिमाण करेइ—किया चउहिं वाहणेहिं दिसायत्तिएहिं—चार वाहन यात्रा के, चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं—चार वाहन माल ढोने के नन्नत्थ—सिवा अवसेसं सव्वं—अन्य सब वाहणविहिं—वाहन विधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर इच्छाविधि का परिमाण करते हुए आनन्द ने हिरण्य सुवर्ण (सोने की मुद्रा) की मर्यादा की और निश्चय किया कि कोष में निहित चार हिरण्य

कोटि, व्यापार मे प्रयुक्त चार हिरण्यकोटि और गृह तथा गृहोपकरण सम्बन्धी चा हिरण्यकोटि के, इस प्रकार बारह कोटि के अतिरिक्त हिरण्य सुवर्ण सग्रह करने व परित्याग करता हूँ।

इसके पश्चात् चतुष्पद अर्थात् पशु सम्बन्धी मर्यादा की—प्रत्येक मे दस हजा गौओ वाले ऐसे चार गोकुलो के सिवाय अन्य पशु सग्रह का प्रत्याख्यान किया।

तदनन्तर क्षेत्रवास्तु का परिमाण किया और सौ बीघा भूमि का एक हल, इ प्रकार के पाँच सौ हलो के सिवाय शेष क्षेत्र वास्तु का प्रत्याख्यान किया।

उसके पश्चात् बैल गाडियो का परिमाण किया और पाँच सौ शकट यात्रा लिए और पाँच सौ शकट माल ढोने के रखे। इसके अतिरिक्त अन्य शकट रख का परित्याग किया।

तदनन्तर वाहनो नौकाओ अर्थात् जलयानो का परिमाण किया। चार मा ढोने की तथा चार यात्रा की नौकाओ के सिवाय अन्य नौकाओ के रखने का प्रत्या ख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम इच्छाविधि परिमाण दिया गया है। इसका अ है, कि सम्पत्ति सम्बन्धी इच्छा को मर्यादित करना। समाज, शान्ति व्यवस्था औ परस्पर शोषण को रोकने के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योकि इच्छाओ की अनर्गल वृद्धि से ही राष्ट्रो मे सङ्घर्ष उत्पन्न होते हैं। इस व्रत को परिग्रह परिमाण व्रत भी कहा जाता है। इसका अर्थ है—सम्पत्ति की मर्यादा। यह नाम सग्राह्य वस्तु की दृष्टि से है और इच्छाविधि के रूप उपर्युक्त नाम सग्राहक वे मनोभावो की दृष्टि से है। जहाँ तक चारित्र का प्रश्न है इच्छा परिमाण अधिक उपयुक्त है। इसका अर्थ है, सम्पत्ति रखना अपने आप मे बुरा नही है। एक व्यक्ति किसी सस्था का सचालक होने के नाते करोडो की सम्पत्ति रख सकता है। बुरा है उस सम्पत्ति के प्रति इच्छा या ममत्व का होना।

प्रस्तुत सूत्र मे गो पद केवल गाय का वाचक नही है। घोड़े-बैल आदि अन्य पशु भी इसके अन्तर्गत हैं। गाय की मुख्यता होने के कारण पशुधन का परिमाण उसी के द्वारा किया जाता है।

आनन्द के पास दस-दस हजार गौओं वाले चार व्रज थे। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत में पशुधन सम्पत्ति का प्रमुख अङ्ग था। गाय दूध, दही और घी आदि के रूप में सात्विक एवं पौष्टिक भोजन प्रदान करती थी और बैल यात्रा एवं परिवहन एवं कृषि के काम आते थे और व्यापार का मुख्य अङ्ग थे। इन दोनों के द्वारा तत्कालीन समाज स्वास्थ्य तथा समृद्धि प्राप्त करता था।

खेत्तवत्थु—क्षेत्र का अर्थ है खेत अथवा खेती करने की भूमि। वत्थु शब्द का संस्कृत रूपान्तर वस्तु एवं वास्तु दोनों प्रकार से किया जाता है। वस्तु का अर्थ है वस्त्र पात्र शय्या आदि प्रतिदिन काम में आने वाले उपकरण और वास्तु का अर्थ है मकान अथवा निवास। वास्तुसार' आदि स्थापत्य एवं शिल्प सम्बन्धी ग्रन्थों में वास्तु शब्द का अर्थ भवन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में भी यही अर्थ विवक्षित है। अभयदेव सूरि ने क्षेत्र को ही वस्तु बताया है उनके शब्द निम्न लिखित हैं—'खेत्तवत्थु त्ति' इह क्षेत्रमेव वस्तु-क्षेत्रवस्तु ग्रन्थान्तरे तु क्षेत्रं च वास्तु च गृह क्षेत्रवास्तु इति व्याख्यायते।' अर्थात् यहाँ क्षेत्र ही वस्तु है। किन्तु अन्य ग्रन्थों में इसकी व्याख्या क्षेत्र और वास्तु के रूप में की गई है।

नियत्तण सइएण आनन्द ने पाँच सौ हल भूमि का परिमाण किया। प्रत्येक हल सौ निवर्तनों का बताया गया है। निवर्तन का अर्थ है हल चलाते हुए बैलों का मुड़ना। इसी को घुमाव (पञ्जाबी घुमाओ) या मोड़ भी कहते हैं अभयदेव सूरि ने इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार बताया है—नियत्तणसइएण, त्ति निवर्तनम भूमिपरिमाण विशेषो देश विशेष प्रसिद्ध ततो निवर्तनशत कर्षणीयत्वेन यस्यास्ति तन्निवर्तनशतिक तेन।

दिसायत्तिएहिं—प्रस्तुत सूत्र में दो प्रकार की नौकाओं का वर्णन है। पहला प्रकार उन नौकाओं का है जो दूर विदेश में यात्रा के लिए काम में आती थीं। दूसरी वे हैं जो सामान ढोने के काम में आती थीं। आनन्द जल एवं स्थल दोनों मार्गों से व्यापार करता था। जल मार्ग के लिए उसके पास आठ जहाज थे—चार यात्रा के लिए और चार माल ढोने के लिए। स्थल मार्ग के लिए उसके पास एक हजार बैलगाड़ियाँ थी—पाँच सौ यात्रा के लिए और पाँच सौ माल ढोने के लिए।

१ निवर्तन—कराणां दशकेन वंश। निवर्तन विंशतिवंश समस्य ...त्र चतुर्भिश्च भुजैनिबद्धम् ...लीलावत्याम ॥ ६ ॥

श्रावक के १२ व्रतो मे पाचवा परिग्रह परिमाण व्रत है और छठा दिशा परिमाण। परिग्रह परिमाण मे धनधान्य, पशु, खेत एव अन्य वस्तुओ के स्वामित्व की मर्यादा की जाती है। छठे दिशा परिमाण व्रत मे खेती व्यापार आदि के लिए क्षेत्र की मर्यादा की जाती है। वहाँ श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे तथा चारो दिशाओ मे वह खेती उद्योग वाणिज्य एव अन्य व्यवसाय के लिए निश्चित क्षेत्र मर्यादा का अतिक्रमण नही करेगा। प्रस्तुत सूत्र मे छठा व्रत पाचवे के ही अन्तर्गत कर लिया गया है।

सप्तम उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत—

(१) उद्द्रवणिका विधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं उवभोगपरिभोग विहिं पच्चक्खाएमाणे, उल्लणिया विहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए गंध-कासाईए, अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि ॥२२॥**

छाया—**तदनन्तरं च खलु उपभोगपरिभोगविधि प्रत्याचक्षाणः उद्द्रवणिका विधि परिमाणं करोति। नान्यत्र एकस्या गंन्धकाषायिकाय्याः, अवशेषं सर्वमुद्द्रवणिकाविधि प्रत्याचक्षे।**

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर आनन्द ने, **उपभोगपरिभोगविहि**—उपभोग परिभोग विधि का, **पच्चक्खाएमाणे**—प्रत्याख्यान करते हुए, **उल्लणिया विहिपरिमाणं करेइ**—भीगे हुए शरीर को पोछने के काम आने वाले अगोछे आदि की मर्यादा निश्चित की, **एगाए**—एक, **गंधकासाईए**—सुगन्धित एव लाल अगोछे के **नन्नत्थ**—सिवा, **अवसेसं सव्वं**—अन्य सव, **उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि**—उद्द्रवणिका विधि-अगोछे रखने का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके वाद आनन्द ने उपभोग परिभोग विधि का प्रत्याख्यान करते हुए उद्द्रवणिका-विधि का अर्थात् स्नान के पश्चात् भीगे शरीर को पोछने के काम में आने वाले अगोछे का परिमाण किया और गन्धकषाय नामक वस्त्र के अतिरिक्त अन्य सव का प्रत्याख्यान किया।

टीका—उवभोग परिभोग विहिं—भोजन, पान विलेपन आदि से सम्बन्ध रखने वाली जो वस्तुएँ केवल एक बार काम में आती हैं, उन्हें उपभोग कहा जाता है और वस्त्र, पात्र, शय्या आदि जो वस्तुएँ बार २ काम आती हैं उन्हें परिभोग कहा जाता है। इसके विपरीत कहीं २ एक बार काम में आने वाली वस्तुओं को परिभोग और अनेक बार काम में आने वाली वस्तुओं को उपभोग कहा गया है। प्रस्तुत व्रत में इन्हीं की मर्यादा विहित है। इसके लिए २६ वस्तुएँ गिनाई गई हैं। अभयदेव सूरि ने उपभोग परिभोग की निम्न लिखित व्याख्या की है—उवभोग परिभोग त्ति—उपभुज्यते पौनः पुन्येन सेव्यत इत्युपभोगो भवनवसनवनितादि। परिभुज्यत इति परिभोग आहारकुसुमविलेपनादि। व्यत्ययो वा व्याख्येय इति।

उल्लणियाविहि—यह शब्द द्रु या लु धातु से बना है। 'द्रु' का अर्थ है—गीला करना उसके साथ उन उपसर्ग लगाने से गीलेपन को हटाना अर्थ हो जाता है। 'लु' धातु का अर्थ है हटाना या छीनना। इसी से लूषण लूषक आदि शब्द बनते हैं। इस पर वृत्तिकार ने नीचे लिखे शब्द हैं—"उल्लणियत्ति-स्नान जलार्द्रशरीरस्य जल लूषणवस्त्रम।" अर्थात स्नान के पश्चात् गीले शरीर को पोंछने वाला तौलिया।

(२) दन्तधावन विधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं दंतवण विहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अल्ललट्ठी महुएणं, अवसेसं दंतवणविहिं पच्चक्खामि ॥२३॥

छाया—तदनन्तरं च खलु दन्तधावन विधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मादार्द्रमधुयष्ट्या, अवशेषं दन्तधावनविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर दंतवणविहिपरिमाणं—दन्तधावनविधि का परिमाण—करेइ—किया एगेणं—एक अल्ल लट्ठीमहुएणं—आर्द्र अर्थात् हरा मधुयष्टि—मुलहटी के नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेसं सव्वं—अन्य सब दंतवणविहिं पच्चक्खामि—दन्तधावना का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द ने दन्त धावन विधि का परिमाण किया और एक हरी मधुयष्टि अर्थात मुलहटी के अतिरिक्त अन्य दतुअन का प्रत्याख्यान किया।

दातून—गृहस्थों को दातुन करने का निषेध नहीं इसकी मर्यादा ही है मर्यादा के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रयोग न करे।

(३) फलविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं फलविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं खीरामलएणं, अवसेसं फलविहिं पच्चक्खामि ॥२४॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु फलविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् क्षीरामलकाद्, अवशेषं फलविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर **फलविहिपरिमाणं करेइ**—फलविधि का परिमाण किया, **एगेणं**—एक **खीरामलएणं**—क्षीरामलक अर्थात् दूधिया मीठे अमलक के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त **अवसेसं**—अन्य सब **फलविहिं पच्चक्खामि**—फलो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् फलविधि का परिमाण किया और क्षीरामलक—दूधिया आँवले के अतिरिक्त अन्य सब फलो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—क्षीरामलक शब्द का अर्थ है दूधिया आँवला, जिसमें गुठली नही पडी है। प्राचीन समय मे इसका प्रयोग सिर एव आँखे आदि धोने के लिए किया जाता था।

(४) अभ्यङ्गनविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं अब्भंगणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अवसेसं अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि ॥२५॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु अभ्यङ्गनविधि परिमाण करोति। नान्यत्र शतपाकसहस्रपाकाभ्यां तैलाभ्यामवशेषमभ्यंगनविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर, **अब्भंगणविहिपरिमाणं करेइ**—अभ्यङ्गन अर्थात् मालिश करने के तेल आदि वस्तुओं का परिमाण निश्चित किया, **सयपाग सहस्सपागेहि तेल्लेहिं**—शतपाक और सहस्रपाक तेलो के, **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सब, **अब्भंगणविहि पच्चक्खामि**—मालिश के तेलो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तत्पश्चात् अभ्यङ्गनविधि अर्थात् मालिश के काम में आने वाले तेलों का परिमाण किया और शतपाक तथा सहस्रपाक नामक तेलों को छोड़कर अन्य सब मालिश के तेलों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

टीका—सयपाग सहस्सपागेहिं—इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—द्रव्यशतस्य सतक क्वाथशतेन सह यत्पच्यते कार्षापणशतेन वा तच्छतपाकम्, एवं सहस्रपाकमपि। अर्थात् जिस तेल को सौ वस्तुओं के साथ सौ बार पकाया जाता है अथवा जिसका मूल्य सौ कार्षापण है उसे शतपाक कहते हैं इसी प्रकार सहस्रपाक भी समझ लेना चाहिए।

(५) उद्वर्तनविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं उव्वट्टणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं सुरहिणा गंधट्टएणं, अवसेसं उव्वट्टणविहिं पच्चक्खामि ॥२६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु उद्वर्तनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात्सुरभेर्गन्धाट्टकाद, अवशेषमुद्वर्तनविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—इसके अनन्तर उव्वट्टणविहिपरिमाणं—उद्वर्तनविधि अर्थात् उबटन का परिमाण करेइ—किया। एगेणं—एक सुरहिणा गंधट्टएणं—सुगन्धित गन्धाट्टक (पीठी) के नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेसं—अन्य सब उव्वट्टणविहिं—उद्वर्तन विधि अर्थात् उबटनों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर उबटनों का परिमाण किया और एक गेहूँ आदि के आटे से बने हुए सुगन्धित उबटन के अतिरिक्त अन्य सब उबटनों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—गंधट्टएणं इस पर निम्नलिखित वृत्ति है—'गंधट्टएणं ति गन्ध द्रव्याणामुत्पलकुष्ठादिना अट्टओ त्ति चूर्ण गोधूम चूर्ण वा गन्धयुक्त तस्मात्।' अर्थात् नील कमल कुष्ट आदि औषधियों के चूर्ण अथवा गेहूँ के आटे से बने हुए गन्धयुक्त उबटन के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के उबटनों का त्याग किया।

(६) स्नानविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं मज्जणविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं उदगस्स घडेहिं, अवसेसं मज्जणविहिं पच्चक्खामि ॥२७॥**

छाया—**तदनन्तर च खलु मज्जनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्राष्टभ्य औष्ट्रिकेभ्य उदकस्य घटेभ्यः, अवसेसं मज्जनविधिं प्रत्याचक्षे।**

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर, **मज्जनविहिपरिमाणं**—मज्जनविधि अर्थात् स्नान के लिए पानी का परिमाण करेइ—किया उदकस्स—जल के **अट्ठहि उट्टिएहिं**—आठ औष्ट्रिक घडो के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सब **मज्जणविहिं**—स्नान के लिए पानी का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके अनन्तर स्नान जल का परिमाण किया और पानी से भरे हुए आठ औष्ट्रिक घडो के अतिरिक्त शेष जलो के उपयोग का प्रत्याख्यान किया।

टीका—औष्ट्रिक का अर्थ है ऊँट के आकार का पात्र अर्थात् जिसका मुँह सकरा, गर्दन लम्बी और पेट बडा हो। प्रतीत होता है, उस समय वडे लोटे (गङ्गासागर) के रूप मे इस प्रकार का बर्तन काम मे लाया जाता था। आनन्द ने स्नान के लिए इस प्रकार के आठ कलश पानी की मर्यादा की, अर्थात् इससे अधिक पानी के कलश नहाने के लिए उपयोग नही करूँगा।

(७) वस्त्रविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं वत्थविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं खोमजुयलेणं, अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि ॥२८॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु वस्त्रविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् क्षौमयुगलाद्, अवशेषं वस्त्रविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च ण—इसके अनन्तर, वत्थविहिपरिमाणं—वस्त्र विधि का परिमाण करेइ—किया एगेणं—एक खोमजुयलेणं—क्षोमयुगल अर्थात् अलसी या

भावार्थ—तदनन्तर आभरणविधि का प्रत्याख्यान किया और स्वर्ण कुण्डल तथा अपने नाम वाली मुद्रा (अंगूठी) के अतिरिक्त अन्य सब आभूषणों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—मट्ठकण्णेज्जएहिं—मट्ट का अर्थ है-शुद्ध सोने के बने हुए बिना चित्र के। वृत्तिकार के शब्द निम्न लिखित हैं-मृष्टाभ्यामचित्रवद्भ्यां कर्णाभरणविशेषाभ्याम।

(११) धूपविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं धूवणविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरु तुरुक्क धूवमादिएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु धूपनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रागुरुतुरुष्क धूपादिकेभ्यः, अवशेषं धूपनविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर धूवणविहि परिमाणं करेइ—धूप विधि का परिमाण किया और नन्नत्थ अगरु तुरुक्क धूवमाइएहिं—अगुरु, लोबान एवं धूप आदि के सिवा अवसेसं—अन्य सब धूवणविहिं—धूपनीय वस्तुओं का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् धूपन विधि का परिमाण किया और अगुरु लोबान धूप आदि के अतिरिक्त अन्य धूप के काम आने वाली वस्तुओं का परित्याग किया।

(१२) भोजन विधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं भोयणविहि परिमाणं करेमाणे, पेज्जविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्चक्खामि ॥३६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु भोजन विधि परिमाणं कुर्वन पेयविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्या काष्ठपेयाया अवशेषं पेयविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर भोयणविहिपरिमाणं—भोजनविधि का परिमाण करेमाणे—करते हुए पेज्जविहिपरिमाणं—पेय वस्तुओं का परिमाण

करेइ—किया। **एगाए**—एक **कट्ठपेज्जाए**—मूँग तथा घी में भुने हुए चावल आदि से बने पेय-विशेष के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सब **पेज्जविहिं**—पेय पदार्थो का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् भोजनविधि का परिमाण करते हुए सर्व प्रथम पेय वस्तुओ का परिमाण किया और मूँग अथवा चावलो से बने हुए तत्कालीन एक पेयविशेष के अतिरिक्त अन्य पेय पदार्थो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—**कट्ठपेज्जाए** इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—**मुद्गादियूषो घृत तलिततण्डुल पेया वा'** अर्थात् मूँग आदि का पानी अथवा घी मे तले हुए चावलो द्वारा वनाया गया सूप, कही कही काष्ठपेय का अर्थ कॉजी किया गया है। आयुर्वेद मे त्रिफला आदि के काढे को भी काष्ठपेय कहते हैं।

(१३) भक्ष्यविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं भक्खविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेहिं घय पुण्णेहिं खण्डखज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खविहिं पच्चक्खामि ॥३०॥**

छाया—**तदनन्तरं च खलु भक्ष्यविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकेभ्यः घृतपूर्णेभ्यः खण्डखाद्येभ्यो वा, अवशेषं भक्ष्यविधि प्रत्याचक्षे।**

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर, **भक्खविहिपरिमाणं**—भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण **करेइ**—किया, **एगेहि**—एक **घयपुण्णेहि खड खज्जएहि**—घेवर तथा खाजे के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सव **भक्ख-विहि पच्चक्खामि**—भक्ष्यविधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके वाद भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण किया और घेवर तथा खाजे के अतिरिक्त अन्य पक्वानो का प्रत्याख्यान किया।

(१४) ओदन विधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं ओयणविहिपरिमाणं करेइ नन्नत्थ कलमसालि ओयणेणं, अवसेसं ओयणविहिं पच्चक्खामि ॥३१॥**

भावार्थ—तदनन्तर आभरणविधि का प्रत्याख्यान किया और स्वर्ण कुण्डल तथा अपने नाम वाली मुद्रा (अगूठी) के अतिरिक्त अन्य सब आभूषणों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—मट्ठकण्णेज्जएहिं—मृष्ट का अर्थ है-शुद्ध सोने के बने हुए बिना चित्र के। वृत्तिकार के शब्द निम्न लिखित हैं-मृष्टाभ्यामचित्रवदभ्यां कर्णाभरणविशेषाभ्याम।

(११) धूपविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं धूवणविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरु तुरुक्क धूवमादिएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु धूपनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रागुरुतुरुष्क धूपादिकेभ्य, अवशेषं धूपनविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर धूवणविहिं परिमाणं करेइ—धूप विधि का परिमाण किया और नन्नत्थ अगुरु तुरक्क धूवमाइएहिं—अगुरु, लोबान एवं धूप आदि के सिवा अवसेसं—अन्य सब धूवणविहिं—धूपनीय वस्तुओं का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं।

भावार्थ—इसके पश्चात धूपन विधि का परिमाण किया और अगुरु लोबान धूप आदि के अतिरिक्त अन्य धूप के काम आने वाली वस्तुओं का परित्याग किया।

(१२) भोजन विधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं भोयणविहिं परिमाणं करेमाणे, पेज्जविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्चक्खामि ॥३६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु भोजन विधि परिमाण कुर्वन पेयविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्या काष्ठपेयाया अवशेषं पेयविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर भोयणविहिपरिमाणं—भोजनविधि का परिमाण करेमाणे—करते हुए पेज्जविहिपरिमाणं—पेय वस्तुओं का परिमाण

करेइ—किया। एगाए—एक कट्ठपेज्जाए—मूँग तथा घी मे भुने हुए चावल आदि से बने पेय-विशेष के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब पेज्जविहिं—पेय पदार्थों का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् भोजनविधि का परिमाण करते हुए सर्व प्रथम पेय वस्तुओ का परिमाण किया और मूँग अथवा चावलो से बने हुए तत्कालीन एक पेयविशेष के अतिरिक्त अन्य पेय पदार्थो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—कट्ठपेज्जाए इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—मुद्गादियूषो घृत तलिततण्डुल पेया वा' अर्थात् मूँग आदि का पानी अथवा घी मे तले हुए चावलों द्वारा बनाया गया सूप, कही कही काष्ठपेय का अर्थ काँजी किया गया है। आयुर्वेद में त्रिफला आदि के काढे को भी काष्ठपेय कहते हैं।

(१३) भक्ष्यविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं भक्खविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेहिं घय पुण्णेहिं खण्डखज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खविहिं पच्चक्खामि ॥३०॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु भक्ष्यविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकेभ्यः घृतपूर्णेभ्यः खण्डखाद्येभ्यो वा, अवशेषं भक्ष्यविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, भक्खविहिपरिमाण—भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण करेइ—किया, एगेहिं—एक घयपुण्णेहि खंड खज्जएहिं—घेवर तथा खाजे के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब भक्ख-विहिं पच्चक्खामि—भक्ष्यविधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण किया और घेवर तथा खाजे के अतिरिक्त अन्य पक्वानो का प्रत्याख्यान किया।

(१४) ओदन विधि—

मूलम्—**तयाणंतर च णं ओयणविहिपरिमाणं करेइ नन्नत्थ कलमसालि ओयणेणं, अवसेसं ओयणविहिं पच्चक्खामि ॥३१॥**

भावार्थ—तदनन्तर आभरणविधि का प्रत्याख्यान किया और स्वर्ण कुण्डल तथा अपने नाम वाली मुद्रा (अंगूठी) के अतिरिक्त अन्य सब आभूषणों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—मट्ठकण्णेज्जएहिं—मष्ट का अर्थ है—शुद्ध सोने के बने हुए बिना चित्र के। वृत्तिकार के शब्द निम्न लिखित हैं—मष्टाभ्यामचित्रवद्भ्यां कर्णाभरणविशेषाभ्याम।

(११) धूपविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं धूवणविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरु तुरुक्क धूवमादिएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु धूपनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रागुरुतुरुष्क-धूपादिकेभ्यः, अवशेषं धूपनविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, धूवणविहिं परिमाणं करेइ—धूप विधि का परिमाण किया और नन्नत्थ अगरु तुरुक्क धूवमाइएहिं—अगुरु, लोबान एवं धूप आदि के सिवा अवसेसं—अन्य सब धूवणविहिं—धूपनीय वस्तुओं का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् धूपन विधि का परिमाण किया और अगुर, लोबान, धूप आदि के अतिरिक्त अन्य धूप के काम आने वाली वस्तुओं का परित्याग किया।

(१२) भोजन विधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं भोयणविहिं परिमाणं करेमाणे, पेज्जविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्चक्खामि ॥३६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु भोजन विधि परिमाणं कुर्वन् पेयविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्याः काष्ठपेयायाः अवशेषं पेयविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर भोयणविहिपरिमाणं—भोजनविधि का परिमाण करेमाणे—करते हुए पेज्जविहिपरिमाणं—पेय वस्तुओं का परिमाण

करेइ—किया। **एगाए**—एक **कट्ठपेज्जाए**—मूँग तथा घी में भुने हुए चावल आदि से बने पेय-विशेष के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सब **पेज्जविहिं**—पेय पदार्थो का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् भोजनविधि का परिमाण करते हुए सर्व प्रथम पेय वस्तुओ का परिमाण किया और मूँग अथवा चावलो से बने हुए तत्कालीन एक पेयविशेष के अतिरिक्त अन्य पेय पदार्थो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—कट्ठपेज्जाए इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द है—**मुद्गादियूषो घृत तलिततण्डुल पेया वा'** अर्थात् मूँग आदि का पानी अथवा घी मे तले हुए चावलो द्वारा बनाया गया सूप, कही कही काष्ठपेय का अर्थ कॉजी किया गया है। आयुर्वेद मे त्रिफला आदि के काढे को भी काष्ठपेय कहते हैं।

(१३) भक्ष्यविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं भक्खविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेहिं घय पुण्णेहिं खण्डखज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खविहिं पच्चक्खामि ॥३०॥**

छाया—**तदनन्तरं च खलु भक्ष्यविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकेभ्यः घृतपूर्णेभ्यः खण्डखाद्येभ्यो वा, अवशेषं भक्ष्यविधि प्रत्याचक्षे।**

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर, **भक्खविहिपरिमाणं**—भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण **करेइ**—किया, **एगेहिं**—एक **घयपुण्णेहि खंड खज्जएहिं**—घेवर तथा खाजे के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त, **अवसेसं**—अन्य सब **भक्खविहि पच्चक्खामि**—भक्ष्यविधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नो का परिमाण किया और घेवर तथा खाजे के अतिरिक्त अन्य पक्वानो का प्रत्याख्यान किया।

(१४) ओदन विधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं ओयणविहिपरिमाणं करेइ नन्नत्थ कलमसालि ओयणेणं, अवसेसं ओयणविहिं पच्चक्खामि ॥३१॥**

छाया—तदनन्तर च खलु ओदनविधि परिमाण करोति । नान्यत्र कलमशाल्यो दनात, अवसेषमोदनविधि प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके पश्चात्, ओयणविहिपरिमाण करेइ—ओदन-विधि का परिमाण किया, कलमसालि ओयणेण—कलम जातीय चावला के, नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेस—अन्य सव ओयणविहि—ओदनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्या-ख्यान करता हू ।

भावार्थ—इसके वाद ओदनविधि का परिमाण किया और कलम जातीय चावला के अतिरिक्त अन्य सव प्रकार के चावला का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—कलमसालि—कलम उत्तम जाति वासमती के चावला का नाम है । प्रतीत होता है उन दिना भी विहार प्रान्त का मुख्य भोजन ओदन अर्थात चावल था गेहू नही । आजकल भी वहा मुख्य रूप से चावल ही खाया जाता है ।

(१५) सूपविधि—

मूलम—तयाणतर च ण सूवविहि परिमाण करेइ । नन्न त्थ कलायसूवेण वा, मुग्गमाससूवेण वा, अवसेस सूवविहि पच्चक्खामि ॥३२॥

छाया—तदनन्तर च खलु सूपविधि परिमाण करोति । नान्यत्र कलायसूपाद्वा, मुदगमाषसूपाद वा, अवशेष सूपविधि प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर सूवविहि परिमाण—सूपविधि का परिमाण करेइ—किया नन्नत्थ कलायसूवेण वा मुग्गमाससूवेण वा—मटर तथा मूँग और उडद की दाल के अतिरिक्त अवसेस—अन्य सव सूवविहि—दालो का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर सूपविधि अर्थात दाला का परिमाण किया और मटर मूँग तथा उडद की दाल के अतिरिक्त अन्य सव प्रकार की दालो का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—कलायसूवेण इस पर वृत्तिकार ने लिखा है—कलाया चणकाकारा-धान्यविशेषा अर्थात कलाय—चने क आकार वाल धान्यविशेष को कलाय (मटर) कहत हैं ।

(१६) घृतविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सारइएणं गोघयमण्डएणं, अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि ॥३३॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु घृतविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र शारदिकाद् गोघृतण्डात्, अवशेषं घृतविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणंतर च ण**—इसके अनन्तर **घयविहिपरिमाणं**—घृतविधि का परिमाण **करेइ**—किया, **नन्नत्थ सारइएणं गोघयमंडएणं**—शरत्कालीन गोघृत के अतिरिक्त **अवसेसं**—अन्य सब **घयविहि**—घृतविधि का **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर घृतविधि का परिमाण किया और शरत्कालीन दानेदार गोघृतमड के अतिरिक्त अन्य घृतो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—**सारइएणं गोघयमंडेण**—इस पर टीका में निम्न लिखित शब्द हैं—**'सारइएणगोघयमण्डेणं' त्ति शारदिकेन शरत्कालोत्पन्नेन गोघृतमण्डेन गोघृतसारेण,** अर्थात् शरत्काल मे उत्पन्न उत्तम गोघृत का सार। यहाँ मण्डशब्द का अर्थ है—सारभूत अर्थात् शुद्ध और ताजा घी के ऊपर जो पपडी जम जाती है, उसके अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के घृतो का प्रत्याख्यान किया।

(१७) शाकविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं सागविहि परिमाणं करेइ नन्नत्थ वत्थु-साएण वा, चूच्चुसाएण वा, तुंबसाएण वा, सुत्थियसाएण वा, मुण्डुक्कियसाएण वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि ॥३४॥**

छाया—तदनतरं च खलु शाकविधि परिमाणं करोति, नान्यत्र वास्तुशाकाद् वा, चूच्चुशाकाद् वा, तुम्बशाकाद् वा, सौवस्तिक शाकाद् वा, मण्डूकिका शाकाद् वा, अवशेषं शाकविधि प्रत्याचक्षे।

छाया—तदनन्तर च खलु ओदनविधि परिमाण करोति । नान्यत्र कलमशाल्योदनात, अवशेषमोदनविधि प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके पश्चात ओयणविहिपरिमाण करेइ—ओदन विधि का परिमाण किया, कलमसालि ओयणेण—कलम जातीय चावलो के नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेस—अन्य सब ओयणविहिं—ओदनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—इसके बाद ओदनविधि का परिमाण किया और कलम जातीय चावलो के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के चावलो का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—कलमसालि—कलम उत्तम जाति बासमती के चावलो का नाम है । प्रतीत होता है उन दिनो भी विहार प्रान्त का मुख्य भोजन ओदन अर्थात् चावल था गेहूँ नही । आजकल भी वहा मुख्य रूप से चावल ही खाया जाता है ।

(१५) सूपविधि—

मूलम्—तयाणतर च ण सूवविहिं परिमाण करेइ । नन्नत्थ कलायसूवेण वा, मुग्गमाससूवेण वा, अवसेस सूवविहिं पच्चक्खामि ॥३२॥

छाया—तदनन्तर च खलु सूपविधि परिमाण करोति । नान्यत्र कलायसूपाद्वा, मुदगमाषसूपाद वा, अवशेष सूपविधि प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर सूवविहि परिमाण—सूपविधि का परिमाण करेइ—किया नन्नत्थ कलायसूवेण वा मुग्गमाससूवेण वा—मटर तथा मूँग और उडद की दाल के अतिरिक्त अवसेस—अन्य सब सूवविहिं—दालो का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर सूपविधि अर्थात दालो का परिमाण किया और मटर, मूँग तथा उडद की दाल के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की दालो का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—कलायसूवेण इस पर वृत्तिकार ने लिखा है—कलाया चणकाकारा-धान्यविशेषा अर्थात कलाय—चने के आकार वाले धान्यविशेष को कलाय (मटर) कहते हैं ।

(१६) घृतविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सारइएणं गोघयमण्डएणं, अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि ॥३३॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु घृतविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र शारदिकाद् गोघृतण्डात्, अवशेषं घृतविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर **घयविहिपरिमाणं**—घृतविधि का परिमाण **करेइ**—किया, **नन्नत्थ सारइएणं गोघयमंडएणं**—शरत्कालीन गोघृत के अतिरिक्त **अवसेस**—अन्य सब **घयविहि**—घृतविधि का **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर घृतविधि का परिमाण किया और शरत्कालीन दानेदार गोघृतमड के अतिरिक्त अन्य घृतो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—**सारइएणं गोघयमंडेण**—इस पर टीका मे निम्न लिखित शब्द हैं—**'सारइएणगोघयमण्डेणं' त्ति शारदिकेन शरत्कालोत्पन्नेन गोघृतमण्डेन गोघृतसारेण,** अर्थात् शरत्काल मे उत्पन्न उत्तम गोघृत का सार। यहाँ मण्डशब्द का अर्थ है—सारभूत अर्थात् शुद्ध और ताजा घी के ऊपर जो पपडी जम जाती है, उसके अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के घृतो का प्रत्याख्यान किया।

(१७) शाकविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं सागविहि परिमाणं करेइ नन्नत्थ वत्थु-साएण वा, चूच्चुसाएण वा, तुंबसाएण वा, सुत्थियसाएण वा, मुण्डुक्कियसाएण वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि ॥३४॥**

छाया—तदनतरं च खलु शाकविधि परिमाणं करोति, नान्यत्र वास्तुशाकाद् वा, चूच्चुशाकाद् वा, तुम्बशाकाद् वा, सौवस्तिक शाकाद् वा, मण्डूकिका शाकाद् वा, अवशेषं शाकविधि प्रत्याचक्षे।

छाया—तदनन्तर च खलु ओदनविधि परिमाण करोति । ना यत्र कलमशाल्योदनात, अवसेषमोदनविधि प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके पश्चात ओयणविहिपरिमाण करेइ—ओदन-विधि का परिमाण किया कलमसालि ओयणेण—कलम जातीय चावलों के नन्नत्य—अतिरिक्त अवसेस—अन्य सब ओयणविहिं—ओदनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—इसके बाद ओदनविधि का परिमाण किया और कलम जातीय चावलो के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के चावलो का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—कलमसालि—कलम उत्तम जाति बासमती के चावलो का नाम है। प्रतीत होता है उन दिनो भी विहार प्रान्त का मुख्य भोजन ओदन अर्थात चावल था, गेहू नही । आजकल भी वहाँ मुख्य रूप से चावल ही खाया जाता है ।

(१५) सूपविधि—

मूलम—तयाणतर च ण सूवविहिं परिमाण करेइ । नन्न थ कलायसूवेण वा, मुग्गमाससूवेण वा, अवसेस सूवविहिं पच्चक्खामि ॥३२॥

छाया—तदनन्तर च खलु सूपविधि परिमाण करोति । नान्यत्र कलायसूपाद्वा, मुदगमाषसूपाद वा, अवशेष सूपविधि प्रत्याचक्षे ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर सूवविहि परिमाण—सूपविधि का परिमाण करेइ—किया नन्नत्थ कलायसूवेण वा मुग्गमाससूवेण वा—मटर तथा मूँग और उडद की दाल के अतिरिक्त अवसेस—अन्य सब सूवविहिं—दालो का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर सूपविधि अर्थात दालो का परिमाण किया और मटर मूँग तथा उडद की दाल के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की दालो का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—कलायसूवेण इस पर वृत्तिकार ने लिखा है—कलाया चणकाकारा-धान्यविशेषा अर्थात कलाय—चने के आकार वाले धान्यविशेष को कलाय (मटर) कहते हैं ।

शब्दार्थ—तयाणतरं च णं—इसके अनन्तर जेमणविहिपरिमाणं—जेमनविधि का परिमाण करेइ—किया। सेहवदालियंवेहिं—सेधाम्ल-कांजी बडे और दालिकाम्ल पकोडे के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब जेमणविहिं—जेमनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद जेमन अर्थात् व्यजनविधि का परिमाण किया और सेधाम्ल तथा दालिकाम्ल के अतिरिक्त अन्य सब जेमन अर्थात् व्यजनो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे 'जेमण' शब्द से उन पदार्थों को लिया गया है जिन्हे प्राय जिह्वास्वाद के लिए खाया जाता है। बोल-चाल मे इसे चाट कहते हैं। सेधाम्ल का अर्थ है—पकोडे या बडे, जिन्हे पकने के बाद खटाई में डाल दिया जाता है। साधारणतया इन्हे काजी बड़े कहा जा सकता है। इनका सेवन आवले की चटनी तथा अन्य खटाइयो के साथ भी किया जाता है। दालिकाम्ल वे पकोडे हैं, जिन्हें तेल मे तलकर खाया जाता है। खटाई इनके अन्दर ही रहती है। मारवाड मे इन्हे दालिया कहा जाता है। इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"से हवदालियंवेहिं त्ति सेधे-सिद्धेसति यानि अम्लेन तीमनादिना संस्क्रियन्ते तानि सेधाम्लानि। यानि दाल्या मुद्गादिमय्या निष्पादितानि अम्लानि च तानि दालिकाम्लानीति सम्भाव्यन्ते।" अर्थात् जिन्हे पक जाने पर इमली आदि की खटाई में डाला जाता है उन्हे सेधाम्ल कहते हैं। तथा जो खटाई डालकर मूँग आदि की दाल के बनाए जाते हैं उन्हे दालिकाम्ल कहते हैं।

(२०) पानीयविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं पाणिय-विहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं, अवसेसं पाणियविहिं पच्चक्खामि ॥३७॥

छाया—तयाणंतरं च खलु पानीयविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मादन्तरिक्षोदकात्, अवशेषं पानीयविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, पाणियविहिपरिमाणं—पीने के पानी

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर सागविहिपरिमाण—शाकविधि का परिमाण करेइ—किया। वत्युसाएण वा—वथुआ चूच्चुसाएण वा—चूच्चु, तुम्बसाएण वा—घीया या लौकी सुत्थियसाएण वा—सौवस्तिक मुण्डुक्कियसाएण वा—और मण्डूकिक भिंडी के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब सागविहिं—शाकों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद शाकविधि का परिमाण किया और वथुआ चूच्चु घीया सौवस्तिक और मण्डूकिक के अतिरिक्त अन्य शाकों का प्रत्याख्यान किया।

(१८) माधुरकविधि—

मूलम्—तयाणतर च ण माहुरयविहि परिमाण करेइ। नन्नत्थ एगेण पालगामाहुरएण, अवसेस माहुरयविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥

छाया—तदनन्तर च खलु माधुरकविधि परिमाण करोति। नान्यत्रैकस्मात पालगमाधुरकात अवशेष माधुरकविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर माहुरयविहि—माधुरकविधि का परिमाण करेइ—परिमाण किया। एगेण—एक पालगामाहुरएण—पालगा माधुर अर्थात शल्लकी नामक वनस्पति के गाद से बने हुए मधु रपेय विशेष के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेस—अन्य सब माहुरयविहिं मीठे का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर माधुरकविधि का परिमाण किया और पालगा माधुर के अतिरिक्त अन्य मीठे का प्रत्याख्यान किया।

(१९) जेमनविधि—

मूलम्—तयाणतर च ण जेमणविहि परिमाण करेइ। नन्नत्थ सेहब दालियबेहिं, अवसेस जेमणविहिं पच्चक्खामि ॥३६॥

छाया—तदनन्तर च खलु जेमनविधिपरिमाण करोति। नान्यत्र सेधाम्लदालिकाम्लाभ्याम अवशेष जेमनविधि प्रत्याचक्षे।

---

* माधुरिक शब्द का अर्थ है—गुड चीनी मिश्री आदि व वस्तुए जिनके द्वारा अन्य वस्तुओं को मीठी बनाया जाता है।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर जेमणविहिपरिमाणं—जेमनविधि का परिमाण करेइ—किया। सेहंबदालियंवेहिं—सेधाम्ल-कांजी वडे और दालिकाम्ल पकोड़े के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब जेमणविहिं—जेमनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद जेमन अर्थात् व्यजनविधि का परिमाण किया और सेधाम्ल तथा दालिकाम्ल के अतिरिक्त अन्य सब जेमन अर्थात् व्यजनो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे 'जेमण' शब्द से उन पदार्थो को लिया गया है जिन्हे प्राय जिह्वास्वाद के लिए खाया जाता है। बोल-चाल मे इसे चाट कहते हैं। सेधाम्ल का अर्थ है—पकौडे या वडे, जिन्हे पकने के वाद खटाई मे डाल दिया जाता है। साधारणतया इन्हे काजी वडे कहा जा सकता है। इनका सेवन आवले की चटनी तथा अन्य खटाइयो के साथ भी किया जाता है। दालिकाम्ल वे पकौड़े हैं, जिन्हे तेल मे तलकर खाया जाता है। खटाई इनके अन्दर ही रहती है। मारवाड मे इन्हे दालिया कहा जाता है। इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"से हंबदालियंवेहि त्ति सेधे-सिद्धेसति यानि अम्लेन तीमनादिना संस्क्रियन्ते तानि सेधाम्लानि। यानि दाल्या मुद्गादिमय्या निष्पादितानि अम्लानि च तानि दालिकाम्लानीति सम्भाव्यन्ते।" अर्थात् जिन्हे पक जाने पर इमली आदि की खटाई मे डाला जाता है उन्हे सेधाम्ल कहते हैं। तथा जो खटाई डालकर मूँग आदि की दाल के बनाए जाते हैं उन्हे दालिकाम्ल कहते हैं।

(२०) पानीयविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं पाणिय-विहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं, अवसेसं पाणियविहिं पच्चक्खामि ॥३७॥**

छाया—तयाणंतरं च खलु पानीयविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मादन्तरिक्षोदकात्, अवशेषं पानीयविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणतरं च णं—इसके अनन्तर, पाणियविहिपरिमाणं—पीने के पानी

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर सागविहिपरिमाणं—शाकविधि का परिमाण करेइ—किया। वत्थुसाएण वा—बथुआ चूच्चुसाएण वा—चूच्चु, तुम्बसाएण वा—घीया या लौकी सुत्थियसाएण वा—सौवस्तिक मुण्डुक्कियसाएण वा—और मण्डूकिक भिंडी के नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेसं—अन्य सब सागविहिं—शाकों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद शाकविधि का परिमाण किया और बथुआ, चूच्चु घीया, सौवस्तिक और मण्डूकिक के अतिरिक्त अन्य शाकों का प्रत्याख्यान किया।

(१८) माधुरकविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं माहुरयविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं पालंगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि ॥३५॥

छाया—तदनन्तरं च खलु माधुरकविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् पालंगमाधुरकात् अवशेषं माधुरकविधिं प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर माहुरयविहिं—माधुरकविधि का परिमाणं करेइ—परिमाण किया। एगेणं—एक पालंगामाहुरएणं—पालंगा माधुर अर्थात् शल्लकी नामक वनस्पति के गोंद से बने हुए मधुर पेय विशेष के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब माहुरयविहिं मीठे का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर माधुरकविधि का परिमाण किया और पालंगा माधुर के अतिरिक्त अन्य मीठे का प्रत्याख्यान किया।

(१९) जेमनविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं जेमणविहिं परिमाणं करेइ। नन्नत्थ सेहंब दालियंबेहिं, अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि ॥३६॥

छाया—तदनन्तरं च खलु जेमनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र सेधाम्लदालिकाम्लाभ्याम्, अवशेषं जेमनविधिं प्रत्याचक्षे।

माधुरिक शब्द का अर्थ है—गुड चीनी मिश्री आदि वे वस्तुएं जिनके द्वारा अन्य वस्तुओं को मीठी बनाया जाता है।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर जेमणविहिपरिमाणं—जेमनविधि का परिमाण करेइ—किया। सेहंवदालियंवेहिं—सेधाम्ल-काँजी वड़े और दालिकाम्ल पकोड़े के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब जेमणविहिं—जेमनविधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद जेमन अर्थात् व्यजनविधि का परिमाण किया और सेधाम्ल तथा दालिकाम्ल के अतिरिक्त अन्य सब जेमन अर्थात् व्यजनो का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे 'जेमण' शब्द से उन पदार्थो को लिया गया है जिन्हे प्राय जिह्वास्वाद के लिए खाया जाता है। बोल-चाल मे इसे चाट कहते हैं। सेधाम्ल का अर्थ है—पकौडे या वडे, जिन्हे पकने के बाद खटाई मे डाल दिया जाता है। साधारणतया इन्हे काजी वडे कहा जा सकता है। इनका सेवन आवले की चटनी तथा अन्य खटाइयो के साथ भी किया जाता है। दालिकाम्ल वे पकौडे हैं, जिन्हे तेल मे तलकर खाया जाता है। खटाई इनके अन्दर ही रहती है। मारवाड मे इन्हे दालिया कहा जाता है। इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"से हंवदालियंवेहिं त्ति सेधे-सिद्धेसति यानि अम्लेन तीमनादिना संस्क्रियन्ते तानि सेधाम्लानि। यानि दाल्या मुद्गादिमय्या निष्पादितानि अम्लानि च तानि दालिकाम्लानीति सम्भाव्यन्ते।" अर्थात् जिन्हे पक जाने पर इमली आदि की खटाई में डाला जाता है उन्हे सेधाम्ल कहते हैं। तथा जो खटाई डालकर मूँग आदि की दाल के बनाए जाते हैं उन्हे दालिकाम्ल कहते हैं।

(२०) पानीयविधि—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं पाणिय-विहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं, अवसेसं पाणियविहिं पच्चक्खामि ॥३७॥**

छाया—तयाणंतर च खलु पानीयविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मादन्तरिक्षोदकात्, अवशेषं पानीयविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, पाणियविहिपरिमाणं—पीने के पानी

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर, **चउव्विहं**—चार प्रकार के **अणट्ठा-दंडं**—अनर्थदण्ड का **पच्चक्खाइ**—प्रत्याख्यान किया, **तं जहा**—वह इस प्रकार है—**अवज्झाणायरियं**—अपध्यानाचरित, **पमायायरियं**—प्रमादाचरित, **हिंसप्पयाणं**—हिंस्र-प्रदान, **पावकम्मोवएसे**—और पाप कर्म का उपदेश ।

भावार्थ—इसके अनन्तर आनन्द ने भगवान् महावीर से कहा कि मै अपध्याना-चरित—दुर्ध्यान करना, प्रमादाचरित—विकथा आदि प्रमाद का आचरण करना, हिंस्र-प्रदान—हिसक शस्त्रास्त्रो का वितरण तथा पाप कर्म का उपदेश करना—इन चार अनर्थदण्डो का प्रत्याख्यान करता हुँ ।

टीका—**अणट्ठादंडं**—इस पर वृत्तिकार के निम्न लिखित शब्द हैं—**'अणट्ठादण्ड, त्ति अनर्थेन-धर्मार्थकामव्यतिरेकेण दण्डोऽनर्थदण्ड.'** अर्थात् धर्म, अर्थ और काम किसी भी प्रयोजन के बिना जो दण्ड अर्थात् हिसा की जाती है उसे अनर्थदण्ड कहते है । जीवन मे अनुशासन के लिए आवश्यक है कि हम ऐसा कार्य न करे जिसमें बिना ही किसी उद्देश्य के दूसरे को हानि पहुँचे । मुनि अपने स्वार्थ के लिए भी किसी को हानि नही पहुँचाता । किन्तु श्रावक को पारिवारिक जीवन के लिए ऐसे अनेक कार्य करने पडते हैं जिनमे एक का लाभ दूसरे की हानि पर निर्भर है । उसे चाहिए कि ऐसी प्रवृत्तियो को भी यथाशक्ति घटाता जाए । किन्तु ऐसे कार्यो को तो सर्वथा छोड दे, जिनमे उसका कोई लाभ नही है और व्यर्थ ही दूसरे को हानि पहुँचती है । इस प्रकार के कार्यो को निम्न लिखित चार कोटियो मे गिनाया गया है—

(१) **अपध्यानाचरित**—इसका अर्थ है दुश्चिन्ता । वह दो प्रकार की है—१ आर्तध्यान अर्थात् धन, सन्तान स्वास्थ्य अदि इष्ट वस्तुओ के प्राप्त न होने पर तथा रोग, दरिद्रता, प्रियवियोग आदि अनिष्ट के प्राप्त होने पर होने वाली मानसिक चिन्ता । २ रौद्रध्यान अर्थात् क्रोध, शत्रुता आदि मे प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुचाने की भावना ।

इन दोनो प्रकार के ध्यानो से प्रेरित होकर मन मे दुश्चिन्ता अथवा बुरे विचार लाना अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड है ।

(२) **प्रमादाचरित**—प्रमाद का अर्थ है—असावधानी या जीवन की शिथिलता । खाली बैठकर दूसरो की निन्दा करते रहना, शृगार सम्बन्धी बाते करना, दूसरो की

का परिणाम करेइ—किया, एगेण—एक अतलिक्खोदएण—बादलो के पानी के नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेस—अन्य सब पाणियविहिं—जलो का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद पानीयविधि का अर्थात पीने के पानी का परिमाण किया और एकमात्र वर्षा के पानी के अतिरिक्त अन्य सब जलो का प्रत्याख्यान किया।

(२१) ताम्बूलविधि—

मूलम—**तयाणतर च ण मुहवास विहि परिमाण करेइ। नन्नत्थ पच-सोगधिएण तबोलेण, अवसेस मुहवास-विहिं पच्चक्खामि ॥३८॥**

छाया—तदनन्तर च खलु मुखवासविधि परिमाण करोति। नान्यत्र पञ्चसौगन्धिकात्ताम्बूलादवशेष मुखवासविधि प्रत्याचक्षे।

शब्दार्थ—**तयाणतर च ण**—इसके अनन्तर **मुहवास विहि परिमाण**—मुखवासविधि का परिमाण **करेइ**—किया। **पचसोगधिएण तबोलेण**—पाच सुगन्धित वस्तुओ से युक्त ताम्बूल के **नन्नत्थ**—अतिरिक्त **अवसेस**—अन्य सब **मुहवासविहिं**—मुखवासविधि अर्थात मुख को सुगन्धित करने वाले द्रव्यो का **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात मुखवास विधि का परिमाण किया और पाच सुगन्धित पदार्थों से युक्त ताम्बूल के सिवा मुख को सुगन्धित करने वाले अन्य पदार्थों का परित्याग किया।

टीका—**पचसोगधिएण**-पाच सुगन्ध द्रव्य निम्नलिखित हैं-ककोल कालीमिच एला लवग, जातिफल, कपूर।

आठवा-अनर्थदण्डविरमण व्रत—

मूलम—**तयाणतर च ण चउव्विह अणट्ठादड पच्चक्खाइ। त जहा—अवज्झाणायरिय, पमायायरिय, हिंसप्पयाण, पाव कम्मोवएसे ॥३९॥**

छाया—तदनन्तर च खलु चतुर्विधमनर्थदण्ड प्रत्याचष्टे, तद्यथा—अपध्यानाचरित, प्रमादाचरितम, हिंस्रप्रदान, पापकर्मोपदेशम।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, चउव्विहं—चार प्रकार के अणट्ठा-दंडं—अनर्थदण्ड का पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया, तं जहा—वह इस प्रकार है—अवज्झाणायरियं—अपध्यानाचरित, पमायायरियं—प्रमादाचरित, हिंसप्पयाणं—हिंस्र-प्रदान, पावकम्मोवएसे—और पाप कर्म का उपदेश।

भावार्थ—इसके अनन्तर आनन्द ने भगवान् महावीर से कहा कि मै अपध्याना-चरित—दुर्ध्यान करना, प्रमादाचरित—विकथा आदि प्रमाद का आचरण करना, हिंस्र-प्रदान—हिंसक शस्त्रास्त्रो का वितरण तथा पाप कर्म का उपदेश करना—इन चार अनर्थदण्डो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

टीका—अणट्ठादंडं—इस पर वृत्तिकार के निम्न लिखित शब्द हैं—'अणट्ठादण्ड, त्ति अनर्थेन-धर्मार्थकामव्यतिरेकेण दण्डोऽनर्थदण्डः' अर्थात् धर्म, अर्थ और काम किसी भी प्रयोजन के बिना जो दण्ड अर्थात् हिंसा की जाती है उसे अनर्थदण्ड कहते है। जीवन मे अनुशासन के लिए आवश्यक है कि हम ऐसा कार्य न करें जिसमे बिना ही किसी उद्देश्य के दूसरे को हानि पहुँचे। मुनि अपने स्वार्थ के लिए भी किसी को हानि नही पहुँचाता। किन्तु श्रावक को पारिवारिक जीवन के लिए ऐसे अनेक कार्य करने पड़ते हैं जिनमे एक का लाभ दूसरे की हानि पर निर्भर है। उसे चाहिए कि ऐसी प्रवृत्तियो को भी यथाशक्ति घटाता जाए। किन्तु ऐसे कार्यो को तो सर्वथा छोड दे, जिनमे उसका कोई लाभ नही है और व्यर्थ ही दूसरे को हानि पहुँचती है। इस प्रकार के कार्यो को निम्न लिखित चार कोटियो मे गिनाया गया है—

(१) अपध्यानाचरित—इसका अर्थ है दुश्चिन्ता। वह दो प्रकार की है—१ आर्तध्यान अर्थात् धन, सन्तान स्वास्थ्य आदि इष्ट वस्तुओ के प्राप्त न होने पर तथा रोग, दरिद्रता, प्रियवियोग आदि अनिष्ट के प्राप्त होने पर होने वाली मानसिक चिन्ता। २ रौद्रध्यान अर्थात् क्रोध, शत्रुता आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुचाने की भावना।

इन दोनो प्रकार के ध्यानो से प्रेरित होकर मन मे दुश्चिन्ता अथवा बुरे विचार लाना अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड है।

(२) प्रमादाचरित—प्रमाद का अर्थ है—असावधानी या जीवन की शिथिलता। खाली बैठकर दूसरो की निन्दा करते रहना, शृगार सम्बन्धी बाते करना, दूसरो की

पंचायत करते रहना अपने कर्त्तव्य का ध्यान न रखना, आदि बातों से उत्पन्न मन, वचन तथा शरीर सम्बन्धी विकार इस कोटि में आते हैं।

(३) हिंस्रप्रदान—इसका अर्थ है—शिकारी चोर डाकू आदि को शस्त्र अथवा उन्हें अन्य प्रकार से सहायता देना जिससे हिंसा को प्रोत्साहन मिले।

(४) पापकर्मोपदेश—इसका अर्थ है—दूसरों को पाप कर्म में प्रवृत्त करना। उदाहरण के रूप में शिकारी या चिड़ीमार को यह बताना कि अमुक स्थान पर हिरण अथवा पक्षियों का बाहुल्य है। अथवा किसी पशु अथवा मनुष्य को व्यर्थ ही कष्ट देने के लिए अन्य व्यक्तियों को उकसाना बच्चों को किसी पागल अथवा घायल मनुष्य अथवा पशु पर पत्थर आदि मारने के लिए कहना किसी अपरिचित के पीछे कुत्ते लगाना आदि बातें इस अनर्थदण्ड में आती हैं।

मानव जीवन में नैतिक अनुशासन के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सम्यक्त्व व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—इह खलु आणंदाइ समणे भगवं महावीरे आणंदं समणोवासगं एवं वयासी—एवं खलु, आणंदा! समणोवासएणं अभिगय जीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तंजहा—संका, कंखा, विइगिच्छा, परपासंड पसंसा, परपासंड-संथवे ॥४०॥

छाया—इह खलु आनन्द! इति श्रमणो भगवान् महावीर आनन्दं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—एवं खलु आनन्द! श्रमणोपासकेनाभिगतजीवाजीवेन यावदनतिक्रमणीयेन सम्यक्त्वस्य पञ्चातिचाराः प्रधानाः (मुख्याः) ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः। तद्यथा—शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, परपाषण्ड प्रशंसा, परपाषण्ड संस्तवः।

शब्दार्थ—इह खलु—इसी प्रसंग में आणंदा इ समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने हे आनन्द! इस प्रकार सम्बोधित करते हुए आणंदं समणोवासगं—आनन्द श्रमणोपासक को एवं—इस भाँति वयासी—कहा आणंदा—हे आनन्द! एवं खलु—इस प्रकार अभिगयजीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं—जीव

तथा अजीव के स्वरूप को जानने वाले यावत् अनतिक्रमणीय (धर्म से विचलित न होने वाले) **समणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **सम्मत्तस्स**—सम्यक्त्व के **पंच**—पाँच **पेयाला**—प्रधान **अइयारा**—अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ, **न समायरियव्वा**—परन्तु उनका आचरण नही करना चाहिए। **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**संका**—शङ्का, **कंखा**—काक्षा, **विइगिच्छा**—विचिकित्सा धर्म साधन के प्रति (सशय) **पर-पासंड-पसंसा**—पर-पाषण्ड अर्थात् अन्यमतालम्वी की प्रशसा **पर-पासंड-संथवे**—और परपाषण्डसस्तव अर्थात् अन्यमतावलम्वी के साथ सम्पर्क या परिचय।

भावार्थ—इसके अनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द श्रमणोपासक को इस प्रकार कहा—हे आनन्द ! जीवाजीव आदि पदार्थो के स्वरूप को जानने वाले तथा धर्म से विचलित न होने वाले और मर्यादा मे स्थिर रहने वाले श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के पाँच मुख्य अतिचार अवश्य जान लेने चाहिएँ परन्तु उनका आचरण नही करना चाहिए वे इस प्रकार हैं— (१) शका, (२) काक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) परपाषण्डप्रशंसा और (५) परपाषण्डसस्तव।

टीका—आनन्द द्वारा व्रत ग्रहण कर लेने पर उनमे दृढता लाने के लिए भगवान् ने प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच अतिचार बताए। अतिचार का अर्थ है व्रत मे किसी प्रकार की शिथिलता या स्खलना। इससे अगली कोटी अनाचार की है, जहाँ व्रत टूट जाता है।

प्रस्तुत पाठ मे श्रमणोपासक अर्थात् श्रावक के दो विशेषण दिए हैं—

(१) **अभिगयजीवाजीवेणं**—अर्थात् जो जीव तथा अजीव का स्वरूप जानता है। जैन धर्म मे ९ तत्त्व माने गए हैं। उनमे प्रथम दो जीव और अजीव हैं। विश्व इन्ही दो तत्त्वो मे विभक्त है। इससे यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन विश्व के मूल मे परस्पर भिन्न दो तत्त्व मानता है। शेष सात तत्त्व हैं—पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। ये जीव की आध्यात्मिक चेतना और उसके शुभाशुभ परिणामो को प्रकट करते हैं। अत इनका ज्ञान भी जीव तत्त्व के ज्ञान के साथ अनिवार्य है। प्रस्तुत सूत्र मे जीव तथा अजीव मे सव को सम्मिलित कर लिया गया है।

(२) अणइक्करणिज्जेणं—(अनतिक्रमणीय) इसका अर्थ है—वह व्यक्ति जिसको कोई परिवर्तित नहीं कर सकता अर्थात् जिसे धर्म निश्चय से कोई विचलित नहीं कर सकता। इसी उपासकदशाङ्गसूत्र में कामदेव आदि ऐसे श्रावकों का वर्णन है जिन्हें अनुकूल तथा प्रतिकूल किसी प्रकार के विघ्न विचलित न कर सके। देवताओं ने अनेक प्रकार के भय बताए और सांसारिक सुखों के प्रलोभन भी उपस्थित किए किन्तु वे अपनी श्रद्धा पर दृढ़ रहे।

प्रस्तुत सूत्र में सम्यक्त्व के पाँच अतिचार बताए गए हैं—सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा धर्म की आधारशिला है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र निस्सार हैं। जिस व्यक्ति की श्रद्धा विपरीत है अर्थात् अधर्म को धर्म मानता है उसे मिथ्यात्वी कहा जाता है वह धर्म के क्षेत्र से बहिर्भूत है। जिस व्यक्ति की श्रद्धा तो सम्यक् है किन्तु उसमें कभी २ शिथिलता या दुर्बलता आ जाती है उसी के निराकरण के लिए नीचे लिखे पाँच अतिचार बताए गए हैं—

(१) संका (शङ्का) इसका अर्थ है सन्देह अर्थात् आत्मा स्वर्ग नरक पुण्य पाप आदि जिन तत्त्वों का प्रतिपादन सर्वज्ञ ने किया है उनके अस्तित्व में सन्देह होना। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है—क्या व्यक्ति को धार्मिक बातों के सम्बन्ध में ऊहापोह करने का अधिकार नहीं है? मन में सन्देह उत्पन्न होने पर उसे क्या करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि संशय निवारण के लिए ऊहापोह करने और शङ्का में परस्पर पर्याप्त भेद है। यदि मन में जिज्ञासा उत्पन्न होने पर विश्वास डाँवाडोल हो जाता है तो वह शङ्का है। विश्वास को दृढ़ रखते हुए प्रश्नोत्तर करना शङ्का नहीं है। उससे तो विश्वास में उत्तरोत्तर दृढ़ता आती है। भगवान महावीर के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी श्रद्धा की दृष्टि से सर्वोच्च माने गए हैं। किन्तु उनके लिए भी भगवतीसूत्र में बार २ आया है कि मन में संशय उत्पन्न हुआ और निराकरण के लिए वे भगवान के पास गए। गौतम का संशय जिज्ञासारूप था शङ्कारूप नहीं। उपनिषदों में भी मनन अर्थात् युक्तिपूर्वक विचार को आवश्यक माना गया है। किन्तु वह तर्क ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे मूल विश्वास को आघात पहुँचे। जहाँ तर्क और श्रद्धा में परस्पर विरोध हो, वहाँ श्रद्धा को कायम रखते हुए अपनी बुद्धि की मर्यादा को समझना चाहिए और यही मानना चाहिए कि बुद्धि अज्ञान या पूर्व के जमे हुए विश्वासों के कारण उस सूक्ष्म

तत्त्व को ग्रहण नही कर रही है। उसे ग्रहण करने के लिए पुन पुन प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु श्रद्धा को शिथिल नही होने देना चाहिए।

(२) **कंखा** (काङ्क्षा) इसका अर्थ है वाह्य आडम्वर अथवा अन्य प्रलोभनो से आकृष्ट हो कर किसी अन्य मत की ओर झुकाव होना। वाह्य प्रभाव को देखकर सत्य से विचलित होना इसी के अन्तर्गत है।

(३) **विइगिच्छा**—(विचिकित्सा) धर्मानुष्ठान के फल मे सदेह करना अर्थात् तपश्चरण आदि करते समय सन्देहशील होना कि फल प्राप्त होगा या नही। इस प्रकार का सन्देह कार्य सिद्धि का वहुत वडा वाधक है।

(४) **परपासंडपसंसा**—(परपाषण्ड प्रशसा) वर्तमान हिन्दी भाषा मे पाखण्ड शव्द का अर्थ है ढोग अथवा मिथ्या आडम्वर और पाखण्डी का अर्थ है ढोगी। किन्तु प्राचीन समय मे यह शव्द निन्दावाचक नही था। उस समय इसका अर्थ था मत या सम्प्रदाय। अशोक की धर्मलिपियो मे विभिन्न मतो के लिए पासड शव्द का प्रयोग किया है। यहाँ भी वही अर्थ है। परपासड का अर्थ है—जैन धर्म को छोड कर अन्य मतो के अनुयायी। उनकी प्रशसा करने का अर्थ है—अपने विश्वास मे कमी। शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो इसका अर्थ है—अपनी श्रद्धा से विपरीत चलने वालो अथवा विपरीत प्रवृत्ति करने वालो की प्रशसा करना। साधक को इस प्रकार की शिथिलता से दूर रहना चाहिए।

परपासंडसंथवे—(परपाषण्ड सस्तव) सस्तव का अर्थ है परिचय या सम्पर्क। सच्चे साधक को भिन्न मार्ग पर चलने वाले के साथ परिचय नही वढाना चाहिए।

पेयाला—इस पर निम्न लिखित टीका है—'पेयाला' त्ति साराः प्रधानाः अर्थात् सार या प्रधान भूत।

अहिंसा व्रत के पांच अतिचार

मूलम्—**तयाणंतरं च णं थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाण वोच्छेए ॥४१॥**

छाया—तदनन्तर च खलु स्थूलकस्य प्राणातिपातविरमणस्य श्रमणोपास पञ्चातिचारा पेयाला ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—बन्ध, वध, छविच्छे अतिभार, भक्तपानव्यवच्छेद ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर थूलगस्स—स्थूल पाणाइवायवेरमणस प्राणातिपातविरमण व्रत के पच—पाच पेयला—प्रधान अइयारा—अतिचार समा वासएण—श्रमणोपासक को जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—पर आचरण न करने चाहिएँ। त जहा—वे इस प्रकार हैं—बधे—बध वहे—व छविच्छेए—छविच्छेद अर्थात अग विच्छेद अइभारे—अतिभार भत्तपाणवोच्छेए और भक्तपानव्यवच्छेद ।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के पाच मुख्य अतिचार जान चाहिएँ परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ बन्ध—पशु आदि को कठोर बधन से बाधना । २ वध—घातक प्रहार करना । ३ छविच्छेद अग काट देना । ४ अतिभार—सामर्थ्य से अधिक भार लादना । ५ भक्तपान व्यवच्छेद—भोजन और पानी को रोकना या समय पर न देना ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे अहिंसा व्रत के पाच अतिचार बताए गए हैं। इसके पहले सम्यक्त्व व्रत के अतिचार बताए गए थे। उसका सम्बन्ध श्रद्धा से है किन्तु अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाच व्रतो का शील अथवा आचार के साथ सम्बन्ध है।

थूलगस्स—(स्थूलकस्य) श्रावक को जीवन मे अनेक प्रवृत्तिया करनी पडती हैं अत वह पूर्ण अहिंसा का पालन नही कर सकता। परिणाम स्वरूप स्थूल हिंसा का परित्याग करता है। जैन धर्म मे त्रस और स्थावर के रूप मे जीवो की दो श्रेणियो मे विभक्त किया गया है। पृथिवी जल अग्नि वायु तथा वनस्पतिया के जीव स्थावर कहे जाते हैं। वे अपनी इच्छानुसार चलने फिरने में असमर्थ हैं। इसके विपरीत चलने फिरने वाले जीव त्रस कहे गए हैं। श्रावक त्रस जीवो की हिंसा का परित्याग करता है स्थावरो की मर्यादा। त्रस जीवो मे भी जो अपराधी हैं या हानि पहुँचाने वाले हैं उनकी हिंसा का परित्याग नही होता। इसी प्रकार

यहाँ हिंसा का अर्थ है—किसी को मारने या हानि पहुँचाने की बुद्धि से मारना। यदि कोई कार्य भलाई के लिए किया जाता है, किन्तु उसमे किसी की हिंसा हो जाती है या हानि पहुँचती है तो श्रावक को उसका त्याग नही है। उदाहरण के रूप मे डाक्टर चिकित्सा के लिए रोगी का औपरेशन करता है और उसमे रोगी को हानि पहुँच जाती है तो डाक्टर का व्रत भग नही होता। व्रत भग तभी होता है जब डाक्टर रोगी को हानि पहुँचाने की भावना से ऐसा करे। उपरोक्त छूटे होने के कारण श्रावक के व्रत को स्थूल कहा गया है। साधु के व्रत मे ये छूटे भी नही होती।

सर्वप्रथम स्थूल प्राणातिपात व्रत है,—इस व्रत के अतिचारो मे मुख्यतया पशु को सामने रखा गया है। उन दिनो दास प्रथा विद्यमान होने के कारण कभी-कभी मनुष्यो के साथ भी पशु के समान वरताव किया जाता था।

(१) बंधे—इसका अर्थ है पशु अथवा दास आदि को ऐसा बाधना जिससे उसे कष्ट हो। यहाँ भी मुख्य दृष्टि विचारो की है। यदि चिकित्सा के निमित्त या सकट से वचाने के लिए पशु आदि को बाधा जाता है तो वह अतिचार नही है। शास्त्रकारो ने बन्ध के दो भेद किए हैं—अर्थ बन्ध और अनर्थ बन्ध। अनर्थ वन्ध तो हिसा है ही और वह अनर्थदण्ड नामक आठवे व्रत मे आती है। अर्थबन्ध भी यदि क्रोध, द्वेप आदि क्रूर भावो के साथ किया गया है तो वह अतिचार है। अर्थवन्ध के पुन दो भेद हैं, सापेक्ष और निरपेक्ष। अग्नि आदि का भय उत्पन्न होने पर जिस वन्धन से सहज मुक्ति मिल सके उसे सापेक्ष बन्ध कहते हैं। यह अतिचार मे नही आता। इसके विपरीत भय उत्पन्न होने पर भी जिस बन्धन से छुटकारा मिलना कठिन हो उसे निरपेक्ष वन्ध कहते हैं। ऐसा बन्धन वाधना अतिचार है।

(२) वहे (वध) यहाँ वध का अर्थ हत्या नही है। हत्या करनेपर तो व्रत सर्वथा टूट जाता है। अत वह अनाचार है। यहाँ वध का अर्थ है घातक प्रहार, ऐसा जिससे अङ्गोपाङ्गदि को हानि पहुँचे।

(३) छविच्छेए—इसका अर्थ है अङ्गविच्छेद अर्थात् क्रोध मे आकर किसी के अङ्ग को काट डालना अथवा अपनी प्रसन्नता के लिए कुत्ते आदि के कान, पूँछ काट देना।

---

*छविच्छेए—(स०-छविच्छेद)—इसका साधारण अर्थ अग-विच्छेद किया जाता है किन्तु अर्ध-मागधी मे 'छ' या 'छवि' के रूप मे कोई शब्द नही है जिसका अर्थ अग होता हो। प्रतीत होता

छाया—तदनन्तर च खलु स्थूलकस्य प्राणातिपातविरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा पेयाला ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार, भक्तपानव्यवच्छेद ।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर थूलगस्स—स्थूल पाणाइवायवेरमणस्स—प्राणातिपातविरमण व्रत के पच—पाच पेयला—प्रधान अइयारा—अतिचार समणोवासएण—श्रमणोपासक को जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। त जहा—वे इस प्रकार हैं—बधे—बध वहे—वध, छविच्छेए—छविच्छेद अर्थात अग विच्छेद अइभारे—अतिभार भत्तपाणवोच्छेए—और भक्तपान व्यवच्छेद ।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के पाच मुख्य अतिचार जानने चाहिए परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ बन्ध—पशु आदि को कठोर बधन से बाँधना। २ वध—घातक प्रहार करना। ३ छविच्छेद अग काट देना। ४ अतिभार—सामर्थ्य से अधिक भार लादना। ५ भक्तपान व्यवच्छेद—भोजन और पानी को रोकना या समय पर न देना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे अहिंसा व्रत के पाच अतिचार बताए गए हैं। इसके पहले सम्यक्त्व व्रत के अतिचार बताए गए थे। उसका सम्बन्ध श्रद्धा से है किन्तु अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतो का शील अथवा आचार के साथ सम्बन्ध है।

थूलगस्स—(स्थूलकस्य) श्रावक को जीवन मे अनेक प्रवृत्तिया करनी पडती हैं, अत वह पूर्ण अहिंसा का पालन नही कर सकता। परिणाम स्वरूप स्थूल हिंसा का परित्याग करता है। जैन धर्म मे त्रस और स्थावर के रूप मे जीवो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया गया है। पृथिवी जल अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो के जीव स्थावर कहे जाते हैं। वे अपनी इच्छानुसार चलने फिरने मे असमर्थ हैं। इसके विपरीत चलने फिरने वाले जीव त्रस कहे गए हैं। श्रावक त्रस जीवो की हिंसा का परित्याग करता है, स्थावरो की मर्यादा। त्रस जीवो मे भी जो अपराधी हैं या हानि पहुँचाने वाले हैं उनकी हिंसा का परित्याग नही होता। इसी प्रकार

यहाँ हिसा का अर्थ है—किसी को मारने या हानि पहुँचाने की बुद्धि से मारना। यदि कोई कार्य भलाई के लिए किया जाता है, किन्तु उसमे किसी की हिसा हो जाती है या हानि पहुँचती है तो श्रावक को उसका त्याग नही है। उदाहरण के रूप मे डाक्टर चिकित्सा के लिए रोगी का ऑपरेशन करता है और उसमे रोगी को हानि पहुँच जाती है तो डाक्टर का व्रत भग नही होता। व्रत भग तभी होता है जब डाक्टर रोगी को हानि पहुँचाने की भावना से ऐसा करे। उपरोक्त छूटे होने के कारण श्रावक के व्रत को स्थूल कहा गया है। साधु के व्रत मे ये छूटे भी नही होती।

सर्वप्रथम स्थूल प्राणातिपात व्रत है,—इस व्रत के अतिचारो मे मुख्यतया पशु को सामने रखा गया है। उन दिनो दास प्रथा विद्यमान होने के कारण कभी-कभी मनुष्यो के साथ भी पशु के समान बरताव किया जाता था।

(१) बंधे—इसका अर्थ है पशु अथवा दास आदि को ऐसा बाधना जिससे उसे कष्ट हो। यहाँ भी मुख्य दृष्टि विचारो की है। यदि चिकित्सा के निमित्त या सकट से बचाने के लिए पशु आदि को बाधा जाता है तो वह अतिचार नही है। शास्त्रकारो ने बन्ध के दो भेद किए हैं—अर्थ बन्ध और अनर्थ बन्ध। अनर्थ बन्ध तो हिसा है ही और वह अनर्थदण्ड नामक आठवे व्रत मे आती है। अर्थबन्ध भी यदि क्रोध, द्वेष आदि क्रूर भावो के साथ किया गया है तो वह अतिचार है। अर्थबन्ध के पुन. दो भेद हैं, सापेक्ष और निरपेक्ष। अग्नि आदि का भय उत्पन्न होने पर जिस बन्धन से सहज मुक्ति मिल सके उसे सापेक्ष बन्ध कहते हैं। यह अतिचार मे नही आता। इसके विपरीत भय उत्पन्न होने पर भी जिस बन्धन से छुटकारा मिलना कठिन हो उसे निरपेक्ष बन्ध कहते हैं। ऐसा बन्धन बाधना अतिचार है।

(२) वहे (वध) यहाँ वध का अर्थ हत्या नही है। हत्या करनेपर तो व्रत सर्वथा टूट जाता है। अत वह अनाचार है। यहाँ वध का अर्थ है घातक प्रहार, ऐसा जिससे अङ्गोपाङ्गदि को हानि पहुँचे।

(३) छविच्छेए—इसका अर्थ है अङ्गविच्छेद अर्थात् क्रोध मे आकर किसी के अङ्ग को काट डालना अथवा अपनी प्रसन्नता के लिए कुत्ते आदि के कान, पूँछ काट देना।

---

*छविच्छेए—(स०-छविच्छेद)—इसका साधारण अर्थ अग-विच्छेद किया जाता है किन्तु अर्ध-मागधी मे 'छ' या 'छवि' के रूप मे कोई शब्द नही है जिसका अर्थ अग होता हो। प्रतीत होता

(४) अइभारे (अतिभार) इसका अर्थ पशु या दास पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना। नौकर मजदूर या अन्य कर्मचारी से इतना काम लेना कि वह उसी में पिस जाए, यह भी अतिभार है। इतना ही नहीं परिवार के सदस्यों में भी किसी एक पर काम का अधिक बोझ डालना अतिचार है।

(५) भत्तपाणवोच्छेए (भक्तपानव्यवच्छेद) इसका स्थूल अर्थ है मूक पशु को भूखा तथा प्यासा रखना या उसे चारा एवं पानी समय पर न देना। नौकर आदि आश्रितों का समय पर वेतन न देना, उनके वेतन में अनुचित कटौती करना किसी की आजीविका में बाधा डालना, या अपने आश्रितों से काम अधिक लेना और उसके अनुरूप भोजन या वेतन न देना। खाद्य एवं पेय सामग्री को दूषित करना आदि भी इसी अतिचार के अन्तर्गत हैं।

सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन की दृष्टि से इस व्रत का बहुत महत्त्व है। यह स्पष्ट है कि उक्त अतिचार खासतौर पर उस परिस्थिति को सामने रखकर बताए गए हैं जब कि पशुपालन गृहस्थ जीवन का आवश्यक अङ्ग था। वर्तमान जीवन में पशुपालन गौण हो गया है और अत्याचार एवं क्रूरता के नए २ रूप सामने आ रहे हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीवनचर्या के अनुसार इन अतिचारों का मूल हार्द ग्रहण कर लेना चाहिए जिससे इनका दैनन्दिन व्यवहार के साथ जीवित सम्बन्ध बना रहे।

सत्यव्रत के अतिचार

मूलम्—तयाणंतरं च णं थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तं जहा—सहसा अब्भक्खाणे, रहसा अब्भक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे ॥४२॥

है यह शब्द छयविच्छेए रहा होगा जिसका अर्थ है क्षतविच्छेद। क्षत का अर्थ है घाव और विच्छेद का अर्थ अंगविच्छेद किया जा सकता है। पालि में छवि शब्द का अर्थ त्वचा है। यदि यह अर्थ माना जाए तो छविच्छेद का अर्थ होगा ऐसा घाव करना जिससे त्वचा का छेदन हो जाए। प्रस्तुत में यह अर्थ भी किया जा सकता है—सम्पादक।

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकस्य मृषावादविरमणस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—सहसाभ्याख्यानं, रहोऽभ्याख्यानं, स्वदारमन्त्रभेदः, मृषोपदेशः, कूटलेखकरणम् ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स—स्थूल मृपावादविरमण व्रत के पंच अइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। तं जहा—वे इस प्रकार हैं—सहसा अब्भक्खाणे—सहसा अभ्याख्यान, रहसा अब्भक्खाणे—रहस्याभ्याख्यान, सदारमंतभेए—स्वदारमन्त्रभेद, मोसोवएसे—मृपोपदेश कूडलेहकरणे—और कूटलेखकरण ।

भावार्थ—तदनन्दर स्थूल मृपावादविरमण व्रत के पाच अतिचार जाननें चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इम प्रकार हैं—१ सहसाभ्याख्यान—किसी पर विना विचारे मिथ्या आरोप लगाना, २. रहोऽभ्याख्यान—किसी की गुप्त वात प्रकाशित करना। ३ स्वादारमन्त्रभेद—पत्नी की गुप्त वात प्रकट करना। ४ मृपोपदेश—खोटी सलाह देना या मिथ्या उपदेश देना। ५ कूटलेखकरण—खोटा लेख लिखना अर्थात् दूसरे को धोखा देने के लिये जाली दस्तावेज वनाना—

टीका—प्रस्तुत पाठ मे मृषावाद विरमण अर्थात् असत्यभाषण के परित्याग रूप व्रत के अतिचार वताए गए हैं इसमें भी स्थूल विशेषण लगा हुआ है अर्थात् श्रावक स्थूल मृषावाद का परित्याग करता है, सूक्ष्म का नही। शास्त्रो में स्थूल मृषावाद का स्वरूप वताते हुए उदाहरण के लिए नीचे लिखी वाते वताई हैं—

(१) कन्यालीक—वैवाहिक सम्वन्ध की वात-चीत करते समय कन्या की आयु तथा शरीर, वाणी एव मस्तिष्क सम्वन्धी दोपो को छिपाना अथवा उसकी योग्यता के सम्वन्ध मे अतिशयोक्ति पूर्ण असत्य भाषण करना ।

(२) गवालीक—पशु का लेन-देन करते समय, असत्य भापण करना, जैसे कि थोडा दूध देने वाली गाए और भैस के लिए कहना कि अधिक दूध देती है अथवा वैल आदि के लिए कहना कि यह अधिक काम कर सकता है, परन्तु वह उतनी क्षमता वाला नही होता, इत्यादि ।

(४) अइभारे (अतिभार) इसका अर्थ पशु या दास पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना। नौकर मजदूर या अन्य कर्मचारी से इतना काम लेना कि वह उसी में पिस जाए यह भी अतिभार है। इतना ही नहीं परिवार के सदस्यों में भी किसी एक पर काम का अधिक बोझ डालना अतिचार है।

(५) भत्तपाणवोच्छेए (भक्तपानव्यवच्छेद) इसका स्थूल अर्थ है मूक पशु का भूखा तथा प्यासा रखना या उसे चारा एवं पानी समय पर न देना। नौकर आदि आश्रितों को समय पर वेतन न देना, उनके वेतन में अनुचित कटौती करना किसी की आजीविका में बाधा डालना, या अपने आश्रितों से काम अधिक लेना और उसके अनुरूप भोजन या वेतन न देना। खाद्य एवं पेय सामग्री को दूषित करना आदि भी इसी अतिचार के अन्तर्गत हैं।

सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन की दृष्टि से इस व्रत का बहुत महत्त्व है। यह स्पष्ट है कि उक्त अतिचार खासतौर पर उस परिस्थिति को सामने रखकर बताए गए हैं जब कि पशुपालन गृहस्थ जीवन का आवश्यक अङ्ग था। वर्तमान जीवन में पशुपालन गौण हो गया है और अत्याचार एवं क्रूरता के नए २ रूप सामने आ रहे हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीवनचर्या के अनुसार इन अतिचारों का मूल हार्द ग्रहण कर लेना चाहिए जिससे इनका दैनंदिन व्यवहार के साथ जीवित सम्बन्ध बना रहे।

सत्यव्रत के अतिचार

मूलम्—तयाणंतरं च णं थूलगस्स मुसा वाय वेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तं जहा—सहसा अब्भक्खाणे, रहसा अब्भक्खाणे, सदार मंत भेए, मोसोवएसे, कूड-लेह करणे ॥४२॥

है यह शब्द छ्यविच्छेए रहा होगा जिसका अर्थ है क्षतविच्छेद। क्षत का अर्थ है घाव और विच्छेद का अर्थ अंगविच्छेद किया जा सकता है। पालि में छवि शब्द का अर्थ त्वचा है। यदि यह अर्थ माना जाए तो छविच्छेद का अर्थ होगा ऐसा घाव करना जिसमें त्वचा का छेदन हो जाए। प्रस्तुत में यह अर्थ भी किया जा सकता है—सम्पादक।

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकस्य मृषावादविरमणस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—सहसाभ्याख्यानं, रहोऽभ्याख्यानं, स्वदारमन्त्रभेदः, मृषोपदेशः, कूटलेखकरणम् ।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर **थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स**—स्थूल मृषावादविरमण व्रत के **पंच अइयारा**—पॉच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ । **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**सहसा अब्भक्खाणे**—सहसा अभ्याख्यान, **रहसा अब्भक्खाणे**—रहस्याभ्याख्यान, **सदारमंतभेए**—स्वदारमन्त्रभेद, **मोसोवएसे**—मृषोपदेश **कूडलेहकरणे**—और कूटलेखकरण ।

भावार्थ—तदनन्दर स्थूल मृषावादविरमण व्रत के पाच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ सहसाभ्याख्यान—किसी पर विना विचारे मिथ्या आरोप लगाना, २ रहोऽभ्याख्यान—किसी की गुप्त वात प्रकाशित करना। ३ स्वादारमन्त्रभेद—पत्नी की गुप्त बात प्रकट करना। ४ मृषोपदेश—खोटी सलाह देना या मिथ्या उपदेश देना। ५ कूटलेखकरण—खोटा लेख लिखना अर्थात् दूसरे को धोखा देने के लिये जाली दस्तावेज वनाना—

टीका—प्रस्तुत पाठ में मृषावाद विरमण अर्थात् असत्यभाषण के परित्याग रूप व्रत के अतिचार वताए गए हैं इसमे भी स्थूल विशेषण लगा हुआ है अर्थात् श्रावक स्थूल मृषावाद का परित्याग करता है, सूक्ष्म का नही। शास्त्रो मे स्थूल मृषावाद का स्वरूप बताते हुए उदाहरण के लिए नीचे लिखी वाते वताई हैं—,

(१) **कन्यालीक**—वैवाहिक सम्बन्ध की वात-चीत करते समय कन्या की आयु तथा शरीर, वाणी एव मस्तिष्क सम्बन्धी दोपो को छिपाना अथवा उसकी योग्यता के सम्बन्ध मे अतिशयोक्ति पूर्ण असत्य भापण करना ।

(२) **गवालीक**—पशु का लेन-देन करते समय, असत्य भापण करना, जैसे कि थोडा दूध देने वाली गाए और भैस के लिए कहना कि अधिक दूध देती है अथवा वैल आदि के लिए कहना कि यह अधिक काम कर सकता है, परन्तु वह उतनी क्षमता वाला नही होता, इत्यादि ।

(३) भूम्यलीक—कृषि, निवास आदि भूमि के सम्बन्ध में असत्य भाषण करना या वस्तु स्थिति को छिपाना।

(४) न्यासापहार—किसी के न्यास अर्थात् धरोहर में रखी हुई वस्तु को हड़प जाना। किसी संस्था या सार्वजनिक कार्य के लिए संगृहीत धन को उद्दिष्ट कार्य में न लगाकर वैयक्तिक कार्यों में खर्च करना भी न्यासापहार है। सार्वजनिक निधि से वैयक्तिक लाभ उठाना उससे वैयक्तिक प्रसिद्धि या अपने कुटुम्बियों को ऊँचा उठाने में खर्च करना भी इसी के अन्तर्गत है।

(५) कूडसक्खिज्ज—(कूटसाक्ष्य) झूठी गवाही देना।

(६) सन्धिकरण—षड्यन्त्र करना।

उपरोक्त कार्य स्थूल मृषावाद में आते हैं और श्रावक के लिए सर्वथा वर्जित हैं। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन में व्यवहार शुद्धि पर पूरा बल दिया गया था। व्यापार या अन्य व्यवहार में झूठ बोलने वाला श्रावक नहीं हो सकता था।

इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं—

(१) सहसा अब्भक्खाणे—सहसा का अर्थ है बिना विचारे और अब्भक्खाण का अर्थ है दोषारोपण करना। यदि मिथ्यारोप विचारपूर्वक दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए किया जाता है तो वह अनाचार है, उससे श्रावक का व्रत टूट जाता है किन्तु उसे इस बात के लिए भी सावधान रहना चाहिए कि बिना विचारे भी रोष या आवेश में आकर अथवा अनायास ही किसी पर दोषारोपण न करे। यह भी एक प्रकार का दोष है और व्रत में शिथिलता उत्पन्न करता है। यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं— सहसा अब्भक्खाणे, त्ति सहसा—अनालोच्या भ्याख्यानम—असद्दोषाध्याक्षेपण सहसाभ्याख्यान यथा चौरस्त्वमित्यादि, एतस्य चातिचारत्व सहसाकारेणव न तीव्रसक्लेशेन भणनादिति, अर्थात् बिना विचारे ही दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण करना सहसाभ्याख्यान है—जैसे तू चोर है इत्यादि। यह कार्य सहसा अर्थात् बिना विचारे किया जाने के कारण ही अतिचार कोटि में आता है। यदि तीव्र सक्लेश अर्थात् दुर्भावना पूर्वक किया जाए तो अतिचार नहीं रहता अनाचार बन जाता है।

(२) रहसा अब्भक्खाणे—(रहोऽभ्याख्यान) इसका अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। पहला अर्थ है रहस्य अर्थात् किसी कि गुप्त वात को अचानक प्रकट करना। दूसरा अर्थ है किसी पर रहस्य अर्थात् छिपे-छिपे षड्यन्त्र आदि करने का आरोप लगाना। उदाहरण के रूप मे कुछ आदमी एकान्त में बैठे परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं, अचानक उन पर यह आरोप लगाना कि वे राज्यविरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे हैं या कही पर चोर डकैती आदि के योजना वना रहे हैं। यह कार्य भी अतिचार वही तक है, जव मन में दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना न हो और अनायास ही किया जाए। मन मे दुर्भावना रहने पर यह भी अनाचार वन जाता है। यहाँ वृत्तिकार के निम्न लिखित शव्द हैं—'**रहसा अब्भक्खाणे' त्ति रहः एकान्तस्तेन हेतुना अभ्याख्यानं रहोऽभ्याख्यानम्, एकान्तमात्रोपधितया च पूर्वस्माद्विशेषः, अथवा सम्भाव्यमानार्थभणनादतिचारो न तु भङ्गोऽयमिति।** रह का अर्थ है—एकान्त और उसी का आधार लेकर मिथ्यादोषारोपण करना रहोऽभ्याख्यान है। प्रथम अतिचार की अपेक्षा इसमे एकान्त का आधार रूप विशिष्टता है, अथवा इसमे लगाया जाने वाला आरोप सर्वथा निर्मूल नही होता। उसकी सम्भावना रहती है और इसी आधार पर इसकी गणना अतिचारो मे की गई है। व्रत भङ्ग नही माना गया।

(३) **सदारमंतभेए** (स्वदारमन्त्रभेद)—अपनी स्त्री की गुप्त वातो को प्रकट करना। पारिवारिक जीवन मे वहुत सी वाते ऐसी होती हैं जिन्हे सत्य होने पर भी प्रकाशित नही किया जाता। उनके प्रकाशित करने पर व्यक्ति को दूसरो के सामने लज्जित होना पडता है, अत शेखी या आवेश मे आकर घर एव परिवार की गुप्त वातो को प्रकट करना अतिचार है।

(४) **मोसोवएसे** (मृषोपदेश) झूठी सलाह देना या उपदेश देना, इसके कई अर्थ हैं–१ पहला यह है कि जिस वात के सत्यासत्य अथवा हिताहित के विषय मे हमे स्वय निश्चय नही है उसकी दूसरो को सलाह देना। २ दूसरा यह है कि किसी वात की असत्यता अथवा हानिकारिता का ज्ञान होने पर भी दूसरो को उसमे प्रवृत्त होने के लिए कहना। ३ तीसरा रूप यह है कि वास्तव मे मिथ्या एव अकल्याण-कारी होने पर भी हम जिस वात को सत्य एव कल्याणकारी मानते हैं उसमे हित बुद्धि से दूसरे को प्रवृत्त करना। तीसरा रूप दोष कोटि मे नही आता। क्योकि उसमे उपदेश देने वाले की ईमानदारी एव हितवुद्धि पर अक्षेप नही आता। दूसरा रूप अना-

चार है उससे व्रत भङ्ग हो जाता है। पहला रूप अतिचार है। उसके अतिरिक्त किसी को हिंसा पूर्ण कार्यों मे प्रवृत्त करना प्रथम व्रत के अतिचारो मे आ चुका है।

५ कूडलेहकरणे (कूटलेखकरण) झूठे लेख लिखना तथा जाली हस्ताक्षर बनाना। इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—'कूडलेहकरणे, त्ति असदभूतार्थस्य लेखस्य विधानमित्यर्थ। एतस्य चातिचारत्व प्रमादादिना दुर्विवेकत्वेन वा माया मृषावाद प्रत्याख्यातोऽयं तु कूटलेखो, न मृषावादनमिति भावयत इति। तथा कूटम असदभूत वस्तु तस्य लेख लेखन, तद्रूपा क्रिया कूटलेखक्रिया—अन्यदीया मुद्राक्षराङ्किता लिपि हस्तादिकौशलवशादक्षरशोऽनुकृत्य परवञ्चनार्थ सर्वथा तदाकारतया लेखनमित्यर्थ अनाचारातिचारौ तु प्राग्वदेवाभोगानाभोगाभ्यामवग तव्यौ'—अर्थात्—कूट लेखकरण—झूठा लेख लिखना। यह अतिचार तभी है जब असावधानी या विवेक हीनता के रूप मे किया गया हो। अर्थात श्रावक यह सोचने लगे कि मन झूठ बोलने का त्याग किया है लिखने का नही यह विवेकहीनता है। अथवा कूट का अर्थ है अविद्यमान वस्तु। उसका लिखना अर्थात् जाली दस्तावेज बनाना या किसी के नाम की मुद्रा अथवा मोहर बनाना। दूसरे को धोखा देने के लिए जाली हस्ताक्षर बनाना आदि। पूर्वोक्त अतिचारो के समान प्रस्तुत कार्य भी यदि असावधानी विवेकहीनता अथवा अन्य किसी रूप मे अनिच्छापूर्वक किया जाता है तो अतिचार है और यदि दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए इच्छापूर्वक किया जाए तो अनाचार है।

अस्तेय व्रत के अतिचार

मूलम्—तयाणतर च ण थूलगस्स अदिण्णादाण वेरमणस्स पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। त जहा—तेणाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्ध रज्जाइक्कमे, कूड तुल्ल कूडमाणे, तप्पडिरूवग ववहारे॥ ४३॥

छाया—तदन तर च खलु स्थूलकस्यादत्तादानविरमणस्य पञ्चातिचारा *ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा स्तेनाहृत तस्करप्रयोग, विरुद्धराज्यातिक्रम, कूटतुलाकूटमान, तत्प्रतिरूपकव्यवहार।*

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर थूलगस्स अदिण्णादाणवेरमणस्स—स्थूल

अदत्तादान विरमणव्रत के पंच अइयारा—पांच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। तं जहा—वे इस प्रकार हैं—तेणाहडे—स्तेनाहृत, तक्करप्पओगे—तस्करप्रयोग, विरुद्धरज्जाइक्कमे—विरुद्धराज्यातिक्रम, कूडतुलाकूडमाणे—कूट-तुला, कूट-मान, तप्पडिरूवगववहारे—और तत्प्रतिरूपक व्यवहार।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पाच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) स्तेनाहृत—चोर के द्वारा लाई हुई वस्तु को स्वीकार करना। (२) तस्करप्रयोग—व्यवसाय के रूप मे चोरो को नियुक्त करना। (३) विरुद्धराज्यातिक्रम—विरोधी राजाओ द्वारा निषिद्ध सीमा का उल्लघन करना। अर्थात् परस्पर विरोधी राजाओ ने अपनी २ जो सीमा निश्चित कर रखी हैं उसे लाघ कर दूसरे की सीमा मे जाना। यहाँ साधारणतया "राजविरुद्ध कार्य करना" ऐसा अर्थ भी किया है। किन्तु वह मूल शब्दो से नही निकलता। टीका मे भी यह अर्थ नही है। (४) कूटतुला—कूटमान—खोटा तोलना और खोटा मापना। (५) तत्प्रतिरूपकव्यवहार—समिश्रण के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से नकली वस्तू को असली के रूप मे चलाना।

टीका—अदत्तादान का अर्थ है बिना दी हुई वस्तु को लेना। अन्य व्रतो के समान यहाँ भी श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है, सूक्ष्म का नही। शास्त्रो मे स्थूल अदत्तादान के नीचे लिखे रूप बताए गए हैं—

(१) सेंध लगाकर चोरी करना। (२) बहुमूल्य वस्तु को बिना पूछे उठाना। (३) पथिको को लूटना गाठ खोलकर या जेब काटकर किसी की वस्तु निकालना। इसी प्रकार ताला खोलकर या तोडकर दूसरे की वस्तु लेना। डाके डालना, गाय, पशु, स्त्री आदि को चुराना, राजकीय कर की चोरी करना तथा व्यापार मे बेईमानी करना आदि सभी स्थूल चोरी के अन्तर्गत हैं।

प्रस्तुत व्रत के अतिचारो मे चोरी का माल खरीदना तथा चोरो को नियुक्त करके व्यापार चलाना तो सम्मिलित है ही, माप तोल मे गडबड करना तथा असली वस्तु दिखाकर नकली देना या बहुमूल्य वस्तु का मिश्ररण करना भी चोरी माना

गया है। प्रतीत होता है उन दिनो भी व्यापार म इस प्रकार की बेइमानी प्रचलित होगी। इसलिए अतिचारो मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

स्वदारस तोष व्रत के अतिचार—

मूलम्—**तयाणतर च ण सदारसतोसिए पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। त जहाइत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अणगकीडा, परविवाहकरणे, काम भोगतिव्वाभिलासे ॥ ४४ ॥**

छाया—तदनन्तर च खलु स्वदारस तोषिकस्य पचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या तद्यथा—इत्वरिकपरिगृहीतागमनम, अपरिगृहीतागमनम, अनङ्ग क्रीडा, पर विवाहकरणम, कामभोगतीव्राभिलाप ।

शब्दार्थ—**तयाणतर च ण**—इसके अन तर **सदारसतोसिए**—स्वदारस तोष रूप व्रत के **पच अइयारा**—पाच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिए। **त जहा**—वे इस प्रकार हैं—**इत्तरियपरिग्गहियागमणे**—इत्वरिकपरिगहीतागमन **अपरिग्गहियागमणे**—अपरिगहीतागमन **अणगकीडा**—अनङ्गक्रीडा **परविवाहकरणे**—परविवाह करण **कामभोगतिव्वाभिलासे**—और कामभोगतीव्राभिलाप ।

भावार्थ—तदन तर स्वदार स तोषव्रत के पाच अतिचार जानने चाहिएँ। पर तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१ इत्वरिक परिगहीतागमन—कुछ समय के लिए पत्नी के रूप म स्वीकार की हुई स्त्री के साथ सहवास करना। २ अपरिगहीतागमन—अपरिगहीता अर्थात वेश्या कन्या विधवा आदि अविवाहिता स्त्री के साथ सहवास करना। ३ अनङ्गक्रीडा—अर्थात अप्राकृतिक मथुन। ४ पर विवाहकरण अपनी स तान एव स्वाश्रित कुटम्बियो के अतिरिक्त अन्य स्त्री पुरषो के विवाह करना पशुओ का परस्पर सम्ब ध करना तथा दूसरो को व्यभिचार मे प्रवत्त करना। ५ कामभोगतीव्राभिलाप—कामभोग या विषयतष्णा की उत्कटता।

टीका—श्रावक का प्रथम व्रत मानवता से सम्ब ध रखता है। दूसरा और तीसरा व्यवहार शुद्धि से और चौथा सामाजिक सदाचार से। यह व्रत दो प्रकार से अङ्गीकार किया जाता था—१ स्वदारस तोष के रूप म तथा २ परदार

विवर्जन के रूप मे। स्वदारसन्तोप के रूप मे ग्रहण करने वाला व्यक्ति अन्य समस्त स्त्रियो का परित्याग करता है और यह उत्तम कोटि का व्रत माना जाता है। द्वितीय अर्थात् परदार विवर्जन के रूप मे ग्रहण करने वाला व्यक्ति दूसरे की विवाहिता स्त्री के साथ सम्पर्क न करने का निश्चय करता है। आनन्द ने इसे प्रथम अर्थात् स्वदार सन्तोप के रूप में अङ्गीकार किया।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं--

(१) **इत्तरियपरिग्गहियागमणे**—(इत्वरिकपरिगृहीतागमन) इसका अर्थ कई प्रकार से किया जाता है—(१) थोडे समय के लिए पत्नी के रूप मे स्वीकार की गई स्त्री के साथ सहवास करना। (२) अल्पवयस्का पत्नी के साथ सहवास करना।* (३) इत्वरिक शब्द सस्कृत की 'इण्' गतौ धातु से बना है। इसका अर्थ है–चला जाने वाला, स्थायी न रहने वाला। गत्वर इसी का पर्याय है। यहाँ इत्वरिका या इत्वरी का अर्थ है जो स्त्री कुछ समय पश्चात् चली जाने वाली है। साथ ही परिगृहीता है अर्थात् जितनी देर रहेगी पत्नी मानी जाएगी और उस समय वह अन्य किसी के साथ सम्पर्क न रखेगी। प्रतीत होता है उन दिनो इस प्रकार की प्रथा रही होगी। आजकल भी बहुत से सम्पन्न व्यक्ति वेश्या, अभिनेत्री या किसी अन्य को कुछ काल के लिए अपने पास रख लेते हैं और उस समय उसका अन्य किसी के साथ सम्पर्क नही होता। यह भी व्रत का अतिचार है।

(२) **अपरिग्गहियागमणे**—(अपरिगृहीतागमन) अपरिगृहीता का अर्थ है--वह स्त्री जिस पर किसी का अधिकार नही है। काव्यशास्त्र मे तीन प्रकार की नायिकाओ का वर्णन है—(१) स्वीया—अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री। (२) परकीया अर्थात् दूसरे की विवाहिता पत्नी और सामान्या अर्थात् वेश्या आदि जिस पर किसी का अधिकार नही है। यहाँ अपरिगृहीता शब्द से तृतीय प्रकार लिया गया है।

(३) **अणङ्गकीड़ा**—स्वाभाविक अङ्गो से काम न लेकर काम-क्रीडा के लिए चर्म, रबर आदि के उपकरणो से काम लेना अथवा कामान्ध हो कर मुखादि से विपय वासना को शान्त करना या किसी स्वजातीय से सभोग करना। यह अतिचार चरित्र की दृष्टि से रखा है, इससे व्यभिचार को पोपण मिलता है, अतः गृहस्थ के जीवन की दुष्प्रवृत्ति है।

---

*पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज ने इसका अर्थ वाग्दत्ता के साथ सहवास करना भी किया है।

(४) परविवाहकरणे—गृहस्थ मे रहकर व्यक्ति को अपने परिवार के सदस्यो का विवाह-सस्कार करना ही पडता हैं इसके लिए गृहस्थी को इसकी छूट है। परन्तु इतर लोगो के रिश्ता-सम्बन्ध करवाना या उनको प्रेरित करना कि आपका लडका अथवा लडकी विवाह योग्य हो गए हैं इनकी शादी करदो। ऐसा करने से यदि लडके अथवा लडकी का आपस म अयोग्य सम्बन्ध हो जाए तो उसका रिश्ता कराने वाले को ही उपालम्भ मिलता है कि अमुक ने यह सम्बन्ध स्थापित किया है। इस लिए यह श्रावक व्रत का अतिचार है। अत गृहस्थ को ऐसे कार्य मे बचना चाहिए।

(५) काम भोग तिव्वाभिलासे—गहस्थ मे रहकर वेद को उपशमन करने के लिए विवाह सस्कार किया जाता है। परन्तु कामासक्त होकर किसी कामजनक औषध, वाजिकरण आदि का प्रयोग करना अथवा किसी मादक द्रव्य का आसेवन करना जिसस मानसिक अभिलाषाएँ तीव्र हो। इस प्रकार आचरण करना श्रावक के व्रत म अतिचार है।

इच्छा परिमाण व्रत के पाच अतिचार

मूलम्—तयाणतर च ण इच्छा परिमाणस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तजहा—खेत्तवत्थु पमाणाइक्कमे, हिरण्ण सुवण्ण-पमाणाइक्कमे, दुपय चउप्पय-पमाणाइक्कमे, धण धन्न पमाणाइक्कमे, कुविय-पमाणाइक्कमे ॥४५॥

छाया—तदनन्तर च खलु इच्छापरिमाणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, धन-धान्य प्रमाणातिक्रम द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम, कुप्यप्रमाणातिक्रम।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर समणोवासएण—श्रमणोपासक को इच्छापरिमाणस्स—इच्छापरिमाण व्रत के पचअइयारा—पाच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ त जहा—वे इस प्रकार हैं—खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे—क्षेत्र वास्तुप्रमाणातिक्रम हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे—हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम धणधन्नपमाणाइक्कमे—धनधान्यप्रमाणातिक्रम दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे—द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम कुवियपमाणाइक्कमे—कुप्यप्रमाणातिक्रम।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक को इच्छापरिमाण व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—१ क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम—खेत और गृह सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। २ हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम—सोना-चाँदी आदि मूल्यवान धातुओ की मर्यादा का उल्लङ्घन। ३ द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम—दास-दासी तथा पशु-सम्बन्धी मर्यादा का अतिक्रमण। ४ धनधान्यप्रमाणातिक्रमण—मणि, मुक्ता एव पण्य आदि धन तथा गेहूँ चावल आदि अनाज सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। ५. कुप्यप्रमाणातिक्रम—वस्त्र, पात्र, शय्या, आसन आदि गृहोपकरण सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन।

टीका—पांचवे अणुव्रत का नाम है—इच्छा परिमाण व्रत, इच्छा आकाश के तुल्य अनन्त है, उसकी कोई सीमा ही नही है, अत. उसे सीमित करना ही इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है। आशा, तृष्णा, इच्छा ये तीनो शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। इच्छा से ही परिग्रह का निर्माण होता है, अत इसे सीमित किए विना व्यक्ति इस व्रत का आराधक नही हो सकता। जो अपने पास कनक-कामिनी है या सचित्त अचित्त परिग्रह है, उस पर ममत्व करना। जो अप्राप्त वस्तु है उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा दौड-धूप करती है। गृहस्थावस्था मे इच्छा अनिवार्य उत्पन्न होती है। अणुव्रती श्रावक मे आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही इच्छा पैदा होती है, शेष इच्छाओ का निरोध हो जाता है, उस ससीम इच्छा से जो अप्राप्त की प्राप्ति होती है, उससे सग्रह बुद्धि पैदा होती है, सगृहीत पदार्थो पर ममत्व हो जाता है। अत सिद्ध हुआ परिग्रह तीन प्रकार का होता है। भगवान महावीर ने सग्रह और ममत्व रूप परिग्रह का गृहस्थ के लिए सर्वथा निषेध नही किया, सवसे पहले इच्छा को परिमित करने के लिए उपदेश दिया है, ज्यो-ज्यो इच्छा कम होती जाती है त्यो-त्यो संग्रह और ममत्व भी कम होता जाता है।

जो नि स्पृह मुनिवर होते हैं उनमे न सग्रह वुद्धि होती है और न ममत्व बुद्धि ही, अत सिद्ध हुआ परिग्रह का मूल कारण इच्छा ही है। जिसने इच्छा को सीमित कर दिया, उसके लिए यह अधिक श्रेय है कि जिन वस्तुओ पर ममत्व है, उनमे से प्रतिदिन शासनोन्नति, श्रुतसेवा, जनसेवा, सघसेवा, इत्यादि शुभ कार्यो मे न्याय-नीति से उपर्जित द्रव्य को लगाता रहे। अनावश्यक पदार्थो का सग्रह करना श्रावक के लिए निषिद्ध है। इच्छा को, सग्रह को, ममत्व को नित्यप्रति न्यून करते रहने

से देशसेवा राष्ट्रसेवा, सहानुभूति स्वकल्याण तथा परकल्याण स्वयमेव हो जाता है। दुःख क्लेश हैरानी परेशानी ये सब कुछ परिग्रह से सम्बन्धित हैं। मर्यादित वस्तुओं को घटाना नहीं और उनमें से भी घटाते रहना ये दोनों अपरिग्रहवाद के ही पहलू हैं। नौ प्रकार के परिग्रह की जैसी-जैसी जिसने मर्यादा की है उसका अतिक्रम न करना यह सन्तोष है, उसमें से भी न्यून करते रहना यह उदारता है। ये दोनों गुण सर्वोत्तम हैं। जैसे रोगों से शरीर दूषित हो जाता है वैसे ही अतिचारों से व्रत दूषित हो जाता है। अब इच्छापरिमाण व्रत के अतिचारों का विवेचन किया जाता है जैसे कि—

(१) खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे— *खेत्त का अर्थ है खेती करने की भूमि अर्थात्* श्रावक ने कृषि के लिए जितनी भूमि रखी है उसका अतिक्रमण करना अतिचार है। और 'वत्थु' का अर्थ है निवास के योग्य भवन उद्यान आदि जो श्रावक अपने उपयोग में लाता है उससे अधिक मकान हवेली अपने पास रखना अतिचार है।

(२) हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे—इसका अर्थ है—सोना चांदी आदि बहुमूल्य धातुएँ। मोहर रुपया आदि प्रचलित सिक्का भी इसी में आता है।

(३) दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे—द्विपद का अर्थ है—दो पैर वाले अर्थात् मनुष्य और चउप्पय का अर्थ है—चतुष्पद अर्थात पशु। यहां मनुष्य को भी सम्पत्ति में गिना गया है। उन दिनों दास प्रथा प्रचलित थी और मनुष्य भी सम्पत्ति के रूप में रखे जाते थे। *उनका क्रय विक्रय भी होता था।*

(४) धणधन्नपमाणाइक्कमे—इसमें मणि मुक्ता आदि रत्न जाति और पण्य विक्रेय वस्तुएँ धन हैं। और गेहूँ चावल आदि जितने भी अनाज हैं वे सब धान्य हैं।

(५) कुवियपमाणाइक्कमे—इसका अर्थ है—गृहोपकरण यथा शय्या आसन वस्त्र पात्र आदि घर का सामान इनके विषय में जो मर्यादा श्रावक ने की है उसका उल्लङ्घन करना अतिचार है। इस व्रत का मूल भाव इतना ही है कि गृहस्थ अपनी *आवश्यकता से अधिक न तो भूमि मकान आदि रखे न धन धान्य का संग्रह करे* और न ही मर्यादा से अधिक पशु आदि ही रखे। नैतिक दृष्टि से भी सब साधारण को उतनी ही सामग्री रखनी चाहिए जिससे जनता में अपवाद न हो और अपना कार्य भी सुचारु रूपेण चल सके।

दिग्व्रत के पाँच अतिचार--

मूलम्--तयाणंतरं च णं दिसिव्वयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा--उड्ढ-दिसि-पमाणाइक्कमे, अहो-दिसि-पमाणाइक्कमे, तिरिय-दिसि-पमाणाइक्कमे, खेत्त-वुड्ढी, सइअंतरद्धा ॥४६॥

छाया--तदनन्तरं च खलु दिग्व्रतस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा--ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रमः, अधोदिक्प्रमाणातिक्रमः, तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रमः, क्षेत्रवृद्धिः, स्मृत्यन्तर्धानम्।

शब्दार्थ--**तयाणंतरं च णं**--इसके अनन्तर **दिसिव्वयस्स**--दिग्व्रत के **पंच अइयारा**--पाँच अतिचार **जाणियव्वा**--जानने चाहिए, **न समायरियव्वा**--परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए **तं जहा**--वे इस प्रकार हैं--**उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे**--ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम, **अहोदिसिपमाणाइक्कमे**--अधोदिक्प्रमाणातिक्रम, **तिरियदिसिपमाणाइक्कमे**--तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम, **खेत्तवुड्ढी**--क्षेत्रवृद्धि, **सइअंतरद्धा**--और स्मृत्यन्तर्धान।

भावार्थ--इसके अनन्तर दिग्व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं--१ ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम--ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। २ अधोदिक्प्रमाणातिक्रम--नीचे की ओर दिशा सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। ३ तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम--तिरछी दिशाओ से सम्बन्ध रखने वाली मर्यादा का उल्लङ्घन। ४ क्षेत्रवृद्धि--व्यापार आदि प्रयोजन के लिये मर्यादित क्षेत्र से आगे बढना। ५ स्मृत्यन्तर्धान--दिशा मर्यादा की स्मृति न रखना।

टीका--पाँचवे इच्छापरिमाणव्रत मे परिग्रह सम्बन्धी मर्यादा की जाती है। प्रस्तुत व्रत मे व्यापार, सैनिक अभियान अथवा अन्य प्रकार के स्वार्थपूर्ण कार्यो के लिये क्षेत्र की मर्यादा की गई है। और उस मर्यादा का अतिक्रमण अतिचार माना गया है।

आनन्द ने जब व्रतो को स्वीकार किया उस समय इस व्रत का निर्देश नही

आया है। इसी प्रकार आगे बताए जाने वाले चार शिक्षापदो का निरूपण भी नही आया। सामायिक आदि शिक्षाव्रत समस्त जीवन के लिये नही होते। वे घडी, दो घडी या दिन रात आदि निश्चित काल के लिए होते हैं। सम्भवतया इसी कारण इनका अहिंसा, सत्य आदि यावज्जीवन सम्बन्धी व्रतो के साथ निर्देश नही आया। इसी प्रकार प्रतीत होता है आनन्द ने उस समय दिग्व्रत भी अङ्गीकार नही किया था। इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध विदेशो मे जाकर व्यापार करने वाले सार्थवाह आदि अथवा सैनिक अभियान करने वाले राजाओं के साथ है। आनन्द के पास यद्यपि सामान ढोने एवं यात्रा के लिए बैलगाडियां तथा नौकाएँ भी थी। फिर भी इस प्रकार का कोई निर्देश नही मिलता कि वह सार्थवाह के रूप मे स्वय व्यापार करने के लिए विदेशो मे जाया करता था। अत सम्भव है इस व्रत की तत्काल आवश्यकता न प्रतीत हुई हो।

यहा टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"दिग्व्रत शिक्षाव्रतानि च यद्यपि पूर्व नोक्तानि, तथापि तत्र तानि द्रष्टव्यानि। अतिचारभणनस्यान्यथा निरवकाशता स्यादिहेति। कथमन्यथा प्रागुक्त "दुवालसविह सावयधम्म पडिवज्जिस्सामि" इति, कथं वा वक्ष्यति "दुवालसविह सावगधम्म पडिवज्जइ" इति। अथवा सामायिकादीनामित्वरकालीनत्वेन—प्रतिनियतकालकरणीयत्वान्न तदैव तान्यसौ प्रतिपन्नवान्, दिग्व्रत च विरतेरभावात्। उचितावसरे तु प्रतिपत्स्यत इति भगवतस्तदतिचारवर्जनोपदेशनमुपपन्नम। यच्चोक्त 'द्वादशविध गृहिधर्म प्रतिपत्स्ये' यच्च वक्ष्यति "द्वादशविध श्रावकधर्म प्रतिपद्यते", तद्यथाकाल तत्करणाभ्युपगमादनवद्यमवसेयमिति।"

इसका भाव यह है कि—दिग्व्रत तथा शिक्षाव्रत यद्यपि पहिले नही कहे गए फिर भी उनका वहा अनुसधान कर लेना चाहिए। अन्यथा यहाँ अतिचारों का प्रतिपादन निरर्थक हो जाएगा। इसके बिना पूर्वोक्त 'मे बारह प्रकार के श्रावकधर्म का स्वीकार करूँगा' तथा आगे कहा जाने वाला 'बारह प्रकार के श्रावक धर्म का स्वीकार किया' ये कथन सगत नही होते। अथवा सामायिक आदि व्रत मर्यादित काल के लिए होते हैं और उन्हें उपयुक्त नियत समय पर ही ग्रहण किया जाता है। अत उस समय उन्हें ग्रहण नही किया। इसी प्रकार विरति का अभाव होने के कारण दिग्व्रत भी उस समय ग्रहण नही किया गया। फिर भी भविष्यकाल मे ग्रहण करेगा इस लिए उक्त व्रतो के अतिचारो का निरूपण करना भगवान ने आव

श्यक समझा। ऐसी स्थिति मे जो यह कहा गया कि 'बारह प्रकार के श्रावक धर्म को स्वीकार करूँगा' अथवा आगे आने वाला कथन कि 'उसने बारह प्रकार के श्रावम धर्म को स्वीकार किया' यथा समय व्रत अङ्गीकार करने की दृष्टि से समझना चाहिए। अत. इसमे किसी प्रकार की विसगति नही है।

उड्ढदिसि—यहाँ दो प्रकार का पाठ मिलता है। 'उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे' तथा 'उड्ढदिसाइक्कमे' दोनो का भावार्थ एक ही है। यहाँ भी अतिक्रम यदि इच्छा पूर्वक किया जाता है तो वह अनाचार है। ऐसी स्थिति मे व्रत टूट जाता है। अत. अनाभोग अर्थात् असावधानी के कारण होने वाला अतिक्रम ही अतिचार के अन्तर्गत है।

'खेत्तवुड्ढि'—इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं। **"एकतो योजन-शतपरिमाणमभिगृहीतमन्यतो दश योजनान्यभिगृहीतानि, ततश्च यस्यां दिशि दश योजनानि तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीयान्यानि दश योजनानि तत्रैव स्वबुध्या प्रक्षिपति, संवर्धयत्येकत इत्यर्थः। अयं चातिचारो व्रतसापेक्षत्वादव-सेयः।"** अर्थात् मान लीजिए किसी ने एक ओर सौ योजन तथा दूसरी ओर दस योजन की मर्यादा की है। उसे दस योजन वाली दिशा मे आगे बढने की आव-श्यकता हुई तो उसने सौ योजन वाली दिशा मे दस योजन कम करके उन्हें दस योजन वाली दिशा के साथ मिला दिया। इस प्रकार हेर-फेर करना 'खेत्तवुड्ढि' है।

'सइअन्तरद्धात्ति–इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—**"स्मृत्यन्तर्धा—स्मृत्यन्तर्धानं स्मृतिभ्रंशः। किं मया व्रतं गृहीतं, शतमर्यादया पञ्चाशन्मर्यादया वा, इत्येवमस्मरणे योजनशतमर्यादायामपि पञ्चाशतमतिक्रामतोऽयमतिचारोऽवसेय इति।"** अर्थात् 'स्मृत्यन्तर्धान' का अर्थ है व्रत मर्यादा का विस्मृत होना। इस प्रकार का सन्देह होना कि मैं ने सौ योजन की मर्यादा की है अथवा पचास योजन की? इस प्रकार विस्मृत होने पर पचास योजन का अतिक्रमण करने पर भी दोष लगता है। भले ही वास्तविक मर्यादा सौ योजन की हो।

उपभोगपरिभोग व्रत के अतिचार—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं उवभोग-परिभोगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—भोयणओ य, कम्मओ य, तत्थ णं भोयणओ समणोवासएणं पंच अइयारा**

जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा-सचित्ताहारे सचित्त-पडिबद्धाहारे, अप्प-उलिओसहि भक्खणया, दुप्पउलिओसहिभक्खणया' तुच्छोसहिभक्खणया। कम्मओ ण समणोवासएण पण्णरस कम्मादाणाइ जाणियव्वाइ, न समाय-रियव्वाइ, त जहा—इगाल कम्मे, वण कम्मे, साडी कम्मे, भाडी कम्मे, फोडी कम्मे, दत वाणिज्जे, लक्खा वाणिज्जे, रस वाणिज्जे, विस वाणिज्जे, केस वाणिज्जे, जत पोलण कम्मे, निल्लछण कम्मे, दवग्गि दावणया, सर-दह तलाय सोसणया, असई जण पोसणया ॥ ४७ ॥

छाया—तदनन्तर च खलु उपभोग परिभोगो द्विविध प्रज्ञप्त, तद्यथा—भोजनत कर्मतश्च, तत्र खलु भोजनत श्रमणोपासकेन पचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्या, तद्यथा—सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार, अपक्वौषधिभक्षणता, दुष्पक्वौषधिभक्षणता, तुच्छौषधिभक्षणता।

कर्मत खलु श्रमणोपासकेन पञ्चदश कर्मादानानि ज्ञातव्यानि न समाचरितव्यानि तद्यथा–१ अगारकर्म, २ वनकर्म, ३ शाकटिककर्म, ४ भाटीकर्म, ५ स्फोटन कर्म, ६ दन्त वाणिज्यम, ७ लाक्षा वाणिज्यम, ८ रस वाणिज्यम, ९ विष वाणिज्यम, १० केश वाणिज्यम, ११ यन्त्रपीडन कर्म १२ निर्लाञ्छन कर्म, १३ दावाग्निदापनम, १४ सरोह्रदतडाग शोषणम, १५ असतीजन पोषणम।

शब्दार्थ—तयाणतर च ण—इसके अनन्तर उवभोग परिभोगे—उपभोग परिभोग दुविहे—दो प्रकार का पण्णत्ते—कहा गया है त जहा—वह इस प्रकार है भोयणओ य कम्मओ य—भोजन से और कर्म से, तत्थ ण—उनमे भोयणओ—भोजन से अर्थात भोजन सम्बन्धी उपभोग परिभोग के पच अइयारा—पाँच अतिचार समणोवासएण—श्रमणोपासक को जाणियव्वा—जानने चाहिए न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ त जहा—वे इस प्रकार हैं—सचित्ताहारे—सचित्ताहार सचित्तपडिबद्धाहारे—सचित्तप्रतिबद्धाहार अप्पउलिओसहिभक्खणया अपक्व ओषधि–वनस्पति का खाना दुप्पउलिओसहि भक्खणया–दुष्पक्व ओषधि का खाना तुच्छोसहिभक्खणया—तुच्छ ओषधि का खाना, कम्मओण—कर्म से समणोवासएण—श्रमणोपासक को पणरस—पन्द्रह कम्मादाणाइ—कर्मादान जाणियव्वाइ—जानने चाहिएँ न समायरियव्वाइ—आचरण न करने चाहिए त जहा—वे इस प्रकार हैं—

इंगालकम्मे—अगारकर्म, वणकम्मे—वनकर्म, साडीकम्मे—शाकटिककर्म, भाडीकम्मे—भाटीकर्म, फोडीकम्मे—स्फोटीकर्म, दंतवाणिज्जे—दन्त वाणिज्य, लक्खवाणिज्जे—लाक्ष वाणिज्य, रसवाणिज्जे—रस वाणिज्य, विसवाणिज्जे—विष वाणिज्य, केसवाणिज्जे—केश वाणिज्य, जंतपीलणकम्मे—यन्त्रपीडन कर्म, निल्लछणकम्मे—निर्लाञ्छन कर्म, दवग्गिदावणया—दावाग्निदापन, सरदहतलाय सोसणया—सरोह्लदतडाग शोपण, असईजणपोसणया—असतीजन पोषण।

भावार्थ—तदनन्तर उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का निरूपण है, वह दो प्रकार का है—(१) भोजन से और (२) कर्म से। प्रथम भोजन सम्बन्धी उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) सचित्ताहार-सचित्त अर्थात् सजीव वस्तु खाना। (२) सचित्त प्रतिवद्धाहार—सजीव के साथ सटी हुई वस्तु खाना। (३) अपक्वौषधिभक्षणता-कच्ची वनस्पति अर्थात् फल शाक आदि खाना। (४) दुष्पक्वौषधिभक्षणता-पूरी न पकी हुई वनस्पति खाना। (५) तुच्छौषधिभक्षणता अर्थात् कच्ची मूँगफली आदि खाना।

कर्म सम्वन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के पन्दरह कर्मादान श्रावक को जानने चाहिएँ परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, वे इस प्रकार हैं—(१) अगार कर्म-कोयले बनाकर बेचना तथा जिनमे कोयलो का अधिक उपयोग करना पडे, ऐसे व्यापार करना। (२) वन कर्म—वन काटने का व्यापार। (३) शाकटिक कर्म—गाडी वगैरह बनाने तथा बेचने का व्यापार। (४) भाटी कर्म—गाडी वगैरह भाडे पर चलाने का व्यापार। (५) स्फोटी कर्म—जमीन खोदने तथा पत्थर आदि फोडने का व्यापार। (६) दन्त वाणिज्य—हाथी दाँत आदि का व्यापार। (७) लाक्षा वाणिज्य—लाख का व्यापार। (८) रस वाणिज्य—मदिरा आदि रसो का व्यापार। (९) विष वाणिज्य-सोमल आदि विषो का व्यापार। (१०) केश वाणिज्य—केशो का व्यापार। (११) यन्त्रपीडन कर्म—घानी कोल्हू आदि चलाने का व्यापार। (१२) निर्लाञ्छन कर्म—बैल आदि को बधिया करने का व्यापार। (१३) दावाग्निदापन—क्षेत्र साफ करने आदि के लिए जगल मे आग लगाने का व्यापार। (१४) सरोह्लद तडाग शोषण—सरोवर, झील तथा तालाब आदि को सुखाने का व्यापार। (१५) असतीजन पोषण-वेश्यादि दुराचारिणी स्त्रियो अथवा शिकारी कुत्ते बिल्ली आदि हिंसक प्राणियो को रख कर व्यभिचार अथवा शिकार आदि का व्यापार।

टीका—प्रस्तुत सूत्र म उपभोग-परिभोग व्रत के अतिचार बताए गए हैं और उन्हें दो भागों म विभक्त किया गया है—(१) भोजन की उपेक्षा से और (२) कर्म की उपेक्षा से। भोजन की अपेक्षा से—

(१) 'सचित्ताहारे'—इसका शब्दत अर्थ है-किसी भी सचित्त वस्तु का आहार करना किन्तु श्रावक के लिए सचित्त भोजन का सर्वथा त्याग अनिवार्य नहीं है, वह अपनी मर्यादा के अनुसार पानी, फल, आदि सचित्त वस्तुओं का सेवन कर सकता है। ऐसी स्थिति म यहाँ सचित्ताहार का अर्थ यही समझना चाहिए कि सचित्त वस्तुओं की जो मर्यादा स्वीकृत की है उसको अनाभोग अर्थात असावधानी के कारण उल्लङ्घन होना अथवा जिस व्यक्ति ने सचित्त वस्तुओं का पूर्णतया त्याग कर रखा है उसके द्वारा असावधानी के कारण नियमोल्लङ्घन होना। परन्तु जान बूझकर मर्यादा तोड़ने पर तो *अतिचार के स्थान पर अनाचार हो जाता है और व्रत टूट जाता है।* यहा टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"सचित्ताहारे' त्ति सचेतनाहार, पृथिव्यप्काय वनस्पति काय जीव शरीरिणा सचेतनानामभ्यवहरणमित्यर्थ, अयं चातिचार कृत सचित्ताहार प्रत्याख्यानस्य कृततत्परिमाणस्य वाऽनाभोगादिना प्रत्याख्यात सचेतन भक्षयतस्तद्वा प्रतीत्यातिक्रमादौ वर्त्तमानस्य।"

(२) सचित्तपडिबद्धाहारे—दूसरा अतिचार सचित्तप्रतिबद्धाहार है, इसका अर्थ है ऐसी वस्तु को खाना जो सचित्त के साथ सटी या लगी हुई है जैसे वृक्ष के साथ लगी हुई गोंद या आम खजूर आदि जहाँ केवल गुठली सचित्त होती है और गुद्दा, रस आदि बाहर का भाग अचित्त। यह अतिचार भी उसी व्यक्ति की दृष्टि से है *जिसने सचित्त वस्तुओं का परित्याग या मर्यादा कर रखी है।* इस पर *टीकाकार* के निम्नलिखित शब्द हैं—"सचित्तपडिबद्धाहारे त्ति सचित्ते वृक्षादौ प्रतिबद्धस्य गुन्दादेरभ्यवहरणम्, अथवा सचित्ते—अस्थिके प्रतिबद्धयत्पक्वमचेतन खर्जू फलादि तस्य सास्थिकस्य कटाहमचेतन भक्षयिष्यामीतरत्परिहरिष्यामि इति भावनया मुखे क्षेपणमिति, एतस्य चातिचारत्व व्रतसापेक्षत्वादिति।"

(३) अप्पउलिओसहि भक्खणया—(अपक्वौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है कच्चे फल या थोड़े पके हुए चावल चने (छोलिया) आदि खाना। यहा ओषधि के स्थान पर ओदन का पाठ भी मिलता है ओदन पके हुए चावलों को कहते हैं। यहा इसका अर्थ होगा—कच्चे या आधे पके हुए चावल खाना।

(४) दुप्पउलिओसहि-भक्खणया—(दुष्पक्वौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है देर में पकने वाली औषधियों को पकी जान कर कच्ची निकाल लेना और उनका सेवन करना।

(५) तुच्छोसहि-भक्खणया (तुच्छौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है ऐसी वस्तुओ को खाना जिनमे अधिक हिंसा होती हो, जैसे—चोलाई, खसखस आदि के दाने।

ऊपर बताये गये पांच अतिचार उपलक्षणमात्र हैं। श्रावक ने भोजन विषयक जो मर्यादा की है उनका असावधानी के कारण किसी प्रकार उल्लङ्घन होना, इस व्रत का अतिचार है। श्रावक के प्राय रात्रि भोजन का भी परित्याग होता है, अत तत्सम्बन्धी अतिचार भी उपलक्षणत्वेन इसी मे आ जाते हैं। यहां वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—"इह च पञ्चातिचारा इत्युपलक्षणमात्रमेवावसेयं यतो मधु-मद्य मांस रात्रिभोजनादि व्रतिनामनाभोगातिक्रमादिभिरनेके ते सम्भवन्तीति।"

पन्दरह कर्मादान—भोजन सम्बन्धी अतिचार बताने के पश्चात् शास्त्रकार ने कर्म सम्बन्धी अतिचार गिनाएँ हैं। उनकी संख्या १५ है। ये ऐसे कर्म हैं जिनमे अत्यधिक हिंसा होती है, अत वे श्रावक के लिए वर्जित हैं। कर्मादान शब्द का अर्थ है—ऐसे व्यापार जिनसे ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रबल बन्ध होता है। टीकाकार ने लिखा है—कर्माणि—ज्ञानावरणादीन्यादीयन्तेयैस्तानि कर्मादानानि, अथवा कर्माणि च तान्यादानानि च कर्मादानानि कर्महेतव इति विग्रहः।" इन कर्मा-दानो का सेवन श्रावक को न स्वय करना चाहिए न दूसरो से कराना चाहिए और न करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन-समर्थन ही करना चाहिए। इसके लिये भगवतीसूत्र मे नीचे लिखे अनुसार कहा गया है—

"किमंग पुण जे इमे समणोवासगा भवंति, जेसि नो कप्पंति इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं सय करेत्तए वा कारवेत्तए वा अन्न न समणुजाणेत्तए।"

वे पन्दरह कर्मादान निम्नलिखित हैं—

१. इंगाल कम्मे—(अङ्गार कर्म) कोयले बनाने का धन्धा करना अथवा भट्टा चलाना, ईंट पकाना आदि ऐसे धन्धे करना जिनमे आग और कोयलो का अत्यधिक उपयोग हो। यद्यपि सूत्रकार ने अगार कर्म से केवल कोयले बनाने का धन्धा ही

लिया है, फिर भी अत्यधिक हिंसा के कारण इंट पकाने आदि के धन्धे भी उसी म सम्मिलित कर लेने चाहिएँ, वत्तिकार ने इस पर नीचे लिखे अनुसार लिखा है—

'इङ्गाल कम्मे ति अङ्गार करणपूवकस्तद्विक्रय, एव यद्यदपि वह्नि समारम्भ पूवक जीवनमिष्टकाभाण्डकादिपाक रूप तदङ्गारकर्मेति ग्राह्य समान स्वभाव त्वात, अतिचारताचास्य कृततत्प्रत्याख्यानस्यानाभोगादिना अत्रव वतमानादिति, एव सवत्र भावना कार्य्या।"

कर्मादाना की अतिचारता इस आधार पर है कि परित्याग करने पर भी कर्भी अनाभोगादि क द्वारा उक्त कर्मों का आचरण कर लिया जाए। जान बूझ कर आचरण करने पर ता अनाचार ही माना जाता है।

२ वणकम्मे—(वनकम) एस धधे करना जिनका सम्ब ध वन या जगल के साथ हो वक्षा को काटकर लकडिया बचना बस्ती आदि के लिए जगल साफ करना अथवा जगल म आग लगाना आदि इसक अन्तगत हैं। वत्तिकार बीजपपण अर्थात चक्की चलाना आदि धन्धे भी इसम सम्मिलित किए है।

३ साडी कम्मे—(शकटकम) शकट अथात बैल गाडी रथ आदि बनाकर बचने का धधा।

४ भाडी कम्मे—(भाटीकम) पशु ऊंट अश्व आदि का भाटक भाडे पर देने का व्यापार करना।

५ फोडी कम्मे—(स्फाटीकम) खान खोदने पत्थर फोडने आदि का धधा करना।

६ दन्त वाणिज्जे—हाथी आदि के दाता का व्यापार करना उपलक्षण स चम आदि का व्यापार भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

७ लक्ख वाणिज्जे—(लाक्षावाणिज्य) लाख का व्यापार करना।

८ रस वाणिज्जे—(रसवाणिज्य) मदिरा आदि रसा का व्यापार करना। यद्यपि ईख एव फला क रस का भी व्यापार हाता है कि तु वह यहा नहीं लिया जाता। हिंसा एव दुराचार की दृष्टि स मदिरा आदि मादक रस ही वजनीय हैं।

९. विस वाणिज्जे—(विष वाणिज्य)—विविध प्रकार के विषो का व्यापार करना बन्दूक तलवार धनुप वाण, वारूद आदि हथियार एव हिंसक वस्तुएँ भी इसमे सम्मिलित हैं।

१०. केस वाणिज्जे—(केश वाणिज्य)—दास-दासी एव पशु आदि जीवित प्राणियो के क्रय-विक्रय का धन्धा करना। कुछ आचार्यो के मत मे चमरी आदि के वालो का व्यापार भी इसी मे सम्मिलित है। मोरपख तथा ऊन का व्यापार इस मे नही आता क्योकि उन्हे प्राप्त करने के लिए मोर और भेड आदि को मारना नही पडता। इसके विपरीत चमरी गाय के वाल उसे विना मारे नही प्राप्त होते।

११. जन्त पीलणकम्मे—(यन्त्र पीडन कर्म)—घाणी, कोल्हू आदि यन्त्रो के द्वारा तिल, सरसो आदि पीलने का धन्धा करना।

१२. निल्लंछण कम्मे—(निर्लाञ्छन कर्म)—वैल आदि को नपुसक वनाने अर्थात् खसी करने का धन्धा।

१३. दवग्गिदावणया—(दावाग्निदापन)—जगल मे आग लगाना। जगल की आग अनियन्त्रित होती है और उसके द्वारा तत्रस्थ अनेक त्रस जीवो का भी सहार होता है।

१४. सरदहतलाय सोसणया—(सरोह्रद तडाग शोषणम्)—तालाव, झील, सरोवर नदी आदि जलाशयो को सुखाना, इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

सरसः—स्वयं संभूत जलाशय विषेस्य, ह्रदस्य—नद्यादिषु निम्नतर प्रदेशलक्षणस्य तडागस्य—कृत्रिम जलाशयविशेषस्य परिशोषणं यत्तत्तथा, प्राकृतत्वात् स्वार्थिक ता प्रत्ययः 'सरदहतलाय परिसोसणया।"

यहाँ सर, ह्रद तथा तडाग मे नीचे लिखा भेद वताया गया है—

सर—ऐसा जलाशय, जो स्वय सभूत अर्थात् अपने आप निष्पन्न हो गया हो, इसे झील भी कहा जाता है।

ह्रद—नदी आदि का वह निम्नतर भाग, जहा पानी सचित हो जाता है।

तडाग—कृत्रिम जलाशय।

भगवती सूत्र की वृत्ति में भी यही बात कही गई है—"सरोह्रदतडाग परिशोषणता, तत्र सर —स्वभाव निष्पन्न, ह्रदो-नद्यादीना निम्नतर प्रदेश, तडाग-खननसम्पन्न-मुत्तानविस्तीर्ण जलस्थानम, एतेषा शोषण गोधूमादीना वपनार्थम ।"

१५ असई जणपोसणया—(असतीजनपोषणता) व्यभिचारवृत्ति के लिए वेश्या आदि को नियुक्त करना तथा शिकार आदि के लिए कुत्ते बिल्ली आदि पालना, इस अतिचार के विषय म भगवती सूत्र तथा उपासकदशाङ्गसूत्र की वृत्ति म इस प्रकार लिखा है—"असतीजनपोषणता असतीजनस्यपोषण तद्भाटिकोप जीवनाय यत्तत्तथा, एवमन्यदपि क्रूरकर्मकारिण प्राणिन तेषा पोषणमसतीजन पोषणमेवेति ।

'असई पोसणय' त्ति-दास्य पोषण तद्भाटी ग्रहणाय, अनेन च कुक्कट मार्जारादि क्षुद्रजीव पोषणमप्याक्षिप्त दृश्यमिति ।"

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र म उपरोक्त कर्मादानो का निरूपण नीचे लिखे शब्दो म किया है—

अङ्गार-वन शकट भाटक-स्फोट जीविका । दन्त लाक्षा रस-केश विष वाणिज्यकानि च ॥
यन्त्र-पीडा निर्लाञ्छन-मसतीपोषण तथा । दव-दान-सर शोष इति पञ्चदश त्यजेत ॥
अङ्गार भ्राष्ट्र करण कुम्भाय स्वर्णकारिता । ठठारत्वेष्टका पाकाविति ह्यङ्गार जीविका ॥
छिन्नाछिन्नवनपत्र-वनपत्र प्रसून फल विक्रय । कणाना दलनात पेषाद वृत्तिश्च वनजीविका ॥
शकटाना-तडागाना घटन खेटन-तथा । विक्रयश्चेति शकट-जीविका परिकीर्तिता ॥
शकटोक्षलुलायोष्ट खराश्वतर वाजिनाम । भारस्य वाहनाद वृत्तिभवद भाटक जीविका ॥
सर कूपादि खनन शिला कुट्टन कर्मभि । पृथिव्यारम्भ सम्भूतर्जीवन स्फोट जीविका ॥
दन्त-केश-नखास्थित्वग्रोम्णो ग्रहणमाकरे । त्रसाङ्गस्य वाणिज्याय दन्तवाणिज्यमुच्यते ॥
लाक्षामन शिला-नीली धातकी-टङ्कणादिन । विक्रय पापसदन लाक्षावाणिज्यमुच्यत ॥
नवनीत-वसा-क्षौद्र मद्यप्रभृति विक्रय । द्विपाच्चतुष्पाद विक्रया वाणिज्य रसकेशयो ॥
विषास्त्रहलयन्त्रायो हरितालादिवस्तुन । विक्रया जीवितघ्नस्य विषवाणिज्यमुच्येत ॥

भगवती सूत्र की वृत्ति ।

* उपासकदशाङ्ग की वृत्ति ।

तिलेक्षु सर्षपैरण्ड जल यन्त्रादिपीडनम् । दल तैलस्य च कृतियन्त्र पीडा प्रकीर्तिता ।।
नाना वेधोऽङ्कन मुष्कच्छेदनं पृष्ठ गालनम् । कर्ण कम्बल विच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरितम् ।।
सारिका शुकमार्जार-श्वकुर्कुट कलापिनाम् । पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषण विदु. ।।
व्यसनात् पुण्यबुद्धया वा दवदानं भवेद्द्विधा । सरः शोष. सर. सिन्धुह्रदादेरम्बुसंप्लव ।।

—योगशास्त्र—श्लोक ८८—११३ ।

हिंसा प्रधान होने के कारण उपरोक्त कर्म श्रावक के लिए वर्जित हैं, इसी प्रकार के यन्त्र कर्म भी इनमे सम्मिलित कर लेने चाहिएँ, वर्तमान युग मे हिंसा एवं शोषण के नए-नए साधन एव उपाय अपनाए जा रहे हैं इन सबका इन्ही मे अन्तर्भाव हो जाता है , व्रतधारी को वर्तमान परिस्थिति के अनुसार विचार कर लेना चाहिए ।

अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं अणट्ठदंडवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोगपरिभोगाइरित्ते ।। ४८ ।।**

छाया—तदनन्तर च खलु अनर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेन पचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा–कन्दर्प कौत्कुच्यं, मौखर्य्य, संयुक्ताधिकरणम्, उपभोगपरिभोगातिरेकः ।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च ण**—इसके अनन्तर **समणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **अणट्ठदण्डवेरमणस्स**—अनर्थदण्ड विरमणव्रत के **पंच अइयारा**—पाँच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ, **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**कंदप्पे**—कन्दर्प, **कुक्कुइए**—कौत्कुच्य, **मोहरिए**—मौखर्य, **संजुत्ताहिगरणे**—सयुक्ताधिकरण, **उपभोगपरिभोगाइरित्ते**—उपभोग परिभोगातिरेक।

भावार्थ—इसके अनन्तर अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ । वे इस प्रकार हैं १ कन्दर्प—कामोत्तेजक बाते या चेष्टाएँ करना । कौत्कुच्य—भांडो की तरह विकृत चेष्टाएँ करना ।

३ मौखर्य—झूठी शेखी मारना अथवा इधर उधर की व्यर्थ बात करना।

४ संयुक्ताधिकरण—हथियारों अथवा अन्य हिंसक साधनों का एकत्रित करना।

५ उपभोग—परिभोगातिरेक—उपभोग—परिभोग का निरर्थक बढ़ाना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में अनर्थदण्ड विरमण व्रत के अतिचार बताए गए हैं। अनर्थदण्ड का अर्थ है—ऐसे काम जिनसे अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता और दूसरे को हानि पहुँचती है जिन कार्यों से व्यर्थ ही आत्मा मलिन होता है वे भी अनर्थदण्ड में आते हैं।

(१) कन्दप्पे—(कन्दर्प) कन्दर्प का अर्थ है काम वासना। व्यर्थ ही काम वासना सम्बन्धी बातें अथवा चेष्टाएँ करते रहना कन्दर्प नाम का अतिचार है। गन्दी गालियाँ बकना शृंगारिक चेष्टाएँ करना अश्लील साहित्य का पढ़ना, तथा अन्य कामोत्तेजक बातें करना भी इसमें सम्मिलित हैं। यह अतिचार प्रमादाचरित कोटि में आता है क्योंकि यह एक प्रकार की मानसिक वाचिक अथवा कायिक शिथिलता है।

(२) कुक्कुइए—(कौत्कुच्यम) भाण्ड के समान मुँह नाक हाथ आदि की कुचेष्टाएँ करना यह भी प्रमादाचरित का अतिचार है। यदि चेष्टाएँ बुरी भावना के साथ की जाय तो इसका सम्बन्ध अपध्यानाचरित के साथ भी हो जाता है।

(३) मोहरिए—(मौखर्यम) मुखर का अर्थ है—बिना विचारे बढ चढ कर बातें करने वाला। प्राय धृष्टता या अहकार स प्रेरित होकर व्यक्ति ऐसा करता है। इसम मिथ्या प्रदर्शन की भावना उग्र होती है। यह अतिचार पाप कर्मोपदेश से सम्बन्ध रखता है।

(४) संजुत्ताहिगरणे—(संयुक्ताधिकरणम) अधिकरण का अर्थ है फरसा, कुल्हाडी मूसल आदि हिंसा के उपकरण इन उपकरणों को संग्रह करके रखना जिसमे आवश्यकता पडने पर तुरन्त उपयोग किया जा सके संयुक्ताधिकरण है। इस अतिचार से हिंसा का प्रोत्साहन मिलता है।

(५) उवभोग परिभोगाइरित्ते—(उपभोगपरिभोगातिरेक) श्रावक को खान, पान वस्त्र पात्र मकान आदि भोग्य सामग्री पर नियन्त्रण रखना चाहिए, और उन्हे

आवश्यकता से अधिक नहीं रखना चहिए। इन्हे अनावश्यक रूप से बढाना उपभोग—परिभोगतिरेक नाम का अतिचार है। इसका भी प्रमादाचरित के साथ सम्बन्ध है।

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सामाइयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तंजहा—मणदुप्पणिहाणे, वय दुप्पणिहाणे, काय दुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइअकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स-करणया ॥४९॥

छाया—तदनन्तरं च खलु सामायिकस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—मनोदुष्प्रणिधानं, वचोदुष्प्रणिधानं, कायदुष्प्रणिधानं, सामायिकस्य स्मृत्यकरणता सामायिकस्यानवस्थितस्य करणता।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर **ससमणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **सामाइयस्स**—सामायिक व्रत के **पंचअइयारा**—पाँच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरिव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**मणदुप्पणिहाणे**—मनोदुष्प्रणिधान, **वयदुप्पणिहाणे**—वचोदुष्प्रणिधान, **कायदुप्पणिहाणे**—कायदुष्प्रणिधान, **सामाइयस्स सइ अकरणया**—सामायिक का स्मृत्यकरणम्, **सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया**—सामायिक को अस्थिरतापूर्वक करना।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को सामायिक व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ। परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं १ मनो-दुष्प्रणिधान—मन का दुष्प्रयोग करना। २ वचोदुष्प्रणिधान—वचन का दुष्प्रयोग करना। ३. कायदुष्प्रणिधान—काय का दुष्प्रयोग करना। सामायिक का विस्मृत होना अथवा ४. सामायिक की अवधि का ध्यान न रखना। ५. अनवस्थित सामायिक करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना।

टीका—सामायिक का अर्थ है जीवन में समता या समभाव का होना, जीवन में विषमता राग तथा द्वेष के कारण आती है। अत इन्हें छोड़कर शुद्ध आत्म स्वरूप रमणता ही सामायिक है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यरूप हैं। स्वस्वरूपानुसन्धान से इन गुणों का उत्तरोत्तर विकास होता है। अत सामायिक से एक ओर रागद्वेष आदि विकृतियाँ शान्त होती हैं और दूसरी ओर ज्ञान दर्शन आदि गुणों की वृद्धि होती है। यहाँ वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"सामाइयस्स' त्ति समो—रागद्वेषवियुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति तस्य आय —प्रतिक्षणमपूर्वापूर्वज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निरुपमसुखहेतुभूतानामध कृत चिन्तामणिकल्पद्रुमोपमानां लाभ समाय स प्रयोजनमस्यानुष्ठानस्येति सामायिकम्।"

यह व्रत मुनि को समस्त जीवन के लिए होता है, श्रावक इसे कुछ समय अर्थात् प्रचलित परम्परा के अनुसार दो घड़ी—४८ मिनट के लिए अंगीकार करता है और उस समय समस्त सावद्य अर्थात् पापयुक्तक्रियाओं का परित्याग करता है। इस व्रत के निम्नलिखित अतिचार हैं—

(१) मणदुप्पणिहाणे (मनोदुष्प्रणिधान) सामायिक के समय घरेलू बातों का चिन्तन करना। शत्रु मित्र आदि का बुरा भला सोचना अथवा अन्य प्रकार से मन में राग-द्वेष सम्बन्धी वृत्तियों को लाना।

(२) वयदुप्पणिहाणे (वचोदुष्प्रणिधान) असत्य बोलना, दूसरे को हानि पहुँचाने वाले अथवा कठोर वचन कहना एवं सांसारिक बातें करना।

(३) कायदुप्पणिहाणे (कायदुष्प्रणिधान) ऐसी हलचल करना जिससे हिंसा की सम्भावना हो।

(४) सामाइयस्स सइ—अकरणया (सामयिकस्यस्मत्यकरणता) सामायिक करने के लिए निश्चित समय को भूल जाना अथवा सामायिक काल में यह भूल जाना कि मैं सामायिक में हूँ। यह अतिचार प्रमाद के कारण होता है।

(५) सामाइयस्स अणवट्ठियस्सकरणया (सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणता)—सामायिक के सम्बन्ध में अनवस्थित रहना अर्थात् कभी करना कभी न करना कभी अवधि से पहले ही उठ जाना आदि। उपरोक्त अतिचारों में प्रथम तीन का कारण मुख्यतया अनाभोग या असावधानी है और अन्तिम दो का प्रमाद। वृत्तिकार

के शब्द निम्नलिखित हैं—'सामाइयस्स सइ अकरणय' त्ति सामायिकस्य सम्बन्धिनी या स्मृति:–अस्यां वेलाया मया सामायिकं कर्त्तव्यं तथा कृतं तन्न वा इत्येवंरूपं स्मरणं, तस्या· प्रबलप्रमादतयाऽकरणंस्मृत्यकरणम्, 'अणवट्ठियस्स करणया' त्ति अनवस्थितस्य अल्पकालीनस्यानियतस्य वा सामायिकस्यकरण मनवस्थितकरणम्, अल्पकालकरणानन्तरमेवत्यजति यथाकथञ्चिद्वा तत्करोतीति भावः। इह चाद्यत्रयस्यानाभोगादिनातिचारत्वम् इतरद्वयस्य तु प्रमादबहुलतयेति।"

शास्त्रो मे मन के दस, वचन के दस तथा काया के बारह दोष बताए गए हैं जो सामायिक मे वर्जित है। वे निम्नलिखित है—

मन के दस दोष—

१. विवेक बिना सामायिक करे तो 'अविवेक दोष।'

२. यश कीर्ति के लिए सामायिक करे तो 'यशोवाँछा' दोष।

३ धनादिक के लाभ की इच्छा से सामायिक करे तो 'लाभवाँछा' दोष।

४. गर्व-अहंकार (घमड) सहित सामायिक करे तो 'गर्व' दोष।

५ राजादिक के भय से सामायिक करे तो 'भय' दोष।

६ सामायिक मे नियाणा (निदान) करे तो 'निदान' दोष। नियाणा या निदान का अर्थ है धर्म साधना के फलस्वरूप किसी अमुक भोग आदि की कामना करना।

७. फल मे सदेह रखकर सामायिक करे तो 'सशय' दोष।

८ सामायिक मे क्रोध, मान, माया, लोभ करे तो 'रोष' दोष।

९ विनयपूर्वक सामायिक न करे तथा सामायिक मे देव गुरु धर्म की अविनय आशातना करे तो 'अविनय दोष।

१० बहुमान—भक्तिभावपूर्वक सामायिक न करके वेगार समझ कर सामायिक करे तो 'अबहुमान' दोष।

वचन के दस दोष—

१. कुत्सित वचन बोले तो 'कुवचन दोष'।

२ बिना विचारे बोले तो 'सहसाकार' दोष।

३ सामायिक मे राग उत्पन्न करने वाले ससार सम्बन्धी गीत ख्याल आदि गाए तो 'स्वच्छन्द' दोष।

४ सामायिक म पाठ और वाक्य को सक्षिप्त करके बोले तो सक्षेप' दोष।

५ सामायिक म क्लेशकारी वचन बोले तो 'कलह दोष।

६ राजकथा देशकथा, स्त्रीकथा भोजनकथा, इन चार कथाओ मे से कोई कथा करे ता विकथा दोष।

७ सामायिक मे हँसी मसखरी ठट्ठा, होहल्ला कर ता 'हास्य' दोष।

८ सामायिक मे गडबड करके जल्दी जल्दी बोले या अशुद्ध पढे ता 'अशुद्ध दाष।

९ सामायिक मे उपयोग बिना बोले तो निरपेक्षा' दोष।

१० सामायिक में स्पष्ट उच्चारण न करके गुण-गुण बोले तो मम्मण दोष।

काय के बारह दोष—

१ सामायिक मे अयोग्य आसन से बठे तो कुआसन दोष। सहारा लेकर बठना पर पर पर रखकर बठना गव के आसन से बठना, लेटना आदि सामायिक म वर्जित है।

२ सामायिक मे स्थिर आसन से न बठना स्थान तथा आसन बदलते रहना अथवा अन्य प्रकार से चपलता प्रकट करना चलासन' दोष है।

३ सामायिक म दृष्टि स्थिर न रखना इधर उधर देखत रहना चलदृष्टि दोष है।

४ सामायिक म सावद्य अर्थात दोष युक्त काय करना सावद्य क्रिया दोष है घर की रखवाली करना कुत्ते बिल्ली को भगाना आदि सावद्य क्रियाएँ हैं।

५ सामायिक म दीवार आदि का सहारा लेकर बठ या खडा रहे तो आलबन' दोष हैं।

६ सामायिक म बिना प्रयोजन हाथ परादि सकोचे अथवा पसारे तो आकु चन-प्रसारण दोष।

७ सामायिक मे हाथ पैर आदि मोडे अथवा अंगडाई ले तो 'आलस' दोष।

८ सामायिक मे हाथ एव पैरो की अंगुलियो को चटकाए तो 'मोटन' दोष।

९ सामयिक मे मैल उतारे तो 'मल' दोष।

१० गले अथवा गाल पर हाथ लगा कर शोकासन से बैठे तो 'विमासण' दोष।

११ सामायिक मे नीद लेवे तो 'निद्रा' दोष।

१२ सामायिक मे विना कारण दूसरे से 'वैयावच्च' अर्थात् सेवा सुश्रूषा करावे तो 'वैयावृत्य' दोष है।

दसवाँ देशावकाशिक व्रत के अतिचार—

मूलम्—**तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहियापोग्गलपक्खेवे ॥५०॥**

छाया—तदनन्तरं च खलु देशावकाशिकस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः तद्यथा—आनयनप्रयोगः, प्रेष्यप्रयोगः, शब्दानुपातः, रूपानुपातः, बहिःपुद्गल प्रक्षेपः।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर **समणोवासएणं**—श्रमणोपासक को **देसावगासियस्स**—देशावकाशिक व्रतके **पंच अइयारा**—पाँच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ, **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**आणवणप्पओगे**—आनयन प्रयोग, **पेसवणप्पओगे**—प्रेष्य प्रयोग, **सद्दाणुवाए**—शब्दानुपात, **रूवाणुवाए**—रूपानुपात, **बहियापोग्गलपक्खेवे**—और बहि पुद्गल प्रक्षेप।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—(१) आनयन प्रयोग—मर्यादा भग करने वाले सदेशो द्वारा बाहर से कोई वस्तु मँगाना। (२) प्रेष्य प्रयोग बाहर से वस्तु मँगाने के लिए किसी व्यक्ति को भोजन। (३) शब्दानु-

पात—शाब्दिकसकेत द्वारा काम कराना। (४) रूपानुपात—आख आदि के इशारे से काम कराना। (५) वहि पुदगलप्रक्षेप बाहिर कोई वस्तु फेंककर काम कराना।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम है–देशावकाशिक व्रत इसका अर्थ है–अमुक निश्चित समय विशेष के लिए क्षेत्र की मर्यादा करना और इससे बाहर किसी प्रकार की सासारिक प्रवत्ति न करना। यह व्रत छठे दिग्व्रत का सक्षेप है, दिग्व्रत मे दिशा सम्बन्धी मयादा की जाती है किन्तु यह मर्यादा यावज्जीवन य लम्बे समय के लिए होती है और प्रस्तुत मर्यादा साधना के रूप मे दिन रात के या न्यूनाधिक समय के लिए की जाती है। भोगोपभोग परिमाण आदि अन्य व्रतो का प्रतिदिन अमुक काल तक किया जाने वाला सक्षेप भी इसी व्रत मे सम्मिलित है। टीकाकार के निम्न-लिखित शब्द हैं—

'देसावगासियस्स' त्ति दिग्व्रतगृहीतदिकपरिमाणस्यैकदेशो देशस्तस्मिन्नवकाशो-गमनादिचेष्टास्थान देशावकाशस्तेन निव त्त देशावकाशिक—पूर्वगृहीतदिग्व्रत सक्षेप-रूप सवव्रतसक्षेपरूप चेति।"

१ आनयन प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के अन्दर उपयोग के लिए मयादा क्षेत्र से बाहर के प्रदार्थो का दूसरे से मँगाना।

२ प्रेष्य प्रयोग—मर्यादा किए हुए क्षेत्र स बाहर के कार्यो का सपादन करने के लिए नौकर आदि भेजना।

३ शब्दानुपात—नियत क्षेत्र से बाहर का काय आने पर छीककर, खांस कर अथवा कोई शब्द करके पडोसी आदि को इशारा करके काय कराना।

४ रूपानुपात—नियत क्षेत्र से बाहर का काम करने के लिए दूसर को हाथ आदि का इशारा करना।

५ बहि पुदगलप्रक्षप—कक्ड पत्थर आदि फेंककर दूसरे को सकेत करना।

जन परम्परा म यह आवश्यक माना गया है कि साधक समय समय पर अपनी प्रवत्तिया का मर्यादित करने का अभ्यास करता रहे इसस जीवन मे अनुशासन तथा दृढता आती है प्रस्तुत व्रत इसी अभ्यास का प्रतिपादन करता है। समय विशेष के लिए की गई समस्त मर्यादाए इसके अन्तगत हैं।

पौषध व्रत के पाँच अतिचार--

मूलम्--**तयाणंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय सिज्जा-संथारे, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय सिज्जासंथारे, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमी, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमी, पोसहोवासस्स सम्मं अणणुपालणया ॥ ५१ ॥**

छाया--तदनन्तरं च खलु पौषधोपवासस्य श्रमणोपासकेन पंचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा-अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारकः, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारकः, अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखितोच्चार प्रस्रवण भूमिः, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवण भूमिः, पौषधोपवासस्य सम्यगननु पालनम् ।

शब्दार्थ--**तयाणंतरं च णं**--इसके अनन्तर **समणोवासएणं**--श्रमणोपासक को **पोसहोववासस्स**--पौपधोपवास के **पंच अइयारा**--पाच अतिचार **जाणियव्वा**--जानने चाहिएँ **न समायरियव्वा**--परन्तु आचरण न करने चाहिएँ **तं जहा**--वे इस प्रकार हैं--**अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सिज्जासथारे**--अप्रतिलेलित-दुष्प्रतिलेखित शय्या सस्तारक, **अप्पमिज्जयदुप्पयज्जिय सिज्जासंथारे**--अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-सस्तारक, **अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमि**--अप्रतिलेखित-दुष्प्रति-लेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि, **अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि**--अप्रमाजित-दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि, **पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया**--पौषधोपवास का सम्पमननुपावन ।

भावार्थ--इसके अनन्तर श्रमणोपासक को पौषधोपवास के पाच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए, वे अतिचार इस प्रकार हैं--(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासस्तार-विना देखे भाले अथवा अच्छी तरह देखे भाले विना शय्या का उपयोग करना । (२) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-सस्तार--पूँजे विना अथवा अच्छी तरह पूँजे बिना शय्यादि का उपयोग करना । (३) अप्रतिलेखित--दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि--विना देखे अथवा अच्छी

तरह देखे बिना शौच या लघुशका के स्थानो का उपयोग करना। (४) अप्रमाजित दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवण भूमि—बिना पूजे अथवा अच्छी तरह पूजे बिना शौच एव लघुशका के स्थानो का उपयोग करना। (५) पौषधोपवास का सम्यगननुपालन—पौषधोपवास को विधिपूर्वक न करना।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम पौषधोपवास व्रत है। पौषध का अर्थ है—उपाश्रय या धर्म स्थान और उपवास का अर्थ है अशन पान, खादिम तथा स्वादिम रूप चार प्रकार के आहार का त्याग। इस व्रत में उपवास के साथ सावद्यप्रवृत्तियो का भी त्याग किया जाता है और दिन रात के लिए घर से सम्बन्ध तोड दिया जाता है, व्रतधारी अपने सोने बैठने तथा शौच एव लघुशका आदि के लिए भी स्थान निश्चित कर लेता है। इस व्रत के अतिचारो में प्रथम चार का सम्बन्ध मर्यादित भूमि तथा शय्या आसनादि की देखरेख से है। व्रतधारी को इन्ह अच्छी तरह देख भाल कर बरतना चाहिए जिससे किसी जीव जन्तु की हिंसा न होने पाए।

इस व्रत में चार बातो का त्याग किया जाता है—

१ अशन पान आदि चारो आहारो का।

२ शरीर का सत्कार वेशभूषा, स्नानादि।

३ मैथुन।

४ समस्त सावद्य व्यापार।

इन चार बातो का मानसिक चिन्तन पाचवें अतिचार के अन्तर्गत है। वृत्तिकार का कथन है—"कृतपौषधोपवासस्यास्थिरचित्ततयाऽऽहारशरीरसत्काराब्रह्म व्यापाराणामभिलषणादननुपालना पौषधस्येति, अस्य चातिचारत्व भावतो विरतेर्बाधितत्वादिति।"

जैन परम्परा में द्वितीया पचमी अष्टमी एकादशी तथा चतुर्दशी को पर्व तिथियाँ माना गया है। उनमे भी अष्टमी और चतुर्दशी के दिन विशेष रूप से धर्माराधन किया जाता है। पौषधोपवास व्रत भी प्राय इन्ही पर किया जाता है।

यथासविभाग व्रत के पाच अतिचार—

मूलम्—तयाणतर च ण अहासविभागस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा—सचित्तनिक्खेवणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया ॥ ५२ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु यथासंविभागस्य श्रमणोपासकेन पंच अतिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा–सचित्तनिक्षेपणता, सचित्तपिधानम्, कालातिक्रमः, परव्यपदेशः, मत्सरिता।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर समणोवासएण—श्रमणोपासक को अहासविभागस्स—यथासविभाग व्रत के पंचअइयारा—पाँच अतिचार जाणियव्वा—जानने चाहिएँ न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—सचित्तनिक्खेवणया—सचित्तनिक्षेपण, सचित्तपेहणया—सचित्तपिधान, कालाइक्कमे—कालातिक्रम, परववएसे—परव्यपदेश, मच्छरिया—मत्सरिता।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को यथासविभाग व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं—(१) सचित्त-निक्षेपण—दान न देने के विचार से भोजन सामग्री को सचित्त वस्तुओ मे रख देना। (२) सचित्तपिधान—सचित्त वस्तुओ से ढक देना। (३) कालातिक्रम समय वीतने पर भिक्षादि के लिए आमन्त्रित करना। (४) परव्यपदेश—टालने के लिए अपनी वस्तु को दूसरे की वताना। (५) मत्सरिता—ईर्ष्यापूर्ण दान देना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे यथासविभाग व्रत के अतिचार वताए गए हैं, इसी का दूसरा नाम 'तिथि सविभाग व्रत' भी है। संविभाग का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से विभाजन। यथा शव्द का अर्थ है—उचित रूप से अथवा मुनि आदि चारित्र सम्पन्न योग्य पात्र के लिए अपने अन्न, पान, वस्त्र आदि मे से यथा शक्ति विभाजन करना अर्थात् उसे देना यथासविभाग या अतिथि सविभाग व्रत है। इस के अतिचारो में 'मुख्य वात दान न देने की भावना है। इस भावना से प्रेरित होकर किसी प्रकार की टालमटोल करना इस व्रत का अतिचार है। उपलक्षण के रूप मे उसके निम्न लिखित ५ प्रकार हैं—

(१) **सचित्त निक्खेवणया**—(सचित्तनिक्षेपण) दान न देने के अभिप्राय से अचित्त वस्तुओ को सचित्त धान्य आदि मे मिला देना अथवा कल्पनीय वस्तुओ मे सचित्त वस्तु मिला देना सचित्त निक्षेपण है। तात्पर्य यह है कि—सचित्त व्रीहि (तुप सहित चावल) आदि मे अगर अचित्त मिला देगे या अचित्त अन्न आदि में-

सचित्त चावल आदि मिला देंगे तो साधु ग्रहण नही करेंगे, ऐसी भावना करके सचित्त मे अचित्त और अचित्त मे सचित्त मिला देना सचित्तनिक्षेपण अतिचार है।

(२) सचित्तपेहणया—(सचित्तपिधान) इसी प्रकार पूर्वोक्त भावना से सचित्त वस्तु से अचित्त को और अचित्त से सचित्त को ढाक देना सचित्त पिधान अतिचार है।

(३) *कालाइक्कमे*—(*कालातिक्रम*) *अर्थात् समय का उल्लघन करना*, 'साधु का सत्कार भी हो जाए और आहार भी न देना पडे, ऐसी भावना से भोजनसमय को टालकर भिक्षा देने को तयार होना कालातिक्रम अतिचार है।

(४) परववएसे—(परव्यपदेश) न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी बताना।

(५) *मच्छरिया*—(*मत्सरिता*) *ईर्ष्यावश आहार आदि का देना, यथा अमुक ने* अमुक दान दिया है म इस से कोई कम नही हूँ इस भावना से देना। अथवा दान देने मे कजूसी करना मात्सर्य अतिचार है कोई कोई मत्सर का अर्थ क्रोध करते हैं, उनके मत से क्रोधपूर्वक भिक्षा देना मात्सर्य अतिचार है।

इसके विपरीत यदि आहारादि देवे ही नही या देते हुए को रोके अथवा देकर *पश्चात्ताप करे तो व्रत भग समझना चाहिए, कहा भी है*—

"ण देइ वारेइ य दिज्जामाण, तहेव दिन्ने परितप्पए य।
इयेरिसो जो किवणस्स भावो, भग्गो वये बारसगे इहेसो।।"

न ददाति वारयति च दीयमान तथैव दत्ते परितप्यते च।
इत्येतादृशो य कृपणस्य भाव, भङ्गो व्रते द्वादशके इहैव॥

स्वय न देना दूसरा देने लगे तो उसे मना करना अथवा देकर पछताना आदि से बारहवे व्रत का भग होता है।

सलेखना के पाँच अतिचार—

मूलम्—तयाणतर च ण अपच्छिममारणतियसलेहणाझूसणाराहणाए **पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा—इहलोगाससप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, जीवियाससप्पओगे, मरणाससप्पओगे, कामभोगासस-प्पओगे ।।५४।।**

छाया—तदनन्तरं च खलु अपश्चिममरणान्तिकसंलेखनाजोषणाऽऽराधनायाः पंच अतिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्यः, तद्यथा—इहलोकाशंसाप्रयोगः, परलोकाशंसाप्रयोगः, जीविताशंसाप्रयोगः, मरणाशंसाप्रयोगः, कामभोगाशंसाप्रयोगः।

शब्दार्थ—**तयाणंतरं च णं**—इसके अनन्तर **अपच्छिममारणंतिय संलेहणा-झूसणाराहणाए**—अपश्चिम मारणान्तिक-सलेखना जोषणा आराधना के **पंच अइयारा**—पाँच अतिचार **जाणियव्वा**—जानने चाहिएँ **न समायरियव्वा**—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ **तं जहा**—वे इस प्रकार हैं—**इहलोगासंसप्पओगे**—इस लोक के सुखो की अभिलाषा करना, **परलोगासंसप्पओगे**—परलोक के सुखो की अभिलाषा करना, **जीवियासंसप्पओगे**—जीविताशसाप्रयोग, **मरणासंसप्पओगे**—मरणाशसाप्रयोग, **काम-भोगासंसप्पओगे**—काम-भोगाशसाप्रयोग।

टीका—जैन धर्म के अनुसार जीवन अपने आप में कोई स्वतन्त्र एव अन्तिम लक्ष्य नही है, यह आत्म विकास का साधन मात्र है। अत साधक के लिए वह साधु हो या सद्गृहस्थ, आवश्यक माना गया है कि जब तक शरीर के द्वारा धर्मानुष्ठान होता रहे तब तक उसकी सही सार सभाल रखे। किन्तु रोग अथवा अशक्ति के कारण जब शरीर धर्म क्रियाएँ करने मे असमर्थ हो जाए, अथवा रोग आदि के कारण मन मे दुर्वलता आने लगे और विचार मलिन होने लगे तो उस समय यही उचित है कि शान्ति एव दृढता के साथ शरीर के सरक्षण का प्रयत्न छोड दिया जाए। इसके लिए साधक भोजन का त्याग कर देता है और पवित्र स्थान मे आत्मचिन्तन करता हुआ शान्तिपूर्वक आध्यात्मिक साधना के पथ पर अग्रसर होता है।

इस व्रत को सलेखना कहा जाता है, जिसका अर्थ है समस्त सासारिक व्यापारो का उपसहार। सूत्र मे इसके दो विशेषण हैं 'अपश्चिमा' और 'मारणान्तिकी'। अपश्चिमा का अर्थ है—अन्तिम अर्थात् जिसके पीछे जीवन का कोई कर्त्तव्य शेप नही रहता। मारणान्तिकी का अर्थ है—मरने तक चलने वाली। इस व्रत मे ऐहिक तथा पारलौकिक समस्त कामनाओ का परित्याग कर दिया जाता है, इतना ही नही जीवन मृत्यु की आकाँक्षा भी वर्जित है अर्थात् व्रतधारी न यह चाहता है कि जीवन कुछ समय के लिए लम्बा हो जाए और न व्याकुल हो कर शीघ्र मरना चाहता है।

वह शान्तचित्त होकर केवल आत्म चिंतन में लीन रहता है। यहां वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

'अपच्छिमे' त्यादि, पश्चिमैवापश्चिमा मरण—प्राणत्यागलक्षण तदेवान्तो मरणान्त तत्रवा मारणान्तिकी, सलिख्यते—कृशीक्रियते शरीरकषायाद्यनयेति सलेखना—तपोविशेषलक्षणा तत पदत्रयस्य कर्मधारय तस्या जोषणा—सेवना तस्या आराधना,—अखण्डकालकरणमित्यर्थ, अपश्चिममारणान्तिकसलेखना जोषणाराधना, तस्या।"

यहां सलेखना का अर्थ शरीर एव कषायों का कृश करना बताया गया है। इसके पश्चात जोषणा और आराधना शब्द लगे हुए हैं जोषणा का अर्थ है प्रीति या सेवन करना। यह सस्कृत की जुषी प्रीति सेवनयो से बना है। आराधना का अर्थ है जीवन मे उतारना। सलेखना के पाच अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) **इहलोगाससप्पओगे**—(इहलोकाशसाप्रयोग) ऐहिक भोगो की कामना अर्थात मरकर राजा धनवान या सुखी एव शक्तिशाली बनने की इच्छा।

(२) **परलोगाससप्पओगे**—(परलोकाशसा प्रयोग) स्वर्ग सम्बन्धी भोगो की इच्छा जसे कि मरने के पश्चात म स्वर्ग मे जाऊँ और सुख भोगू आदि।

(३) **जीवियाससप्पओगे**—(जीविताशसा प्रयोग) यश कीर्ति आदि के प्रलोभन अथवा मृत्यु भय के कारण जीने की आकाक्षा करना।

(४) **मरणाससप्पओगे**—(मरणाशसा प्रयोग) भूख प्यास अथवा अन्य शारीरिक कष्टो के कारण शीघ्र मरने की आकाक्षा ताकि इन कष्टो से शीघ्र ही छुटकारा हो जाए।

(५) **कामभोगाससप्पओगे**—(कामभोगाशसाप्रयोग) इस लोक या परलोक मे शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श आदि किसी प्रकार के इन्द्रिय विषय का भोगने की आकाक्षा करना अर्थात ऐसी भावना रखना कि अमुक पदार्थ की प्राप्ति हो।

अन्तिम समय म जीवन की समस्त आकाक्षाओ एव मोह ममता से निवृत्त होने के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस आत्महत्या कहना अनुचित है, आत्म हत्या म मनुष्य क्रोध शोक मोह दुःख अथवा किसी अन्य मानसिक आवेग स

अभिभूत होता है उसकी विचार शक्ति कुण्ठित हो जाती है और परिस्थिति का सामना करने की शक्ति न होने के कारण वह अपने प्राणो का अन्त करना चाहता है। किन्तु सलेखना मे जीने और मरने की आकाक्षा भी वर्जित है। चित्त शान्ति और तटस्थवृत्ति सलेखना का आवश्यक तत्त्व है, इसमे किसी प्रकार का आवेग या उन्माद नही रहता। इस प्रकार आत्म आलोचना और आत्म शुद्धिपूर्वक मृत्यु को जैन शास्त्रकार पडित मरण कहते हैं।

आनन्द द्वारा सम्यक्त्व-ग्रहण तथा शिवानन्दा को परामर्श--

मूलम्—**तएणं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—**

"नो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिय वा अन्नउत्थिय-देवयाणि वा अन्नउत्थिय परिग्गहियाणि चेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा, पुव्वि अणालत्तेण आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवयाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्ति-कंतारेणं। कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइ-मसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुञ्छणेणं, पीठफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणं य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए"—

—त्ति कट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, अभिगिण्हित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठाइं आदियइ, आदिइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ, वंदित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दुइ-पलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव वाणियग्गामे नयरे, जेणेव सएगिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिवनन्दं भारियं एवं वयासी--

"एव खलु देवाणुप्पिए ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्मे निसते से वि य धम्मे मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए, त गच्छ ण तुम देवाणुप्पिए ! समण भगव महावीर वदाहि जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए पचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय दुवालसविह गिहिधम्म पडिवज्जाहि" ॥ ५५ ॥

छाया—तत खलु स आनन्दो गाथापति श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अतिके पचाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध श्रावकधर्म प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत—

"नो खलु मे भदन्त ! कल्पते अद्यप्रभृति अन्य यूथिकान वा, अन्ययूथिक दैवतानि वा अन्ययूथिक परिगृहीतानि चैत्यानि वा वन्दितु वा नमस्कर्तु वा, पूर्वमनालप्तेन आलपितु वा, सलपितु वा, तेभ्योऽशन वा पान वा खाद्य वा स्वाद्य वा दातु वा अनुप्रदातु वा, नान्यत्र राजाभियोगात, गणाभियोगात, बलाभियोगात देवताभियोगात, गुरुनिग्रहात, वृत्तिकान्तारात। कल्पते मे श्रमणान निर्ग्रन्थान प्रासुकेन एषणीयेन अशन पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्रकम्बलपादप्रोञ्छनेन, पतदग्रह (प्रतिग्रह) पीठफलक शय्या सस्तारकेण, औषधभैषज्येण च प्रतिलाभयतो विहतु म।'

इति कृत्वा, इममेतदरूपमभिग्रहमभिगृह्णाति, अभिगृह्य प्रश्नान पृच्छति,पृष्ट्वाऽर्थानाददाति, आदाय श्रमण भगवन्त महावीर त्रिकृत्वो वन्दते, वन्दित्वा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकात दूतिपलाशात चैत्यात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य यत्रैव वणिग्ग्राम नगर यत्रैव स्वकगृह तत्रैव उपागच्छति उपागत्य शिवानन्दा भार्यामेवमवादीत

एव खलु देवानुप्रिये ! मया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मो निशान्त। सोऽपि च धर्मो ममेष्ट प्रतीष्टोऽभिरुचित तद गच्छ खलु त्व देवानुप्रिये ! श्रमण भगवन्त महावीर वन्दस्व यावत पर्युपास्स्व श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पचाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध गृहिधर्म प्रतिपद्यस्व।

शब्दार्थ—तएण—इसके अनन्तर से—वह आणदे—आनन्द गाहावई—गाथापति समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के अतिए—पास

पंचाणुव्वइयं—पाँच अणुव्रत रूप सत्तसिक्खावइयं—सात शिक्षाव्रत रूप दुवालसविहं —बारह प्रकार का सावयधम्म—श्रावकधर्म पडिवज्जइ—स्वीकार करता है। पडिवज्जिता—स्वीकार करके समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को वंदइ—वन्दना करता है, नमंसइ—नमस्कार करता है, वंदित्ता, नमंसित्ता—वदना नमस्कार करके एवं वयासी—इस प्रकार बोलता है—

भंते—हे भगवन् ! खलु—निश्चय रूप से मे—मेरे को नो कप्पइ—नही कल्पता है, अज्जप्पभिइं—आज से अन्नउत्थिय वा—निर्ग्रन्थ सघ के अतिरिक्त अन्य सघ वालो को अन्नउत्थियदेवयाणि वा—अन्य यूथिक देवो को अन्नउत्थियपरिग्गहियाणिचेइयाइं वा—तथा अन्य यूथिको द्वारा स्वीकृत चैत्यो को वदित्तए वा नमंसित्तए वा—वन्दना-नमस्कार करना पुव्वि अणालत्तेणं आलवित्तए वा सलवित्तए वा—उनके बिना बुलाए पहले स्वय ही बोलना अथवा वार्तालाप करना, तेसिं—उनको असणं वा—अशन पाणं वा—पान, खाइमं वा—खाद्य तथा साइमं वा—स्वाद्य दाउं वा—देना, अणुप्पदाउं वा—आग्रहपूर्वक पुन पुन देना नन्नत्थ—किन्तु वक्ष्यमाण आगारो के सिवाय रायाभिओगेणं—राजाभियोग से-राजा के आग्रह से गणाभिओगेण—गण के अभियोग से, बलाभिओगेणं—सेना के अभियोग से, देवयाभिओगेणं—देवता के अभियोग से, गुरुनिग्गेहेणं—गुरुजनो माता-पिता आदि के आग्रह से वित्तिकंतारेणं—और वृत्ति कान्तार से अर्थात् अरण्यादि मे वृत्ति के लिए विवश होने पर। कप्पइ मे—मुझे कल्पता है, समणे निग्गंथे—श्रमण-निर्ग्रन्थो को फासुएणं—प्रासुक एसणिज्जेणं—एषणीय असण पाण-खाइम-साइमेणं—अशन पान, खाद्य और स्वाद्य से वत्थकंबल पडिग्गहपाय पुञ्छणेणं—वस्त्र, कबल, पात्र, पादप्रोञ्छन, पीढफलगसिज्जासंथारएणं—पीढ, फलक, शय्या, सस्तारक ओसहभेसज्जेणं—तथा औषध भैषज्य के द्वारा पडिलाभेमाणस्स—उनका सत्कार करते हुए, (बहराते हुए) मे—मुझे विहरित्तए—विचरण करना, त्तिकट्टु—इस प्रकार कहकर इमं एयारूवं अभिग्गहं—आनन्द ने इस प्रकार का अभिग्रह अभिगिण्हइ—ग्रहण किया, अभिगिण्हित्ता—ग्रहण करके, पसिणाइं—प्रश्न पुच्छइ—पूछे, पुच्छित्ता—पूछकर, अट्ठाइं—भगवान के द्वारा कहे गए तथ्यो को आदियइ—ग्रहण किया, आदिइत्ता—ग्रहण करके, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर की तिक्खुत्तो—तीन बार वंदइ—वन्दना की वंदित्ता—वन्दना करके, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के

अतियाओ—पास से दुइपलासाओ चेइआओ—दुतिपलाश चैत्य से पडिणिक्खमइ—निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर जेणेव वाणियग्गामे नयरे—जिधर वाणिज्य ग्राम नगर था, जेणेव सए गिहे—जहा अपना घर था तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आए, उवागच्छित्ता—आकर सिवनद भारियं—शिवानन्दा भार्या को एव वयासी—इस प्रकार बोला—देवाणुप्पिए—हे देवानुप्रिये ! एव खलु—इस प्रकार निश्चय ही मए—मैंने समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अतिए—पास धम्मे—धम निसते—श्रवण किया है, सेवि य धम्मे—और वह धम मे—मेरे को इच्छिए—इष्ट है, पडिच्छिए—अतीव इष्ट है अभिरुइए—और अच्छा लगा है त—इसलिए देवाणुप्पिए—हे देवानुप्रिये ! तुम—तुम भी गच्छ ण—जाओ समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वदाहि—वन्दना करो, जाव—यावत पज्जुवासाहि—पयु पासना करो, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अतिए—पास पचाणुवइय—पाच अणुव्रत सत्तसिक्खावइय—सात शिक्षाव्रत रूप दुवालसविह गिहिधम्म—वारह प्रकार के गहस्थ धम को पडिवज्जाहि—स्वीकार करो ।

भावाथ—इसके पश्चात आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान महावीर के पास पाच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतरूप वारह प्रकार का श्रावक धम गहस्थ धम स्वीकार किया । भगवान् को नमस्कार करके वह इस प्रकार बोला—भगवन ! आज से मुझे निग्रन्थ सघ से इतर सघ वाला को अन्ययूथिक देवो को, अन्ययूथिको द्वारा परिगृहीत चत्यो को वन्दना नमस्कार करना नही कल्पता है इसी प्रकार उनके बिना बुलाए अपनी ओर से बालना, उनको गुरुबुद्धि से अशन, पान, खाद्य स्वाद्य देना तथा उनके लिए इस का आग्रह करना नही कल्पता है । परन्तु राजा के अभियोग से गण (सघ) के अभियोग से बलवान के अभियोग से, देवता के अभियाग से गुरुजन माता पिता आदि के आग्रह के कारण तथा वत्तिकान्तार (आजीविका के लिए विवश होकर) यदि कभी ऐसा करना पडे, तो आगार है मुझे निग्रन्थ श्रमणो को प्रासुक एषणीय अशन पान खाद्य, स्वाद्य वस्त्र पात्र कबल, पादप्रोन्छन पीठ, फलक शय्या सस्तार, औषध भषज्य देकर उनका सत्कार करते हुए विचरण करना कल्पता है ।

आनन्द ने उक्त रीति से अभिग्रह धारण किया, और श्रमण भगवान महावीर को तीन वार वन्दना की। भगवान के पास से उठकर दूतिपलाश चैत्य से बाहर निकला और अपने घर पहुँचा। अपनी शिवानन्दा नामक पत्नी से इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रिये! आज मैने श्रमण भगवान महावीर से धर्म श्रवण किया। वह मुझे अतीव इष्ट एव रुचिकर लगा। देवानुप्रिये! तुम भी जाओ, भगवान की वन्दना करो, यावत् पर्युपासना करो और श्रमण भगवान महावीर से पाँच अणुव्रत सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ का धर्म स्वीकार करो।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे तीन बाते हैं—(१) आनन्द गाथापति द्वारा व्रत ग्रहण का उपसहार। (२) उसके द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण अर्थात् जैन धर्म मे दृढ श्रद्धा का प्रकटीकरण और (३) अपनी पत्नी को व्रत ग्रहण के लिए भगवान महावीर के पास जाने का परामर्श।

यहाँ गृहस्थ धर्म को पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप मे प्रकट किया गया है। अणुव्रत का अर्थ है छोटे व्रत। मुनि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का पूर्णतया पालन करता है, अत उसके व्रत को महाव्रत कहा जाता है। श्रावक या गृहस्थ अहिंसा आदि व्रतो का पालन मर्यादित रूप मे करता है, अत महाव्रतों की तुलना मे उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे बारह व्रतो का विभाजन पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप मे किया गया है अन्यत्र यह विभाजन पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत के रूप में भी मिलता है। छठा दिग्व्रत, सातवाँ उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत तथा आठवाँ अनर्थदण्ड विरमण व्रत, गुण व्रत मे सम्मिलित किए जाते हैं।

अणुव्रतो का सम्बन्ध मुख्यतया नैतिकता एव सदाचार के रूप में आत्म शुद्धि से है, और शिक्षाव्रतो का उद्देश्य उक्त आत्म शुद्धि को अधिकाधिक विकसित करना है। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं।

पतञ्जलि ने अपने योग सूत्र मे अहिसादि व्रतो को यम शब्द से प्रकट किया है और उन्हे अष्टागिक योग मार्ग का प्रथम सोपान अथवा मूलाधार माना है। इनके विना योग अथवा आध्यात्मिक विकास सभव नही है। उसने इन्हे अपनी परिभाषा विशेष के अनुसार महाव्रत भी कहा है, पतञ्जलि के अनुसार अहिसादिक व्रत सार्व-

भौम होते हैं वे देश काल और परिस्थिति की मर्यादा से परे होते हैं अर्थात् जब उनका पालन प्रत्येक स्थिति मे अपेक्षित होता है तब उन्हे सार्वभौम महाव्रत कहा जाता है।

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग के अन्तिम चार अग मुख्यतया आत्मशुद्धि के साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनकी तुलना शिक्षा व्रतो के साथ की जा सकती है, पचम अग प्रत्याहार का अर्थ है—मन तथा इन्द्रियो को बाह्य विषयो से हटाकर आत्मा की ओर उन्मुख करना, यह एक प्रकार से समभाव साधना रूप सामायिक का ही प्रकारान्तर है। धारना, ध्यान और समाधि रूप अन्तिम तीन अगो मे मन की एकाग्रता या निरोध पर बल दिया गया है और इन तीनो को सयम शब्द से प्रकट किया है। यह भी मन को बाह्य प्रवृत्तियो से रोक कर आत्म चिन्तन म स्थिर करने का अभ्यास है फलत कुछ विद्वान इन्हे भी जैन सामायिक का ही एक परिवर्तित रूप मानते हैं, शेष व्रत उसी के पोषक हैं।

जैन परम्परा मे तप के बारह भेद किए गए हैं, उनमे प्रथम छह बाह्य तप हैं और शेष छह आभ्यन्तर तप, योग के अन्तिम चार अग और आभ्यन्तर तप के छह भेदो मे बहुत समानता है।

सूत्र म दूसरी बात आनन्द द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण अथवा अपनी श्रद्धा के प्रकटीकरण की है, वह घोषणा करता है—भगवन! आज से अन्ययूथिक देव तथा अन्ययूथिको द्वारा परिगृहीत चैत्यो को वन्दना नमस्कार करना, उनसे परिचय बढाना, उनके बिना बुलाए अपनी ओर से बोलना मेरे लिए वर्जित है। उन्हे धर्मबुद्धि से अशन पान आदि किसी प्रकार का आहार अथवा वस्त्र पात्र आदि का दान देना भी वर्जित है। परन्तु उन पर अनुकम्पा बुद्धि से देने का निषेध नही है। यहाँ कई बात विचारणीय हैं उस चर्चा मे जाने से पूर्व वृत्तिकार के शब्द उद्धृत करना उचित होगा—"अन्ययूथिकेभ्योऽशनादि दातु वा सकृत, अनुप्रदातु वा पुन पुनरित्यर्थ, अय च निषेधो धर्मबुद्धयैव, करुणया तु दद्यादपि।"

श्रावक का इतर धर्मावलम्बियो के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए यहाँ इस बात की चर्चा की गई है उन्हे वन्दना नमस्कार करना, उनके साथ सलाप करना तथा उन्हे भोजन वस्त्रादि दान देना आनन्द अपने लिए वर्जित मानता है किन्तु यह निषेध धर्मबुद्धि या आध्यात्मिक दृष्टि से है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह

अपने स्वीकृत मार्ग पर दृढ विश्वास रखे और उस से विचलित न हो, उस मार्ग के तीन अग हैं–(१) आदर्श, (२) पथप्रदर्शक, (३) पथ। इन्ही को देव, गुरु और धर्म शब्द से प्रकट किया जाता है। देव आदर्श का कार्य करते हैं और उस लक्ष्य को अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत करते हैं जहाँ साधक को पहुँचना है। गुरु उस पथ को अपने जीवन एव उपदेशो द्वारा आलोकित करते हैं और उस पथ का नाम धर्म है। प्रस्तुत सूत्र मे अन्य यूथिक शब्द से इतर मतावलम्बी धर्म गुरुओ का निराकरण किया गया है। यह बताने की आवश्यकता नही है कि विभिन्न विचारधारा के आग्रही धर्म गुरुओ के सकेत पर आँख मून्द कर चलने वाला या उनकी बातो को महत्व देने वाला साधक आत्म शुद्धि के विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकता। दूसरे पद द्वारा अन्य देवो का निराकरण किया गया है। और तीसरे द्वारा अन्यमतीय एव स्थानो का। जहाँतक लौकिक व्यवहार परस्पर सहायता एव अनुकम्पा दान का प्रश्न है उनका इस पाठ से कोई सबध नही है, इसी लिए आचार्य अभयदेव ने इस पाठ की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—**"अयं च निषेधो धर्म बुद्धचैव, करुणया तु दद्यादपि।"**

'अन्नउत्थिय परिग्गहिआइं' के पश्चात्–**'चेइआइं'** या **अरिहतं चेइआइं'** पाठ मिलता है और चैत्य शब्द का अर्थ मन्दिर या मूर्ति किया जाता है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—वे जिन मन्दिर या जिनप्रतिमाएँ जिन पर दूसरो ने अधिकार कर लिया है, किन्तु यह अर्थ ठीक नही बैठता। इसके दो कारण हैं, पहली बात यह है कि जैन परम्परा इस बात को नही मानती कि दूसरे द्वारा स्वीकृत होने मात्र से मन्दिर या धर्म स्थान भ्रष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि प्रतिमा के साथ अलाप, सलाप तथा अशन, पान आदि देने का सम्बन्ध नही बैठता। यहाँ चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान या धार्मिक मर्यादाएँ है।

इसके विभिन्न अर्थो को प्रकट करने के लिए प्रामाणिक ग्रन्थो से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं, रायपसेणीय सूत्र की टीका में मलयगिरि ने नीचे लिखा अर्थ किया है—**चेइयं—चैत्यं प्रशस्त मनोहेतुत्वात्**, भगवान् प्रशस्त होने के कारण चैत्य हैं। पद्मचन्द्र कोप के १५१ पृष्ट पर चैत्य शब्द के निम्नलिखित अर्थ किए हैं—

चैत्य (न०) चित्याया इदम् अण्। गॉव आदि मे प्रसिद्ध महावृक्ष, देवता के पास का वृक्ष, बुद्ध भेद, मन्दिर, जनसभा, यज्ञ का स्थान, लोगो के विश्राम की जगह, देवता का स्थान, विम्व।

दिगम्बर परम्परा मे मूल सघ के प्रवर्तक श्रीमत कु दकु दाचाय ने अपने अष्टपाहुड ग्र थ मे चत्य शब्द का अथ साधु किया है, ये गाथाएँ तथा उनकी वचनिका निम्नलिखित है—

"बुद्ध ज वोहतो अप्पाण चेदयाइ अण्ण च ।
पच महव्वय सुद्ध णाणमय जाण चेदिहर ।।"
बुद्ध यत बोधयन आत्मान चत्यानि अयत च ।
पच महाव्रत शुद्ध ज्ञानमय जानीहि चत्यगहम ।।

वचनिका—जो मुनि बुद्ध कहिए ज्ञानमयी ऐसी आत्मा ताहि जानता होय बहुरि अय जीवनकू चैत्य कहिए चेतना स्वरूप जानता होय बहुरि आप ज्ञानमयी होय बहुरि पाच महाव्रतनिकरि शुद्ध होय निमल होय ता मुनिकू हे भव्य चत्य गह जानि ।

भावाथ—जामें आपा पर का जानने वाला ज्ञानी नि पाप निमल ऐसा चत्य कहिए चेतना स्वरूप आत्मा वैसे सो चत्य गह है सो ऐसा चत्यगह सयमी मुनि है । अ य पाषाण आदि का मदिरकू चत्य गह कहना व्यवहार है ।

आगे फेरि कहै है—

"चेइय बध मोक्ख दुक्ख सुक्ख च अप्पय तस्स ।
चेइहर जिणमग्गे छक्कायहियकर भणिय ।।"
चत्य बध मोक्ष दु ख सुख आत्मक तस्य ।
चत्य गह जिन मार्गे षटकायहितकर भणितम ।।

वचनिका—जाक बध अर मोक्ष बहुरि सुख अर दु ख ये आत्मा के होय जाक स्वरूप मे होय सो चत्य कहिए जाते चेतना स्वरूप होय ताहीक बध मोक्ष सुख दु ख सभव ऐसा जो चत्य का गह होय सो चत्यगह है । सो जिन माग विष ऐसा चत्य गह छह काय का हित करने वाला होय सो ऐसा मुनि है सो पाँच थावर अर त्रस मे विकलत्रय अर असनी पचेन्द्रियताई केवल रक्षा ही करने योग्य है तात तिनिकी रक्षा करने का उपदेश कर है तथा आप तिनिका घात न कर है तिनिका यही हित है बहुरि सनी पचेन्द्रिय जीव हैं तिनी की रक्षा भी कर है रक्षा का उपदेश भी कर है

तथा तिनिकू ससार तै निवृत्त रूप मोक्ष होने का उपदेश करै है ऐसे मुनिराजकू चैत्यगृह कहिए।

भावार्थ—लौकिकजन चैत्यगृह का स्वरूप अन्यथा अनेक प्रकार माने हैं तिनिकूँ सावधान किए हैं—जो जिन सूत्र मे छह काय का हित करने वाला ज्ञानमयी सयमी मुनि है सो चैत्यगृह है, अन्यकूँ चैत्यगृह कहना मानना व्यवहार है, ऐसे चैत्यगृह का स्वरूप कह्या।

इन गाथाओ से सिद्ध होता है कि चैत्य शब्द ज्ञान और साधु का वाचक है। इसलिए इस स्थान पर उक्त दोनो अर्थ सगत होते हैं। चाहे जैन साधु ने परदर्शन की श्रद्धा ग्रहण की हो चाहे परदर्शन वालो ने अपने वेप को न छोडते हुए जैन ज्ञान ग्रहण किया हो यह दोनो श्रावक के वन्दन करने योग्य नही हैं। इनसे सगति करने वालो को मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। इसलिये इनके साथ विशेप परिचय हानिकारक है। दान का निपेध धर्मबुद्धि से किया गया है न कि करुणाभाव से, कारण के पड़ जाने पर षट् कारण ऊपर कथन किये जा चुके हैं जैसे कि राजा आदि के अभियोग से इत्यादि।

जिन प्रतिमा और जिन विम्व का स्वरूप जो श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य ने किया है वह भी पाठको के देखने योग्य है—

"सपरा जंगम देहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥"

स्वपरा जगमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम्।
निर्ग्रन्थ वीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥

वचनिका—दर्शन ज्ञान करि शुद्ध निर्मल है चारित्र जिनकै तिनिकी स्वपरा कहिये अपनी अर पर की चालती देह है सो जिन मार्गविपै जगम प्रतिमा है, अथवा स्वपरा कहिये आत्मा तै पर कहिये भिन्न है ऐसी देह है, सो कैसी है—निर्ग्रन्थ स्वरूप है, जाके किछू परिग्रह का लेश नाही, ऐसी दिगम्वरमुद्रा, वहुरि कैसी है—वीतरागस्वरूप है जाकै काहू वस्तुसौ राग द्वेष मोह नाही, जिन मार्ग विपै ऐसी प्रतिमा कही है। दर्शन ज्ञान करि निर्मल चारित्र जिनकै पाइये ऐसे मुनिनिकी गुरु शिष्य अपेक्षा अपनी तथा

परको चालतो देह निग्र न्थ वीतरागमुद्रा स्वरूप है सो जिन मार्ग विष प्रतिमा है अन्य कल्पित है अर धातु पाषाण आदि करि दिगम्बर मुद्रा स्वरूप प्रतिमा कहिये सो व्यवहार है सो भी बाह्य प्रकृति ऐसी ही होय सो व्यवहार मे मान्य है।

आगे फेरि कहै है—

"जं चरदि सुद्ध चरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सा होई वंदणीया णिग्गंथ संजदा पडिमा ।।"

य चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम ।
सा भवति वन्दनीया निग्रन्था संयता प्रतिमा ।।

वचनिका—जो शुद्ध आचरणकूं आचरै बहुरि सम्यग्ज्ञान करि यथार्थ वस्तुकूं जानै है बहुरि सम्यग्दर्शनकरि अपने स्वरूपकूं देखै है ऐसै शुद्ध सम्यक्त्व जाकै पाइये है ऐसी निग्रन्थ संयम स्वरूप प्रतिमा है सो वंदिवे योग्य है।

भावार्थ—जाननें वाला देखने वाला शुद्ध सम्यक्त्व शुद्ध चारित्र स्वरूप निग्रन्थ संयम सहित मुनि का स्वरूप है सो ही प्रतिमा है सो ही वंदिवे योग्य अन्य कल्पित वंदिवे योग्य नाहि है बहुरि तैसे ही रूप सदृश धातु पाषणकी प्रतिमा होय सो व्यवहार करि वंदिवे योग्य है।

आगे फेरि कहै है—

"दंसण अणंत णाणं अणंतवीरिय अणंत सुक्खा य ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठ बंधेहिं ।।
णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण ।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसर पडिमा धुवा सिद्धा ।।"

दर्शनम अनन्तज्ञानं अनन्तवीर्या अनन्तसुखा च ।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ता कर्माष्टकबंधै ।।
निरुपमा अचला अक्षोभा निर्मापिता जंगमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिता व्युत्सर्ग प्रतिमा ध्रुवा सिद्धा ।।

वचनिका—जो अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान अनन्तवीर्य अनन्तसुख इनि करि-सहित है बहुरि शाश्वता अविनाशी सुख स्वरूप है बहुरि अदेह है कर्म नोकर्मरूप

पुद्गलमयी देह जिनकै नाहीं है, बहुरि अष्टकर्म के बंधन करि रहित है, बहुरि उपमा करि रहित है, जाकी उपमा दीजिये ऐसा लोक में वस्तु नांहीं है, बहुरि अचल है प्रदेशनिका चलना जिनकै नाहीं है बहुरि अक्षोभ है जिनिकै उपयोग में किछु क्षोभ नाहीं है निश्चल है, बहुरि जंगमरूप करि निर्मित है कर्मतें निर्मुक्त हुये पीछे एक समय मात्र गमनरूप होय है, तातें जंगम रूपकरि निर्मापित है, बहुरि सिद्धस्थान जो लोक का अग्रभाग ता विषै स्थित है याही तें व्युत्सर्ग कहिये कायरहित है जैसा पूर्व देह में आकार था तैसा ही प्रदेशनिका आकार किछू घाटि ध्रुव है, संसार तें मुक्त होय एक समय गमन करि लोक कै अग्रभाग विषै जाय तिष्ठै पीछै चलाचल नाही है ऐसी प्रतिमा सिद्ध है।

भावार्थ—पहलें दोय गाथा में तो जंगम प्रतिमा संयमि मुनिनिकी देह सहित कही, बहुरि इनि दोय गाथानि में थिर प्रतिमा सिद्धनिकी कही ऐसें जंगम थावर प्रतिमा का स्वरूप कह्या अन्य केई अन्यथा बहुत प्रकार कल्पै है सो प्रतिमा वंदिवे योग्य नाही है।

आगें जिनबिंब का निरूपण करै हैं—

"जिणबिंब णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खय कारणे सुद्धा॥"

जिनबिंब ज्ञानमय संयमशुद्ध सुवीतराग च।
यत् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षय कारणे शुद्धे॥

वचनिका—जिनबिंब कैसा है ज्ञानमयी है अर संयम करि शुद्ध है बहुरि अतिशय करि वीतराग है बहुरि जो कर्म का क्षय का कारण अर शुद्ध है ऐसी दीक्षा अर शिक्षा दे है।

भावार्थ—जो जिन कहिए अरहंत सर्वज्ञ का प्रतिबिंब कहिए ताकी जायगा तिस की ज्यौं मानने योग्य होय, ऐसे आचार्य हैं सो दीक्षा कहिए व्रत का ग्रहण अर शिक्षा कहिए व्रत का विधान बतावना ये दोऊ कार्य भव्य जीवनि कूं दे है, यातें प्रथम तौ सो आचार्य ज्ञानमयी होय जिन सूत्र का जिनकूं ज्ञान होय ज्ञान विना दीक्षा शिक्षा कैसे होय अर आप संयम करि शुद्ध होय ऐसा न होय तौ अन्य

कूं नी सयम शुद्ध न करावे, बहुरि अतिशय करि वीतराग न होय ता कषायसहित होय तब दीक्षा शिक्षा यथाय न दे, या ते ऐसे आचाय कूं जिन के प्रतिबिंब जाननें।
आगे फेरि कहे हैं—

तस्स य करह पणाम सव्व पुज्ज च विणय वच्छल्ल ।
जस्स य दसण णाण अस्थि धुव चेयणा भावो।"
तस्य च कुरुत प्रणाम सर्वां पूजा च विनय वात्सल्यम ।
यस्य च दर्शन ज्ञान अस्ति ध्रुव चेतनाभाव ।।

वचनिका—ऐसे पूर्वोक्त जिनबिंब कूं प्रणाम करो बहुरि सब प्रकार पूजा करो विनय करो वात्सल्य करो, काहे ते—जाके ध्रुव कहिए निश्चयते दशन ज्ञान पाइए है बहुरि चेतना भाव है।

भावाय—दशन ज्ञानमयी चेतनाभाव सहित जिनबिंब आचाय है तिनि कूं प्रणामादिक करना इहा परमाथ प्रधान कह्या है तहाँ जड प्रतिबिंब की गौणता है।
आगे फेरि कहे है—

तव वय गुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेहि सुद्धसम्मत्त ।
अरहतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य।'
तपोव्रत गुण शुद्ध जानाति पश्यति शुद्ध सम्यक्त्वम ।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षा शिक्षाणां च।।

वचनिका—जो तप अर व्रत अर गुण कहिए उत्तर गुण तिनिकरि शुद्ध होय बहुरि सम्यग ज्ञान करि पदाथनि कूं यथाथ जाने बहुरि सम्यग्दशन करि पदाथनि कूं देखे याही ते शुद्ध सम्यक्त्व जाके ऐसा जिनबिंब आचाय है सो येही दीक्षा शिक्षा की देने वाली अरहत की मुद्रा है।

भावाय—एसा जिनबिंब है सो जिनमुद्रा ही है ऐसे जिनबिंब का स्वरूप कह्या है।

यह वचनिका प० जयचन्द्र छावडा की है इससे यह भली भाति सिद्ध हो जाता है कि चैत्य शब्द साधु और ज्ञान का वाचक भी है इस स्थान पर उक्त दोनो अथ युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं कारण कि आलाप सलाप आदि चेतन से ही सिद्ध हो सकते है न कि जड से। आनन्द ने अन्य मतावलम्बियो के साथ सम्पर्क न रखने का निश्चय किया किन्तु जीवन व्यवहार के लिए तथा राजकीय एव सामाजिक अनुरोध की दृष्टि से कुछ छूटें रखी। वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) रायाभिग्रोगेणं—(राजाभियोगेन) अभियोग का अर्थ है—वलप्रयोग। यदि राजकीय आज्ञा के कारण विवश होकर अन्य मतावलम्बियो के साथ संभापण आदि करना पडता है, तो उसकी छूट है।

(२) गणाभिग्रोगेण—(गणाभियोगेन) गण का अर्थ है—समाज अथवा व्यापार खेती आदि के लिए परस्पर सहयोग के रूप मे एकत्रित व्यक्तियो का दल। भगवान महावीर के समय लिच्छवि, मल्लि आदि लोकतन्त्रीय शासन भी गण कहलाते थे। इसका अर्थ है—व्यक्ति जिस गण का सदस्य है, उस गण का वहुमत यदि कोई निर्णय करे तो वैयक्तिक मान्यता के विपरीत होने पर भी उसे मानना आवश्यक हो जाता है।

(३) वलाभिग्रोगेणं—वल का अर्थ है सेना, उसकी आज्ञा के रूप मे यदि ऐसा करना पड़े तो छूट है।

(४) गुरुनिग्गहेणं—(गुरुनिग्रहेण) माता-पिता अध्यापक आदि गुरुजनो का आग्रह होने पर भी ऐसा करने की छूट है।

(५) वित्तिकान्तरेण—(वृतिकान्तरेण) वृत्ति का अर्थ है—आजीविका और कान्तार का अर्थ है—कठिनाई,(साधारणतया कान्तार शब्द का अर्थ अरण्य या जगल होता है, किन्तु यहाॅ इसका अर्थ अभाव या कठिनाई है।) आजीविका सम्वन्धी कष्ट आ पडने पर अथवा अभावग्रस्त होने पर ऐसा करने की छूट है। वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

'वित्तिकान्तारेण' त्ति वृत्ति.—जीविका तस्या. कान्तारम्–अरण्यं तदिव कान्तारं क्षेत्रं कालो वा वृत्तिकान्तार–निर्वाहाभाव इत्यर्थः, तस्मादन्यत्र निषेधो दानप्रणामादे-रिति—प्रकृतमिति।

आनन्द ने घर आकर अपनी पत्नी शिवानन्दा से भी भगवान महावीर के पास जाकर व्रत ग्रहण करने का अनुरोध किया, इससे प्रतीत होता है, कि उसकी पत्नी भी एक समझदार गृहिणी थी। आनन्द ने स्वय उपदेश वा आदेश देने के स्थान पर उस को भगवान के पास भेजना उचित समझा जिससे कि उस पर साक्षात्‌रूप से भगवान के त्याग-तपस्या एव ज्ञान का प्रभाव पडे, और वह स्वय समझपूर्वक व्रतो को ग्रहण कर सके।

शिवानन्दा का भगवान के दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तएणं सा सिवनन्दा भारिया आणन्देणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ तुट्ठा कोडुम्बियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—"खिप्पामेव लहुकरण" जाव पज्जुवासइ ॥ ५६ ॥

छाया—ततः सा शिवानन्दा भार्या आनन्देन श्रमणोपासकेन एवमुक्ता सती हृष्ट तुष्टा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वैवमवादीत्—"क्षिप्रमेव लघुकरण" यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर सा—उस सिवनन्दा भारिया—शिवानन्दा भार्या ने आणन्देणं समणोवासएणं—आनन्द श्रमणोपासक के द्वारा एवं वुत्ता समाणा—इस प्रकार कह जाने पर हट्ठ तुट्ठा—हृष्ट-तुष्ट होकर कोडुम्बियपुरिसे—कौटुम्बिक पुरुषों को सद्दावेइ—बुलाया सद्दावित्ता—और बुलाकर एवं वयासी—इस प्रकार कहा कि खिप्पामेव लहुकरण—शीघ्र ही लघुकरण रथ तय्यार करके लाओ जाव—यावत् उसने भगवान की पज्जुवासइ—पर्युपासना की ।

भावार्थ—आनन्द गाथापति के उत्तम वचन सुनकर, शिवानन्दा अतीव हृष्ट तुष्ट हुई और कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर इस प्रकार बोली—कि तुम शीघ्र ही लघुकरण रथ अर्थात् जिसमें शीघ्र चलने वाले बैल जुते हुए हों ऐसे धार्मिक रथ को तैय्यार करके लाओ मुझे भगवान महावीर के दर्शनार्थ जाना है । इस प्रकार वह भगवान के पास पहुँची और उनकी पर्युपासना की ।

भगवान महावीर द्वारा धर्म प्रवचन—

मूलम्—तएणं समणे भगवं महावीरे सिवनन्दाए तीसे य महइ जाव धम्मं कहेइ ॥ ५७ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः शिवानन्दायै तस्यां च महत्यां यावद् धर्मं कथयति ।

शब्दार्थ—**तएणं**—इसके अनन्तर **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर ने **सिवानंदाए**—शिवानदा को और **तीसे य महइ**—उस महती परिषद् मे उपस्थित अन्य जनता को भी **धम्मं**—धर्म **कहेइ**—प्रवचन सुनाया ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान महावीर ने शिवानदा और उस विशाल सभा को धर्मोपदेश दिया ।

टीका—जब शिवानन्दा भार्या और महती परिषद् श्री भगवान के समीप उपस्थित हुई तब भगवान ने सवेगनी, निर्वेदनी, आक्षेपणी और विक्षेपणी इन चारो धर्म कथाओ का सविस्तर वर्णन किया ।

शिवानन्दा की प्रतिक्रिया—

मूलम्—**त एणं सा सिवनंदा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ जाव गिहिधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जिता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ॥५८॥**

छाया—**तत. खलु सा शिवानन्दा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्म श्रुत्वा निशम्य हृष्टा यावद् गृहस्थधर्म प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य तदेव धार्मिकं-यानप्रवरमारोहति, आरुह्य यस्या एव दिशः प्रादुरभूत् तामेव दिशं प्रतिगता ।**

शब्दार्थ—**तएणं**—इसके अनन्तर **सा सिवनन्दाभारिया**—वह शिवानन्दा भार्या **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर के **अतिए**—पास मे **धम्मं**—धर्म को **सुच्चा**—सुनकर, **निसम्म**—हृदय मे धारण करके, **हट्ठ**—प्रसन्न हुई **जाव**—और यावत् उसने **गिहिधम्मं**—गृहस्थ धर्म को **पडिवज्जइ**—स्वीकार किया **तमेव धम्मियं जाणप्पवरं**—उसी धार्मिक—धर्म कार्यो के लिए निश्चित रथ पर **दुरुहइ**—सवार हुई, **दुरुहित्ता**—सवार होकर, **जामेव दिसं पाउब्भूया**—जिस दिशा से आई थी **तामेवदिसं**—उसी ओर **पडिगया**—लौट गई ।

भावार्थ—शिवानन्दा श्रमण भगवान महावीर के पास धर्म श्रवण कर एव उसे हृदयगम करके अतीव प्रसन्न हुई । उसने भी यथाविधि गृहस्थधर्म ग्रहण किया ।

और उसी धम कार्यों के लिए निश्चित रथ पर सवार होकर जिस ग्रार से आई थी उसी ओर लौट गई।

टीका—शिवानन्दा भार्या ने श्री भगवान के मुख से धमकथा श्रवण की, तत्पश्चात उसने गृहस्थ धम के द्वादश व्रत ग्रहण किए। फिर वह जिस प्रकार आई थी उसी प्रकार धार्मिक रथ पर बैठ कर अपने स्थान पर चली गई। इस कथन से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि शिवानन्दा को पति की आज्ञा पालन करने से धम की प्राप्ति हुई। और साथ ही जो सूत्रकर्ता ने "धम्ममुच्चानिसम्म हट्ठ" इत्यादि पद दिए हैं इनका भाव यह है कि धम सुनकर फिर सूक्ष्म बुद्धि से विचार कर, फिर जो हृष उसको होता है वह अकथनीय होता है। कारण कि–धम श्रवण से ज्ञान और इससे विज्ञान तत्पश्चात प्रत्याख्यान किया जाता है। इस क्रम से किए हुए प्रत्याख्यान से आस्रवो का निरोध हो जाने से सवर द्वारा आत्मविकास हो जाता है।

गौतमस्वामी का आनन्द के विषय में प्रश्न—

मूलम्—"भंते!" त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमसइ वंदित्ता नमसित्ता एवं वयासी—"पहूणं भंते! आणंदे समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुण्डे जाव पव्वइत्तए?" "नो तिणट्ठे समट्ठे" गोयमा! आणंदेणं समणोवासए बहूइं वासाइं समणोवासग परियायं पाउणिहिइ, पाउणित्ता जाव सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहिइ। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थणं आणंदस्सवि समणोवासगस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता" ॥ ५६ ॥

छाया—हे भदन्त! इति भगवान गौतम श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत—"प्रभु खलु भदन्त! आनन्द श्रमणोपासको देवानुप्रियाणामन्तिके मुण्डो यावत प्रव्रजितो भवितुम?" 'नायमर्थ समर्थ,' गौतम! आनन्द खलु श्रमणोपासको बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासक पर्याय पालयिष्यति पालयित्वा यावत सौधर्मे कल्पे अरुणाभे विमाने देवतया उत्पत्स्यते,

तत्र खलु अस्त्येकेषा देवानां चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, तत्र चाऽऽनन्दस्यापि श्रमणोपासकस्य चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।"

शब्दार्थ—**भगवं गोयमे**—भगवान् गौतम ने **भंतेत्ति**—हे भगवन् ! इस प्रकार सम्बोधन करते हुए, **समणं भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर को **वंदइ नमंसइ**—वन्दना नमस्कार करके, **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**भंते**—हे भगवन् ! **आणंदे समणोवासए**—क्या आनन्द श्रमणोपासक **देवाणुप्पियाणं अंतिए**—देवानुप्रिय के पास मे **मुंडे**—मुण्डित **जाव**—यावत् **पव्वइत्तए**—प्रव्रजित होने मे **पहूणं**—समर्थ है ? **गोयमा**—भगवान् ने उत्तर दिया हे गौतम ! **नो तिणट्ठे समट्ठे**—यह अर्थ समर्थ नही है अर्थात् यह सभव नही है, **आणंदे णं समणोवासए**—आनन्द श्रमणोपासक **बहूइं वासाइं**—अनेक वर्षो तक **समणोवासग परियायं**—श्रमणोपासक पर्याय को **पाउणिहिइ**—पालन करेगा **पाउणित्ता**—पालन करके, **जाव**—यावत् **सोहम्मे कप्पे**—सौधर्म कल्प में **अरुणाभे विमाणे**—अरुणाभ नामक विमान मे **देवत्ताए**—देवता के रूप में **उववज्जिहिइ**—उत्पन्न होगा, **तत्थणं**—वहा **अत्थेगइयाणं**—बहुत से **देवाणं**—देवो की **चत्तारि पलिओवमाइं**—चार पल्योपम **ठिई**—आयु **पण्णत्ता**—कही गई है। **तत्थणं**—वहाँ **आणंदस्सवि समणोवासगस्स**—आनन्द श्रमणोपासक की भी **चत्तारि पलिओवमाइं**—चार पल्योपम आयु **पण्णत्ता**—है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! इस प्रकार सम्बोधन करते हुए गौतम ने श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार किया और पूछा—हे भगवन् ! क्या आनन्द श्रमणोपासक देवानुप्रिय के पास मुण्डित एव प्रव्रजित होने मे समर्थ है ? भगवान् ने उत्तर दिया— हे गौतम ! यह सभव नही है । अपितु आनन्द श्रमणोपासक अनेक वर्षो तक श्रावक धर्म का पालन करेगा और अन्त मे सौधर्म देवलोक के अरुणाभ विमान मे उत्पन्न होगा । वहाँ बहुत से देवताओ की चार पल्योपम आयु है, आनन्द की आयु भी चार पल्योपम होगी ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से आनन्द के भविष्य के विषय मे पूछा है । पहला प्रश्न उसके वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखता है, उसमे पूछा गया है—क्या आनन्द श्रावक मुनिव्रत धारण करेगा ? भगवान ने उत्तर

दिया—नहीं—ऐसा नही होगा। साथ ही भगवान ने बताया कि वह सौधम देव लोक के अरुणाभ नामक विमान मे देवरूप में उत्पन्न होगा और वहा उसकी चार पल्योपम आयु होगी। जैन धर्म के अनुसार देवो के चार निकाय (समूह) हैं—

(१) भवनपति—भूमि के अन्दर रहने वाले देव।

(२) वाणव्यन्तर—भूमि पर रहने वाले देवता को वाणव्यन्तर कहते हैं।

(३) ज्योतिषि—सूर्य, चन्द्र ग्रह नक्षत्र तथा तारालोक मे रहने वाले देवता ज्योतिषि कहलाते हैं।

(४) वैमानिक—ऊर्ध्व लोक मे रहने वाले देव—इनके २६ भेद हैं। प्रथम देव लोक का नाम सौधम है जहा ३२ लाख विमानो का अधिपति शक्रेन्द्र है।

देवलोकों का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के द्वितीय पद भगवती सूत्र तथा देवेन्द्रस्तव आदि से जानना चाहिए।

पल्योपम काल के परिमाण विशेष का नाम है एक योजन लम्बे एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाए उसे पल्योपम कहते हैं। अनुयोग द्वारा सूत्र मे इसका विस्तृत वर्णन है। इसके लिए टिप्पण देखिए।

भगवान महावीर का प्रस्थान—

मूलम्—तएणं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जाव विहरइ ॥ ६० ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान महावीरोऽन्यदा कदापि बहिर्यावद् विहरति।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर अन्नयाकयाइ—अन्यदा कदाचित् बहिया—अन्यत्र विहार कर गए जाव—यावत धर्मोपदेश करते हुए विहरइ—विचरने लगे।

भावार्थ—इसके अनन्तर श्रमण भगवान महावीर स्वामी अन्य जनपदों मे विहार कर गए और वहाँ धर्मोपदेश करते हुए विचरने लगे।

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए जाए अभिगय-जीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ ॥ ६१ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको जातोऽभिगतजीवाजीवो यावत् प्रतिलाभयन् विहरति ।

शब्दार्थ—**तए णं**—इसके अनन्तर **से**—वह **आणंदे**—आनन्द **अभिगय-जीवाजीवे**—जीव और अजीव आदि तत्त्वो को जानने वाला **समणोवासए**—श्रमणोपासक **जाए**—हो गया, **जाव**—यावत् **पडिलाभेमाणे**—साधु साध्वियो को प्रासुक आहारादि का दान करते हुए **विहरइ**—जीवन व्यतीत करने लगा ।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वो का ज्ञाता श्रमणोपासक बन गया और साधु-साध्वियो को प्रासुक आहार आदि देते हुए धर्ममय जीवन व्यतीत करने लगा ।

मूलम्—तए णं सा सिवनन्दा भारिया ससमणोवासिया जाया जाव पडिलाभेमाणी विहरइ ॥ ६२ ॥

छाया—ततः खलु सा शिवानन्दा भार्या श्रमणोपासिका जाता, यावत् प्रतिलाभयन्ती विहरति ।

शब्दार्थ—**तएणं**—इसके अनन्तर **सा**—वह **शिवनन्दा भारिया**—शिवादन्दा भार्या भी **समणोवासिया जाया**—श्रमणोपासिका हो गई **जाव**—यावत् **पडिलाभेमाणी**—साधु साध्वियो की आहारादि द्वारा सेवा करती हुई **विहरइ**—जीवन व्यतीत करने लगी ।

भावार्थ—तदनन्तर शिवानन्द भार्या भी श्रमणोपासिका बन गई और साधु साध्वियो को शुद्ध, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, कम्बल बहराती हुई विचरने लगी ।

आनन्द द्वारा घर से अलग रहकर धर्माराधन का संकल्प और ज्येष्ठ पुत्र को गृह भार सौंपना—

मूलम्—तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स उच्चावएहिं-सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणस्स चोद्दस संव-

च्छराइ वइक्कताइ। पण्णरसमस्स सवच्छरस्स अतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त काल समयसी धम्मजागरिय जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चितिए कप्पिए पत्थिए मणोगए सकप्पे समुप्पज्जित्था—"एव खलु अह वाणियगामे नयरे बहूण राईसर जाव सयस्सवि य ण कुडुबस्स जाव आधारे, त एएण वक्खेवेण अह नो सचाएमि समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरित्तए। त सेय खलु मम कल्ल जाव जलते विउल असण ४, जहा पूरणो, जाव जेट्ठ पुत्त कुडुबे ठवेत्ता, त मित्त जाव जेट्ठ पुत्त च आपुच्छित्ता, कोल्लाए सन्निवेसे नायकुलसि पोसह साल पडिलेहित्ता, समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय धम्म पण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।" एव सपेहेइ, २ त्ता कल्ल विउल तहेव जिमिय-भुत्तुत्तरा गए त मित्त जाव विउलेण पुप्फ ५ सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता तस्सेव मित्त जाव पुरओ जेट्ठ पुत्त सद्दावेइ, २ त्ता एव वयासी —"एव खलु पुत्ता! अह वाणियगामे बहूण राईसर जहा चितिय जाव विहरित्तए। त सेय खलु मम इदाणि तुम सयस्स कुडुम्बस्स आलबण ४ ठवेत्ता जाव विहरित्तए" ॥ ६३ ॥

छाया—तत खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्योच्चावच शीलव्रतगुणविरमण प्रत्याख्यान पौषधोपवासैरात्मान भावयतश्चतुर्दश सवत्सराणि व्यतिक्रान्तानि। पञ्च दश सवत्सरमन्तरा वर्तमानस्यान्यदा कदापि पूर्वरात्रापरत्र कालसमये धर्मजागरिका जाग्रतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकश्चिन्तित कल्पित प्रार्थितो मनोगत सकल्प समुदपद्यत—"एव खल्वह वाणिज्यग्रामे नगरे बहूना राजेश्वरयावत्स्वकस्यापि च खलु कुटुम्बस्य यावदाधार, तदेतेन व्याक्षेपेणाह नो शक्नोमि श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसपद्य विहर्तुम तत श्रेय खलु मम कल्ये यावज्ज्वलिति (सति) विपुलमशन ४ यथा पूरणो यावज्ज्येष्ठ पुत्र कुटुम्बे स्थापयित्वा त मित्र यावज्ज्येष्ठपुत्र चाऽऽपृच्छ्य कोल्लाके सन्निवेशे ज्ञातकुले पौषधशाला प्रतिलिख्य श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसपद्य विहर्तु म।" एव सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य कल्य विपुल तथव जिमितभुक्तोत्त रागतस्त मित्र—यावद विपुलेन पुष्पवस्त्रगन्धमाल्याऽलकारेण च सत्करोति सम्मानयति, सत्यत्कृत्य सम्मान्य, तस्यव मित्र यावत पुरतो ज्ये

ष्ठपुत्रं शब्दायते, शब्दापयित्वा एवमवादीत्—"एवं खलु पुत्र! अहं वाणिज्यग्रामे बहूनां राजेश्वर यथाचिन्तितं यावद् विहर्तुम्। तत् श्रेयः ममेदानी त्वां स्वकस्य कुटुम्बस्याऽऽलम्बनं ४ स्थापयित्वा यावद् विहर्तुम्।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स**—उस आनन्द श्रमणोपासक को **उच्चावएहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं**—अनेक प्रकार के शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान पौषधोपवास के द्वारा **अप्पाणं भावेमाणस्स**—आत्मा को सस्कारित करते हुए **चोद्दस संवच्छाराइं**—चौदह वर्ष **वइक्कताइं**—वीत गए, **पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरावट्टमाणस्स**—पदरहवे वर्ष मे **अन्नया कयाइ**—एक समय **पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि**—पूर्वरात्रि के पश्चात् अर्थात् अन्तिम प्रहर मे **धम्मजागरियं जागरमाणस्स**—धर्म जागरण करते हुए **इमेयारूवे**—इस प्रकार का **अज्झत्थिए**—आध्यात्मिक **चिंतिए**—चिंतित, **कप्पिए**—जिसकी पहिले ही कल्पना की हुई थी, **पत्थिए**—प्रार्थित, **मणोगए संकप्पे**—मनोगत सकल्प **समुप्पज्जित्था**—उत्पन्न हुआ, **एवं खलु अहं**—मैं निश्चय ही इस प्रकार **वाणियग्गामे नयरे**—वाणिज्यग्राम नगर मे **बहूण राईसर-जाव सयस्सवि णं कुडुम्बस्स**—वहुत से राजा ईश्वर यावत् अपने भी कुटुम्व का **जाव आधारे**—आलम्बन यावत् आधारभूत हूँ, **तं एएणं वक्खेवेणं**—इस विक्षेप के कारण **अहं**—मैं **समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिय**—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के समीप प्राप्त की हुई **धम्मपण्णत्ति**—धर्मप्रज्ञप्ति को **उवसंपज्जित्ताणं**—स्वीकार करके **विहरित्तए**—विचरने मे **नो संचाएमि**—समर्थ नही हूँ, **तं**—अत **सेयं खलु**—श्रेय है **मम**—मुझको **कल्लं जाव जलंते**—कल प्रात काल सूर्य के निकलते ही **जहा पूरणो**—पूरण सेठ के समान **विउलं**—विपुल **असणं**—अशन पान द्वारा मित्र एव परिवारजनो को भोजन कराके **जाव**—यावत् **जेट्ठपुत्तं**—ज्येष्ठ पुत्र को **कुडुम्बे**—कुटुम्ब पर **ठवेत्ता**—स्थापित करके **तं**—और उस **मित्र जाव जेट्ठपुत्तं च**—मित्र यावत् ज्येष्ठ पुत्र को **आपुच्छित्ता**—पूछकर **कोल्लाएसन्निवेसे**—कोल्लाक सन्निवेश मे **नाय कुलंसि**—ज्ञात कुल की **पोसहसालं**—पौषधशाला में **पडिलेहित्ता**—प्रतिलेखन करके **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर के **अंतियं**—पास प्राप्त हुई **धम्मपण्णत्ति**—धर्मप्रज्ञप्ति को **उवसंपजित्ताणं**—स्वीकार करके **विहरित्तए**—विचरना **एवं**—इस प्रकार **संपेहेइ**—विचार किया, **संपेहित्ता**—विचार करके **कल्लं**—दूसरे दिन प्रात काल सूर्योदय होने पर **विउलं**—

विपुल अशनादि तयार कराया तहेव—उसी प्रकार जिमियभुत्तुत्तरागए—सब के भोजन करने के पश्चात त मित्त जाव—उस उपस्थित मित्रवग एव परिवार का विउलेण पुप्फ—विपुल पुष्प वस्त्र, गन्ध, माला, अलकार आदि के द्वारा सक्कारे इसम्माणेइ—सत्कार सम्मान किया सक्कारित्ता सम्माणित्ता—सत्कार और सम्मान करके तस्सेव मित्त जाव पुरओ—उसी मित्रवग यावत परिवार के समक्ष जेट्ठपुत्त—ज्यष्ठ पुत्र को सद्दावेइ—बुलाया और सद्दावित्ता—बुलाकर एव वयासी—इस प्रकार कहा एव खलु पुत्ता—ह् पुत्र ! इस प्रकार निश्चय ही अह—मैं वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे राईसर—राजा ईश्वर आदि का आधारभूत हूँ, अत काय व्यग्रता के कारण धर्मक्रिया का अच्छी तरह पालन नही कर सकता। जहा चितिय जाव विहरित्तए—जिस प्रकार चिन्तन किया था अर्थात मेरे मन मे विचार आया कि—मैं ज्यष्ठ पुत्र को कायभार सौंपकर एकान्त मे धर्मानुष्ठान करता हुआ विचरूँ। त सेय खलु मम—अत मुझे यही श्रय है, कि इयाणि—अब तुम—तुम्ह सयस्स कुडुम्बस्स—अपने कुटुम्ब का आलबण—आलबन ठवेत्ता—स्थापित करके जाव विहरित्तए—यावत धम की आराधना करता हुआ जीवन व्यतीत करूँ।

भावाथ—तदनन्तर आनन्द श्रावक को अनेक प्रकार के शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत प्रत्याख्यान पोषधोपवास आदि के द्वारा अपनी अन्तरात्मा को सस्कारित करते हुए चौदह वष व्यतीत हो गए। पन्द्रहवें वष मे एक दिन पूवरात्रि के अपर भाग म धम जागरण करते समय उसके मन म यह सकल्प उठा कि—मैं वाणिज्य ग्राम नगर म अनेक राजा ईश्वर एव स्वजनो का आधार तथा आलबन भूत हूँ। अनेकानेक कार्यों म पूछा जाता हूँ। इस विक्षेप के कारण मैं श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास अङ्गीकृत धम प्रज्ञप्ति का अच्छी तरह पालन नही कर सकता। अत मेरे लिए यह श्रेय है, कि—कल प्रात काल सूर्योदय होने पर विपुल अशन पानादि तयार कराकर मित्र एव परिवारादि को भोजन कराकर पूरण सेठ के समान उन सब के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौप कर मित्रो एव ज्येष्ठ पुत्र को पूछकर कोल्लाक सन्निवेश मे नातकुल की पोषधशाला का प्रतिलेखन कर श्रमण भगवान महावीर के पास स्वीकृत धम प्रज्ञप्ति को यथाविधि पालन करू। यह विचार कर दूसरे दिन मित्रवग तथा परिवार का आमन्त्रित किया और पुष्प वस्त्र गन्ध माला और विपुल अशन पानादि के द्वारा उनका सत्कार किया।

तदनन्तर उन सब के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को बुलाया और कहा—पुत्र ! मैं वाणिज्य-ग्राम नगर मे राजा, ईश्वर, आत्मीयजनादि का आधारभूत हूँ। यावत् अनेकानेक कार्यो मे पूछा जाता हूँ। अत व्यस्तता के कारण धर्मप्रज्ञप्ति का सम्यक् पालन नही कर सकता। अत मेरे लिए उचित है कि—मैं अब तुमको कुटुम्ब के पालन पोषणादि का भार सौप कर एकान्त मे धर्मानुष्ठान करूँ।

"सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहि"

टीका—श्रमण भगवान महावीर के पास व्रत ग्रहण करने के पश्चात् आनन्द को चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। इस अवधि में आत्मविकास के लिए वह अनेक प्रकार के व्रतो का पालन करता रहा। प्रस्तुत पक्ति मे उनका श्रेणी विभाजन किया गया है। सर्वप्रथम शीलव्रत हैं, जो अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रूप मे पहले बताए जा चुके हैं। इनका मुख्य सम्बन्ध शील अर्थात् सदाचार एव नैतिकता से है। बौद्ध परम्परा मे ये पचशील के रूप मे बताए गए हैं। योगदर्शन मे इन्हे यम के रूप मे प्रतिपादित किया गया है और अष्टागयोग की भूमिका माना गया है। /इनके पश्चात् तीन गुणव्रत हैं जो शीलव्रतो के पोषक हैं, तथा जीवन मे अनुशासन पैदा करते हैं। तत्पश्चात् सामायिक आदि चार शिक्षाव्रत हैं, जो आत्मचिन्तन के लिए दैनन्दिन कर्त्तव्य के रूप मे बताए गए हैं। पौषधोपवास तपस्या का उपलक्षण है, इसका अर्थ है—आनन्द शास्त्रो में प्रतिपादित अनेक प्रकार की तपस्याएँ करता रहा। परिणामत उत्तरोत्तर जीवनशुद्धि होती गई और आत्मा मे दृढता आती गई। साधना मे उत्साह बढता गया और एक दिन मध्य रात्रि के समय धर्मचिन्तन करते हुए उसके मन मे आया कि अब मुझे गृह कार्यो से निवृत्त होकर एकान्त मे रहते हुए सारा समय आत्म साधना मे लगाना चाहिए। दूसरे दिन उसने अपने परिवार तथा जाति बन्धुओ को आमन्त्रित किया। भोजन, वस्त्र, पुष्प, माला आदि के द्वारा उनका सम्मान किया और उनकी उपस्थिति मे ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौपने के भाव प्रकट किए।

आनन्द वाणिज्य ग्राम के राजा-ईश्वर सेनापति आदि समस्त प्रतिष्ठित व्यक्तियो का सम्मान पात्र था। विविध प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर वे

विपुल अशनादि तैयार कराया, तहेव—उसी प्रकार जिमियभुत्तुत्तरागए—सब के भोजन करने के पश्चात त मित्त जाव—उस उपस्थित मित्रवग एव परिवार का विउलेण पुप्फ—विपुल पुष्प वस्त्र, ग ध, माला, अलकार आदि के द्वारा सक्कारे इसम्माणेइ—सत्कार सम्मान किया, सक्कारित्ता सम्माणित्ता—सत्कार और सम्मान करके तस्सेव मित्त जाव पुरओ—उसी मित्रवग यावत परिवार के समक्ष जेट्ठपुत्त—ज्येष्ठ पुत्र को सद्दावेइ—बुलाया और सद्दावित्ता—बुलाकर एव वयासी—इस प्रकार कहा एव खलु पुत्ता—हे पुत्र ! इस प्रकार निश्चय ही अह—मैं वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे राईसर—राजा ईश्वर आदि का आधारभूत हूँ अत काय व्यग्रता के कारण धमक्रिया का अच्छी तरह पालन नही कर सकता। जहा चितिय जाव विहरित्तए—जिस प्रकार चि तन किया था अर्थात मेरे मन म विचार आया कि—मैं ज्येष्ठ पुत्र को कायभार सौंपकर एकान्त मे धर्मानुष्ठान करता हुआ विचरूँ। त सेय खलु मम—अत मुझे यही श्रेय है, कि इयाणि—अब तुम—तुम्ह सयस्स कुडुम्बस्स—अपने कुटुम्ब का आलबण—आलबन ठवेत्ता—स्थापित करके जाव विहरित्तए—यावत धम की आराधना करता हुआ जीवन यतीत करूँ।

भावाथ—तदन तर आन द श्रावक को अनेक प्रकार के शीलव्रत गुणव्रत, विरमणव्रत प्रत्याख्यान पौपधोपवास आदि के द्वारा अपनी अन्तरात्मा को सस्कारित करते हुए चौदह वष व्यतीत हो गए। पद्रहवें वष मे एक दिन पूवरात्रि के अपर भाग में धम जागरण करते समय उसके मन मे यह सकल्प उठा कि—मैं वाणिज्य ग्राम नगर मे अनेक राजा ईश्वर एव स्वजनो का आधार तथा आलबन भूत हूँ। अनेकानेक कार्यों म पूछा जाता हूँ। इस विक्षेप के कारण मैं श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास अङ्गीकृत धम प्रज्ञप्ति का अच्छी तरह पालन नही कर सकता। अत मेरे लिए यह श्रेय है, कि—कल प्रात काल सूर्योदय होने पर विपुल अन्न पानादि तयार कराकर मित्र एव परिवारादि को भोजन कराकर पूरण सेठ के समान उस नगर के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप कर मित्र एव ज्येष्ठ पुत्र को पूछकर कोल्लाक सन्निवेश में ज्ञातकुल की पौषधशाला का प्रतिलेखन कर श्रमण भगवान महावीर के पास स्वीकृत धम प्रज्ञप्ति का यथाविधि पालन करूँ। यह विचार कर दूसरे दिन मित्रवग तथा परिवार को आमन्त्रित किया और पुष्प वस्त्र ग ध माला और विपुल अशन पानादि के द्वारा उनका सत्कार किया।

कुडुम्बे—कुटुम्ब पर ठवेइ—स्थापित किया। ठवित्ता—स्थापित करके एव वयासी—इस प्रकार कहा—देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रियो! अज्जप्पभिइं—आज से तुब्भे—तुम केई—कोई भी ममं—मुझको बहुसु कज्जेसु—विविध कार्यों के सम्बन्ध मे मा—मत आपुच्छउ वा—पूछना और नाही पडिपुच्छउ वा—परामर्श करना, ममं अट्ठाए—और मेरे लिए असणं वा४—अशन पानादि उवक्खडेउ वा—तैयार मत करना और न उवकरेउ वा—मेरे पास लाना।

टीका—प्रस्तुत पाठ मे आनन्द ने दो बातो की मनाही की है, पहली बात है—हे देवानुप्रियो! अब मुझे गृहव्यवस्था सम्बन्धी किसी भी कार्य मे मत पूछना, इस प्रकार उसने गृहस्थ सम्बन्धि जीवनचर्या से अपना हाथ खीच लिया। दूसरी बात है अब मेरे लिए अशन-पान आदि भोजन सामग्री न तैयार करना और न मेरे पास लाना। इससे प्रतीत होता है आनन्द अन्तिम समय मे निरारम्भ भोजनचर्या पर रहने लगा था, यद्यपि उसने मुनिव्रत नही लिया परन्तु उसके निकट अवश्य पहुँच गया था।

आनन्द का निष्क्रमण—

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए जेट्ठ-पुत्तं मित्त-नाइं आपुच्छइ, २ त्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, २ त्ता वाणियगामं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, २ त्ता जेणेव कोल्लाए-सन्निवेसे, जेणेव नायकुले जेणेव पोसह-साला, तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता पोसहसालं पमज्जइ, २ त्ता उच्चार-पासवण-भूमिं पडिलेहेइ, २ त्ता दब्भ-संथारयं संथरइ, संथरित्ता दब्भ-संथारयं दुरुहइ, २ त्ता पोसहसालाए पोसहिए दब्भ-संथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ॥ ६६॥

छाया—ततः खलु स आनन्द. श्रमणोपासको ज्येष्ठपुत्रं मित्रज्ञातिमापृच्छति, आपृच्छ्य स्वकाद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य वाणिज्यग्राम नगरं मध्यंमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव कोल्लाक. सन्निवेश', येनैव ज्ञातकुलं, येनैवपौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य पौषधशाला प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योच्चारप्रस्रवण भूमिं प्रतिलिखति, प्रतिलिख्य दर्भसंस्तारक संस्तृणाति, संस्तीर्य दर्भसंस्तारकं दूरोहति,

उसमे परामर्श लिया करते थे। परन्तु उसने इन सब बातों को आत्मसाधना मे विघ्न माना और पौषधशाला मे जाकर रहने की इच्छा व्यक्त की।

ज्येष्ठ पुत्र द्वारा आनन्द की आज्ञा का स्वीकार—

मूलम्—तए ण जेट्ठे पुत्ते आणदस्स समणोवासयस्स 'तह' त्ति एयमट्ठ विणएण पडिसुणेइ ॥ ६४ ॥

छाया—तत खलु ज्येष्ठपुत्र आनन्दस्य श्रमणोपासकस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिश्रणोति।

शब्दार्थ—तए ण—इसके अनन्तर जेट्ठपुत्ते—ज्येष्ठ पुत्र ने आणदस्स समणोवासयस्स—आनन्द श्रमणोपासक के एयमट्ठ—इस अभिप्राय का तहत्ति—तथेति अर्थात् जैसा आपकी आज्ञा हो यह कहते हुए विणएण—विनयपूर्वक पडिसुणेइ—स्वीकार किया।

भावार्थ—तदनन्तर ज्येष्ठ पुत्र ने आनन्द श्रमणोपासक के उक्त कथन को 'तथास्तु' कहते हुए अत्यन्त विनय के साथ स्वीकार किया।

मूलम्—तए ण से आणदे, समणोवासए तस्सेव मित्त जाव पुरओ जेट्ठपुत्त कुडुम्बे ठवेइ, ठवित्ता एव वयासी—"मा ण, देवाणुप्पिया ! तुब्भे अज्जप्पभिइ केइ मम बहुसु कज्जेसु जाव आपुच्छउ वा, पडिपुच्छउ वा, मम अट्ठाए असण वा उवक्खडेउ वा उवकरेउ वा" ॥ ६५ ॥

छाया—तत खलु स आनन्द श्रमणोपासक —तस्यैवमित्र—यावत्पुरतो ज्येष्ठपुत्र कुटुम्बे स्थापयति, स्थापयित्वा एवमवादीत्-मा खलु देवानुप्रिया ! यूयमद्यप्रभृति केऽपि मम बहुषु कार्येषु यावत् आपृच्छतु वा, प्रतिपृच्छतु वा, ममार्थाय अशन वा ४ उपस्कुरुत वा उपकुरुत वा।

शब्दार्थ—तए ण से आणदे समणोवासए—तत्पश्चात् उस आनन्द श्रमणोपासक ने तस्सेव मित्त जाव पुरओ—मित्र जातिबन्धु आदि के समक्ष जेट्ठपुत्त—ज्येष्ठ पुत्र को

मार्ग के रूप मे प्रतिपादित की गई है जिसके तीन अग है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र। उत्तराध्ययन सूत्र मे चारित्र के साथ तप का भी उल्लेख है, वास्तव मे देखा जाय तो वह चारित्र का ही अग है। पाप जनक प्रवृत्तियो के निरोधरूप चारित्र को शास्त्रो मे सयम शब्द से निर्दिष्ट किया गया है और पूर्वसचित कर्मो एवं वैकारिक सस्कारो को दूर करने के लिए जिस चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है उसे तप कहते हैं। कर्म निरोध की दृष्टि से सयम का दूसरा नाम सवर है। तप सवररूप भी है, और निर्जरारूप भी। कर्म निरोध की दृष्टि से वह सवर और कर्मक्षय की दृष्टि से वही निर्जरा भी है।

प्रतीत होता है कोल्लाक सन्निवेश मे आनन्द का जातिवर्ग रहता था वह उनके घर से आहार आदि लेकर जीवन यापन करने लगा। श्रावक की ग्यारहवी प्रतिमा मे इसी का विधान किया गया है अर्थात् कुछ समय प्रतिमाधारी को स्वजातीयवर्ग के घरो से भिक्षा लेकर निर्वाह करना चाहिए।

आनन्द द्वारा प्रतिमा ग्रहण——

मूलम्——तए णं से आणंदे समणोवासए उवासग-पडिमाओ उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। पढमं उवासग पडिमं अहा-सुत्तं अहा-कप्पं अहा-मग्गं अहा-तच्चं सम्मं काएणं फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, किट्टेइ, आराहेइ ॥ ६७ ॥

छाया——ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासक उपासक-प्रतिमा उपसंपद्य विहरति, प्रथमामुपासकप्रतिमा यथासूत्रं, यथाकल्पं यथामार्ग, यथातत्त्वं सम्यक् कायेन स्पृशति, पालयति, शोधयति, तीरयति, कीर्तयति, आराधयति।

शब्दार्थ——**तए णं**—तदनन्तर **से**—वह **आणंदे समणोवासए**—आनन्द श्रमणोपासक **उवासगपडिमाओ**—उपासक प्रतिमाओ को **उवसंपज्जित्ताणं**—स्वीकार करके **विहरइ**—विचरने लगा, **पढमं**—प्रथम **उवासग पडिमं**—उपासक प्रतिमा को **अहासुत्तं**—सूत्र के अनुसार, **अहाकप्पं**—कल्प के अनुसार, **अहामग्गं**—मार्ग के अनुसार, **अहातच्चं**—यथार्थ तत्त्व के अनुसार, **सम्मं**—सम्यक् रूप में, **काएणं**—काया के द्वारा **फासेइ**—स्वीकार किया, **पालेइ**—पालन किया, **सोहेइ**—निरतिचार शोधन किया, **तीरेइ**—

दुरुह्य पौषधशालायां पौषधिको दर्भसंस्तारोपगतः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्य विहरति।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर से—उस आणंदे समणोवासए—आनन्द श्रमणोपासक ने जेट्ठपुत्तं मित्तणाइ—ज्येष्ठ पुत्र तथा मित्रों एवं ज्ञातिजनों को आपुच्छइ—पूछा आपुच्छित्ता—पूछकर सयाओ गिहाओ—वह अपने घर से पडिणिक्खमइ—निकला पडिणिक्खमित्ता—निकलकर वाणियगामं नयरं—वाणिज्य ग्राम नगर के मज्झं मज्झेणं—बीचाबीच निग्गच्छइ—निकला, निग्गच्छित्ता—निकलकर जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे—जहां कोल्लाक सन्निवेश था, जेणेव नायकुले—जहां नात कुल था, जेणेव पोसहसाला—और जहाँ पौषधशाला थी, तेणेव उवागच्छइ—वहां आया उवागच्छित्ता—आकर पोसहसालं—पौषधशाला को पमज्जइ—पूँजा अर्थात साफ किया पमज्जित्ता—पूँछकर उच्चारपासवण भूमिं—उच्चार प्रस्रवण अर्थात् शौच तथा पेशाब करने की भूमि की पडिलेहेइ—प्रतिलेखना की पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके दब्भसंथारयं—डाभ का बिछौना संथरइ—बिछाया संथरित्ता—बिछाकर दब्भसंथारयं—डाभ के बिछौने पर दुरुहइ—बैठा दुरुहित्ता—बैठकर पोसहसालाए—पौषधशाला में पोसहिए—पौषधिक होकर दब्भसंथारोवगए—डाभ के बिछौने पर बैठकर समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अंतिए—पास की धम्मपण्णत्तिं—धर्मप्रज्ञप्ति को उवसंपज्जित्ताणं—स्वीकार करके विहरइ—रहने लगा।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक ने बड़े पुत्र तथा मित्र ज्ञातिजन की अनुमति ली और अपने घर से निकला वाणिज्यग्राम नगर के बीच होता हुआ जहां कोल्लाक सन्निवेश था जहां ज्ञातकुल तथा नातकुल की पौषधशाला थी वहाँ पहुँचा। पौषधशाला का परिमार्जन करके उच्चार प्रस्रवण (शौच तथा लघुनीत) भूमि की प्रतिलेखना की। तत्पश्चात दर्भासन पर बैठकर पौषध अङ्गीकार करके भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मदर्शन का अनुष्ठान करने लगा।

टीका—पुत्र को घर का भार सौंपकर तथा जाति बन्धुओं से विदा लेकर आनन्द श्रमणोपासक कोल्लाक सन्निवेश में पहुँचा और पौषधशाला में पौषधव्रत स्वीकार करके धर्मचिन्तन में लीन हो गया। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि वह भगवान महावीर द्वारा आदिष्ट धर्मप्रज्ञप्ति का आराधन करने लगा यही धर्म प्रज्ञप्ति मोक्ष

विशेप रूप से अनुष्ठान किया जाता है, प्रत्येक प्रतिमा मे किसी एक क्रिया को लक्ष्य मे रख कर सारा समय उसी के चिन्तन, मनन, अनुष्ठान एव आत्मसात् करने मे लगाया जाता है। प्रतिमाएँ ग्यारह हैं। उनका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है--

(१) **दर्शन प्रतिमा**--दर्शन का अर्थ है श्रद्धा या दृष्टि। आत्मविकास के लिए सर्वप्रथम दृष्टि का ठीक होना आवश्यक है। दर्शनप्रतिमा का अर्थ है—वीतराग देव, पाँच महाव्रतधारी गुरु तथा वीतराग के वताए हुए मार्ग पर दृढ विश्वास। उन्ही का चिन्तन, मनन एव अनुष्ठान। शास्त्रो मे इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार वताया गया है--

सङ्कादि सल्ल विरहिय सम्मद्दंसणजुओ उ जो जन्तू।
सेसगुण विप्पमुक्को एसा खलुहोइ पढ़मा उ॥

शङ्कादि शल्यविरहित सम्यग्दर्शनयुक्तस्तु यो जन्तुः।
शेषगुण विप्रमुक्तः एषा खलु भवति प्रथमा॥

अर्थात् चारित्रादि शेप गुण न होने पर भी सम्यग्दर्शन का शका, काक्षा, आदि दोपो से रहित होकर सम्यक्तया पालन करना पहली अर्थात् दर्शन प्रतिमा है। इस प्रतिमा मे श्रमणोपासक 'रायाभियोगेण' आदि आगारो रहित सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करता है अर्थात् क्रियावादी, अक्रियावादी, नास्तिक आदि वादियो के मतो को भली प्रकार जानकर विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करता है। इस पडिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

(२) **व्रत प्रतिमा**--दर्शन के पश्चात् दूसरी व्रत प्रतिमा है, सम्यग्दृष्टि जीव जब अणुव्रतो का निर्दोष पालन करता है तो उसे व्रतप्रतिमा कहा जाता है। पहली प्रतिमा का आराधक पुरुष शुद्ध सम्यक्त्व वाला होता है। दूसरी में वह चारित्र शुद्धि की ओर झुक कर कर्मक्षय का प्रयत्न करता है। वह पाँच अणुव्रत और तीन गुण-व्रतो को धारण करता है। चार शिक्षा व्रतो को भी अङ्गीकार करता है किन्तु सामायिक और देशावकाशिक व्रतो का यथा समय सम्यक् पालन नही करता। इस पडिमा का समय दो मास है।

दंसणपडिमा जुत्तो पालेन्तोऽणुव्वए निरइयारे।
अणुकम्पाइगुण जुओ जीवो इह होइ वयपडिमा॥

आराधित अच्छी तरह पूर्ण किया, किट्टेइ—कीर्तन किया अर्थात् अंगीकृत प्रतिमा का अभिनन्दन किया।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक उपासकप्रतिमाएँ स्वीकार करके विचरने लगा। उसने प्रथम उपासक प्रतिमा को यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातथ्य शरीर के द्वारा स्वीकार किया, पालन किया, शोधन किया, कीर्तन किया तथा आराधन किया।

टीका—साधुओं की उपासना—सेवा करने वाला उपासक कहलाता है। अभिग्रह विशेष को पडिमा—प्रतिज्ञा कहते हैं। उपासक—श्रावक का अभिग्रहविशेष प्रतिज्ञा उपासक पडिमा कहलाती है।

मूलम्—**तए णं से आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासग पडिमं, एवं तच्चं, चउत्थं, पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दसमं एक्कारसमं। जाव आराहेइ ॥ ६८ ॥**

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको द्वितीयामुपासकप्रतिमाम्, एवं तृतीयां चतुर्थीं, पञ्चमीं, षष्ठीं सप्तमीं, अष्टमीं, नवमीं, दशमीं, एकादशीं, यावदाराधयति।

शब्दार्थ—तएणं—तदनन्तर से—उस आणंदे समणोवासए—आनन्द श्रावक ने दोच्चं उवासगपडिमं—दूसरी उपासक प्रतिमा एवं—इसी प्रकार तच्चं—तीसरी, चउत्थं—चौथी पंचमं—पांचवीं, छट्ठं—छठी सत्तमं—सातवीं अट्ठमं—आठवीं, नवमं—नवीं दसमं—दसवीं एक्कारसमं—ग्यारवीं का जाव—यावत् आराहेइ—आराधन किया।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक ने दूसरी तीसरी, चौथी पांचवीं छठी सातवीं आठवीं नौवीं दसवीं और ग्यारहवीं उपासकप्रतिमा का आराधन किया।

टीका—उपरोक्त दो सूत्रों में आनन्द द्वारा प्रतिमा ग्रहण का वर्णन है। प्रतिमा एक प्रकार का व्रत या अभिग्रह है जहां आत्मशुद्धि के लिए धार्मिक क्रियाओं का

विशेप रूप से अनुष्ठान किया जाता है, प्रत्येक प्रतिमा मे किसी एक क्रिया को लक्ष्य में रख कर सारा समय उसी के चिन्तन, मनन, अनुष्ठान एव आत्मसात् करने में लगाया जाता है । प्रतिमाएँ ग्यारह हैं । उनका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है—

(१) **दर्शन प्रतिमा**—दर्शन का अर्थ है श्रद्धा या दृष्टि । आत्मविकास के लिए सर्वप्रथम दृष्टि का ठीक होना आवश्यक है । दर्शनप्रतिमा का अर्थ है—वीतराग देव, पाँच महाव्रतधारी गुरु तथा वीतराग के वताए हुए मार्ग पर दृढ विश्वास । उन्ही का चिन्तन, मनन एव अनुष्ठान । शास्त्रो मे इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार वताया गया है—

सङ्कादि सल्ल विरहिय सम्मद्दंसणजुओ उ जो जन्तू ।
सेसगुण विप्पमुक्को एसा खलुहोइ पढ़मा उ ।।

शङ्कादि शल्यविरहित सम्यग्दर्शनयुक्तस्तु यो जन्तुः ।
शेषगुण विप्रमुक्त. एषा खलु भवति प्रथमा ।।

अर्थात् चारित्रादि शेष गुण न होने पर भी सम्यग्दर्शन का शका, काक्षा, आदि दोषो से रहित होकर सम्यक्तया पालन करना पहली अर्थात् दर्शन प्रतिमा है । इस प्रतिमा मे श्रमणोपासक 'रायाभियोगेण' आदि आगारो रहित सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करता है अर्थात् क्रियावादी, अक्रियावादी, नास्तिक आदि वादियो के मतो को भली प्रकार जानकर विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करता है । इस पडिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है ।

(२) **व्रत प्रतिमा**—दर्शन के पश्चात् दूसरी व्रत प्रतिमा है, सम्यग्दृष्टि जीव जब अणुव्रतो का निर्दोप पालन करता है तो उसे व्रतप्रतिमा कहा जाता है । पहली प्रतिमा का आराधक पुरुष शुद्ध सम्यक्त्व वाला होता है । दूसरी मे वह चारित्र शुद्धि की ओर झुक कर कर्मक्षय का प्रयत्न करता है । वह पाँच अणुव्रत और तीन गुण-व्रतो को धारण करता है । चार शिक्षा व्रतो को भी अङ्गीकार करता है किन्तु सामायिक और देशावकाशिक व्रतो का यथा समय सम्यक् पालन नही करता । इस पडिमा का समय दो मास है ।

दंसणपडिमा जुत्तो पालेन्तोऽणुव्वए निरइयारे ।
अणुकम्पाइगुण जुओ जीवो इह होइ वयपडिमा ।।

दर्शनप्रतिमायुक्त, पालयन् अणुव्रतानि निरतिचाराणि ।
अनुकम्पादिगुणयुतो जीवइह भवति व्रतप्रतिमा ॥

(३) सामायिक प्रतिमा—सम्यग्दर्शन और अणुव्रत स्वीकार करने के पश्चात प्रतिदिन तीन बार सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है। तीसरी पडिमा म सव धम विषयक रुचि रहनी है। वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास धारण करता है। सामायिक और दशवाशिक की आराधना भी उचित रीति से करता है किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी अमावस्या और पूर्णिमा आदि पव दिनो मे पौषोधोपवास व्रत की सम्यग आराधना नही कर सकता। इस पडिमा का समय तीन मास का है।

वरदसणवयजुतो सामाइय कुणइ जो उ तिसञ्झासु ।
उक्कोसेण तिमास एसा सामाइयप्पडिमा ॥

वरदर्शनव्रत युक्त सामायिक करोति यस्तु त्रिसध्यासु ।
उत्कृष्टेन त्रीन मासान एषा सामायिक प्रतिमा ॥

(४) पौषध प्रतिमा—पूर्वोक्त तीन प्रतिमाओ के साथ जो व्यक्ति अष्टमी, चतुर्दशी आदि पव तिथियो पर प्रतिपूर्ण पौषधव्रत की पूर्णतया आराधना करता है यह पौषध प्रतिमा है। इस पडिमा की अवधि चार मास की होती है।

पुव्वोदियपडिमा जुओ पालइ जो पोसह तु सम्पुण्ण ।
अट्ठमि चउद्दसाइसु चउरो मासे चउत्थी सा ॥

पूर्वोदित प्रतिमायुत पालयति य पौषध तु सपूर्णम ।
अष्टमी चतुर्दश्यादिषु चतुरो मासान चतुर्थ्येषा ॥

(५) कायोत्सग प्रतिमा—कायोत्सग का अथ है शरीर का त्याग अथात कुछ समय के लिए शरीर वस्त्र आदि का ध्यान छोडकर मन को आत्मचिन्तन म लगाना, इस प्रकार रात भर ध्यान का अनुष्ठान करना कायोत्सग प्रतिमा है। इसकी अवधि पाच मास है। दिगम्बर परम्परा मे इसके स्थान पर सचित्त त्याग प्रतिमा है।

सम्ममणुव्वयगुणवयसिक्खावयव थिरो य नाणी य ।
अट्ठमिचउद्दसीसु पडिम ठाएगराईय ॥

दिवसवम्भयारी य ।
वज्जेसु दियहेसु ।।
जे जिणे जिएकसाए ।
पञ्च जा मासा ।।

स्थरश्च ज्ञानी च ।
तिष्ठत्येकरात्रिकीम् ।।
दिवस ब्रह्मचारी च ।
वर्जेषु दिवसेषु ।।
न् जिनान् जितकषायान् ।
यावन्मासाम् ।।

धारक अष्टमी या चतुर्दशी के दिन-
प्रवृत्तियो को त्याग कर सारी रात
त्सर्ग प्रतिमा कहते हैं । यह प्रतिमा
कर अधिक से अधिक पाँच मास तक
रित्याग तथा दिन में ब्रह्मचर्यव्रत
। किया जाता है । धोती की लाग

मात्रो के आराधन के पश्चात् छठी
सर्व व्रतो का सम्यक् रूप से पालन
है। इसमें पूर्ण ब्रह्मचर्य का विधान
गार तथा चेष्टाओ को देखना आदि
वर्जित हैं, किन्तु वह सचित्त आहार का त्याग नही करता अर्थात् औषध सेवन के समय या अन्य किसी कारण वह सचित्त को भी सेवन कर लेता है । इसकी अवधि छह मास है । दिगम्बर परम्परा मे इसे रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा या दिवामैथुन त्याग प्रतिमा कहते हैं ।

पुव्वोदिय गुणजुत्तो विसेसओ, विजिय मोहणिज्जो य ।
वज्जइ अबंभमेगंतओ य, राइं पि थिर चित्तो ।।

सिङ्गारकहा विरओ इत्थीए सम रहम्मि नो ठाइ ।
चयइ य अइप्पसङ्ग, तहा विभूस च उक्कोस ।।
एव जा छम्मासा एसोऽहिगओ उ इयरहा दिट्ठ ।
जावज्जीव पि इम वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ।।

पूर्वोदित गुणयुक्तो विशेषतो विजितमोहनीयश्च ।
वर्जयत्यब्रह्म तततस्तु रात्रावपि स्थिरचित्त ।।
शृङ्गारकथाविरत स्त्रिया सम रहसि न तिष्ठति ।
त्यजति चाति प्रसङ्ग तथा विभूषा चोत्कृष्टाम् ।।
एव यावत षण्मासान् एषोऽधिकनस्तु इतरया दृष्टम ।
यावज्जीवमपीद वर्जयति एतस्मिन लोके ।।

अर्थात पूर्वोक्त गुणा से युक्त जा व्यक्ति मोहनीयकम पर विजय प्राप्त कर लेता है रात्रि को भी ब्रह्मचय का पालन करता है तथा स्त्रियो से मलापादि नही करता । शङ्गारयुक्त वेषभूषा नही करता । इम प्रकार ६ मास तक रहना ब्रह्मचय प्रतिमा है। इस प्रतिमा की अवधि कम से कम एक दो या तीन दिन है और उत्कृष्ट छ मास है । यावज्जीवन भी ब्रह्मचय को धारण कर सकता है ।

(७) सचित्ताहारवजन प्रतिमा—सातवी पडिमा म सवधम विपयक रुचि होती है। इसमे उपरोक्त सब नियमो का पालन किया जाता है। इस पडिमा का धारक पूण ब्रह्मचय का पालन करता है और सचित्त आहार का सवथा त्याग कर देता है, किन्तु आरम्भ का त्याग नही करता । इसकी उत्कृष्ट काल मयादा सात मास है। दिगबर परम्परा म सातवी ब्रह्मचय प्रतिमा है ।

सच्चित्त आहार वज्जइ असणाइय निरवसेस ।
सेसवय समाउत्तो जा मासा सत्त विहिपुव ।।

सचित्तमाहार वर्जयति अशनादिक निरवशेषम् ।
शेषपदसमायुक्तो याव मासान सप्त विधि पूवम ।।

(८) स्वय आरम्भवजन प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारक उपरोक्त सभी नियमो का पालन करता है। सचित्त आहार का त्याग करता है। स्वय किसी प्रकार का आरम्भ अथवा हिंसा नही करता । इसमे आजीविका अथवा निर्वाह के लिए

दूसरे से कराने का त्याग नही होता। काल मर्यादा कम से कम एक दिन, दो दिन या तीन दिन उत्कृष्ट ८ मास है।

वज्जइ सयमारम्भं सावज्जं कारवेइ पेसेहिं।
वित्तिनिमित्तं पुव्वय गुणजुत्तो अट्ठ जा मासा ॥

वर्जयति स्वयमारम्भं सावद्यं कारयति प्रेष्यैः।
वृत्तिनिमित्तं पूर्वगुणयुक्तोऽष्ट यावन्मासान् ॥

(६) **भृतकप्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा**—नवमी पडिमा को धारण करने वाला उपासक उपरोक्त सब नियमो का यथावत् पालन करता है। आरम्भ का भी परित्याग कर देता है किन्तु उद्दिष्ट भक्त का परित्याग नही करता अर्थात् जो भोजन उसके निमित्त बनाया गया है वह उसे ग्रहण कर लेता है। वह स्वय आरम्भ नही करता न दूसरो से कराता है किन्तु अनुमति देने का उसका त्याग नही होता। इस प्रतिमा का कालमान कम से कम एक, दो या तीन दिन है और अधिक से अधिक ९ मास है।

पेसेहि आरम्भं सावज्जं कारवेइ नो गुरुयं।
पुव्वोइयगुणजुत्तो नव मासा जाव विहिणाउ ॥

प्रेष्यैरारम्भं सावद्यं कारयति नो गुरुकम्।
पूर्वोदित गुणयुक्तो नव मासान् यावद्विधिनैव ॥

(१०) **उद्दिष्टभक्तवर्जन प्रतिमा**—इस प्रतिमा मे उपासक अपने निमित्त से बने हुए भोजन का भी परित्याग कर देता है अर्थात् ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नही करता जो उसके लिए बनाई या तय्यार की गई हो। सासारिक कार्यो के विषय मे कोई बात पूछने पर इतना ही उत्तर देता है कि 'मैं इसे जानता हूँ या नही जानता।' इसके अतिरिक्त प्रवृत्ति विषयक कोई आज्ञा, आदेश या परामर्श नही देता। सिर को उस्तरे से मुंडाता है। कोई कोई शिखा रखता है। इसकी कालमर्यादा कम से कम एक, दो या तीन दिन उत्कृष्ट दस मास है।

उद्दिट्ठकडं भत्तंपि वज्जए किमुय सेसमारम्भं।
सो होई उ खुरमुण्डो, सिहलि वा धारए कोइ ॥

दव्व पुट्ठो जाण जाणे इइ वयइ नो य नो वेति ।
पु वोदिय गुणजुत्तो दस मासा कालमाणेण ।।

उद्दिष्टकत भक्तमपि वर्जयति किमुत शेषमारम्भम ।
स भवति तु क्षुरमुण्ड शिखा वा धारयति कोऽपि ।।
द्रव्य पृष्टो जानन जानामीति नो वा नवेति ।
पूर्वोदित गुणयुक्तो दश मासान कालमानेन ।।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा—ग्यारहवी पडिमाधारी सवधम विषयक रुचि रखता है । उपरोक्त सभी नियमो का पालन करता है । सिर के बालो को उस्तरे (क्षुर) से मुण्डवा देता है, शक्ति होने पर लुञ्चन कर सकता है । साधु जसा वेष धारण करता है । साधु के योग्य भण्डोपकरण आदि उपधि धारण कर श्रमण निग्र था के लिए प्रतिपादित धम का निरतिचार पालन करता हुआ विचरे । ग्यारहवी पडिमा धारी की सारी क्रियाएँ साधु के समान होती हैं अत प्रत्येक क्रिया म यतनापूवक प्रवत्ति करे । साधु के समान ही गोचरी से जीवन निर्वाह करे किन्तु इतना विशेष है कि उस उपासक का अपने सम्बधियो से सवथा राग नही छूटता है इस लिए वह उ ही क घरो म गोचरी लेने जाता है ।

इस प्रतिमा का कालमान जघन्य एक दो, तीन दिन है उत्कृष्ट ११ मास है । अर्थात यदि ग्यारह महीने से पहले ही प्रतिमाधारी श्रावक की मत्यु हो जाए या दीक्षित हो जाए तो जघन्य या मध्यम काल ही उसकी अवधि है । यदि दोनो म स कुछ भी न हो तो उपरोक्त सब नियमो के साथ ग्यारह महीने तक इस पडिमा का पालन किया जाता है ।

सब पडिमाओ का समय मिलाकर साढे पाच वष होता है ।

खुरमुण्डो लोएण व रयहरण ओग्गह च घेत्तूण ।
समणब्भूओ विहरइ धम्म काएण फासे तो ।।
एव उक्कोसेण एक्कारसमास जाव विहरेइ ।
एक्काहाइपरेण एव सव्वत्थ पाएण ।।

क्षुरमुण्डो लोचेन वा रजोहरणमवग्रह च गहीत्वा ।
श्रमणभूतो विहरति धम कायेन स्पशन ।।

एवमुत्कृष्टेनैकादश मासान् यावद् विहरति।
एकाहादेः परत. एवं सर्वत्र प्रायेण ॥

उपरोक्त पाठ में प्रतिमाओं के पालन के लिए तीन पद दिए हैं—'अहासुत्तं' 'अहाकप्पं' तथा 'अहामग्गं' 'अहासुत्त' का अर्थ है शास्त्र में उनका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुसार। 'अहाकप्प' का अर्थ है कल्प अर्थात् श्रावक की मर्यादा के अनुसार। 'अहामग्ग' का अर्थ है मार्ग अर्थात् क्षायोपशमिक स्थिति के अनुसार। ग्यारह प्रतिमाओ मे श्रावक धर्म का प्रारम्भ से लेकर उच्चतम रूप मिलता है। इनका प्रारम्भ सम्यक् दर्शन से होता है और अन्त ग्यारहवी श्रमणभूत प्रतिमा के साथ। तत्पश्चात् मुनिव्रत है। श्रावक की मर्यादा यही समाप्त हो जाती है।

आनन्द श्रमणोपासक ने उपरोक्त ग्यारह प्रतिमाओ का विधिविधान के अनुसार शास्त्रोक्त रीति से भली प्रकार आराधन किया।*

आनन्द का तपश्चरण और शरीर शोषण—

मूलम्—**तए णं से आणंदे समणोवासए इमेणं एयारूवेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं तवो-कम्मेणं सुक्के जाव किसे धमणिसंतए जाए ॥ ६६ ॥**

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासकोऽनेनैतद्रूपेणोदारेण विपुलेन प्रत्यनेन प्रगृहीतेन तपः कर्मणा शुष्को यावत्कृशो धमनिसंततो जातः।

शब्दार्थ—**तए णं**—तत्पश्चात् **स**—वह **आणदे समणोवासए**—आनन्द श्रमणोपासक **इमेणं**—इस **यएारूवेणं**—एतत्स्वरूप **उरालेणं**—उदार, **विउलेणं**—विपुल **पग्गहिएणं**—स्वीकृत **पयत्तेणं**—प्रयत्न तथा **तवोकम्मेणं**—तप कर्म से **सुक्के**—शुष्क **जाव**—यावत् **किसे**—कृश **धमणिसंतए**—उभरी हुई नाडियो से व्याप्त सा **जाए**—हो गया।

---

*ऊपर ग्यारह प्रतिमाओ का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। विशेष ज्ञान के लिए मेरे द्वारा विरचित दशाश्रुतस्कन्ध की "गणपतिगुणप्रकाशिका" नामक भाषा टीका मे छठी दशा का अनुशीलन करना चाहिए—व्याख्याकार।

भावार्थ—इस प्रकार के कष्टकर एव विपुल श्रम तथा तप के ग्रहण करने के कारण आनन्द का शरीर सूख गया, उसकी नस दिखाई देने लगी।

आनन्द द्वारा मरणातिक सल्लेखना का निश्चय—

मूलम्—तए ण तस्स आणदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्ता० जाव धम्मजागरिय जागरमाणस्स अय अज्झत्थिए ५ "एव खलु अह- इमेण जाव धमणिसतए जाए। त अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार परक्कमे सद्धा धिइ सवेगे। त जाव ता मे अत्थि उट्ठाणे सद्धा धिइ सवेगे, जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगव महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ता मे सेय कल्ल जाव जलते अपच्छिममारण तियसलेहणा झूसणाझूसियस्स, भत्तपाणपडियाइक्खियस्स काल अणवकङ्खमाणस्स विहरित्तए।" एव सपेहेइ, २ त्ता कल्ल पाउ जाव अपच्छिममारण- तिय जाव काल अणवकङ्खमाणे विहरइ ॥ ७० ॥

छाया—तत खलु तस्यानन्दस्य श्रमणोपासकस्यान्यदा कदाचित पूर्वरात्रौ यावद्धर्म जागरिका जाग्रतोऽयमाध्यात्मिक ५ "एव खल्वहमनेन यावद्धमनिसन्ततो जात। तदस्ति तावन्मे उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकारपराक्रम श्रद्धा, धृति, सवेग, यावच्च मे धर्माचार्या धर्मोपदेशक श्रमणो भगवान महावीरो जिन सुहस्तो विहरति, तावन्मे श्रेय कल्य यावज्ज्वलति अपश्चिममारणान्तिक सलेखना जोषणा जूषितस्य भक्तपानप्रत्याख्यातस्य कालमनवकाक्षतो विहर्तु म, एव सप्रेक्षते, सप्रेक्ष्य कल्य प्रादुर्यावदपश्चिममारणान्तिक यावात्कालमनवकाक्षन विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—इसके अनन्तर तस्स—उस आणदस्स समणोवासयस्स—आनन्द श्रमणोपासक का अन्नया कयाइ—एक दिन पुव्वरत्ता०—पूवरात्रि के अपर भाग म जाव—यावत धम्मजागरिय जागरमाणस्स—धर्म जागरण करते २ अय—यह अज्झत्थिए ४—सकल्प उत्पन्न हुआ कि—एव खलु अह—मैं निश्चय ही इमेण—इस तपस्या से शुष्क जाव—यावत एव धमणिसतए—धमनियो से व्याप्त जाए—हो गया हूँ, त अत्थि ता०—तो भी मे—मुझ म अभी उट्ठाणे—उत्थान कम्मे—कर्म बले—बल वीरिए—

वीर्य, **पुरिसक्कार परक्कमे**—पुरुषकार पराक्रम, **सद्धा धिइ संवेगे**—श्रद्धा, धृति और सवेग **अत्थि**—हैं, **तं जाव ता**—जब तक **मे**—मुझ मे **उट्ठाणे**—उत्थान **सद्धाधिइसंवेगे**—यावत्, श्रद्धा, धृति, सवेग, **अत्थि**—हैं **जाव य**—और जब तक **मे**—मेरे **धम्मायरिए**—धर्माचार्य **धम्मोवेएसए**—धर्मोपदेशक **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर, **जिणे**—जिन **सुहत्थी**—सुहस्ती **विहरइ**—विचरते हैं **ताव ता**—तब तक **कल्लं**—कल प्रात काल **जाव**—यावत् **जलंते**—सूर्य उदय होने पर **अपच्छिममारणंतियसंलेहणा-झूसणा झूसियस्स**—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना को अङ्गीकार करके **भत्तपाण-पडियाइक्खियस्स**—भक्तपान का प्रत्याख्यान करके **कालं अणवकंखमाणस्स**—मृत्यु की काक्षा न करते हुए **मे**—मेरे को **विहरित्तए**—विचरना **सेयं**-श्रेय है । **एवं**-इस प्रकार **संपेहेइ**—विचार किया, **संपेहित्ता**—विचार करके **कल्लं पाउ**—दुसरे दिन प्रात:काल **जाव**—यावत् **अपच्छिममारणंतिय**—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना को स्वीकार करके, **जाव**—यावत् **कालं अणवकंखमाणे**—काल की काक्षा न करते हुए **विहरइ**—विचरने लगा ।

भावार्थ—तदनन्तर एक दिन आनन्द श्रावक को पूर्वरात्रि के अपर भाग मे धर्म चिन्तन करते हुए यह विचार आया—यद्यपि मैं उग्र तपश्चरण के कारण कृश हो गया हूँ । नसे दीखने लगी हैं, फिर भी अभी तक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुपार्थ पराक्रम, श्रद्धा, धृति और सवेग विद्यमान हैं । अत जब तक मुझ मे उत्थानादि है और जब तक मेरे धर्मोपदेशक धर्माचार्य श्रमण भगवान महावीर जिनसुहस्ती विचर रहे हैं । मेरे लिए श्रेयस्कर होगा कि अन्तिम मरणान्तिक सलेखना अङ्गीकार करलूँ । भोजन, पानी आदि का परित्याग करदूँ और मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए शान्त चित्त से अन्तिम काल व्यतीत करूँ ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द द्वारा अन्तिम सलेखनाव्रत अङ्गीकार करने का वर्णन है, इसमे कई वाते महत्वपूर्ण हैं ।

सलेखना जीवन का अन्तिम व्रत है, और यह जैन साधक की जीवन-दृष्टि को प्रकट करता है । पहले बताया जा चुका है कि जैन धर्म मे जीवन एक साधन है, साध्य नही । वह अपने आप मे लक्ष्य नही है । वह आत्म-विकास का साधन मात्र

है। साधन का तभी तक अपनाना चाहिए जब तक वह लक्ष्य सिद्धि म सहायक है। इसके विपरीत यदि वह बाधाएँ उपस्थित करने लगे तो साधन को छोड़ देना ही उचित है। शरीर या जीवन का भी तभी तक रखना चाहिए, जब तक वह आत्म विकास म सहायक है। रोग असक्ति अथवा अन्य कारणों से जब यह प्रतीत होने लगे कि अब यह विकास के स्थान पर पतन की ओर ले जाएगा, मन में उत्साह न रहे चिन्ताएँ सताने लगें और भावनाएँ कलुषित होने लगें, तो ऐसी स्थिति आने से पहले ही शरीर का परित्याग कर देना उचित है। आनन्द श्रमणोपासक ने भी यही निश्चय किया। उसने सोचा—जब तक मुझ म बल, वीर्य, पराक्रम, उत्साह आदि विद्यमान हैं और मेरे धर्मोपदेशक मेरे धर्माचार्य भगवान महावीर विचर रहे हैं, मुझे जीवन का अन्तिम व्रत ले लेना चाहिए।

यह निश्चय कर लेने पर प्रात होते ही उसने सलेखना व्रत ले लिया आमरण अशन पान आदि आहार का त्याग कर दिया और एकमात्र आत्म चिन्तन मे लीन हो गया। सूत्रकार ने यहाँ बताया है कि जिस प्रकार उसने जीने की आकांक्षा छोड दी उसी प्रकार मरने की आकांक्षा भी नही की अर्थात उसने यह भी नही चाहा कि भूख प्यासादि के कारण कष्ट हो रहा है अत मृत्यु शीघ्र ही आजाए। जीवन, मरण यश कीर्ति ऐहिक भोग तथा पारलौकिक सुख आदि सब इच्छाओ मे निवृत्त होकर एकमात्र आत्मचिन्तन म लीन होकर वह समय व्यतीत करने लगा।

प्रस्तुत सूत्र म कुछ शब्द ध्यान देने योग्य हैं उत्थान—उठना, बैठना, गमनागमन आदि शारीरिक चेष्टाएँ अथवा हल चल। बल—शारीरिक शक्ति। वीर्य—आत्म तेज या उत्साह शक्ति जो किसी कार्य का करने की प्रेरणा देती है—"विशेषेण इयते प्रेर्यते अनेन इति वीर्यम"। पुरुषकार—पुरुषार्थ या उद्यम। पराक्रम—इष्ट साधन के लिए परिश्रम। श्रद्धा—विशुद्ध चित्तपरिणति के कारण होने वाला दृढ विश्वास। धृति—धैर्य भय, शोक दुःख सकट आदि से विचलित न होना अर्थात मन मे किसी प्रकार का क्षोभ या उद्वेग न आना। सवेग—आत्मा तथा अनात्मा सम्बन्धी विवेक के कारण बाह्य वस्तुओ से होने वाली विरक्ति। शास्त्र म स्थान २ पर धर्म जागरिका के लिए पूर्व रात्रि का अपर भाग विशेष रूप से बताया गया है इसका अर्थ है—मध्यम रात्रि। उस समय दुनिया का कोलाहल बन्द हो जाता है और मानसिक वृत्तियाँ शान्त होती हैं। योग परम्परा मे भी मन की एकाग्रता का अभ्यास

करने के लिए इस समय को प्रशस्त माना है। आनन्द ने भगवान महावीर स्वामी के रहते ही अन्तिम व्रत ले लेना उचित समझा। धर्मानुष्ठान के लिए गुरु या मार्ग दर्शक का उपस्थित रहना अत्यन्त उपयोगी है इससे उत्साह बना रहता है और किसी प्रकार का सदेह, द्विविधा, अडचन आदि उत्पन्न होने पर उनका निवारण होता रहता है।

आनन्द को अवधिज्ञान का होना—

मूलम्—**तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ओहिनाणे समुप्पन्ने। पुरत्थिमेणं लवण-समुद्दे पंच-जोयण सयाइं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेणं य, उत्तरेणं जाव चुल्लहिमवंतं वास घर पव्वयं जाणइ पासइ, उड्ढं जाव सोहम्मं कप्पं जाणइ पासइ, अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलु-यच्चुयं नरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठिइयं जाणइ पासइ ॥ ७१ ॥**

छाया—ततः खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्यान्यदा कदाचित् शुभेनाध्यव-सायेन, शुभेनपरिणामेन, लेश्याभिर्विशुद्धचमानाभिस्तदावरणीयानां कर्म्मणां क्षयो-पशमेनावधिज्ञानं समुत्पन्नम्। पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे पञ्चयोजन-शतानि क्षेत्रं जानाति पश्यति। एवं दक्षिणात्ये पश्चिमात्ये च, उत्तरे खलु यावत् क्षुल्लहिमवन्तं वर्ष-धरपर्वतं जानाति पश्यति, ऊर्ध्वं यावत् सौधर्मकल्पं जानाति पश्यति, अधो यावद् अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या लोलुपाच्युतंनरकं चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकं जानाति पश्यति।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर आणदस्स समणोवासगस्स—आनन्द श्रमणो-पासक को अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित् सुभेण—शुभ अज्झवसाणेणं—अध्यव-साय तथा सुभेणं परिणामेणं—शुभपरिणाम के कारण विसुज्झमाणीहिंलेसाहिं—विशुद्ध होती हुई लेश्याओ से तदावरणिज्जाणं कम्माणं—अवधिज्ञानावरण कर्म के खओव-समेण—क्षयोपशम से ओहिनाणे—अवधि ज्ञान समुप्पन्ने—उत्पन्न हो गया, उसके द्वारा

पुरत्थिमेण—पूर्व की ओर लवण समुद्दे—लवण समुद्र मे पञ्च जोयण सयाइ—पांच सौ योजन खेत्त—क्षेत्र को जाणइ पासइ—जानने और देखने लगा। एव दक्खिणेण पच्चत्थिमेण—इसी प्रकार दक्षिण और पश्चिम मे भी पाच सौ योजन तक जानने और देखने लगा। उत्तरेण—उत्तर की ओर चुल्लहिमवतवासधरपव्वय—क्षुल्लहिमवान वर्षधर पर्वत को जाणइ पासइ—जानने और देखने लगा। उड्ढ—ऊर्ध्व लोक मे सोहम्म कप्प जाव—सौधर्म कल्प तक जाणइ पासइ—जानने देखने लगा और अहे—अधोलोक में इमीसे—इस रयणप्पभाए—रत्न प्रभा पुढवीए—पृथ्वी के चउरासीइवाससहस्सट्ठिइय—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले लोलुयच्चुय नरय—लोलुपाच्युत नामक नरक जाव—तक जाणइ—जानने तथा पासइ—देखने लगा।

भावार्थ—इस प्रकार धर्म चिन्तन करते हुए आनन्द का एक दिन शुभ अध्यवसाय शुभ परिणाम एव विशुद्ध लेश्या के कारण अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो गया और अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। परिणामस्वरूप वह पूर्व, पश्चिम की तरफ लवण समुद्र में पाच सौ योजन की दूरी तक जानने और देखने लगा। उत्तर दिशा की तरफ क्षुल्लहिमवान वर्षधर पर्वत का ऊर्ध्वलोक मे सौधर्मकल्प तक और अधोलोक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले लोलुपाच्युत नरक तक जानने और देखने लगा।

टीका—इस सूत्र में आनन्द के अवधिज्ञान का वर्णन है। उसका क्रम नीचे लिखे अनुसार बताया गया है। तपस्या, धर्मचिन्तन आदि के कारण उसके अध्यवसाय शुद्ध हुए। तदनन्तर परिणाम शुद्ध हुए। परिणाम शुद्ध होने पर लेश्याएँ शुद्ध हुई। लेश्याएँ शुद्ध होने पर अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ और उससे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। टीकाकार ने अध्यवसाय का अर्थ किया है—प्रथम मनोभाव अर्थात् कार्यविशेष या अनुष्ठान के लिए दृढसंकल्प। उसके लिए परिश्रम करने का निश्चय और मार्ग में आने वाले संकट एवं विघ्न बाधाओं से विचलित न होने की प्रतिज्ञा। परिणाम का अर्थ है—अध्यवसाय के पश्चात् उत्तरोत्तर बढती हुई विशुद्धि एवं उत्साह के फलस्वरूप उठने वाले मनोभाव। लेश्या का अर्थ है अन्तिम मनोभाव जो आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति को प्रकट करते हैं।

जैन आगमों में ६ लेश्यायें बताई गई हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजस (५) पद्म और (६) शुक्ल। कृष्ण लेश्या क्रूरतम विचारों को प्रकट

करती है इसके पश्चात नील आदि लेश्याओं मे विचार उत्तरोत्तर शुद्ध होते जाते है। अन्तिम लेश्या मे वे पूर्णतया निर्मल हो जाते हैं। विचार ज्यो ज्यो निर्मल होते है, साधक उत्तरोत्तर लेश्याओ को प्राप्त करता जाता है। इनका विस्तृत वर्णन पण्णवणा सूत्र का सत्तरहवाँ पद, और उत्तराध्ययन तथा चतुर्थ कर्मग्रन्थ मे दिया गया है।

अवधिज्ञानावरण---जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एव अनन्त वीर्य अर्थात् शक्ति का पुञ्ज है, उसका यह स्वरूप कर्मबन्ध के कारण दबा हुआ है, इसी लिए वह ससार मे भटक रहा है और सुख-दु ख भोग रहा है। कर्म आठ है, उनमे से ४ आत्मा के उपरोक्त गुणो को दबा रखते है, शेष ४ विविध योनियो मे विविध प्रकार की शारीरिक एव सामाजिक स्थिति न्यूनाधिक आयु एव बाह्य सुख-दु.ख के प्रति कारण हैं। प्रथम चार मे ज्ञानावरण—ज्ञान पर पर्दा डालता है, दर्शनावरण—दर्शन पर, मोहनीय—सुख का घात करता है और अन्तराय शक्ति का। ज्ञानावरण के ५ भेद हैं---(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुत-ज्ञानावरण (३) अवधि ज्ञानावरण (४) मन:पर्यय ज्ञानावरण (५) केवल ज्ञानावरण।

अवधिज्ञान---दूर-सूक्ष्म विषयक उस अतीन्द्रिय ज्ञान को कहते हैं जो रूप वाले द्रव्यो तक सीमित है। आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया और वह निश्चित सीमा तक दूरवर्ती पदार्थो को देखने तथा जानने लगा।

लवण समुद्र---जैन भूगोल के अनुसार मनुष्यक्षेत्र अढाई द्वीपो तक फैला हुआ है। मध्य मे जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन लम्बा, एक लाख योजन चौडा वृत्ताकार है। उसके चारो ओर लवण समुद्र है। लवण समुद्र के चारो ओर धातकी खण्ड नामक द्वीप है। उस द्वीप को कालोदधि समुद्र घेरे हुए है। उसके चारो ओर पुष्करद्वीप है। इस द्वीप के मध्य मे मानुपोत्तर पर्वत है। मनुष्यो की बस्ती यहाँ तक ही है।

वर्षधर पर्वत---जम्बूद्वीप के बीच मेरु पर्वत है। मेरु से दक्षिण की ओर भरत आदि ६ खण्ड हैं। वर्षधर पर्वत इन खण्डो का विभाजन करता है। एतत्सम्बन्धी विस्तारार्थ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थ आदि ग्रन्थो को देखना चाहिए।

सौधम देवलोक--ऊध्व लाक मे प्रथम देवलोक का नाम सौधम है।

रत्न प्रभा—पथ्वी के अधोभाग म सात नक हैं। प्रथम नरक का नाम रत्नप्रभा है। उस नरक म भी अनेक प्रकार के नारकीय जीव रहत हैं। लालुपाच्युत नरक भी इसी पथ्वी का स्थान विशेष है। जहाँ नारकीय जीवा की आयु चौरासी हजार वप मानी जाती है।

भगवान महावीर का पुनरागमन—

मूलम—तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे समोसरिए, परिसा निग्गय, जाव पडिगया ॥ ७२ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन समये श्रमणो भगवान महावीर समवसत। परिषन्निगता यावत्प्रतिगता।

शब्दाथ—तेण कालेण—उस काल चौथे आरक म तेण समएण—उसी समय म जब वाणिज्य ग्राम म आनन्द को अवधिज्ञान उत्पन्न हो चुका था समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर समोसरिए—पधारे परिसा निग्गया—परिषद धम श्रवणाथ गई जाव—यावत पडिगया—और लौट गई।

भावाथ—उस काल उस समय में श्रमण भगवान महावीर ग्रामानुग्राम धम जागति करते हुए वाणिज्य ग्राम के बाहर दुतिपलाश चत्य मे पधारे नगर की परिषद धम श्रवण करने के लिए गई और धम उपदेश सुन कर वापिस लौट आई।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे वाणिज्य ग्राम नगर के बाहिर दूतिपलाश चत्य मे श्रमण भगवान के पुनरागमन का निर्देश किया गया है। लोगो का धम श्रवण के लिए आने और वापिस लौटने का भी सकेत है। इस सबका विस्तत वणन पहले आ चुका है।

गौतम स्वामी का वणन—

मूलम—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इदभूई नाम अणगारे गोयम गोत्तेण सत्तुस्सेहे, मम चउरससठाण सठिए, वज्जरिसहनारायसघयणे, कणगपुलगनिघसपम्हगोरे

उग्गतवे, दित्ततवे, तत्तवे, घोरतवे, महातवे, उराले, घोरगुणे घोरतवस्सी, घोरवंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्तविउलतेउलेस्से, छट्ठं-छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।। ७३ ।।

छाया——तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूतिर्नाम अनगारो गौतम गोत्रः खलु सप्तोत्सेध., समचतुरस्र संस्थान संस्थितः, वज्रर्षभनाराचसंहननः, कनकपुलकनिकषपद्मगौरः, उग्रतपाः, दीप्ततपाः, तप्ततपाः घोरतपाः, महातपाः, उदारः, घोरगुणः, घोरतपस्वी, घोरब्रह्मचर्यवासी, उत्सृष्टशरीरः, सक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य., षष्ठषष्ठेन अनिक्षिप्तेन तपः कर्मणा, संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति ।

शब्दार्थ——**तेणं कालेणं**—उस काल **तेणं समएणं**—उस समय **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर के **जेट्ठे अन्तेवासी**—प्रधान शिष्य **इंदभूई नामं अणगारे**—इन्द्रभूति नामक अनगार **गोयमगोत्तेणं**—गौतम गोत्रीय **सत्तुस्सेहे**—सात हाथ ऊँचे शरीर वाले, **समचउरंससंठाणसंठिए**—समचतुरस्र संस्थान वाले **वज्जरिसहनारायसंघयणे**—वज्रर्पभनाराचसहनन वाले **कणगपुलगनिघसपम्हगोरे**—निकप—कसौटी पर घिसे हुए सोने की रेखा और पद्म के समान गौरवर्ण वाले **उग्गतवे**—उग्र तपस्वी, **दित्ततवे**—दीप्त तपस्वी **तत्तवे**—तप से तपे हुए **घोरतवे**—घोर तपस्वी **महातवे**—महा तपस्वी **उराले**—उदार **घोरगुणे**—महान् गुणो वाले **घोरतवस्सी**—घोर तपस्वी **घोरवंभचेरवासी**—उग्र ब्रह्मचर्य व्रत के धारक **उच्छूढसरीरे**—शारीरिक मोह से रहित अथवा शरीर त्यागी **संखित्तविउलतेउलेस्से**—तेजोलेश्या की विशाल शक्ति को समेटे हुए **छट्ठं छट्ठेणं**—षष्ठ भक्त अर्थात् बेले-बेले के **अणिक्खित्तेणं**—निरन्तर **तवोकम्मेणं**—तपानुष्ठान **संजमेणं**—सयम, **तवसा**—तथा अनशनादि अन्य तपश्चरण के द्वारा **अप्पाणंभावेमाणे**—अपनी आत्मा को सस्कारित करते हुए **विहरइ**—विचर रहे थे ।

भावार्थ——उस काल और उस समय श्रमण भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार विचर रहे थे, वे सात हाथ ऊँचे थे, समचतुरस्रसस्थान, वज्रर्पभनाराचसहनन वाले तथा सुवर्ण पुलक निकष और पद्म के

समान गौरवर्ण वाले थे। उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, घोरतपस्वी, महातपस्वी, उदार, महा गुणवान उत्कृष्ट तपोधन उग्र ब्रह्मचारी, शरीर से निर्मल और संक्षिप्त की हुई विपुल तेजोलेश्या के धारक थे। निरन्तर बेले तथा अन्य प्रकार के तपोनुष्ठान द्वारा आत्मविकास कर रहे थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी का वर्णन है। यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के कुछ मुख्य शिष्य होते हैं जिन्हें गणधर कहा जाता है। भगवान महावीर के ११ गणधर थे उनमें इन्द्रभूति प्रथम एवं ज्येष्ठ थे। वे महातपस्वी तथा विनय सम्पन्न थे। प्रस्तुत पाठ में दिया गया प्रत्येक विशेषण उनके महत्वपूर्ण गुणों को प्रकट करता है।

इन्द्रभूति—गौतम स्वामी का वैयक्तिक नाम इन्द्रभूति था, गौतम उनका गोत्र था। व्यवहार में अधिकतर गोत्र का प्रयोग होने से उनका नाम ही गौतम प्रसिद्ध हो गया। भगवान महावीर भी उन्हें 'गोयमा'! अर्थात् हे गौतम'! शब्द द्वारा सम्बोधित करते थे।

अणगारे—इस शब्द का अर्थ है साधु एवं मुनि, जैन धर्म में साधना के २ रूप बताए गए हैं। (१) श्रावक के रूप में जहाँ गृह सम्पत्ति तथा सूक्ष्म हिंसादि का त्याग नहीं होता है। (२) साधु का इनका पूर्णतया त्याग होता है। श्रावक को सागार कहा जाता है। आगार के २ अर्थ हैं—(१) घर या (२) व्रत धारण में अमुक छूट। इन दोनों का परित्याग होने के कारण मुनि को अनगार कहा जाता है।

सत्तुस्सेहे—(सप्तोत्सेध) इसमें गौतम स्वामी की शारीरिक सम्पति का वर्णन है। उत्सेध का अर्थ है—ऊँचाई वे सात हाथ ऊँचे थे।

समचउरस संठाण संठिए—(समचतुरस्रसंस्थान संस्थित) जैन धर्म में शरीर की रचना नामकर्म के उदय से मानी जाती है। नामकर्म की अठानवे प्रकृतियां हैं उन्हीं में ६ संस्थान तथा ६ संहननों का वर्णन आता है। संस्थान का अर्थ है शरीर की रचना इसका मुख्य सम्बन्ध बाह्य आकार से है। किसी का शरीर सुडौल होता है अर्थात् हाथ पांव आदि अंग संतुलित एवं सुरूप होते हैं और किसी का बेडौल। इसी आधार पर ६ संस्थान बताए गए हैं उनमें समचतुरस्रसंस्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसका

अर्थ है सिर से लेकर पैरों तक समस्त अङ्गो का एक दूसरे के अनुरूप एव सुन्दर होना ।

वज्ज-रिसह-नाराय-संघयणे--(वज्रर्षभ-नाराच-सहन) सहनन का अर्थ है--शरीर के अगो का सगठन । उदाहरण के रूप मे किसी का शारीरिक सगठन इतना दुर्वल होता है कि थोडा सा झटका लगने पर अङ्ग अपने स्थान से हट जाते हैं । और किसी के इतने मजबूत होते है कि किसी भी परिस्थिति मे अपना स्थान नही छोडते । इसी आधार पर ६ सहनन वताए गए हैं और इनमे शारीरिक सन्धियो की वनावट का वर्णन है जो शरीर शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । वज्र-ऋषभनाराच सहनन सर्वोत्तम माना गया है, और यह तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती एव अन्य अन्य महापुरुषो के होता है । इसमे हड्डियाँ तीन प्रकार से मिली हुई होती है। (१) नाराच अर्थात् मर्कट वन्ध अर्थात् एक हड्डी दूसरी हड्डी मे कुण्डे की तरह फँसी हुई होती है, (२) ऋषभ–अर्थात् उस वन्धन पर वेष्टन पट्ट चढा रहता है, (३) कीलक–अर्थात् पूरे जोड मे कील लगी रहती हे । वज्रऋषभनाराच सहनन मे ये वन्ध पूर्ण रूप मे होते हैं । इसके विपरीत अन्य सहननो मे किसी मे आधा कील होता है किसी मे होता ही नही, किसी मे वेष्टनपट्ट नही होता और किसी मे हड्डियाँ मर्कटवन्ध के स्थान पर यो ही आपस मे सटी रहती हैं और अस्थिवन्ध उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है ।

कणग-गोरे--(कणकपुलकनिकषपद्मगौर) इसमे भगवान् गौतम के शरीर का वर्ण वताया गया है। वे सुवर्णपुलक निकष अर्थात् कसौटी पर खिची हुई सुवर्ण रेखा तथा पद्म अर्थात् कमल के समान गौर वर्ण के थे ।

उग्गतवे--(उग्रतपा) 'वे उग्र अर्थात् कठोर तपस्वी थे ।

घोरतवे--(घोर-तपा) 'वे घोरतपस्वी थे, घोर का अर्थ है कठोर, उन्होने तपस्या करते समय कभी अपने शरीर के प्रति ममता या दुर्वलता नही दिखाई, दूसरो के लिए जो अत्यन्त दयालु थे वे ही अपने लिए कठोर थे ।

महातवे--(महा-तपा) वे महा तपस्वी थे। उपरोक्त तीनो विशेषण इस वात को प्रकट करते हैं कि जैन परम्परा मे वाह्य एव आभ्यन्तर सभी प्रकार के तपो का महत्वपूर्ण स्थान रहा है ।

उराले—(उदार) वे उदार अर्थात मनस्वी एव विशाल हृदय थे । प्रत्येक वात मे उनका दृष्टिकोण उच्चतम लक्ष्य की ओर रहता था ।

घोरगुणे—(घोरगुण) व तपस्या ज्ञान, कठार चारित्र आदि विशिष्ट गुणो के धारक थे । घोर शब्द से उन गुणा की ओर सकेत किया गया है जहा किसी प्रकार की शिथिलता या दुबलता के लिए स्थान नही होता ।

घोर तवस्सी घोरबभचेरवासी—(घारतपस्वी घोरब्रह्मचयवासी) इन दोनो विशेषणो मे भी यही बताया गया है, कि उनकी तपस्या एव कठोर ब्रह्मचय मे किसी प्रकार की शिथिलता या दुबलता के लिए अवकाश न था । उ है देख कर दूसरे आश्चयचकित हो जाते थे ।

उच्छूढ सरीरे—(उत्सृष्टशरीर) उ होने अपने शरीर का परित्याग कर रखा था अर्थात खाना पीना, चलना फिरना आदि काय करने पर भी ममत्व छोड रखा था । उपनिषदो में इसी अथ को लेकर जनक को वैदेह कहा गया है ।

सखित्त विउल तेउ-लेस्से—(सक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य) यहाँ तेजो लेश्या का अथ है दूसरो को भस्म कर देने की शक्ति । यह उग्र तपस्या के फलस्वरूप अपने आप प्रकट हाती हैं । गौतम स्वामी मे यह शक्ति विपुल अर्थात प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थी किन्तु उन्हाने इसे अपने ही शरीर मे समेट रखा था । प्रचुर शक्ति होने पर भी उन्होने उसका कभी प्रयोग नही किया । जन परम्परा म तपोजन्य विभूतियो के लिए गौतम स्वामी को आदश माना जाता है ।

छट्ठ छट्ठेण—(षष्ठषष्ठेन) एक प्रकार की तपस्या है । इसका अथ है छ भोजनो का परित्याग—अर्थात पहले दिन सायकाल का भोजन न करे दूसरे दिन तथा तीसरे दिन पूण उपवास रखे । और चौथे दिन प्रात कालीन भोजन करे । इस प्रकार इसमें २ दिन का पूण उपवास और दो दिन एक एक समय भोजन करना होता है । गौतम स्वामी इस प्रकार का तप निरन्तर कर रहे थे अर्थात छट्ठ करके पारणा करते थे और फिर छट्ठ कर लेते थे । इस प्रकार दीघकाल से उनका तप निरन्तर चल रहा था जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की शान्तिचन्द्रीया वत्ति मे गौतम स्वामी का वणन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

"अनन्तरोक्त विशेषणे हीन सहननोऽपिस्यादत आह 'वज्ज' त्ति वज्रऋषभनाराच

संहनन., तत्र नाराचम् उभयतो मर्कटबन्धः, ऋषभः तदुपरिवेष्टनपट्टः, कीलिका— अस्थित्रयस्यापि भेदकमस्थि एव रूपं संहननं यस्य स तथा, अयं च निन्द्यवर्णोऽपिस्यादत आह–'कणग' त्ति कनकस्य-सुवर्णस्य पुलको—लवस्तस्य यो निकषः कषपट्टके रेखारूपः तद्वत् तथा 'पम्ह' त्ति अवयवे समुदायोपचारात् पद्म शब्देन पद्मकेसराण्युच्यन्ते तद्वद् गौर इति, अयं च विशिष्ट चरणरहितोऽपिस्यादत आह उग्रम्—अप्रधृष्यं तपः—अनशनादि यस्य स तथा, यदन्येन चिन्तितुमपि न शक्यते तद्विधेन तपसायुक्त इत्यर्थः, तथा दीप्तं जाज्वल्यमान दहन इव कर्मवनगहनदहन समर्थतया ज्वलित तपोधर्मध्यानादि यस्य स तथा, तथा तप्तं तपो येन स तथा। एवं हि तेन तप्तं तपो येन सर्वाण्यशुभानि कर्माणि भस्मसात्कृतानीति, तथा महत् प्रशस्तमाशंसादि दोषरहितत्वात् तपो यस्य स तथा, तथा उदारः—प्रधानः अथवा ओरालो—भीष्मः, उग्रादि विशेषेण विशिष्ट तपः करणतः पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः, तथा घोरो निर्घृणः परीष-हेन्द्रियादिरिपुगण विनाशनमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः, अन्येतु आत्मनिरपेक्षं घोरमाहुः, तथा घोरा—इतरैर्दुरनुचरागुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा घोरैस्तपोभिस्तपस्वी तथा घोरं—दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद् यद् ब्रह्मचर्य तत्र वस्तुं शील यस्य स तथा। 'उच्छूढ'—उज्झितं संस्कारपरित्यागात् शरीरं येन स तथा। संक्षिप्ता—शरीरान्तर्गतत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला विस्तीर्णा अनेक योजन प्रमाण क्षेत्राश्रित वस्तु दहन समर्थत्वात् तेजोलेश्या—विशिष्टतपोजन्य लब्धिविशेष प्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा। चतुर्दश—पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य स तथा, तेन तेषा रचितत्वात्, अनेन तस्य श्रुत-केवलितामाह—स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह—चतुर्ज्ञानोपगतः, मति-श्रुतावधिमन.पर्यायरूप ज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थः। उक्त विशेषणद्वयकलितोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति, चतुदशपूर्वविदां षट्स्थानपतितत्वेन श्रवणात्, अत आह सर्वे च ते अक्षर सन्निपाताश्च-अक्षरसंयोगस्ते ज्ञेयतया सन्ति यस्य स तथा किमुक्तं भवति ? या काचिज्जगति पदानुपूर्वी वाक्यानुपूर्वी वा सम्भवन्ति ताः सर्वा अपि जानाति अथवा श्रव्यानि—श्रुतिसुखकारीणि अक्षराणि साङ्गत्येन नितरां वदितुं शीलमस्येति स तथा एवं गुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्तेन विहरतीति योगः, तत्र दूरं—विप्रकृष्टं सामन्तं सनिकृष्टं तत्प्रतिषेधाददूरसामन्तं तत्र नातिदूरे नातिनिकटेत्यर्थः, कि विधः सन् तत्र विहरतीति ? ऊर्ध्व जानुनी यस्य स

तथा, "शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिक निषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासन इत्यर्थ, अध शिरो—नोर्ध्वं तिर्यग वा निक्षिप्त दृष्टि, किन्तु नियत भूभागनियमितदृष्टिरित्यर्थ, ध्यान धर्म शुक्ल वा तदेव कोष्ठ—कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपागत । यथाहिकोष्ठके धान्य निक्षिप्तमविप्रसृत भवति एव भगवानपि ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्त करण वृत्तिरित्य, सयमेन—पञ्चाश्रवनिरोधादिलक्षणेन, तपसा अनशनादिना च शब्दोऽत्र समुच्चयार्थो लुप्तो द्रष्टव्य, सयमतपसोग्रहण चानयो प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनाय प्राधान्य च सयमस्य नवकर्मानुपादान हेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरा हेतुत्वेन, भवति चाभिनवकर्मानुपादानात पुराणकर्म क्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणे मोक्ष इति, आत्मान भावयन—वासयन विहरीति तिष्ठतीत्यर्थ ।'

भावार्थ—उक्त सदर्भ म श्री गौतमस्वामी की शारीरिक एव आध्यात्मिक सम्पदा सक्षेप म वर्णित है— जैसे—भगवान गौतम की सहनन वज्रऋषभनाराच थी जो कि अत्यन्त दृढ एव शक्तिशाली होती है। उनके शरीर का वर्ण कसौटी पर घिसे हुए सोने की रेखा तथा पद्म कमल के पराग की भाति गौर और मनोहारी था। इस प्रकार विशिष्ट सौन्दर्य से युक्त होने पर भी उग्र तप करते थे जिस का साधारण व्यक्ति चिन्तन भी नही कर सकते। व तप तथा धर्म ध्यान की जाज्वल्यमान ज्वाला से कर्म महावन को दहन कर रहे थे। वे आशसारहित तपस्तेज से उद्दीप्त थे। उनके महा तपश्चरण को देखकर पाश्वस्थ एव हीनसत्त्व व्यक्ति भयभीत होत थे। वे इन्द्रिय और परीषह शत्रुओ का निर्दयता से दमन कर रहे थे। उन्होने शरीर सत्कार और ममत्व को छोडकर दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया हुआ था। भगवान गौतम सदैव मूल तथा उत्तर गुण की आराधना मे तत्पर रहते थे। उग्र तप एव भीष्म ब्रह्मचर्य व्रत से योजना परिमाण क्षेत्र म स्थित वस्तुओ को भस्म करने मे समर्थ तेजोलेश्या लब्धि विशेष उत्पन्न हो गई थी। जिसको उन्होने अपने आध्यात्म मे सक्षिप्त किया हुआ था।

चौदह पूर्व के रचयिता होने से वे चतुर्दश पूर्वधर थे। सभी चतुर्दश पूर्वधारी भी समग्रश्रुत के धारक नही होते, उन म भी षाड्गुण्य हानि वृद्धियुक्त तथा अवधि ज्ञान के विकल होते हैं। परन्तु गौतम मति श्रुति अवधि और मन पर्याय चार ज्ञान सम्पन्न थे। सूत्रकर्ता ने सव्वक्खरसन्निवाई पद दिया है अर्थात उनका ज्ञान इतना विमल व विशिष्ट था कि ससार म जितनी भी पदानुपूर्वी वाक्यानुपूर्वी सम्भव हो

सकती हैं, एक पद या एक वाक्य मात्र कहने से समस्त विषय को वे सम्यक् प्रकार से जान लेते थे।

श्री गौतम ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार सम्पन्न होते हुए भी निरभिमानी और विनय की जीती जागती मूर्ति थे। अत इन विशेषताओ से युक्त, सचित्त भूमि वर्ज कर उत्कुटुक आसन ऊर्ध्वजानु और शिर कुछ झुकाए भूमिगत दृष्टि, धर्मध्यान को ध्याते हुए न अति दूर न अति समीप, मोक्ष-हेतु सयम और तप से अपनी आत्मा को सुवासित करते हुए भगवान महावीर के चरणो में विचरण कर रहे थे।"

०

गौतम स्वामी का भिक्षा के लिए जाना--

मूलम्—तए णं स भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बिइयाए पोरिसीए झाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियं अचवलं असंभंते मुहपत्ति पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता, भायण-वत्थाइं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता भायण वत्थाइं पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइं, उग्गाहेइ, उग्गाहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—"इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगंसि वाणियगामे नयरे उच्चनीय मज्झिमाइं कुलाइं घर समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडितए।" "अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह" ॥८४॥

छाया--ततः खलु स भगवान् गौतमः षष्ठक्षपणपारणके प्रथमायां—पौरुष्यां स्वाध्यायं करोति, द्वितीयायां पौरुष्या ध्यानं ध्यायति, तृतीयायां पौरुष्यमत्वरितमचपलमसम्भ्रान्तो मुखवस्त्रिकां प्रतिलेखयति, प्रतिलिख्य भाजन वस्त्राणि प्रतिलेखयति, प्रतिलिख्य भाजनवस्त्राणि प्रमार्जयति प्रमार्ज्य भाजनान्युद्गृह्णाति, उद्गृह्य येनैव श्रमणे भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्--"इच्छामि खलु भदन्त! युष्माभिरभ्यनुज्ञातः षष्ठ-

क्षपणपारणके वाणिज्यग्रामनगरे उच्च नीच मध्यमानि कुलानि गृह समुदानस्य भिक्षाचर्याय अटितुम ।" "यथासुख देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्ध कुरु ।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से भगव गोयमे—भगवान गौतम ने छट्ठक्खमण पारणगसि—षष्ठक्षपणा के अर्थात बेला उपवास के पारणे के दिन पढमाए पोरिसीए—प्रथम पौरुषी म सज्झाय करेइ—स्वाध्याय किया बिइयाए पोरिसीए—दूसरी पौरुषी म झाण झियाइ—ध्यान किया तइयाए पोरिसीए—तीसरी पौरुषी म अतुरिय—शीघ्रता रहित अचवल—चपलता रहित असभते—असम्भ्रा त होकर मुहपत्ति पडिलेहेइ—मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखना की पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके भायण वत्थाइ—पात्र और वस्त्रा की पडिलेहेइ—प्रतिलेखना की पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके भायण वत्थाइ—पात्र और वस्त्रो का पमज्जइ—प्रमाजन किया पमज्जित्ता—प्रमाजन करके भायणाइ—पात्रा को उग्गाहेइ—उठाया, उग्गाहित्ता—उठाकर जेणेव समणे भगव महावीरे—जहा श्रमण भगवान महावीर थे, तेणेव—वहा उवागच्छइ—आए उवागच्छित्ता—आकर समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर को वदइ नमसइ—वन्दना नमस्कार किया वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार कहा भते—भगवन ! तुब्भेहि—आपकी अब्भणुण्णाए—अनुमति प्राप्त होने पर छट्ठक्खमणपारणगसि—बेलापारणा के लिए वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर मे उच्चनीयमज्झिमाइकुलाइ—उच्च नीच और मध्यम कुलो की घरसमुदाणस्स—गृह समुदानो सामूहिक घरो से, भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या के लिए अडित्तए—पर्यटन करना इच्छामिण—चाहता हूँ भगवान ने उत्तर दिया देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रिय ! अहासुह—जैसे तुम को सुख हो मा पडिबधकरेह—विलम्ब न करो ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान गौतम ने छट्ठक्खमण—बेलापारणे के दिन पहली पौरुषी मे स्वाध्याय किया दूसरी पौरुषी मे ध्यान किया तीसरी पौरुषी मे बिना शीघ्रता के, चपलता एव उद्वेग के बिना शान्त चित्त से मुख वस्त्रिका एव पात्रा वस्त्रो की प्रतिलेखना की और परिमाजन किया। तत्पश्चात जहा श्रमण भगवान महावीर थे वहा पहुँचे, उन्हे वन्दना नमस्कार किया और पूछा भगवन ! आपकी अनुमति प्राप्त होने पर मैं बेलापारणे के लिए वाणिज्य

ग्राम मे उच्च, मध्यम तथा अधम सभी कुलो मे समुदानीकी भिक्षाचर्या करना चाहता हूं। हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, विलम्ब मत करो भगवान ने उत्तर दिया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे पारणे के दिन का वर्णन किया गया है। गौतम स्वामी ने पहले प्रहर मे शास्त्रो का स्वाध्याय किया दूसरे मे ध्यान और तीसरे मे मुखवस्त्रिका पात्र एव वस्त्रो की प्रतिलेखना की, तदनन्तर भगवान महावीर के पास पहुँचे। वन्दना नमस्कार के पश्चात् भिक्षार्थ वाणिज्यग्राम मे जाने की अनुमति मांगी 'पढमाए पोरिसीए-प्रथमायां पौरुष्या' पौरुषी शब्द का अर्थ पहर है, इसका यौगिक अर्थ है पुरुष की छाया के आधार पर निश्चित किया गया काल परिमाण। हमारी छाया प्रात काल लम्बी होती है और घटते २ मध्याह्न में सक्षिप्त हो जाती है, दोपहर के बाद फिर बढने लगती है। इसी आधार पर जैनकाल गणना मे दिन को चार पोरिसिओ मे विभक्त किया है। आजकल भी जैन साधु एव श्रावको द्वारा काल मर्यादा स्थिर करने की परम्परा विद्यमान है। जैन शास्त्रो मे पोरिसो नाम का प्रत्याख्यान भी है, जिसमे व्यक्ति सूर्योदय के पश्चात् एक प्रहर या दो पहर तक अन्न एव जल ग्रहण न करने का निश्चय करता है। प्रथम पहर मे स्वाध्याय तथा द्वितीय पहर मे ध्यान। इसी प्रकार भगवान् गौतम स्वामी दो पहर तक आत्मचिंतन मे लगे रहे। तृतीय पहर प्रारम्भ होने पर अपना व्रत पूरा किया और प्रतिलेखना आदि दैनिक कार्यो मे लग गए। साधारणतया साधुओ के लिए यह विधान है कि प्रतिदिन प्रात सूर्योदय होने पर और साय सूर्यास्त से पहले प्रतिलेखन करनी चाहिए, किन्तु गौतम स्वामी भोजन आदि का परित्याग करके जबतक एकान्त आत्म-चिन्तन मे लीन रहे जब तक अन्य दैनिक कार्यों को स्थगित कर दिया।

साधारणतया भिक्षा का समय—पहला पहर बीतने पर होता है, किन्तु गौतम स्वामी ने छट्ठ भक्त कर रखा था, उसकी मर्यादा के अनुसार चौथे दिन भी दो पहर मे पहिले भोजन नही करना चाहिए इसी लिए वे तीसरे पहर भिक्षा के लिए गए।

उच्च-नीच—भिक्षा के लिए घूमते समय गौतम स्वामी ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि जिस घर मे वे जा रहे हैं वे सम्पन्न हैं या दरिद्र, बिना भेद भाव के वे प्रत्येक घर मे घूमने लगे।

सामुदानीकी—भिक्षा के लिए घूमते समय कई प्रकार की चर्याओं का विधान है। उदाहरण के रूप में गोमूत्रिका नाम की एक चर्या है। इसमें साधु गली में घूमता है। एक ओर के एक घर से भिक्षा लेकर दूसरी ओर चला जाता है और फिर उसी ओर आकर दूसरे घर से भिक्षा लेता है। सामुदानीकी चर्या में एक ही किनारे के बीच में बिना किसी घर को छोड़ भिक्षा लेता चला जाता है। गौतम स्वामी ने सामुदानीकी भिक्षा की।

अतुरिय—इत्यादि दो दिन के उपवास का पारणा होने पर भी गौतम स्वामी ने सारे दैनिक कृत्य स्थिरता एवं धैर्यपूर्वक किए उनमें न किसी प्रकार की त्वरा थी न चपलता और न सम्भ्रम अर्थात् घबराहट। साधक के लिए यह महत्वपूर्ण बात है कि वह अपनी साधना काल में तथा उसके पश्चात् भी धैर्य एवं दृढता से काम ले।

प्रतिलेखना आदि करके गौतम स्वामी भगवान महावीर के पास गए। वंदना नमस्कार किया और भिक्षार्थ वाणिज्यग्राम में घूमने की अनुज्ञा मांगी। भगवान ने उत्तर दिया— अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह अर्थात् हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो प्रतिबंध अर्थात् रुकावट मत आने दो। भगवान महावीर का यह उत्तर जैनागमों में सर्वत्र मिलता है किसी भी यथाप्राप्त उचित कार्य के लिए अनुज्ञा मांगने पर वे कहा करते थे— जैसा तुम्हें सुख हो देर मत करो। यह उत्तर एक ओर इस बात को प्रकट करता है कि वे शुभ कार्य के लिए भी अपनी आज्ञा किसी पर लादते नहीं थे साथ ही देरी मत करो कह कर उसके उत्साह को बढाते भी थे।

मूलम्—तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतर परिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ ईरियं सोहेमाणे जेणेव वाणियगामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाणियगामे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घर समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ ॥ ७५ ॥

छाया—ततः खलु भगवान् गौतमः श्रमणेन भगवता महावीरेणाभ्यनुज्ञातः सन् श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकाद् दूतिपलाशाच्चैत्यात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्र

म्यात्वरितमचपलमसम्भ्रान्तो युगान्तरपरिलोकनया दृष्ट्या पुरत ईर्यां शोधयन् येनैव वाणिज्यग्रामं नगरं तेनैवोपागच्छति, उपागत्य वाणिज्यग्रामे नगरे उच्चनीय-मध्यमानि कुलानि गृहसमुदान-भिक्षाचर्यायै अटति ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **भगव गोयमे**—भगवान् गौतम **समणेणं भगवया महावीरेणं**—श्रमण भगवान् महावीर से **अब्भणुण्णाए समाणे**—अनुमति मिल जाने पर **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान महावीर के **अंतियाओ**—पास से **दूइपलासाओ**—दूतिपलाश **चेइयाओ**—चैत्य से **पडिणिक्खमइ**—निकले, **पडिणिक्खमित्ता**—निकलकर, **अतुरियं**—विना शीघ्रता किए, **अचवले**—चपलता रहित **असंभंते**—असम्भ्रान्त होकर अर्थात् **जुगंतर परिलोयणाए दिट्ठीए**—युगपरिमाण अवलोकन करने वाली दृष्टि से **पुरओ**—आगे की ओर **ईरियं**—ईर्या का **सोहेमाणे**—शोधन करते हुए, **जेणेव वाणियगामे नयरे**—जहाँ वाणिज्य ग्राम नगर था, **तेणेव**—वहाँ **उवागच्छइ** पहुँचे, **उवागच्छित्ता**—पहुँचकर, **वाणियग्गामे नयरे**—वाणिज्य ग्राम नगर मे **उच्चनीयमज्झिम कुलाइ**—उत्तम, मध्यम, अधम कुलो मे **घरसमुदाणस्स**—गृह समुदानी **भिक्खायरियाए**—भिक्षाचर्या के लिए **अडइ**—भ्रमण करने लगे ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम भगवान् महावीर की अनुमति मिलने रप दूतिपलाश उद्यान से निकले, चपलता तथा घवराहट के विना धैर्य एव शान्ति के साथ साढे तीन हाथ तक मार्ग पर दृष्टि डालते हुए वाणिज्य ग्राम नगर मे आए, और उच्च, नीच एव मध्यम कुलो मे यथा क्रम भिक्षाचर्या के लिए घूमने लगे ।

टीका—प्रस्तुत सुत्र मे गौतम स्वामी के भिक्षार्थ पर्यटन का वर्णन है । पिछले पाठ मे प्रतिलेखना से पहले जो तीन क्रियाविशेपण दिए गए थे वे यहा पुन दिए गए हैं अर्थात् भिक्षा के लिए धूमते समय भी गौतम स्वामी मे किसी प्रकार की त्वरा, चपलता या घवराहट नही थी ।

जुगन्तर—युग का अर्थ है गाडी का जुवा जो वैलो के कन्धे पर रखा जाता है, उसकी लम्वाई साढे तीन हाथ मानी जाती है । साधु के लिए यह विधान है कि वह चलते समय सामने की ओर साढे तीन हाथ तक भूमि देखता चले, इधर-उधर या वहुत दूर न देखे ।

ईरियं सोहेमाणे—साधु के आचार में सत्रह प्रकार का संयम बताया गया है—पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति और चार कषायों का दमन। समिति का अर्थ है—चलने फिरने बोलने, भिक्षा करने तथा वस्त्र पात्र आदि को उठाने रखने में सावधानी। सब प्रथम ईर्यासमिति है इसका अर्थ है—चलने में सावधानी। प्रस्तुत पंक्ति में यह बताया गया है कि गौतम स्वामी ईर्यासमिति का शोधन या पालन करते हुए घूमने लगे। वाणिज्य ग्राम में वे उच्च नीच तथा मध्यम समस्त कुलों में सामुदानीकी भिक्षाचर्या करने लगे।

गौतम द्वारा आनन्द की चर्याविषयक समाचार का श्रवण—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे वाणियगामे नयरे, जहा पण्णत्तीए तहा, जाव भिक्खायरियाए अडमाणे अहापज्जत्तं भत्तपाणं सम्मं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहित्ता वाणियगामाओ पडिणिग्गच्छइ, पडिणिग्गच्छित्ता कोल्लायस्स सन्निवेसस्स अदूरसामंतेणं वीईवयमाणे, बहुजण सद्दं निसामेइ, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४—"एवं खलु देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे नामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम जाव अणवकंखमाणे विहरइ।। ७६ ।।

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमो वाणिज्यग्रामे नगरे—यथाप्रज्ञप्त्यां यावद् भिक्षाचर्यायै अटन् यथा पर्याप्तं भक्तपानं सम्यक् प्रतिगृह्णाति, प्रतिगृह्य वाणिज्य ग्रामात् प्रतिनिगच्छति, प्रतिनिगत्य कोल्लाकस्य सन्निवेशस्याऽदूरसामन्ते व्यतिव्रजन् बहुजनशब्दं निशाम्यति। बहुजनोऽन्याऽन्यस्य एवमाख्याति ४—"एवं खलु देवानुप्रिया! श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तेवासी आनन्दो नाम श्रमणोपासकः पौषधशालायामपश्चिम यावत् अनवकांक्षन् विहरति।

भावार्थ—तए णं—तदनन्तर से—उस भगवं गोयमे—भगवान गौतम ने वाणिय गामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर में जहापण्णत्तीए तहा—यथा व्याख्या प्रज्ञप्ति में कहा है उसी प्रकार जाव—यावत् भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या के लिए अडमाणे—भ्रमण करते हुए अहापज्जत्तं—यथापर्याप्त भत्तपाणं—भक्तपान सम्मं—सम्यक् रूप से

पडिग्गाहेइ—ग्रहण किया, पडिग्गाहित्ता—ग्रहण करके वाणियगामाओ—वाणिज्यग्राम नगर से पडिणिगच्छइ—निकले, पडिणिग्गच्छित्ता—निकल करके कोल्लायस्स सन्निवेसस्स—जब वे कोल्लाक सन्निवेश के अदूरसामंतेणं—पास से वीइवयमाणे—जा रहे थे तो बहुजण सद्दं—बहुत से मनुष्यो को निसामेइ—यह कहते हुए सुना, बहुजणो—बहुत मनुष्य अन्नमन्नस्स—परस्पर एवमाइक्खइ—इस प्रकार कह रहे थे—देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रियो ! एवं खलु—इस प्रकार समणस्स भगवओ महावीरस्स्—श्रमण भगवान् महावीर का अंतेवासी—शिष्य आणंदे नामं—आनन्द नामक श्रावक पोसहसालाए—पौषध शाला मे अपच्छिम जाव अणवकंखमाणे—अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना किए हुए यावत् मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए विहरइ—विचर रहा है ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम ने वाणिज्यग्राम नगर मे व्याख्या प्रज्ञप्ति में वर्णित साधुजनोचित कल्प के अनुसार भिक्षाचर्या के लिए भ्रमण करते हुए यथापर्याप्त अन्नजल ग्रहण किया और वाणिज्यग्राम नगर से बाहर निकल कर कोल्लाक सन्निवेश के पास पहुँचे । बहुत से मनुष्यो को बात करते हुए सुना कि—हे देवानुप्रियो ! श्रमण भगवान् महावीर का शिष्य आनन्द श्रमणोपासक पौपधशाला मे अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना किए हुए यावत् जीवन मरण की आकाक्षा न रखते हुए विचर रहा है ।

गौतम का आनन्द के पास पहुँचना—

मूलम्—**तए णं तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म अयमेयारूवे अज्झत्थिय ४ "तं गच्छामि णं आणंदं समणोवासयं पासामि ।" एवं संपेहेइ, संपेहित्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे जेणेव आणंदे समणोवासए, जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ ॥ ७७ ॥**

छाया—ततः खलु तस्य गौतमस्य बहूजनस्यान्तिके एतदर्थं श्रुत्वा एतद्रूप अध्यात्मिकः ४—तद् गच्छामि खलु आनन्दं श्रमणोपासकं पश्यामि, एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य येनैव कोल्लाकः सन्निवेशो येनैव आनन्दः श्रमणोपासकः येनैव पौषधशाला तेनैव उपागच्छति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदन तर तस्स गोयमस्स—गौतम स्वामी का बहुजणस्स अतिए—बहुत लोगो से एय—यह बात सोच्चा—सुनकर निसम्म—ग्रहण करके अयमेयारूवे—इस प्रकार अज्झत्थिए—विचार आया कि त गच्छामिण—मैं जाऊँ और आणद समणोवासय—आन द श्रमणोपासक को पासामि—देखूँ, एव सपेहेइ—इस प्रकार विचार किया, सपेहित्ता—विचार करके जेणेव कोल्लाए सनिवेसे—जिस ओर कोल्लाक सनिवेश था जेणेव पोसहसाला—और जिस ओर पौषधशाला थी जणेव आणदे समणोवासए—जहा आन द श्रावक था तेणेव—वहा उवागच्छइ—आए।

भावार्थ—अनेक मनुष्यो से यह बात सुनकर गौतमजी के मन मे यह विचार आया कि मैं स्वय वहा जाऊ और आन द श्रमणोपासक को देखूँ। यह विचार कर वे कोल्लाक सनिवेश मे स्थित पौषधशाला मे बैठे हुए आनन्द श्रावक के पास आए।

टीका—भिक्षार्थ घूमते हुए गौतम स्वामी कोल्लाक सनिवेश मे पहुचे वहाँ उन्होने परस्पर चर्चा करते हुए लोगो से आन द के विषय मे सुना कि किस प्रकार उसने सलेखना व्रत ले रखा है और आमरण भोजन तथा पानी का परित्याग कर दिया है। उनके मन मे भी आनन्द के पास जाने की उत्कठा जागत हुई।

आनन्द को गौतम स्वामी का अपने पास आने का निमन्त्रण—

मूलम—तए ण से आणदे समणोवासए भगव गोयम एज्जमाण पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव हियए भगव गोयम वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता एव वयासी—"एव खलु भन्ते! अह इमेण उरालेण जाव धमणिसतए जाए, नो सचाएमि देवाणुप्पियस्स अतिय पाउब्भवित्ता ण तिक्खुत्तोमुद्धाणण पाए अभिवदित्तए, तुब्भे ण भन्ते! इच्छाकारेण अणभिओगेण इओ चेव एह, जा ण देवाणुप्पियाण तिक्खुत्तो मुद्धाणेण पाएसु वदामि नमसामि" ॥ ७८ ॥

छाया—तत खलु स आनन्द श्रमणोपासको भगव त गौतम ईयमाण पश्यति। दृष्ट्वा हृष्ट—यावद हृदयो भगवन्त गौतम वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्कृत्य एवम

वादीत्—"एवं खलु भदन्त ! अहमनेनोदारेण यावद् धमनिसन्ततो जातः, नो शक्नोमि देवानुप्रियस्यान्तिकं प्रादुर्भूय त्रि.कृत्वो मूर्ध्ना पादावभिवन्दितुम् । यूयं भदन्त ! इच्छाकारेणानभियोगेनेतश्चैव एत, यस्मात् खलु देवानुप्रियाणां त्रिःकृत्वो मूर्ध्ना पादयोर्वन्दे नमस्यामि ।

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **से आणदे समणोवासए**—उस आनन्द श्रमणोपासक ने **भगवं गोयम**—भगवान् गौतम को **एज्जमाण**—आते हुए **पासइ**—देखा, **पासित्ता**—देख कर **हट्ठ जाव हियए**—हृष्ट तुष्ट यावत् प्रसन्न हृदय होकर **भगवं गोयमं**—भगवान गौतम को **वदइ नमंसइ**—वन्दना नमस्कार किया **वंदित्ता नमंसित्ता**—वन्दना नमस्कार करके **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा **भंते !**—हे भगवन् ! **एवं खलु**—इस प्रकार **अहं**—मैं **इमेणं उरालेणं**—इस उदार तपस्या से **जाव**—यावत् **धमणिसंतए**—धमनियो से व्याप्त **जाए**—हो गया हूँ, अत **देवाणुप्पियस्स**—देवानुप्रिय के **अंतियं**—पास मे **पाउब्भवित्ता ण**—आकर **तिक्खुत्तो**—तीन वार **मुद्धाणेणं**—मस्तक से **पाए**—पैरो को **अभिवदित्तए**—वन्दना करने मे **नो सचाएमि**—समर्थ नही हूँ **भंते !**—हे भगवन् आप ही **इच्छाकारेणं**—स्वेच्छापूर्वक **अणभिओगेणं**—और विना किसी दवाव के **इओ चेव**—यहाँ **एह**—पधारिए, **जा णं**—जिससे मै **देवाणुप्पियाणं**—देवानुप्रिय को **तिक्खुत्तो**—तीन वार **मुद्धाणेणं**—मस्तक द्वारा **पाएसु**—चरणो मे **वंदामि नमंसामि**—वन्दना नमस्कार करूँ ।

भावार्थ—आनन्द श्रावक ने भगवान् गौतम को आते हुए देखा और अतीव प्रसन्न हो कर उन्हे नमस्कार कर इस प्रकार कहा—"हे भगवन् ! मैं उग्रतपस्या के कारण अतीव कृश हो गया हूँ कि बहुना, सारा शरीर उभरी हुई नाडियो से व्याप्त हो गया है । अत देवानुप्रिय के समीप आने तथा तीन वार मस्तक झुका कर चरणो मे वन्दना करने मे असमर्थ हूँ । भगवन् ! आप ही स्वेच्छापूर्वक विना किसी दवाव के मेरे पास पधारिए, जिससे देवानुप्रिय के चरणो मे तीन वार मस्तक झुका कर वन्दना कर सकूँ ।

टीका—गौतम स्वामी को आया जान कर आनन्द अत्यन्त प्रसन्न हुआ । किन्तु उसमे इतनी शक्ति नही थी कि उठकर उनके सामने जाता और वन्दना नमस्कार

करता। आनन्द उपासकने लेटे ही लेटे प्रसन्नता प्रकट की और चरण स्पर्श करने के लिए उन्हें समीप आने की प्रार्थना की।

इच्छाकारेण—इसका अर्थ है स्वेच्छापूर्वक, जैन आगमों में गुरुजनों से किसी प्रकार का अनुरोध करते समय इस शब्द का प्रयोग मिलता है। अनभियोगेण—अभियोग का अर्थ है—बलप्रयोग या बाध्य करना। प्रस्तुत सूत्र में आनन्द गौतम स्वामी से प्रार्थना करते समय अनभियोग शब्द का प्रयोग करता है। इस पाठ से तीन बातें प्रकट होती हैं—१ गौतम स्वामी के आने पर आनन्द का प्रसन्न होना, वह तपस्या में कृश हो गया था, और सारे शरीर पर नसें उभर आई थीं फिर भी उसके मन में शान्ति थी और गुरुजन के आने पर उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा। २ वह इतना कृश हो गया था कि शय्या से उठने की सामर्थ्य ही नहीं रही फिर भी गौतम स्वामी के प्रति आदर एवं भक्ति प्रकट करने की पूरी भावना थी। इसीलिए उसने संकोच के साथ उन्हें अपने पास आने की प्रार्थना की। इसका अर्थ है श्रावक को सामान्यतः गुरुजनों के समीप जाकर ही वन्दना नमस्कारादि करना चाहिए किन्तु अशक्ति आदि के कारण अपवाद रूप में इस प्रकार की प्रार्थना कर सकते हैं। ३ गुरुजनों से प्रार्थना आदेश के रूप में नहीं की जाती इसी लिए यहां 'इच्छाकारेण' और अनभियोगेण शब्दों का प्रयोग है।

आनन्द द्वारा अपने अवधि ज्ञान की सूचना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे जेणेव आणंदे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ ७९ ॥

तए णं से आणंदे भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—"अत्थि णं भंते ! गिहिणो गिहमज्झावसंतस्स ओहिनाणं समुपज्जइ ?" "हंता अत्थि", "जइ णं भंते ! गिहिणो जाव समुपज्जइ, एवं खलु भंते ! ममवि गिहिणो गिहमज्झावसंतस्स ओहिनाणे समुप्पण्णे—पुरत्थिमे णं लवणसमुद्दे पंचजोयण-सयाइं जाव लोलुयच्चुयं नरयं जाणामि पासामि ॥ ८० ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमः येनैव आनन्द श्रमणोपासक तेनैव उपागच्छति ।

तत खलु स आनन्दो भगवतो गौतमस्य त्रिःकृत्वो मूर्ध्ना पादौ वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"अस्ति खलु भदन्त ! गृहिणो गृहमध्यावसतोऽव-धिज्ञानं समुत्पद्यते ?" "हन्त ! अस्ति ।"

"यदि खलु भदन्त ! गृहिणो यावत्समुत्पद्यते, एवं खलु भदन्त ! ममापि गृहिणो गृहमध्याऽऽवसतोऽवधिज्ञानं समुत्पन्नम्—पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे पञ्चयोजन-शतानि यावत् लोलुपाच्युतं नरकं जानामि पश्यामि ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तत्पश्चात् **से भगवं गोयमे**—भगवान् गौतम **जेणेव आणंदे समणोवासए**—जहाँ आनन्द श्रमणोपासक था **तेणेव**—वहाँ **उवागच्छइ**—आए ।

तए णं—तदन्तर **से आणंदे**—आनन्द ने **भगवओ गोयमस्स**—भगवान् गौतम को **तिक्खुत्तो**—तीन बार **मुद्धाणेणं**—मस्तक से **पाएसु**—पैरो में **वंदइ**—वन्दना की **नमंसइ**—नमस्कार किया, **वंदित्ता नमंसित्ता**—वन्दना नमस्कार करके **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**अत्थि णं भंते**—भगवन् ! क्या **गिहिणो**—गृहस्थ को **गिहमज्झाव-संतस्स**—घर मे रहते हुए **ओहिनाणं**—अवधिज्ञान **समुपज्जइ ?**—उत्पन्न हो सकता है ? गौतम ने उत्तर दिया **हंता अत्थि**—हाँ हो सकता है, पुन आनन्द ने कहा—**भंते !**—हे भगवन् **जइ णं**—यदि **गिहिणो जाव समुपज्जइ**—गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है तो **भंते !**—हे भगवन् **एवं खलु**—इस प्रकार **मम वि गिहिणो**—मुझ गृहस्थ को भी **गिहमज्झावसंतस्स**—घर मे रहते हुए को **ओहिनाणे समुप्पन्ने**—अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, **पुरत्थिमेणं**—पूर्व की ओर **लवण समुद्दे**—लवण समुद्र **पंच जोयण-सयाइं**—पाँच सौ योजन **जाव**—यावत् **लोलुयच्चुयं**—लोलुपाच्युत **नरयं**—नरक को **जाणामि पासामि**—जानता हूँ, देखता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के पास आए ।

उसने उन्हे तीन बार मस्तक झुका कर वन्दना नमस्कार किया और पूछा—भगवन् ! क्या गृहस्थ को घर मे रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ? गौतम—"हाँ आनन्द हो सकता है ।" आनन्द—"भगवन् यदि गृहस्थ को अवधिज्ञान

उत्पन्न हो सकता है तो मुझे भी अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। उसके द्वारा मैं पूर्व की ओर लवणसमुद्र में पांच सौ योजन तक अधोलोक में लोलुपाच्युत नरक तक जानने तथा देखने लगा हूँ।

गौतम का संदेह और आनन्द का उत्तर—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे आणंदं समणोवासयं एवं वयासी—"अत्थि णं, आणंदा! गिहिणो जाव समुप्पज्जइ। नो चेव णं एअमहालए। तं णं तुमं, आणंदा! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव तवोकम्मं पडिवज्जाहि"॥ ८१॥

तए णं से आणंदे भगवं गोयमं एवं वयासी—"अत्थि णं, भंते! जिण वयणे संताणं तच्चाणं तहियाणं सब्भूयाणं भावाणं आलोइज्जइ जाव पडिवज्जिज्जइ?" "नो इणट्ठे समट्ठे।"

"जइ णं भंते! जिण वयणे संताणं जाव भावाणं नो आलोइज्जइ जाव तवो कम्मं नो पडिवज्जिज्जइ, तं णं भंते! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह जाव पडिवज्जह।" ॥८२॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतम आनन्दं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"अस्ति खलु आनन्द! गृहिणो यावत्समुत्पद्यते, नो चैव खलु एतन्महालयं, तत् खलु त्वमानन्द! एतस्य स्थानस्य (विषये) आलोचय यावत्तपः कर्म प्रतिपद्यस्व।"

ततः खलु स आनन्दो भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—"अस्ति खलु भदन्त! जिन वचने सतां तत्त्वानां तथ्यानां सद्भूतानां भावानां (विषये) आलोच्यते यावत् प्रतिपद्यते?" गौतम—"नायमर्थः समर्थः।"

(आनन्द) "यदि खलु भदन्त! जिनवचने सतां यावद् भावानां (विषये) नो आलोच्यते यावत् तपः कर्म नो प्रतिपद्यते, तत् खलु भदन्त! यूयमेवैतस्य स्थानस्य (विषये) आलोचयत यावत् प्रतिपद्यध्वम्।"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से भगवं गोयमे**—भगवान् गौतम **आणंदं समणोवासय**—आनन्द श्रमणोपासक को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोले—**आणंदा !** हे आनन्द! **अत्थि णं गिहिणो जाव समुप्पज्जइ**—यह ठीक है कि गृहस्थ को घर मे रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ! **नो चेव णं एअ महालए**—किन्तु इतना विशाल नही, **त णं**—इसलिए **आणंदा !** हे आनन्द ! **तुम**—तुम **एयस्स ठाणस्स**—मृषावादरूप इस स्थान की **आलोएहि**—आलोचना करो **जाव**—यावत् उसे शुद्ध करने के लिए **तवोकम्मं**—तपस्या **पडिवज्जहि**—स्वीकार करो।

तए णं—तत्पश्चात् **से आणंदो**—वह आनन्द **समणोवासए**—श्रमणोपसक **भगवं गोयमं**—भगवान् गौतम को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला **भंते !**—हे भगवन् ! **अत्थि णं**—क्या **जिणवयणे**—जिन शासन मे **संताण**—सत्य, **तच्चाणं**—तात्त्विक, **तहियाणं**—तथ्य तथा **सब्भूयाणं**—सद्भूत **भावाण**—भावो के लिए भी **आलोइज्जइ**—आलोचना की जाती है ? **जाव**—और यावत् **पडिवज्जिज्जइ**—तप. कर्म स्वीकार किया जाता है ? गौतम ने उत्तर दिया—**नो इणट्ठे समट्ठे**—ऐसा नही है, तब आनन्द ने कहा—**भंते!** —हे भगवन् ! **जइणं**—यदि **जिणवयणे**—जिन प्रवचन मे **संताणं जाव भावाणं**—सत्य आदि भावो की **नो आलोइज्जइ**—आलोचना नही होती **जाव**—यावत् उनके लिए **तवोकम्म**—तप कर्म **नो पडिवज्जिज्जइ**—नही स्वीकार किया जाता, **तं णं**—तो **भते !**—हे भगवन् ! **तुब्भ चेव**—आप ही—**एयस्स ठाणस्स**—इस स्थान के लिए **आलोएह**—आलोचना कीजिए **जाव**—यावत् **पडिवज्जह**—तप कर्म स्वीकार कीजिए।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम ने आनन्द श्रावक से यह कहा कि—"हे आनन्द ! गृहस्थ अवस्थ मे रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान तो उत्पन्न हो सकता है, परन्तु इतना विशाल नही। अत हे आनन्द ! इस असत्य भाषण की आलोचना करो यावत् आत्म शुद्धि के लिए उचित तपश्चरण स्वीकार करो।"

इसके पश्चात् आनन्द भगवान् गौतम से बोला—"हे भगवन् ! क्या जिन प्रवचन मे सत्य, तात्त्विक, तथ्य और सद्भूत भावो के लिए भी आलोचना की जाती है ? यावत् तप कर्म स्वीकार किया जाता है ?"

भगवान् गौतम ने उत्तर दिया—"आनन्द ! ऐसा नही हो सकता।"

आनन्द ने कहा— भगवन् ! यदि जिन प्रवचन में सत्य आदि भावों की आलोचना नहीं होती और उनके लिए तप कर्म स्वीकार नहीं किया जाता तो भगवन् ! आप ही इस विषय मे आलोचना कीजिए और तप कर्म ग्रहण कीजिए।"

टीका—आनन्द के पूछने पर गौतम स्वामी ने बताया कि गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है। किन्तु आनन्द ने जब अपने ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र का निरूपण किया तो गौतम स्वामी को सदेह हो गया उनकी यह धारणा थी कि गृहस्थ को इतना विशाल ज्ञान नहीं हो सकता। उन्हें आनन्द का कथन मिथ्या प्रतीत हुआ परिणामस्वरूप उसे आलोचना तथा प्रायश्चित्त स्वरूप तपश्चरण के लिए कहा। आनन्द ने नम्रता किन्तु दृढतापूर्वक उत्तर दिया "भगवन् ! क्या सच्ची बात के लिए भी आलोचना तथा प्रायश्चित्त होता है ? यदि ऐसा नहीं है तो आप ही आलोचना तथा प्रायश्चित्त कीजिए।"

इस वक्तव्य मे कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। आनन्द ने मुनिव्रत स्वीकार नहीं किया था वह गृहस्थ था, उसका वेश भी गृहस्थ का ही था। फिर भी वह साधना की दृष्टि से उस अवस्था पर पहुँच गया था जिसे हम आगम की भाषा मे श्रमण भूत कहते हैं। जैन परम्परा मे वेश का उतना महत्व नहीं जितना कि आध्यात्मिक भावों का महत्व है। यही कारण है कि सिद्धों के पन्द्रह भेदों मे जैन साधु ही नहीं गृहस्थ एवं परिव्राजक सन्यासी आदि जैनेतर साधुओं को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है। परन्तु उपर्युक्त विचार चर्चा से ध्वनित होता है कि गौतम स्वामी की धारणा कुछ विलक्षण भूमिका पर पहुँच गई थी। उनकी दृष्टि मे इस प्रकार का उच्च ज्ञान मुनि को ही उत्पन्न हो सकता है गृहस्थ का नहीं, इसी धारणा के कारण उन्होंने आनन्द को आत्म विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेने की प्रेरणा दी।

यहाँ मिथ्या भाषण रूप दोष के लिए गौतम स्वामी ने आनन्द को आलोचना तथा तप कर्म के लिए कहा और आनन्द ने गौतम स्वामी को। आलोचना का अर्थ है—अपने दोष को अच्छी तरह देखना या समझना और उसे पुन न करने का निश्चय करना तप कर्म आन्तरिक शुद्धि के लिए किया जाता है किसी प्रकार की भूल होने पर या दोष लगने पर यदि मनुष्य उस पर अच्छी तरह विचार कर दोष के रूप मे समझ ले पुन न करने का दृढ सकल्प करे और साथ ही भूल की तरत-

मता के अनुसार एक उपवास दो उपवास आदि छोटा-बड़ा तपश्चरण प्रायश्चित्त के रूप मे करले तो उस भूल के पुन. होने की सभावना नही रहती। आत्म शुद्धि का यह मार्ग जैन परम्परा मे अब भी प्रचलित है। जैन साधु एव श्रावक अपनी भूलो के लिए प्रतिदिन चिन्तन एव पश्चात्ताप करते हैं और छोटी-बडी तपस्या अगीकार करते हैं।

गौतम स्वामी महातपस्वी, महाज्ञानी तथा कठोर चर्या वाले साधु थे। आनन्द ने उनके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी जिस प्रकार उत्तर दिया, वह ध्यान देने योग्य है। वह पूछता है—"क्या जैन शासन में सत्य, तथ्य, तात्त्विक एव सद्भूत वस्तु के लिए भी आलोचना तथा प्रायश्चित्त करना होता है?' उसका यह वाक्य वैदिक परम्परा मे जैन परम्परा का भेद प्रकट करता है, उसका अभिप्राय है कि जैन परम्परा किसी की आज्ञा के कथन या शब्द पर आधारित नही है अर्थात् यहाँ किसी के कथन मात्र से कोई वात भली या बुरी नही होती, यहाँ तो सत्य ही एकमात्र कसौटी है।

गौतम का शंकित होकर भगवान् के पास आना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे, संकिए कंखिए विइगिच्छा समावन्ने, आणंदस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, २ त्ता जेणेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ, २ त्ता एसणमणेसणं आलोएइ, आलोइत्ता भत्तपाणं पडिदंसइ, पडिदंसित्ता समण भगवं वंदइ नमंसइ, २ त्ता एवं वयासी—"एवं खलु भंते! अहं तुब्भेहि अब्भणुण्णाए तं चेव सव्वं कहेइ, जाव तए णं अहं संकिए ३ आणंदस्स समणोवासगस्स अंतियाओ पडिणिक्खमामि, २ त्ता जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, तं णं भंते! किं आणंदेणं समणोवासएण तस्स ठाणस्स आलोएयव्वं जाव पडिवज्जेयव्वं उदाहु मए?"

"गोयमा!" इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-गोयमा! तुमं चेव णं तस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेहि ॥ ८१ ॥"

छाया—तत खलु स भगवान गौतम आन देन श्रमणोपासकेनवमुक्त सन शङ्कित काक्षितो विचिकित्सा समापन्न आन दस्यान्तिकात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य येनैव दूतिपलाशश्चत्यो येनेव श्रमणो भगवान महावीर तेनेव उपागच्छति, उपागत्य श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसाम ते गमनागमनस्य प्रतिक्रामति, प्रतिक्रम्य एषणमनेषणमालोचयति, आलोच्य भक्तपान प्रतिदशयति, प्रतिदश्य श्रमण भगव त महावीर व दते नमस्यति, व दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत—"एव खलु भद त ! अह युष्माभिरभ्यनुज्ञात तदेव सव कथयति यावत तत खल्वह शङ्कित ३ आन दस्य श्रमणोपासकस्य अन्तिकात प्रतिनिष्क्रामामि प्रतिनिष्क्रम्य येनैवह तेनैव हव्यमागत, तत्खलु भद त ! किमान देन श्रमणोपासकेन तस्य स्थानस्याऽऽलोचितव्य यावत प्रतिपत्तव्यमुताहो मया ? "हे गौतम !" इति श्रमणो भगवान महावीरो भगव त गौतममेवमवादीत—"गौतम त्वमेव खलु तस्य स्थानस्य आलोचय यावत्प्रतिपद्यस्व आन द च श्रमणोपासकमेतस्म अर्थाय क्षमापय ।

श दार्थ—तए ण—तदनन्तर से भगव गोयमे—भगवान गौतम आणदेण समणोवासएण —आन द श्रमणोपासक के द्वारा एव वुत्ते समाणे—इस प्रकार कह जाने पर सकिए—शकित कखिए—काक्षित विइगिच्छासमाव ने—और विचिकित्सा युक्त होकर आणदस्स अतियाओ—आन द के पास से पडिणिक्खमइ—निकल, पडिणिक्खमित्ता—निकल कर जेणेव दूइपलासे चेइए—जहा दूतिपलाश चत्य था जेणव समणे भगव महावीरे—जहा श्रमण भगवान महावीर थे तेणेव उवागच्छइ—वहा पहुँचे उवागच्छित्ता—पहुँच कर समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अदूरसाम ते—पास म गमणागमणाए—गमनागमन का पडिक्कमइ—प्रतिक्रमण किया पडिक्कमित्ता —प्रतिक्रमण करके एसणमणेसणे—एषणीय एव अनेषणीय की आलोएइ—आलोचना की, आलोइत्ता—आलोचना करके भत्तपाण—आहार पानी पडिदसेइ—दिखलाया पडिदसित्ता—दिखाकर समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर को वदइ—व दना की, नमसइ— नमस्कार किया, वदित्ता नमसित्ता—वदना नमस्कार करके एव वयासी—इस प्रकार बोले भते !—हे भगवन ! एव खलु—इस प्रकार निश्चय ही अह—म, तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए—आपकी अनुमति मिलने पर इत्यादि त चेव सव्व कहेइ—सारी घटनाएँ कह सुनाई जाव—यावत तए ण—उससे अह—मैं सङ्किए—शकित होकर आणदस्स समणोवासगस्स—आन द श्रमणोपासक के अतियाओ—पास

से **पडिणिक्खमामि**—निकला, **पडिणिक्खमित्ता**—निकल कर **जेणेव इहं**—यहाँ आप विराजमान हैं, **तेणेव**—वहाँ **हव्वमागए**—शीघ्रतापूर्वक आया हूँ, **तं णं**—तो क्या **भंते**—भगवन् ! **किं**—क्या **तस्स ठाणस्स**—उस स्थान के लिए **आणंदेणं समणोवासएणं**—आनन्द श्रमणोपासक को **आलोएयव्वं**—आलोचना करनी चाहिए, **जाव पडिवज्जेयव्वं**—यावत् ग्रहण करना चाहिए **उदाहु**—अथवा **मए**—मुझे, **गोयमाइ**—'गौतम !' यह सम्बोधन करते हुए—**समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **भगवं गोयमं**—भगवान् गौतम को **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**गोयमा**—हे गौतम ! **तुमं चेव ण**—तुम ही **तस्स ठाणस्स**—उस स्थान की **आलोएहि**—आलोचना करो, **जाव**—यावत् **पडिवज्जाहि**—तप कर्म स्वीकार करो **आणंदं च समणोवासयं**—और आनन्द श्रमणोपासक से **एयमट्ठं**—इस बात के लिए **खामेहि**—क्षमा प्रार्थना करो।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के इस प्रकार कहने पर शका, काक्षा, एव विचिकित्सा से युक्त होकर आनन्द के पास से बाहर निकले, और दूतिपलाश चैत्य मे श्रमण भगवान् महावीर के पास पहुँचे। वहाँ भगवान् के समीप गमनागमन का प्रतिक्रमण किया। एपणीय और अनेषणीय की आलोचना की। भगवान् को भोजन पानी दिखलाया, वन्दना नमस्कार किया और कहा—"मै आपकी अनुमति प्राप्त कर के इत्यादि गौतम ने पूर्वोक्त समस्त घटनाएँ कह सुनाई, अन्त मे कहा मैं शकित होकर आपकी सेवा मे आया हूँ।" भगवन् ! उस पाप स्थान की आलोचना तथा तपस्या आनन्द को करनी चाहिए अथवा मुझ को ?" 'गौतम'! इस प्रकार सम्बोधन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने उत्तर दिया, "हे गौतम ! तुम ही उस असत्य भाषण रूप पाप स्थान के लिए आलोचना यावत् तप कर्म स्वीकार करो तथा आनन्द श्रावक से इस अपराध के लिए क्षमा याचना करो।"

टीका—आनन्द का उत्तर सुनकर गौतम स्वामी विचार मे पड गए। इस विषय मे भगवान् से पूछने का निश्चय किया।

यहाँ सूत्रकार ने तीन शब्द दिए है—'सकिए कखिए और विइगिच्छे', इन शब्दो का निरूपण पहले किया जा चुका है। गौतम स्वामी के मन मे सदेह उत्पन्न हो गया, और वह डाँवाडोल होने लगा।

वे भगवान के पास पहुँचे और मुनि की आचार मर्यादा के अनुसार सवप्रथम एषणीय और अनेषणीय की आलोचना की। एषणीय का अथ है मुनि द्वारा ग्रहण करने योग्य वस्तुएँ और अनेषणीय का अथ है ग्रहण न करने योग्य वस्तुएँ। गौतम स्वामी ने शान्त चित्त से बठ कर इस बात की आलोचना की कि मैंने कोई ऐसी वस्तु तो नही ली जो ग्रहण करने योग्य नही थी या भिक्षा के लिए घूमते समय एव उसे ग्रहण करते समय कोई मर्यादा विरुद्ध काय तो नही किया।

एषणीय अनेषणीय की आलोचना के पश्चात उन्हो ने भिक्षा मे लाया हुआ भाजन एव पानी भगवान को दिखाया। जन मुनियो की मर्यादा मे यह भी आवश्यक माना गया है कि वह भिक्षा मे भाजन वस्त्र आदि जो कुछ लाए सवप्रथम गुरु को दिखाए और उनके आदेशानुसार सेवन करे यह मर्यादा मुनि को अनेक दोषो से बचाती है।

तदनन्तर गौतम स्वामी ने सारा वत्तान्त भगवान को सुनाया और पूछा कि आलोचना एव प्रायश्चित्त किसे करना चाहिए ? भगवान ने उत्तर दिया—'गौतम ! तुम ही आलोचना एव प्रायश्चित्त करो इतना ही नही उन्होने यह भी कहा कि इस बात के लिए आनन्द से क्षमा याचना करो। इससे ज्ञात होता है कि महावीर के शासन म दोष किसी का हो उसे क्षमा नही किया जाता था। गौतम महावीर के प्रधान शिष्य थे। सघ म उनका सर्वोच्च स्थान था फिर भी भगवान ने उनसे कहा 'आनन्द स क्षमा याचना करो।

गौतम द्वारा क्षमा याचना—

मूलम्——तए ण से भगव गोयमे, समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठ विणएण पडिसुणेइ, २ त्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ–जाव–पडिवज्जइ, आणद च समणोवासय एयमट्ठ खामेइ ॥ ८४ ॥

तए ण समणे भगव महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जणवय विहार विहरइ ॥ ८५ ॥

छाया——तत खलु स भगवान गौतम श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य तस्य स्थानस्याऽऽलोचयति, यावत्प्रतिपद्यते, आनन्द च श्रमणोपासकमेतदथ क्षमापयति।

तत. खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचिद् बहिर्जनपदविहारं विहरति।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से भगवं गोयमे**—भगवान् गौतम ने **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर के **एयमट्ठं**—उक्त कथन को **तहत्ति**—तथेति कह कर **विणएण**—विनयपूर्वक **पडिसुणेइ**—स्वीकार किया, **पडिसुणित्ता**—स्वीकार करके **तस्स ठाणस्स**—उस स्थान की **आलोएइ**—आलोचना की **जाव**—यावत् **पडिवज्जइ**—तप कर्म स्वीकार किया, **आणंद च समणोवासयं**—और आनन्द श्रमणोपासक से **एयमट्ठं**—इस बात के लिए **खामेइ**—क्षमा याचना की।

तए णं—तत्पश्चात् **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर **अन्नया कयाइ**—अन्यदा कदाचित् **बहिया जणवयविहारं**—दूसरे देशो मे **विहरइ**—विचरने लगे।

भावार्थ—गौतम ने भगवान् महावीर के उक्त कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया और उस दोष की आलोचना की तथा प्रायश्चित्त के रूप में आनन्द श्रावक से क्षमा याचना की।

कुछ समय पश्चात् भगवान् महावीर दूसरे देशो को विहार कर गए और धर्म प्रचार करते हुए विचरने लगे।

टीका—गौतम स्वामी ने भगवान् के आदेश को 'तथेति' कहकर स्वीकार किया और आनन्द से क्षमा याचना की। यह बात उनके उदात्त चारित्र को प्रकट करती है। महातपस्वी, महाज्ञानी तथा प्रधान गणधर होने पर भी उन्हे श्रावक से क्षमा याचना करने मे सकोच नही हुआ। सघ मे सर्वमान्य होने पर भी उनके मन मे किसी प्रकार का अभिमान नही था।

तदनन्तर, भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम से प्रस्थान कर गए और धर्मोपदेश करते हुए विभिन्न जनपदो मे विचरने लगे।

आनन्द के जीवन का उपसंहार—

मूलम्—**तए णं से आणंदे समणोवासए बहूहिं सील-व्वएहिं जाव अप्पाणं भावेत्ता, वीसं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता, एक्कारस य उवा-**

सग पडिमाओ सम्म काएण फासित्ता, मासियाए सलेहणाए अत्ताण भूसित्ता, सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता, आलोइए पडिक्कते, समाहि पत्ते, काल-मासे काल किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिसगस्स महा विमाणस्स उत्तर पुरत्थिमेण अरुणे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ ण अत्थेगइयाण देवाण चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता, तत्थ ण आणदस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता ॥ ८६ ॥

छाया—तत खलु स आनन्द श्रमणोपासको बहुभि शीलव्रतर्यावदात्मान भावयित्वा विंशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्याय पालयित्वा एकादश चोपासकप्रतिमा सम्यक कायेनस्पृष्टवा मासिक्या सलेखनयाऽऽत्मान जोषयित्वा षष्टि भक्तान्यनशनेन छित्वा आलोचित प्रतिक्रान्त समाधिप्राप्त कालमासे काल कृत्वा सौधर्मावतसकस्य महाविमानस्योत्तरपौरस्त्ये खलु अरुणेविमाने देवत्वेनोपपन्न, तत्र खलु अस्त्यकेषा देवाना चत्वारि पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता, तत्र खलु आनन्दस्यापि देवस्य चत्वारि पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से आणदे समणोवासए—वह आनन्द श्रमणोपासक बहूहि सीलव्वएहि—अनेक प्रकार के शील एव व्रतो के द्वारा जाव—यावत अप्पाण—अपनी आत्मा का भावेत्ता—सस्कारित करके वीस वासाइ—बीस वर्ष तक समणोवासग परियाग—श्रमणोपासक पर्याय का पाउणित्ता—पालन करके मासियाए सलेहणाए—एक महिने की सलेखना द्वारा अत्ताण—अपनी आत्मा को झूसित्ता—शुद्ध करके सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता—साठ वार का अनशन पूरा करके आलोइए पडिक्कते—आलोचना प्रतिक्रमण करके समाहिपत्ते—समाधि मे लीन रहता हुआ, कालमासे कालकिच्चा—अन्तिम समय आने पर सोहम्मेकप्पे—सौधर्म कल्प मे सोहम्मवडिसगस्स—सौधर्मावतसक महाविमाणस्स—महाविमान के उत्तरपुरत्थिमेण—उत्तरपूर्व अर्थात ईशानकोण मे अरुणे विमाणे—अरुण विमान मे देवत्ताए—देवरूप मे उववन्ने—उत्पन्न हुआ तत्थ ण—वहा अत्थेगइयाण देवाण—अनेक देवो की चत्तारि पलिओवमाइ—चार पल्योपम की ठिई—स्थिति पण्णत्ता—कही गई है तत्थ ण—वहा आणदस्सवि देवस्स—आनन्द देव की भी चत्तारिपलिओवमाइ—चार पल्योपम की ठिई—स्थिति पण्णत्ता—कही गई है ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक बहुत से शीलव्रत आदि के द्वारा आत्मा को संस्कारित करता रहा, उसने श्रावक व्रतो का पालन किया। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की। अन्त मे एक मास की संलेखना ली और साठ बार के भोजन अर्थात् तीस दिन का अनशन करके मृत्युकाल आने पर समाधिमरण को प्राप्त हुआ। मर कर वह सौधर्म देवलोक, सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशानकोण मे स्थित अरुण विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ बहुत से देवताओ की आयु मर्यादा चार पल्योपम की बताई गई है। आनन्द की आयु मर्यादा भी चार पल्योपम है।

टीका—प्रस्तुत पाठ मे आनन्द के जीवन का उपसंहार किया गया है। वह बीस वर्ष तक श्रमणोपासक रहा, साढे चौदह वर्ष बीतने पर घर छोड कर पौषधशाला मे रहने लगा। वहाँ उसने क्रमश. ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ स्वीकार की और ग्यारहवी श्रमणभूत प्रतिमा मे साधु के समान जीवन व्यतीत करने लगा। ज्यो २ आत्म-शुद्धि होती गई उसका उत्साह बढता चला गया, क्रमश उसने अन्तिम संलेखना व्रत ले लिया और जीवन एव मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए शान्तचित्त होकर आत्म चिन्तन मे लीन रहने लगा। एक महीने के उपवास के पश्चात् शरीरान्त हो गया और सौधर्म देवलोक मे उत्पन्न हुआ।

उसके विचारो मे उत्तरोत्तर दृढता आती गई, उत्साह बढता गया और अन्त तक चित्त शान्त रहा। एक महीने का उपवास होने पर भी मनोदशा में परिवर्तन नही हुआ। शास्त्रकार ने इस बात का पुन पुन उल्लेख किया है।

आनन्द का भविष्य—

मूलम्—"आणंदेणं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गच्छिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ ?"

"गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ" ॥ निक्खेवो ॥ ८७ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं पढमं आणंदज्झयणं समत्तं ॥

छाया—आनन्द खलु भदन्त ! देवस्तस्माद्देवलोकादायु -क्षयेण, भवक्षयेण, स्थितिक्षयेण अनन्तर चय च्युत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोत्पत्स्यते ? गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेप ।

शब्दार्थ—गौतम न प्रश्न किया भते !—हे भगवन ! आणदेण–आनन्द देवे–देव ताओ—उस देवलोगाओ—देवलोक से आउक्खएण—आयुक्षय होने पर, भवक्खएण – भवक्षय होने पर, ठिइक्खएण स्थिति क्षय होने पर अणतर—अनन्तर चय चइत्ता—वहा से च्यवन करके कहि—कहा गच्छिहिइ—जायगा ? कहि—और कहा उववज्जिहिइ—उत्पन्न होगा ? भगवान ने उत्तर दिया गोयमा—हे गौतम ! महाविदेहेवासे—महाविदेह वर्ष मे सिज्झिहिइ—सिद्ध होगा ।

भावार्थ—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—हे भगवन ! आनन्द देव आयु भव तथा स्थिति के क्षय होने पर देव शरीर का परित्याग कर कहा जाएगा, कहा उत्पन्न होगा ? भगवान महावीर ने उत्तर दिया—हे गौतम ! आनन्द महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेगा और वहा से सिद्धगति प्राप्त करेगा ।

निक्षेप–सुधर्मा स्वामी ने कहा— हे जम्बू ! श्रमण भगवान महावीर ने उपासक दशाङ्ग सूत्र के प्रथम अध्ययन का यह भाव बतलाया है वैसा ही मै तुमसे कहता हूँ ।"

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द के भविष्य का कथन है । गौतम स्वामी ने पूछा भगवन ! देवत्व की अवधि समाप्त होने पर आनन्द कहा उत्पन्न होगा ' भगवान ने उत्तर दिया 'महा विदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा ।

यहा दो बात उल्लेखनीय है । पहली बात यह है कि जैन परम्परा मे देवत्व कोई शाश्वत अवस्था नही है । मनुष्य तपस्या एव अन्य शुभ कर्मों द्वारा उसे प्राप्त करता है और उपार्जित पुण्य समाप्त हो जाने पर पुन मर्त्यलोक मे आ जाता है । ऋग्वेद तथा यजुर्वेद मे देवता शाश्वत शक्ति के प्रतीक हैं इतना ही नही जीवो के शुभाशुभ कर्मों के फल एव भविष्य पर उनका नियन्त्रण है । किन्तु उपनिषदो मे

देवत्व का वह स्थान नही रहा। वहाँ जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष या अमृतत्व की प्राप्ति हो गया और देव अवस्था को नश्वर वताया गया। वहाँ स्पष्ट रूप से वताया गया है—"**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**" अर्थात् देवता भी पुण्यक्षीण हो जाने पर मर्त्यलोक मे आ जाते हैं। इतना ही नही वहाँ देवत्व प्राप्ति के साधन रूप यज्ञ आदि कर्मानुष्ठान को दुर्वल नौकाएँ वताया गया है, अर्थात् वे मानव को जीवन के चरम लक्ष्य तक नही पहुँचा सकती "**प्लावह्यते अदृढाः यज्ञरूपाः अष्टादशोक्तमवरमेषु कर्म।**" अर्थात् यज्ञ रूपी नौकाएँ जिनमे अठारह प्रकार का कर्म वताया गया है दृढ नही हैं।

दूसरी वात महाविदेह क्षेत्र की है, पहले यह वताया जा चुका है कि विश्व एक कालचक्र के अनुसार घूमता रहता है। उत्थान के पश्चात् पतन और पतन के पश्चात् उत्थान का अनवरत क्रम चल रहा है। जैन परम्परा मे उत्थान काल उत्सर्पिणी और पतन काल को अवसर्पिणी काल कहा गया है। प्रत्येक काल के छ विभाग किए गए हैं, जिन्हे आरा कहा जाता है। उत्सर्पिणी काल मे प्रथम आरा अत्यन्त पाप पूर्ण होता है। उस समय मनुष्यो के विचार अत्यन्त क्रूर होते हैं, श्रावक अथवा साधु किसी प्रकार की धार्मिक मर्यादा का अस्तित्व नही होता। द्वितीय आरे मे पापवृत्ति अपेक्षाकृत न्यून होती है फिर भी उस समय कोई जीव मोक्ष का अधिकारी नही होता। तृतीय तथा चतुर्थ आरे मे उत्तरोत्तर धार्मिक भावना वढती जाती है। उसी समय तीर्थङ्कर एव अन्य महापुरुष उत्पन्न होते हैं और वे मोक्ष मार्ग का उपदेश करते हैं। पाँचवा आरा आने पर यह क्षेत्र कर्मभूमि के स्थान पर भोग भूमि वन जाता है अर्थात् उस समय लोग कल्पवृक्षो से स्वय प्राप्त वस्तुओ पर अपना निर्वाह करते हैं आजीविका के लिए खेती, युद्ध आदि किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता नही रहती। परिणामस्वरूप पापवृत्ति भी उत्तरोत्तर घटती चली जाती है। छठे आरे मे यह और भी कम हो जाती है। अवसर्पिणी के छठे के समान होता है। इसी प्रकार अवसर्पिणी का द्वितीय उत्सर्पिणी के पचम के समान अर्थात् अवसर्पिणी के प्रथम दोनो आरे भोग भूमि के माने जाते हैं। तृतीय, चतुर्थ मे ही तीर्थङ्करादि उत्पन्न होते हैं और धर्मोपदेश होता है। पञ्चम मे पुन धर्म का ह्रास होने लगता है और छठे मे वह सर्वथा लुप्त हो जाता है। वर्तमान समय अवसर्पिणी का पचम आरा माना जाता है, इस समय भरत क्षेत्र से कोई व्यक्ति मोक्ष नही प्राप्त कर सकता।

किन्तु महाविदेह क्षेत्र में इस प्रकार परिवर्तन नहीं होता। वहां सदा चौथा आरा बना रहता है। तीर्थङ्कर विचरते रहते हैं, जिन्हें विहरमाण कहा जाता है और मोक्ष का द्वार सदा खुला रहता है। भरत क्षेत्र में धर्मानुष्ठान द्वारा आत्म विकास करने वाले अनेक व्यक्तियों के लिए शास्त्रों में बताया गया है कि वे स्वर्ग लोक में जीवन पूरा करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगे और वहां मोक्ष प्राप्त करेंगे। आनन्द श्रमणोपासक भी महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि मोक्ष को प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति पर सुधर्मास्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं— हे जम्बू! मैंने भगवान से जैसा सुना वैसा तुम्हें बता रहा हूँ। जिस प्रकार उपनिषदों में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी जनक श्वेतकेतु जाबाल, यमनचिकेता संवाद मिलते हैं और उनमें आत्म तत्त्व एवं जगत के गम्भीर रहस्यों का प्रतिपादन किया गया है तथा बौद्ध साहित्य में भगवान बुद्ध तथा उनके प्रधान शिष्य आनन्द के परस्पर संवाद मिलते हैं। उसी प्रकार जैन आगमों में सर्वप्रथम भगवान महावीर तथा गौतम स्वामी के परस्पर संवाद हैं। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं और भगवान उत्तर के रूप में सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं। दूसरे संवाद, सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी के बीच हैं भगवान महावीर की परम्परा सुधर्मा स्वामी से प्रारम्भ होती है। वे श्रुतकेवली और चौथे गणधर थे उनके शिष्य जम्बू स्वामी के शिष्य प्रभव स्वामी हुए। वर्तमान जैन आगम सुधर्मास्वामी की रचना माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने ही भगवान महावीर से उन्हें अर्थ के रूप में सुना और शब्दों के रूप में स्वयं गुम्फन करके जम्बू स्वामी को उपदेश किया।

॥ सप्तम उपासकदशाङ्ग-सूत्र का आनन्द अध्ययन समाप्त ॥

बीयं अज्झयणं

द्वितीय अध्ययन

द्वितीय अध्ययन के विषय में प्रश्न—

मूलम्—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते दोच्चस्स णं, भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ॥ ८९ ॥

छाया—यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां प्रथमाध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः, द्वितीयस्य खलु भदन्त ! अध्ययनस्य कोऽर्थः प्रज्ञप्त. ?

शब्दार्थ—जइ णं—यदि भंते !—भगवन् ! समणेणं भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान् महावीर ने जाव—यावत् संपत्तेण—जिन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, सत्तमस्स अगस्स उवासगदसाणं—उपासकदशा नामक सातवे अग के पढमस्स अज्झयणस्स—प्रथम अध्ययन का अयमट्ठे—यह अर्थ पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है तो भते !—हे भगवन् ! दोच्चस्स ण अज्झयणस्स—द्वितीय अध्ययन का के अट्ठे—क्या अर्थ पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है ?

भावार्थ—आर्य जम्बूस्वामी ने पूछा—भगवन् ! यावत् मोक्ष के प्राप्त हुए श्रमण भगवान् महावीर ने यदि सातवे अग उपासकदशा के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है तो हे भगवन् ! दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ बताया है ?

टीका—प्रस्तुत सूत्र द्वितीय अध्ययन की उत्थानिका है जिस मे कामदेव श्रावक का वर्णन है। आर्य जम्बूस्वामी प्रथम आनन्द विषयक अध्ययन समाप्त होने पर द्वितीय अध्ययन के विषय मे पूछते हैं।

द्वितीय कामदेवाध्ययन

कामदेव का जीवनवृत और पौषधशाला गमन—

मूलम्—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नामं नयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए। जियसत्तू राया। कामदेवे गाहावई। भद्दा भारिया। छ हिरण्ण कोडीओ निहाण पउत्ताओ, छ वुड्ढि पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया दस गो साहस्सिएणं वएणं। समोसरणं। जहा आणंदो तहा निग्गओ, तहेव सावय धम्मं पडिवज्जइ।

सा चेव वत्तव्वया जाव जेट्ठ पुत्त-मित्त नाइं आपुच्छित्ता, जेणेव पोसहसाला, तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता जहा आणंदो जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ॥ ९०॥

छाया—एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगर्यासीत्। पूर्णभद्रश्चैत्यः। जितशत्रू राजा। कामदेवो गाथापतिः। भद्रा भार्या। षड् हिरण्यकोटयो निधानप्रयुक्ताः षड् वृद्धिप्रयुक्ताः, षट् प्रविस्तरप्रयुक्ताः, षड् व्रजा दश गोसाहस्रिकेण व्रजेन। समवसरणम्। यथानन्दस्तथा निर्गतः। तथैव श्रावक धर्मं प्रतिपद्यते, सा चैव वक्तव्यता। यावज्ज्येष्ठपुत्र मित्र ज्ञातिमापृच्छ्य येनैव पौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य यथानन्दो यावत् श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—एवं खलु जम्बू !—हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं—उस काल तेणं समएणं—उस समय चम्पा नाम—चम्पा नामक नयरी—नगरी होत्था—थी, पुण्णभद्दे चेइए—पूर्णभद्र नामक चैत्य था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था। कामदेवे गाहावई—कामदेव गाथापति था और उनकी भद्दा भारिया—भद्रा भार्या थी। छ हिरण्ण कोडीओ—छह हिरण्य कोटि अर्थात् सुवर्ण मुद्राएँ निहाण पउत्ताओ—उसके खजाने में रखे थे छ वुड्ढि पउत्ताओ—छह करोड़ व्यापार में लगे थे छ पवित्थर पउत्ताओ—छह करोड़ प्रविस्तर अर्थात् गृह एवं तत्सम्बन्धी उपकरणों में लगे हुए थे छ व्वया—छह व्रज थे दसगोसाहस्सिएणं वएणं—एक व्रज में दस हजार गौएँ थीं अर्थात् साठ हजार गौएं थीं। समोसरणं—भगवान आए और उनका समव

सरण हुआ। जहा—जिस प्रकार आणंदे—आनन्द घर से निकला था वह भी घर से उसी प्रकार निग्गए—निकला, तहेव—उसी तरह सावय धम्मं—श्रावक धर्म को पडिवज्जइ—ग्रहण किया, सा चेव—वही वत्तव्वया—वक्तव्यता यहाँ भी समझनी चाहिए, जाव—यावत् जेट्ठपुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र मित्तनाइं—और मित्रो तथा ज्ञातिजनों को आपुच्छित्ता—पूछकर जेणेव—जहाँ पोसहसाला—पौषधशाला थी तेणेव—वहाँ उवागच्छइ—आया, उवागच्छित्ता—आकर जहा आणंदो—आनन्द के समान जाव—यावत् समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के अंतियं—समीपस्वीकृत धम्मपण्णत्ति—धर्म प्रज्ञप्ति को उवसपज्जित्ताणं—ग्रहण करके विहरइ—विचरने लगा।

भावार्थ—सुधर्मास्वामी जी ने उत्तर दिया हे जम्बू! उस काल उस समय चम्पा नामक नगरी थी, वहाँ पूर्णभद्र चैत्य और जितशत्रु राजा था। वही कामदेव गाथापति था और उसकी भद्रा नाम वाली भार्या थी। छह करोड हिरण्य उसके खजाने मे थे। छह करोड़ व्यापार मे लगे थे। छह करोड़ गृह, तत्सम्बन्धी उपकरण, वस्त्र रथ, पोत आदि मे लगे हुए थे। छह व्रज थे, प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाए थी, अर्थात् साठ हजार पशुधन था। भगवान् महावीर पधारे और उनका समवसरण हुआ। कामदेव भी आनन्द की तरह घर से निकला और श्रमण भगवान् महावीर के पास आया। उसी प्रकार श्रावकधर्म स्वीकार किया। यह सब वृत्तान्त आनन्द के समान समझना चाहिए यावत् कामदेव भी ज्येष्ठ पुत्र, मित्रवर्ग तथा जाति बन्धुओ से पूछ कर पौषधशाला मे गया। वहाँ जाकर आनन्द की तरह श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्मप्रज्ञप्ति अङ्गीकार करके विचरने लगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे कामदेव गाथापति का वर्णन है, व्रत ग्रहण से लेकर पौषधशाला मे जाकर निरन्तर धर्मानुष्ठान तक की घटनाएँ इसकी भी आनन्द के समान हैं।

मिथ्यादृष्टि देव का उपसर्ग—

मूलम्—तए णं तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स पुव्वरत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे मायी मिच्छ-दिट्ठी अंतियं पाउब्भूए ॥ ९० ॥

छाया—तत खलु तस्य कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्रकालसमये एको देवो मायी मिथ्यादृष्टिर्रा तक प्रादुरभूत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स—उस कामदेव श्रमणोपासक के अतिय—समीप पुव्वरत्तावरत्ताकाल समयसि—मध्य रात्रि मे एगे देवे—मायीमिच्छदिट्ठी—जो कि मायावी और मिथ्या दृष्टि था पाउब्भूए—प्रकट हुआ ।

भावार्थ—तदनन्तर मध्यरात्रि म कामदव श्रमणोपासक के समीप एक मायावी और मिथ्यादृष्टि दव प्रकट हुआ ।

टीका—धम निष्ठ पुरुषा को साधना से विचलित करने तथा उनके अनुष्ठान मे *विघ्न डालने के लिए दुष्ट प्रकृति वाले यक्ष राक्षस आदि का प्रकट होना भारत की* समस्त परम्पराओ मे मिलता है। वदिक परम्परा म ऋषियो द्वारा किए गए यज्ञो म विघ्न डालने के लिए राक्षस आते हैं। इसी प्रकार विविध व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली तपस्या मे भी यक्ष राक्षस असुर आदि विघ्न डालते हैं। इसी प्रकार जन परम्परा म भी इनका वणन मिलता है।

प्रस्तुत पाठ म दवता को मिथ्यात्वी अर्थात मिथ्यादृष्टि बताया गया है। इसका अथ है वह जन धम का विरोधी था। जन शास्त्रो मे बताया गया है कि बहुत से तापस जन धम न मानने पर भी तपस्या के कारण अमुक जाति के देव बन जाते हैं और उनकी धम सम्बन्धी विद्वष भावना वहाँ भी बनी रहती है।

देव द्वारा विकराल रूप धारण—

मूलम—तए ण से देवे एग मह् पिसाय रूव विउव्वइ। तस्स ण देवस्स पिसाय रूवस्स इम एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—सीससे गो कलिज सठाण सठिय, सालिभसेल्लसरिसा सेसा कविलतेएण दिप्पमाणा, महल्ल उट्टिया कभल्ल सठाण-सठिय निडाल, मुगु स पुञ्छ व तस्स भुमगाओ फुग्ग फुग्गाओ विगय बीभच्छ दसणाओ, सीस घडि विणिग्गयाइ अच्छीणी विगय बीभच्छ दसणाइ, कण्णा जह सुप्प कत्तर चेव विगय बीभच्छ दसणिज्जा,

उरब्भ-पुड-संन्निभा से नासा, झुसिरा-जमल-चुल्ली-संठाण-संठिया दोवि तस्स नासा पुडया, घोडय-पुञ्छं व तस्स मंसूइं कविल-कविलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं उट्ठा उट्टस्स चेव लंबा, फालसरिसा से दंता, जिब्भा जह सुप्प-कत्तरं चेव-विगय-बीभच्छ-दंसणिज्जा, हल-कुद्दाल-संठिया से हणुया, गल्ल-कडिल्लं च तस्स खड्डं फुट्टं कविलं फरुसं महल्लं, मुइंगाकारोवमे से खंधे, पुर-वर-कवाडोवमे से वच्छे, कोट्ठिया-संठाण-संठिया दोवि तस्स बाहा, निसा-पाहाण-संठाण-संठिया दो वि तस्स अग्ग-हत्था, निसा-लोढ-संठाण-संठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडग-संठिया से नक्खा, ण्हाविय-पसेवओ व्व उरंसि लंवंति दो वि तस्स थणया, पोट्टं अयकोट्ठओ व्व वट्टं, पाण-कलंद सरिसा से नाही, सिक्कग संठाण संठिया से नेत्ते, किण्ण पुड संठाण संठिया दो वि तस्स वसणा, जमल कोट्ठिया-संठाण-संठिया दो वि तस्स ऊरू, अज्जुण-गुट्ठं व तस्स जाणूइं कुडिल-कुडिलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, जंघाओ कक्खडीओ लोमेहिं उवचियाओ, अहरी-संठाण-संठिया दोऽवि तस्स पाया, अहरी-लोढ-संठाण-संठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पि-पुड-संठिया से नक्खा ॥ ९१ ॥

छाया—ततः खलु स देव एकं महान्त पिशाचरूपं विकुरुते । तस्य खलु देवस्य पिशाच रूपस्यायमेतद्रूपो वर्णकव्यासः प्रज्ञप्तः,—शीर्ष तस्य गोकलिञ्ज संस्थान संस्थित. शालिभसेल्लसदृशास्तस्य केशा. कपिलतेजसादीप्यमानाः, महदुष्ट्रिकाकभल्ल संस्थान संस्थित ललाट, मुगुंसपुच्छं वत्तस्य भुवौ फुग्गफुग्गौ विकृत बीभत्सदर्शनौ, शीर्षघटी विनिर्गते अक्षिणी विकृतबीभत्सदर्शने, कर्णौ यथा शूर्प कर्त्तरे इव विकृतबीभत्स दर्शनीयौ, उरभ्रपुट्टसन्निभा तस्य नासा शुषिरा, यमलचुल्ली संस्थान संस्थिते द्वे अपि तस्य नासापुटे, घोटकपुच्छ वत्तस्य श्मश्रूणि कपिलकपिलानि विकृत बीभत्सदर्शनानि, ओष्ठौ उष्ट्रस्येव लम्बौ, फालसदृशास्तस्य दन्ताः, जिह्वा यथा सूर्पकर्त्तरमेव विकृत बीभत्सदर्शनीया, हलकुदाल संस्थिता तस्य हनुका, गल्लकडिल्लं च तस्य गर्त स्फुटं कपिलं परुषं महत् मृदङ्गाकारोपमौ तस्य स्कन्धौ, पुरवरकपाटोपमं तस्य वक्षः, कोष्टिकासंस्थानसंस्थितौ द्वावपि बाहू, निशापाषाण-संस्थान-संस्थितौ द्वावपि तस्या-

प्रहस्तौ, निगालोष्ट सस्थानसस्थिता हस्तयोरगुल्य, गुक्तिपुटक सस्थितास्तस्य नखा, नापितप्रसेवकाविवोरसि लम्बेते द्वावपि स्तनकौ, उदरमय कोष्ठकवदवृत्त पानकल दसदृशी तस्य नाभि, शिवयक सस्थानसस्थिते तस्य नेत्रे, किण्वपुट सस्थान सस्थितौ द्वावपि तस्य वृषणौ, यमल कोष्ठिका सस्थानसस्थितौ द्वावपि तस्योरू अर्जुनगुच्छ यत्तस्य जानुनी कुटिल कुटिले विकृतबीभत्सदर्शने, जघे करकटी रोम भिरुपचिते, अधरी सस्थानसस्थितौ द्वावपि तस्य पादौ, अधरी लोष्टसस्थानसस्थिता पादेष्वगुल्य, शुक्तिपुटसस्थितास्तस्य नखा ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने एग मह—एक महान विकराल पिसायरूव—पिशाच रूप धारण किया तस्सण—उस देवस्स—देव के पिसायरूवस्स-पिशाच रूप का इमे एयारूवे—इस प्रकार से वण्णावासे—सविस्तर वर्णन पण्णत्ते—किया गया है—से—उसका सीस—सिर गोकलिजसठाण सठिय—गोकलिंज—(बास की टोकरी अथवा धातु आदि से बना हुआ पात्र जिसमे गाय का चारा दिया जाता है) के समान था, सालिभसेल्ल सरिसा—शालिभसेल्ल अर्थात चावल आदि की मजरी के तन्तुओ के समान रूखे और मोटे कविल तेएण दिप्पमाणा—भूरे रग के चमक वाले से—उसके केसा—केश थे, महल्ल उट्टिया-कभल्ल-सठाण-सठिय निडाल—उसका ललाट बडे मटके के कपाल जसा था, तस्स—उसकी भुमगाओ—भौंहे मुगु सपुञ्छ वा—गिलहरी की पून्छ के समान फुग्गफुग्गाओ—बिखरी हुई और विगयबीभच्छदसणिज्जा—विकृत और बीभत्स दिखाई देती थी, अच्छीणि—आखें सीसघडिविणिग्गयाइ—मटकी के समान सिर से बाहर निकली हुई थी विगयबीभच्छदसणाइ—विकृत और बीभत्स दीखती थी कण्णा—कान जह सुप्प कत्तर चेव—टूटे हुए छाज के समान विगयबी भच्छदसणिज्जा—देखने मे विकृत और भयकर थे, से नासा—उसकी नाक उरब्भ पुडसन्निभा—मढे की नाक जसी थी। दोवि तस्स नासा पुडया—उसकी नाक के दोनो छेद झुसिरा—गड्ढे समान और जमलचुल्लीसठाणसठिया—जुडे हुए दो चूल्हा के समान थे तस्स मसूइ—उसकी मुञ्छें घोडय-पुञ्छ व—घोडे की पून्छ जसी और कविल कविलाइ—भूरे रग का तथा विगयबीभच्छदसणाइ—विकृत और बीभत्स थी, उट्ठा—ओष्ठ उट्टस्स चेव—उष्ट्र के ओठ की तरह लबा—लम्बे थे से—उसके दता—दान्त फालसरिसा—हल की लोहे की फाल के समान तीखे थे। जिब्भा—जिह्वा जह सुप्पकत्तर चेव-छाज के टुकडे के समान विगयबीभच्छदसणिज्जा-विकृत

ओर देखने मे वीभत्स थी, **से हणुया**—उसकी ठुड्डी **हलकुद्दालसंठिया**—हल के अग्र भाग के समान वाहर उभरी हुए थी **गल्लकडिल्लं च तस्स**—कढाही के समान अन्दर धँसे हुए उसके गाल **खड्डं**—गड्ढे वाले **फुट्टं**—फटे हुए अर्थात् घाव वाले **कविलं फरुसं**—भूरे कठोर **महल्लं**—तथा विकराल थे। **से खंधे**—उसके कधे **मुइंगाकारोवमे**—मृदङ्ग के समान थे, **से वच्छे**—उसका वक्ष.स्थल छाती **पुरवरकवाडोवमे**—नगर के फाटक के समान चौडा था, **दो वि तस्स वाहा**—उसकी दोनो भुजाएँ **कोट्ठिया संठाण संठिया**—कोष्ठिका (हवा रोकने के या इकट्ठी करने के लिए भस्त्रा-धौकनी के मुँह के सामने वनी हुइ मिट्टी की कोठी) के समान थी, **दोवि तस्स अग्गहत्था**—उसकी दोनो हथेलियां **निसापाहाणसंठाणसंठिया**—चक्की के पाट के समान मोटी थी, **हत्थेसु-अंगुलीओ**—हाथो की अगुलियाँ **निसालोढ संठाणसंठियाओ**—लौढी के समान थी **से नखा**—उसके नख **सिप्प पुडगसंठिया**—सीपियो के समान थे **दोवि तस्स थणया**—उसके दोनो स्तन **ण्हावियपसेवओ व्व**—नाई की गुच्छी (उस्तरे आदि रखने के चमडे की थैलियो) के समान **उरंसि लंबंति**—छाती से लटक रहे थे **पोट्टं**—पेट **अयकोट्ठओ व्व वट्टं**—लोहे के कुसूल **कोठे**—के समान गोल था, **से नाही**—उसकी नाभि **पाणकलंदसरिसा**—जुलाहो द्वारा वस्त्र मे लगाए जाने वाले आटे के जल (माँड वनाने के वर्तन के समान गहरी थी, **से नेत्ते**—उसके नेत्र **सिक्कगसंठाण संठिए**—छीके के समान थे **दोवि तस्स-वसणा**—उसके दोनो अण्डकोष **किण्ण पुडसंठाणसंठिया**—विखरे हुए दो थैलों के समान थे। **दोवि तस्स ऊरू**—उसकी दोनो जघाएँ **जमल कोट्ठियासंठाणसंठिया**—समान आकार वाली दो कोठियो के समान थी, **तस्स जाणूइं**—उसके घुटने **अज्जुणगुट्ठं व**—अर्जुन वृक्ष के गुच्छे के समान **कुडिल कुडिलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं**—टेढे-मेढे विकृत और वीभत्स भयानक दर्शन वाले थे। **जंघाओ**—उसकी पिण्डलियाँ **कक्खडीओ**—कठोर और **लोमेहि उवचियाओ**—वालो से भरी हुई थी। **दोवि तस्स पाया**—उसके दोनो पैर **अहरी संठाण संठिया**—दाल पीसने की शिला की तरह थे। **पाएसु अंगुलीओ**—पैरो की अगुलियाँ **अहरी लोढ संठाण संठियाओ**—लोढी की आकृति वाली थी। **से नक्खा**—उन अगुलियो के नख **सिप्पिपुडसंठिया**—सीपियो के समान थे।

भावार्थ—उस मायावी, मिथ्यादृष्टि देव ने एक विकराल पिशाच का रूप धारण किया। उसका मस्तक गोकलिज अर्थात् गाय को चारा डालने के उपयोग मे आने

यानी टोकरी या कुण्ड के सदृश था। नालिभसल्ल—अर्थात धान्य आदि की मजरी के तन्तुओं के समान रूप और मोटे भूरे रग के केश थे। ललाट मटके के समान लम्बा-चौडा था। भौंहे गुलहरी की पूछ के समान बिखरी हुई और बीभत्स थीं। आँखें अत्यन्त विकृत टेढी मेढी थी ऐसा प्रतीत होता था जैसे मटके मे दो छेद हो। कान टूटे हुए छाज के समान थे। नाक मेढे जैसी थी और उसमे गड्डे के समान छेद थे। नाक के छेद जुडे हुए दो चूल्हो के समान थे। मूछें घोडे की पूछ के समान रूखी, भूरी तथा विकृत थी। होंट ऊँट के होठो के समान लम्बे थे। दांत फाल के समान तीखे थे। जीभ छाज के टुकडे के समान विकृत और बीभत्स थी। उसकी ठुड्डी (जबडे) हल कुद्दाल के समान उभरी थी। गाल कडाही के समान अन्दर को धँसे हुए गड्ढे जैसे थे और फटे हुए भूरे और बीभत्स थे। कधे ढोल के समान थे। छाती नगर कपाट के समान चौडी थी। भुजाए कोष्ठिका (फूँकनी) के समान थी। हथेलियाँ चक्की के पाट के समान मोटी थी। हाथो की अगुलियाँ लोढी के समान थी। नाखून सीप के समान थे। स्तन छाती पर से लटक रहे थे जैसे नाई के उपकरण रखने की थलियाँ हो। पेट लोहे के कोठे (कुसूल) के समान गोल था। नाभि ऐसी गहरी थी जैसे जुलाहे का आटा—माड घोलने का कुडा हो। नेत्र छीके के समान थे। अण्डकोष भरे हुए दो थैले (बोरियो) के समान थे। जघाएँ समान आकार वाली दो कोठियो के समान थी। घुटने अर्जुन वृक्ष के गुच्छे के समान टेढे मेढे विकृत और बीभत्स थे। पिण्डलियाँ कठोर और बालो से भरी थी, पैर दाल पीसने की शिला की तरह थे। पैरो की अगुलिया लोढी जैसी आकृतिवाली और पैरो के नख सीप के समान थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे पिशाच के भयकर रूप का वर्णन है। उसके प्रत्येक अङ्ग की जो उपमाए दी गई हैं वे बडी विचित्र हैं। साहित्य शास्त्र में प्राय ऐसी नहा मिलती। रामायण तथा अन्य काव्यो मे राक्षसो के भयकर रूप का वर्णन है। ताडका शूर्पनखा आदि राक्षसियो ने भी अनेक विकराल रूप धारण किए थे किन्तु वह वर्णन दूसरे प्रकार का है। प्रस्तुत वर्णन मे जो चित्रण है वह मानव वश विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पिशाच का रूप धारण करने वाले इस देवता को मिथ्यात्वी कहा गया है जो जैन साधक कामदेव को उसकी साधना से विचलित

करने आया है। जैन परम्परा के साथ इस प्रकार का धार्मिक विद्वेष किस परम्परा मे था, यह भी विचारणीय है। प्रतीत होता है पिशाच का सम्बन्ध किसी तापस परम्परा से है जिसका विरोध भगवान् पार्श्वनाथ ने किया था। उनके जीवन मे भी कमठ नाम के तापस का वर्णन मिलता है।

पिशाच का विकराल रूप और कामदेव को तर्जना—

मूलम्—लडह-मडह-जाणुए विगय-भग्ग-भुग्ग-भुमए अवदालिय-वयण-विवर-निल्लालियग्गजीहे, सरड-कय-मालियाए, उंदुर-माला-परिणद्ध-सुकय चिंधे, नउल-कय-कण्ण-पूरे, सप्प-कय-वेगच्छे, अप्फोडंते, अभिगज्जंते, भीम-मुक्कट्टट्टहासे, नाणा-विह-पंच-वण्णेहिं लोमेहि उवचिए एगं महं नीलुप्पल-गवल-गुलिय-अयसि-कुसुम-प्पगासं असिं खुर-धारं गहाय, जेणेव पोसह-साला, जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता आसु-रत्ते रुट्ठे-कुविए चंडिक्किए मिसिमिसियमाणे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"हं भो कामदेवा! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थिया! दुरंत-पंत-लक्खणा! हीण - पुण्ण - चाउद्दसिया! हिरि-सिरी-धिइ-कित्ति-परिवज्जिया! धम्मकामया! पुण्णकामया! सग्गकामया! मोक्ख-कामया! धम्मकंखिया! पुण्णकंखिया! सग्गकंखिया! मोक्खकंखिया! धम्म पिवासिया! पुण्ण पिवासिया! सग्गपिवासिया! मोक्ख-पिवासिया! नो खलु कप्पइ तव देवाणुप्पिया! जं सीलाइं वयाइं वेरमणाइं पच्चक्खाणाइं पोसहोववासाइं चालित्तए वा, खोभित्तए वा, खंडित्तए वा, भंजित्तए वा, उज्झित्तए वा, परिच्चइत्तए वा, तं जइ णं तुमं अज्ज सीलाइं जाव पोसहोववासाइं न छड्डेसि न भंजेसि, तो तं अहं अज्ज इमेणं नीलुप्पल जाव असिणा खंडा-खंडिं करेमि, जहा णं तुमं देवाणु-प्पिया, अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि॥ ९२॥"

छाया—लडह-मडह-जानुक, विकृतभग्न-भुग्न भ्रूः, अवदारित-वदन-विवर-निर्लालिताग्र जिह्वः, सरटकृतमालिकः, उन्दुरमाला परिणद्धसुकृतचिन्हः, नकुलकृत-

कणपूर, सपकृतवक्ष, आस्फोटयन्, अभिगजन, भीममुक्ताट्टाट्टहास, नानाविधि पञ्चवर्ण रोमरुपचित, एक महान्त नीलोत्पलगवल गुलिकाअतसी कुसुमप्रकाशमसि क्षुर धार गृहीत्वा येनव पौषधशाला येनव कामदेव श्रमणोपासकस्तेनवोपागच्छति। उपागत्य आशुरक्त, रुष्ट, कुपित, चण्डित, मिसमिसायमान कामदेव श्रमणोपासक-मेवमवादीत—"ह भो कामदेव! श्रमणोपासक! अप्रार्थित प्रार्थक! दुरन्तप्रान्त-लक्षण! हीनपुण्यचातुर्दशिक! ह्री श्री धृति कीर्ति परिवर्जित! धर्मकाम! पुण्य काम! स्वर्गकाम! मोक्षकाम! धर्मकाक्षिन! पुण्यकाक्षिन! स्वर्गकाक्षिन! मोक्षकाक्षिन! धर्मपिपासित! पुण्यपिपासित! स्वर्गपिपासित! मोक्षपिपासित! नो खलु कल्पते तव देवानुप्रिय! यत शीलानि, व्रतानि, विरमणानि, प्रत्या ख्यानानि पौषधोपवासानि, चालयितु वा, क्षोभयितु वा, खण्डितु भङ्क्तु वा, उज्झितु वा परित्यक्तु वा, तद यदि खलु त्वमद्य शीलानि यावत्पौषधोपवासानि न त्यक्षसि न भक्ष्यसि तर्हितेऽहमद्यानेन नीलोत्पल यावदसिना खण्डाखण्डि करोमि यथा खलु त्व देवानुप्रिय! आर्त्तदुखार्त्त वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद व्यपरो पयिष्यसे।

शब्दार्थ—लडह मडह जाणुए—उसके घुटने लम्बे और लडखडा रहे थे। विगय भग्ग भुमए—भ्रू भौंहे—विकृत, खण्डित तथा कुटिल थी, अवदारिय वयण विवर निल्लालियग्गजीहे—मुख फाड रखा था जीभ बाहर निकाल रखी थी। सरडकय मालियाए—सरटा की माला सिर पर लपेट रखी थी उदुरुमालापरिणद्ध सुकयचिंधे—बँधी हुई चूहा की माला उसकी पहचान थी। नउलकयकण्णपूरे—कण फूल के स्थान पर नेवले लटक रहे थे, सप्पकयवेगच्छे—सापो का वक्ष अर्थात दुपट्टा बना रखा था, अप्फोडते—करास्फोट हाथ फटकारता हुआ अभिगज्जते—गजना करता हुआ भीममुक्कट्टट्टहासे—भयङ्कर अट्टहास करता हुआ नानाविह पचवण्णेहि लोमेहि उवचिय—नानाविध पाचवण के रोमो स आवत्त शरीर वह पिशाच एग मह—एक महान नीलुप्पल—नील उत्पल गवलगुलय—महिष के सीग के समान नीले अतसी कुसुम पगास—अलसी के फूल जसी असिखुरधार—तीक्ष्ण धार वाली तलवार को गहाय—लेकर जेणेव—जहा पोसहसाला—पौषधशाला थी जेणेव—और जहा कामदेव समणोवासए—कामदव श्रमणोपासक था तेणेव—वहा उवागच्छइ—आया। उवा

गच्छित्ता—आकर **आसुरत्ते रुट्ठे कुविए चंडिविकए मिसिमिसीयमाणे**—क्रूरता से रुष्ट, कुपित, क्रोधोन्मत्त तथा हाँपता हुआ **कामदेवं समणोवासयं**—कामदेव श्रमणोपासक को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**हंभो ! कामदेवा समणोवासया !**—अरे कामदेव श्रमणोपासक ! **अपत्थियपत्थिया**—अप्रार्थित अर्थात् मृत्यु के प्रार्थी ! **दुरंतपंतलक्खणा !** दुष्टपर्यवसान तथा अशुभ लक्षणो वाले ! **हीनपुण्णचाउद्दसिया !** दुर्भाग्यपूर्ण चतुर्दशी को जन्मे **हिरिसिरिधिइ कित्ति परिवज्जिया**—लज्जा, लक्ष्मी, धैर्य तथा कीर्ति से रहित **धम्मकामया !**—धर्म की कामना करने वाले ! **पुण्णकामया !** पुण्य की कामना करने वाले ! **सग्गकामया !** स्वर्ग की कामना करने वाले ! **मोक्खकामया !** मोक्ष की कामना करने वाले ! **धम्मकंखिया !** धर्माकाक्षी **पुण्णकंखिया !** पुण्य की इच्छा करने वाले ! **सग्गकंखिया !** स्वर्ग की काक्षा करने वाले ! **मोक्खकंखिया !** मोक्ष को चाहने वाले ! **धम्मपिवासिया**—धर्म पिपासु ! **पुण्णपिवासिया !** पुण्य के पिपासो ! **सग्गपिवासिया**—स्वर्ग की पिपासा करने वाले ! **मोक्खपिवासिया**—मोक्ष के पिपासो ! **देवाणुप्पिया**—हे देवानुप्रिय ! **नो खलु कप्पइ तव**—तुझे नही कल्पता है **जं सीलाइं**—शीलो, **वयाइं**—व्रतो, **वेरमणाइं**—विरमणो, **पच्चक्खाणाइ**—प्रत्याख्यानो **पोसहोववासाइं**—तथा पौषधोपवासो से **चालित्तए वा**—विचलित होना, **खोभित्तए वा**—विक्षुब्ध होना, **खडित्तए वा**—इन्हे खण्डित करना **भंजित्तए वा**—तथा भग करना, **उज्झित्तए वा**—त्यागना, **परिचइत्तए वा**—इनका परित्याग करना **तं जइणं**—तो यदि **तुम अज्ज**—तू आज **सीलाइं जाव पोसहोववासाइं**—शीलो यावत् पौषधोपवास को **न छड्डसि**—नही छोडेगा, **न भंजेसि**—नही भङ्ग करेगा, **तो**—तो **ते**—तुझे **अह**—मैं **अज्ज**—आज **इमेणं नीलुप्पल जाव असिणा**—इस नील कमल आदि के समान श्याम रग की तीखी तलवार से **खंडा-खंडि करेमि**—टुकडे-टुकडे कर दूगा, **जहा णं**—जिससे **तुमं देवाणुप्पिया !** हे देवानुप्रिय ! तू **अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे**—आर्त्त ध्यान के दुख के वशीभूत होता हुआ—अति विकट दुख भोगता हुआ **अकालेचेव**—अकाल मे ही **जीवियाओ**—जीवन से **ववरोविज्जसि**—पृथक् कर दिया जाएगा ।

भावार्थ—घुटने लम्बे और लड़-खडा रहे थे। भौंहे विकृत, अस्त-व्यस्त तथा कुटिल थी। मुँह फाड रखा था और जीभ बाहिर निकाल रखी थी। सरटो (गिरगिटो) और चूहो की मालाएँ पहन रखी थी। यही उस का मुख्य चिह्न था।

नेवल पण भूषण बने हुए थे। सांप उत्तरीय की तरह गले म डाल रखे थे। हाथ-पर पटकार कर भयकर गजना करते हुए उसने अट्टहास किया। उसका शरीर पांच वर्ण के बालो से आच्छादित था। नीले उत्पल (नील कमल) के समान नीलवर्ण, भैसे के सीग के समान टेढे तथा अलसी के फूल के समान चमकते हुए तीक्ष्ण धार वाले खड्ग को लेकर पौषधशाला म कामदेव के पास पहुँचा और क्रूरता पूर्वक रुष्ट, कुपित तथा प्रचण्ड होकर हांपता हुआ बोला— "अरे कामदेव! तू मौत की इच्छा कर रहा है। तू दुष्टपयवसान (दुरन्त) और अशुभ लक्षणो वाला है। अशुभ चतुदशी का पैदा हुआ है। लज्जा लक्ष्मी, धैर्य तथा कीर्ति रहित है। धर्म, स्वर्ग, तथा मोक्ष की कामना करता है। धर्म तथा स्वर्ग की आकाक्षा करता है धर्म पिपासु है। हे देवानुप्रिय! तुझे अपने शील व्रत विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से विचलित होना क्षुब्ध होना उनको खडित करना, भङ्ग करना, त्याग और परित्याग करना नही कल्पता। किन्तु यदि तू आज शील आदि यावत पौषधोपवासो को नही छोडेगा भङ्ग नही करेगा तो इस नील कमल आदि के समान श्याम रंग की तीखी तलवार से तेरे टुकडे २ कर डालूँगा जिससे तू दु ख भोगता हुआ, अकाल म ही जीवन से पृथक हो जाएगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र म प्रारम्भ की कुछ पक्तियाँ पिशाच की वेश भूषा का वर्णन करती हैं। तत्पश्चात कामदेव के पास उसके पहुँचने और उसे भयभीत करने का वर्णन है। पिशाच ने गिरगिट तथा चूहो की मालाएँ पहन रखी थी। कर्णभूषण के स्थान पर नेवले लटक रहे थे और उत्तरीय के स्थान पर साप। जहाँ तक सापो का प्रश्न है उन्ह गले म पहनने का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है। पौराणिक देवता सांपो को आभूषण के रूप मे धारण किए रहते थे तथा हाथी की खाल पहनते थे। उनके अनुचर अन्य भयकर जन्तुओ को भी धारण करते थे। जिनका वर्णन पिशाच के प्रस्तुत वर्णन से मिलता है।

लडहमडहजाणुए—इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—लडहमडह जाणुए त्ति इह प्रस्तावे लडह शब्देन गन्त्र्या पश्चाद्भागवर्ति तदुत्तराङ्गरक्षणार्थं यत्काष्ट तदुच्यते, तच्च गन्त्र्या श्लथबन्धन भवति, एव च श्लथसन्धि बन्धनत्वाल्लडह इव लडहे मडहे च स्थूलत्वाल्पदीर्घत्वाभ्या जानुनी यस्य तत्तथा" यहा लडह का अर्थ है—लकडी का

वह लट्ठा जो बैलगाडी का सन्तुलन रखने के लिए उसके पीछे लटकता रहता है। वह मोटा तथा शिथिल होता है। पिशाच की जघाएँ भी उसी प्रार मोटी और ढीली-ढाली लड-खडा रही थी।

'सप्प कय वेगच्छे'—इसकी वृत्ति निम्नलिखित है—सर्पाभ्यां कृतं वैकक्षम्-उत्तरासङ्गो येन तत्तथा, पाठान्तरेण 'मूसगकयभु भलए बिच्छुय कयवेगच्छे सप्पकय-जण्णोवइए' तत्र भु भलये त्ति—शेखरः 'विच्छुय' त्ति—वृश्चिकाः, यज्ञोपवीतं—ब्राह्मणकण्ठ-सूत्रम्, तथा 'अभिन्नमुहनयणनक्खवरवग्घचित्तकत्तिनियंसणे' अभिन्नाः—अविशीर्णा मुखनयननखा यस्यां सा तथा सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा-कर्बु रा-कृत्तिश्च-चर्मेति कर्मधारयः, सा निवसनं—परिधानं यस्य तत्तथा, 'सरसरुहिरमंसावलित्तगत्ते' सरसाभ्यां रुधिरमांसाभ्यामवलिप्तं गात्रं यस्य तत्तथा।" वैकक्ष्य का अर्थ है—वह दुपट्टा जो वगलो के नीचे से ले जा कर कन्धो पर डाला जाता है, पिशाच ने साँप को इस प्रकार पहन रखा था। यहाँ पाठान्तर मे कुछ और वाते भी वताई गई हैं। उस ने चूहो का मुकुट, विच्छुओ की अक्षमाला तथा साँप का यज्ञोपवीत वना रखा था। चीते की खाल को, जिस से नाखून, आँखे और मुह अलग नही हुए थे, वस्त्र के समान पहन रखा था। ताजे रुधिर और मास से शरीर को लीप रखा था।

अप्पत्थिय-पत्थिया—(अप्रार्थित प्राथक) 'अप्रार्थित' का अर्थ है—मृत्यु, जिसे कोई नही चाहता। समस्त शव्द का अर्थ है, अरे! मौत को चाहने वाले! यह शव्द संस्कृत साहित्य मे वहुत अधिक मिलता है।

हीणपुण्णचाउद्दसिया—(हीनपुण्यचातु र्दशीक!) चतु र्दशी को पुण्य तिथि माना जाता है किन्तु यदि उसका क्षय हो और उस दिन किसी का जन्म हो तो वह अशुभ माना जाता है। यहाँ वृत्तिकार के नीचे लिखे शव्द हैं—"हीणपुण्णाचाउद्दसिया, त्ति हीना—सम्पूर्णा पुण्या चतुर्दशी तिथिर्जन्मकाले यस्य स हीनपुण्यचतुर्दशीकः, तदा-मन्त्रणं, तथा नूलनवृत्तिः—"हीनेति-हीना अपूर्णा या पुण्या पावनी चतुर्दशी (तिथिः) सा हीनपुण्यचतुर्दशी, तस्यां जातो हीन पुण्य चातुर्दशीकस्तत्सम्वोधने, पुण्य चतुर्दश्याम-नुत्पन्नत्वेन भाग्यहीनः' तथा "जं-सीलाइ-वयाइं-वेरमणाइं-पच्चक्खाणाइं-पोसहोव-वासाइं" यह पद दिए हैं—इसका अर्थ वृत्तिकार ने ऐसे दिया है—शीलानि—अणुव्रतानि, व्रतानि—दिग्व्रतादीनि, विरमणानिरागादि विरतय., प्रत्याख्यानानि—नमस्कारसहि-तादीनि, पौषधोपवासान्—अहारादिभेदेन चतर्विधान।"

यहां चार प्रकार के अनुष्ठान बताए गए हैं—

१ शील—पाच अणुव्रत।

२ विरमण—दिशाव्रत आदि तीन गुणव्रत।

३ प्रत्याख्यान—नवकारसी, पोरिसी आदि।

४ पौषधोपवास—धर्मस्थानादि एकान्त स्थान म सावद्य व्यापार से निवृत्त होकर उपवासरूप तप साधना का अनुष्ठान करना।

कामदेव की दृढता—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए तेण देवेण पिसाय रूवेण एव वुत्ते समाणे, अभीए, अत्तत्थे, अणुव्विग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असभते, तुसिणीए धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ ॥ ६३ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तेन देवेन पिशाचरूपेणवमुक्त सन अभीतोऽत्रस्तोऽनुद्विग्नोऽक्षुब्धोऽचलितोऽसम्भ्रान्तस्तूष्णीको धर्मध्यानोपगतो विहरति।

शब्दार्थ—तएण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेण देवेण पिसाय रूवेण—पिशाच रूप धारी उस देव के द्वारा एव वुत्ते समाणे—इस तरह कह जाने पर भी अभीए—भयरहित अत्तत्थे—त्रास रहित अणुव्विग्गे—उद्वेग रहित, अक्खुभिए—क्षोभ रहित, अचलिए—अचलित, असभते—असम्भ्रान्त तुसिणीए—और शान्त धम्मज्झाणोवगए विहरइ—रह कर धर्म ध्यान म स्थिर रहा।

भावार्थ—पिशाचरूप धारी देवता के ऐसा कहने पर भी कामदेव श्रावक को न भय हुआ न त्रास हुआ न उद्वेग हुआ न क्षोभ हुआ, न चचलता आई और न सभ्रम हुआ। वह चुप चाप धर्मध्यान मे स्थिर बना रहा।

टीका—पिशाचरूप धारी देव की भयकर गर्जना सुन कर भी कामदेव विचलित नहीं हुआ। सूत्रकार ने उसकी दृढता का वर्णन अभीत, अत्रस्त अनुद्विग्न अचलित असम्भ्रान्त तूष्णीक धर्मध्यानोपगत शब्दों द्वारा किया है। इसका अर्थ है उसके

मन मे भी किसी प्रकार की घबराहट या दुर्भावना नही आई। इससे उसके सम्यग् दर्शन अर्थात् धर्म विश्वास की दृढता प्रकट होती है। जिस व्यक्ति के मन में आत्मा की अमरता तथा शरीर एव बाह्य भोगो की नश्वरता रम गई है, वह किसी भी भय या प्रलोभन के सामने नही झुकेगा।

पिशाच की पुनः तर्जना--

मूलम्—**तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव धम्म-ज्झाणोवगयं विहरमाणं पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि कामदेवं एवं वयासी—"हं भो! कामदेवा! समणोवासया! अपत्थियपत्थिया! जइणं तुमं अज्ज जाव ववरोविज्जसि ॥ ९४ ॥**

छाया—ततः खलु स देवः पिशाचरूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावद्धर्म-ध्यानोपगतं विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि कामदेवमेवमवादीत—"हं भोः! कामदेव! श्रमणोपासक! अप्रार्थितप्रार्थक! यदि खलु त्वमद्य यावद् व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से देवे पिसायरूवे**—वह पिशाचरूप धारी देव **कामदेवं समणोवासयं**—कामदेव श्रमणोपासकको **अभीयं**—भय रहित **जाव**—यावत् **धम्म-ज्झाणोवगयं विहरमाणं**—धर्मध्यान मे लगे हुए **पासइ**—देखता है, **पासित्ता**—देख कर **दोच्चपि तच्चपि**—दूसरी बार और तीसरी बार भी **कामदेवं**—कामदेव को एव **वयासी**—इस प्रकार बोला—**हं भो! कामदेवा! समणोवासया! अप्पत्थियपत्थिया!** अरे मृत्यु को चाहने वाले कामदेव श्रमणोपासक! **जइ णं तुमं अज्ज**—यदि तू आज शीलआदि का परित्याग नही करेगा, **जाव**—यावत् **ववरोविज्जसि**—तो तू प्राणो से अलग कर दिया जायेगा।

भावार्थ—पिशाचरूप धारी देव ने श्रावक कामदेव को निर्भय यावत् धर्मध्यान मे स्थिर देखा तो वह क्रमश तीन बार इस प्रकार बोला—"अरे मृत्यु के इच्छुक कामदेव! यदि आज तू शीलादि का परित्याग नही करेगा तो यावत् मारा जाएगा।"

कामदेव का अविचलित रहना—

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए तेण देवेण दोच्चपि तच्चपि एव वुत्ते समाणे, अभीए जाव धम्म ज्झाणोवगए विहरइ ॥ ६५ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येव मुक्त सन अभीतो यावद्धमध्यानोपगतो विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेण देवेण—उस देव द्वारा दोच्चपि तच्चपि—दूसरी बार तीसरी बार एव वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए—भय रहित जाव—यावत धम्मज्झाणोवगए—धर्म ध्यान मे स्थिर रहा ।

भावार्थ—देव के द्वारा दूसरी और तीसरी बार कहे जाने पर भी कामदेव निर्भय होकर यावत धर्म ध्यान मे स्थिर रहा ।

पिशाच का हिंसक आक्रमण—

मूलम्—तए ण से देवे पिसाय रूवे कामदेव समणोवासय अभीय जाव विहरमाण पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ५ ति वलिय भिउडिं निडाले साहट्टु, कामदेव समणोवासय नीलुप्पल जाव असिणा खडाखडि करेइ ॥ ६६ ॥

छाया—तत खलु स देव पिशाचरूप कामदेव श्रमणोपासकमभीत यावद्विहर माण पश्यति, दृष्ट्वा, आशुरक्त ५ त्रिवलिका भ्रूकुटि ललाटे संहृत्य कामदेव श्रमणो पासक नीलोत्पल यावदसिना खडखण्डि करोति ।

शब्दार्थ—तए ण—इस पर भी से देवे पिसायरूव—उस पिशाचरूप धारी देव ने कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को अभीय जाव विहरमाण—भय रहित धर्म ध्यान मे स्थित पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर आसुरत्ते ५—अत्यन्त क्रुद्ध होकर तिवलिय भिउडिं निडाले साहट्टु—मस्तक पर तीन भृकुटियाँ चढाकर कामदेव

समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को नीलुप्पल जाव असिणा—नील कमल के समान तलवार से खडाखंडि करेइ—टुकडे-टुकडे कर दिया।

भावार्थ—पिशाचरूपी देव ने फिर भी देखा कि कामदेव श्रमणोपासक निर्भय यावत् धर्मध्यान मे स्थिर है। यह देखकर वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और ललाट पर तीन भ्रूकुटियाँ चढाकर नील कमल के समान खड्ग से कामदेव श्रावक पर प्रहार करने लगा।

टीका—खंडाखंडि करेइ—यहाँ एक प्रश्न होता है कि टुकडे २ करने पर भी कामदेव जीवित कैसे रहा। इसका समाधान यह है कि—यह देवता द्वारा की गई विकुर्वणा थी। कामदेव को यह लग रहा था कि मेरा शरीर काटा जा रहा है, और वह सारी पीडा धैर्यपूर्वक सहन कर रहा था। अगले अध्ययनो से यह स्पष्ट हो जाता है। चुलनीपिता को ऐसा लगता है जैसे उसके पुत्र मार डाले गए हैं और उन्हे गरम तेल के कडाहो मे पकाया गया। किन्तु जब वह पिशाच को पकडने के लिए उठा और कोलाहल सुन कर माता सामने आई तो उसने बताया कि तेरे सभी पुत्र सुख से सो रहे हैं। उन्हे किसी ने नही मारा। इसी प्रकार कामदेव को भी विचलित करने के लिए भयकर दृश्य उपस्थित किए गए। वे सच्ची घटना नही थे।

कामदेव का शात रहना—

मूलम्—**तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ जाव अहियासेइ ॥ ९७ ॥**

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वलां दुरध्यासां वेदना सम्यक् सहते यावदध्यास्ते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तं—उस उज्जलं जाव दुरहियासं वेयणं—तीव्र यावत् दु सह वेदना को सम्मं सहइ जाव अहियासेइ—सम्यक् प्रकार से सहन करता हुआ यावत् धर्मध्यान—मे स्थित रहा।

भावार्थ—कामदेव श्रावक ने उस तीव्र और असह्य वेदना को शान्त चित्त होकर सहन किया और वह धर्म ध्यान में स्थिर रहा।

पिशाच द्वारा हाथी का रूप धारण करना—

मूलम्—तए ण से देवे पिसाय-रूवे कामदेव समणोवासय अभीय जाव विहरमाण पासइ, पासित्ता जाहे नो सचाएइ कामदेव समणोवासय निग्गथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे सते तते परितते सणिय सणिय पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता, पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्व पिसाय रूव विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एग मह दिव्व हत्थि रूव विउव्वइ, सत्तग पइट्ठियसम्म सठिय सुजाय, पुरओ उदग्ग, पिट्ठओ वराह, अया कुच्छि अलब कच्छि पलब लबोदराधर कर अब्भुग्गय मउल मल्लिया विमल धवल दत कचणकोसी पविट्ठ दत, आणामिय चाव ललिय सवल्लियग्ग सोण्ड कुम्मपडिपुण्ण चलण वीसइ नक्ख अल्लीण पमाण जुत्त पुच्छ ॥ ६८ ॥

छाया—तत खलु स देव पिशाचरूप कामदेव श्रमणोपासकमभीत यावद्विहरमाण पश्यति दृष्ट्वा यदा नो शक्नोति कामदेव श्रमणोपासक नग्रन्थात्प्रवचनाच्चालयितु वा क्षोभयितु वा विपरिणमयितु वा तदा श्रान्तस्तान्त परितान्त शन शन प्रत्यवष्वष्क्त प्रत्यवष्वष्क्य पौषधशालात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्य पिशाचरूप विप्रजहाति विप्रहाय्यक महद दिव्य हस्तिरूप विकरते। सप्ताङ्ग प्रतिष्ठित सम्यक सस्थित सुजात पुरत उदग्र पृष्ठतो वराहम, अजाकुक्षि, अवलम्बकुक्षि, प्रलम्बलम्बोदराधरकरम अभ्युदगतमुकुलमल्लिका विमल धवलदन्त, काञ्चनकोशी प्रविष्ट दन्तम, आनामितचापललितसवेल्लिताग्रशुण्ड, कूर्म प्रतिपूर्णचरण, विंशति नखम, आलीनप्रमाणयुक्तपुच्छम।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे पिसायरूवे—उस पिशाचरूप धारी देव ने कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को अभीय जाव विहरमाण—भय रहित यावत धर्म ध्यान में स्थित पासइ—देखा पासित्ता—देखकर कामदेव

समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को **निग्गंथाओ पावयणाओ**—निर्ग्रन्थ प्रवचन से **चालित्तए वा**—विचलित करने, **खोभित्तए वा** क्षुब्ध करने, **विपरिणामित्तए वा**—उसके मनोभावो को पलटने मे **जाहे नो संचाएइ**—जब समर्थ न हो सका **ताहे**—तव **संते**—श्रान्त हो गया अर्थात् थक गया, **तंते**—खेद अनुभव करने लगा, **परितंते**—ग्लानि अनुभव करने लगा, **सणियं सणियं पच्चोसक्कइ**—धीरे-धीरे पीछे को लौटा, **पच्चोसक्कित्ता**—लौट कर **पोसह सालाओ पडिणिक्खमइ**—पौषधशाला से बाहिर निकला, **पडिणिक्खमित्ता**—बाहर निकल कर **दिव्वं पिसायरूवं**—दिव्य पिशाच रूप **विप्पजहइ**—त्याग दिया, **विप्पजहित्ता**—त्याग कर **एगं महं दिव्वं हत्थिरूवं**—एक विकराल दिव्य हस्ती रूप की **विउव्वइ**—विकुर्वणा की, **सत्तंग पइट्ठियं**—सात अत्यन्त स्थूल अङ्गो से युक्त **सम्मं संठियं**—सम्यक् प्रकार से सस्थित **सुजायं**—सुजात **पुरओ उदग्गं**—आगे से ऊँचा **पिट्ठओ वराहं**—और पीछे से सुअर के आकार का रूप बनाया, **अयाकुच्छिं अलंबकुच्छिं**—उसकी कुक्ष बकरी की कुक्षि-पेट के समान लम्बी और नीचे लटकी हुई थी। **पलंब लंबोदराधर करं**—पेट, अधर–होठ और सूण्ड नीचे लटक रहे थे। **अब्भुग्गयमउलमल्लियाविमलधवलदंतं**—दाँत मुह से बाहिर निकले हुए मुकुलित मल्लिका पुष्प की भाँति निर्मल और सफेद थे, **कंचण कोसीपविट्ठदंतं**—और दोनो दाँत ऐसे थे मानो सोने की म्यान में रखे हुए हो, **आणामियचावललियसंवेल्लियग्गसोडं**—सूण्ड का अग्र भाग झुके हुए धनुष की भाँति मुडा हुआ था, **कुम्मपडिपुण्ण चलणं**—पैर कछुए के समान स्थूल और चपटे थे, **वीसइनक्खं**—वीस नाखून थे, **अल्लीणपमाणजुतपुच्छं**—पूञ्छ उठी हुई तथा प्रमाणोपेत थी।

भावार्थ—पिशाचरूप देव ने तव भी श्रावक कामदेव को निडर एव ध्यान मग्न देखा। वह उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित करने, विक्षुब्ध करने और मनो-भावो मे परिवर्तन करने मे समर्थ न हो सका तो श्रान्त, खिन्न एव ग्लान होकर धीरे २ पीछे लौटा। पौषधशाला से बाहिर निकला और पिशाच के रूप को त्याग दिया। तत्पश्चात् विकराल हाथी का रूप धारण किया। उसके सातो अङ्ग, (चार पैर, सूण्ड, लिङ्ग और पूञ्छ) सिडौल थे। शरीर की रचना दृढ तथा सुन्दर थी। आगे से उभरा हुआ और पीछे से वराह के समान झुका हुआ था। कुक्षि वकरी के समान लम्बी और लटकी हुई थी। पेट, होंठ और सूण्ड नीचे लटक रहे थे दान्त मुह से

बाहिर निकले हुए मुकुलित मल्लिका पुष्प की भाँति निर्मल और सफेद थे। उनके ऊपर सोने का वेष्ठन था मानो सोने की म्यान मे रखे हुए हो। सूण्ड का अग्रभाग झुके हुए धनुष के समान मुडा हुआ था, पर कछुए के समान स्थूल और चपटे थे। पून्छ सटी हुई तथा यथा प्रमाण थी।

मूलम्—मत्त मेहमिव गुल गुलेंत, मण पवण-जइण वेग, दिव्व हत्थिरूव विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला, जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेव समणोवासय एव वयासी—"ह भो! कामदेवा! समणोवासया! तहेव भणइ जाव न भजेसि, तो ते अज्ज अह सोंडाए गिण्हामि, गिण्हित्ता पोसहसालाओ नीणेमि, नीणित्ता उड्ढ वेहास उव्विहामि, उव्विहित्ता तिक्खेहिं दत मुसलेहिं पडिच्छामि, पडिच्छित्ता अहे धरणितलसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेमि, जहा ण तुम अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ ९९ ॥

छाया—मत्त मेघमिव गुडगुडायमान, मन पवनजयिवेग, दिव्य हस्तिरूप विकुरुते, विकृत्य येनव पौषधशाला येनव कामदेव श्रमणोपासकस्तेनवोपागच्छति, उपागत्य कामदेव श्रमणोपासकमेवमवादीत—हभो! कामदेव! श्रमणोपासक! तथैव भणति यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्याह शुण्डया गृह्णामि, गृहीत्वा पौषधशालातो नयामि, नीत्वोर्ध्व विहायसमुद्वहामि, उदुह्य तीक्ष्णाभ्या दन्तमुसलाभ्याम प्रतिच्छामि प्रतीष्याधो धरणितले त्रि कृत्व पादयोर्लोलयामि, यथा खलु त्वमार्त्त दु खार्त्तवशार्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—मत्त मेहमिव गुलगुलेंत—वह मदोन्मस्त और मेघ के समान गर्जना कर रहा था, मणपवणजइण वेग—उसका वेग मन और पवन से भी तीव्र था दिव्व हत्थिरूव—दिव्य हाथी के रूप की विउव्वइ—विक्रिया की, विउव्वित्ता—विक्रिया करके जेणेव पोसहसाला—जहा पौषधशाला थी जेणेव कामदेवे समणोवासए—जहा कामदेव श्रमणोपासक था तेणेव उवागच्छइ—वहा आया उवागच्छित्ता—आकर कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार

वोला—हं भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! अरे कामदेव श्रमणोपासक ! तहेव भणइ—उसी प्रकार कहा जाव—यावत् न भंजेसि—यदि तू शील-व्रतादि का त्याग नही करेगा तो ते अज्ज अहं—तो तुझे मैं आज सोंडाए गिण्हामि—सूण्ड से पकडू गा, गिण्हित्ता—पकडकर पोसहसालाओ नीणेमि—पौपधशाला से वाहिर ले जाऊँगा नीणित्ता—ले जाकर उड्ढं वेहासं उव्विहामि—ऊपर आकाश मे उछालूँगा, उव्विहित्ता—उछाल कर तिक्खेहि दंतमुसलेहिं—तीक्ष्ण दन्त मूसलो मे उठालूँगा, पडिच्छित्ता—उठाकर अहे धराणितलंसि—नीचे पृथ्वी तल पर तिक्खुत्तो—तीनवार पाएसु लोलेमि—पैरो से कुचलूँगा, जहा णं तुमं—जिससे तू अट्टदुहट्टवसट्टे—अत्यन्त दु खी तथा चिन्ता मग्न होकर आकाले चेव—असमय मे ही जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित कर दिया जाएगा ।

भावार्थ—वह हाथी मदोन्मत्त था । मेघ के समान गर्जना कर रहा था । उस का वेग मन और पवन से भी तीव्र था । देवता ने ऐसे दिव्य हाथी के रूप की विक्रिया की और पौषधशाला मे कामदेव श्रावक के पास पहुँचा और वोला—अरे कामदेव श्रावक ! यदि तू शील-व्रत आदि का भङ्ग न करेगा तो मैं तुझे अपनी सूण्ड से पकड कर पौपधशाला के वाहिर ले जाऊँगा । आकाश मे उछालूँगा फिर अपने तीक्ष्ण मूसल समान दान्तो पर उठा लूँगा । तीन वार नीचे भूमि तल पर पटक कर पैरो से कुचलूँगा जिसके कारण तू अत्यन्त दु ख से आर्त्त होकर असमय मे ही जीवन से हाथ धो वैठेगा ।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं हत्थि-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव विहरइ ।। १०० ।।

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तेन देवेन हस्तिरूपेणैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेणं देवेणं हत्थिरूवेणं—उस हस्तीरूप धारी देव द्वारा एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए जाव विहरइ—भय-भीत न हुआ और यावत् ध्यान मे स्थिर रहा ।

भावार्थ—हाथीरूप धारी देवता के ऐसा कहने पर भी श्रावक कामदेव भय भीत न हुआ और यावत ध्यान म स्थिर रहा।

मूलम्—तए ण से देवे हत्थि रूवे कामदेव समणोवासय अभीय जाव विहरमाण पासइ, २ त्ता दोच्चपि तच्चपि कामदेव समणोवासय एव वयासी—"ह भो! कामदेवा! तहेव जाव सो वि विहरइ ॥ १०१ ॥

छाया—तत खलु स देवो हस्तिरूप कामदेव श्रमणोपासकमभीत यावद्विहरमाण पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि कामदेव श्रमणोपासकमेवमवादीत—हभो! कामदेव! तथैव यावत्स विरहति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे हत्थिरूवे—उस हस्तीरूप धारी देव ने काम देव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को अभीय जाव विहरमाण पासइ—भयरहित यावत ध्यान मग्न देखा पासित्ता—देखकर दोच्चपि तच्चपि—दूसरी और तीसरी बार कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा—ह भो! कामदेवा! अरे कामदेव! तहेव जाव सोवि विहरइ—उसी प्रकार यावत् वह कामदेव भी विचरता रहा।

भावार्थ—हाथीरूप धारी देवता ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत ध्यान से अविचलित देखा तो दूसरी और तीसरी बार उसने कामदव श्रावक से फिर कहा परन्तु वह पूर्ववत् ध्यान में स्थिर रहा।

मूलम्—तए ण से देवे हत्थि रूवे कामदेव समणोवासय अभीय जाव विहरमाण पासइ, २ त्ता आसुरुत्ते ४, कामदेव समणोवासय सोडाए गिण्हेइ, २ त्ता उड्ढ वेहास उव्विहइ २ त्ता तिक्खेहिं दत-मुसलेहिं पडिच्छइ, २ त्ता अहे धरणि तलसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेइ ॥ १०२ ॥

छाया—तत खलु स देवो हस्तिरूप कामदेव श्रमणोपासकमभीत यावद्विहरमाण पश्यति, दृष्ट्वा आशुरक्त ४ कामदेव श्रमणोपासक शुण्डया गह्णाति, गहीत्वा ऊर्ध्व

विहायसि समुद्वहति, उदुह्य तीक्ष्णैर्दन्तमुसलैः प्रतीच्छति, प्रतिष्याधो धरणितले त्रिः-कृत्वः पादयोर्लोलयति ।

शब्दार्थ--**तए णं**--तदनन्तर **से देवे हत्थिरूवे**--हस्तीरूप धारी उस देव ने **कामदेवं समणोवासयं**--कामदेव श्रमणोपासक को **अभीयं जाव विहरमाणं**--निर्भय यावत् (ध्यानस्थ) विचरते **पासइ**--देखा **पासित्ता**--देखकर **आसुरुत्ते** ४--अत्यन्त रुष्ट लाल पीला होकर **कामदेवं समणोवासयं**--कामदेव श्रमणोपासक को **सोडाए गिण्हेइ**--सूण्ड से पकडा, **गिण्हित्ता**--पकड कर **उड्ढं वेहासं उव्विहइ**--ऊपर आकाश में उछाल दिया, **उव्विहित्ता**--उछाल कर **तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छइ**--तीक्ष्ण मूसल के समान दाँतो पर झेला (धारण) किया **पडिच्छित्ता**--झेलकर **अहे धरणितलंसि**--नीचे पृथ्वी तल पर **तिक्खुत्तो**--तीन वार **पाएसु लोलेइ**--पैरो से रौदा ।

भावार्थ--फिर भी हाथी रूप धारी देव ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत् ध्यान निष्ठ देखा । और लाल-पीला होकर उसे सूण्ड से पकड़ा और ऊपर आकाश में उछाल कर तीखे दाँतो पर झेला फिर नीचे पृथ्वी पर पटक कर पैरो से रौदा ।

मूलम्--**तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव अहिया-सेइ ॥ १०३ ॥**

छाया--ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वलां यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ--**तए णं**--तदनन्तर **से कामदेवे समणोवासए**--वह कामदेव श्रमणोपासक **तं उज्जलं जाव अहियासेइ**--असह्य वेदना को सहन करता है ।

भावार्थ--कामदेव श्रावक उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन करता रहा ।

पिशाच द्वारा सर्प रूप धारण--

मूलम्--**तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ जाव सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, २ त्ता पोसह-सालाओ पडिणिक्ख-**

मइ, २ त्ता दिव्व हत्थि रूव विप्पजहइ, २ त्ता एग मह दिव्व सप्प रूव विउव्वइ, उग्ग विस चड-विस घोर-विस महाकाय मसी मूसा कालग नयण विस रोस पुण्ण, अजण पु ज निगरप्पगास, रत्तच्छ लोहिय लोयण जमल जुयल चचल जीह, धरणी यल-वेणीभूय, उक्कड फुड-कुडिल जडिल कक्कस वियड फुडाडोव करण-दच्छ, लोहागर धम्ममाण-धमधमेंत घोस, अणागलिय तिव्व चड रोस सप्प रूव विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेय समणोवासय एव वयासी—"ह भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! जाव न भजेसि, तो ते अज्जेव अह सर सरस्स काय दुरुहामि, दुरुहित्ता पच्छि मेण भाएण तिक्खुत्तो गीव वेढेमि, वेढित्ता तिक्खाहिं विस परिगयाहिं दाढाहिं उरसि चेव निकुट्टेमि, जहा ण तुम अट्ट दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ १०२ ॥

छाया—तत खलु स देवो हस्तिरूप कामदेव श्रमणोपासक यदा नो नवनोति यावत शन २ प्रत्यवष्वष्कति, प्रत्यवष्वष्क्य पौषधशालात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्य हस्तिरूप विप्रजहाति, विप्रहायक महद दिव्य सपरूप विकुरुते, उग्रविष चण्डविष घोरविष महाकाय मषीमूषाकालक नयवविषरोषपूणम, अञ्जनपुञ्ज निकरप्रकाश रक्ताक्ष, लोहितलोचन यमल युगल चचल जिह्व धरणी तलवेणी भूतम, उत्कट स्फुट कुटिल जटिल कक्श विकटस्फुटाटोपकरण दक्ष, लोहाकर ध्मायमान धमधमद घोषम अनाकलित-तीव्र चण्डरोष सपरूप विकुरुते, विकृत्य येनव पौषध शाला येनव कामदेव श्रमणोपासकस्तेनवोपागच्छति, उपागत्य कामदेव श्रमणो पासकमेवमवादीत—"ह भो ! कामदेव ! श्रमणोपासक ! यावत न भनक्षि तर्हि तेऽद्यवाह सरसरेति काय दूरोहामि, दूरुह्य पश्चिमेन भागेन त्रि कृत्वा ग्रीवा वेष्टयामि, वेष्टयित्वा तीक्ष्णाभिविषपरिगताभिदष्ट्राभिरुरस्येव निकुट्टामि यथा खलु त्वमात्त दु खात्त वशार्तोऽकाल एव जीविताद व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे हत्थिरूवे—वह हस्तिरूपधारी देव कामदेव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को जाहे नो सचाएइ—जब विचलित करने मे

समर्थ न हुआ जाव—यावत् सणियं सणियं पच्चोसक्कइ—धीरे २ लौट गया, पच्चोसक्कित्ता—लौटकर पोसहसालाओ—पौषधशाला से पडिणिक्खमइ—निकला हत्थिरूवं विप्पजहइ—हस्तिरूप को छोड़ा विप्पजहित्ता—छोडकर एगंमहं दिव्वं—एक महान् विकराल सप्परूवं—साँप का रूप विउव्वइ—धारण किया, उग्गविसं—वह सर्प उग्र विषवाला, चंडविसं—चड विपवाला, घोरविसं—घोर विपवाला, महाकायं—महाकाय, मसीमूसाकालगं—लोहे की ऐरन के समान काला था, नयणविसरोसपुण्णं—नेत्र विप और रोप से भरे थे, अंजणपुञ्जनिगरप्पगासं—वर्ण काजल के पुञ्ज के समान था, रत्तच्छं—आखे लाल थी, लोहिय लोयणं—लोचन लाल थे, जमल जुयल चचल जीहं—जुडी हुई दोनो जिह्वाएँ बाहिर लपक रही थी, धरणीयल वेणीभूयं—वह अत्यन्त काला होने के कारण पृथ्वी की वेणी के समान प्रतीत हो रहा था, उक्कुड फुड कुडिलजडिल कक्कस वियड फुडाडोवकरण दच्छं—उत्कृष्ट-प्रकट-कुटिल-जटिल-कठोर तथा भयकर फण फैलाए हुए था, लोहागर धम्ममाण धमधमेंत घोसं—लोहे की धमन भट्टी के समान फुफकार कर रहा था, अणागलिय तिव्व चंडरोसं—दुर्दान्त, तीव्र रोष से भरा था, सप्परूवं विउव्वइ—(उस देव ने) ऐसे सर्प का रूप वनाया, विउव्वित्ता—वना कर जेणेव पोसहसाला—जहाँ पौपधशाला थी, जेणेव कामदेवे समणोवासए—जहाँ कामदेव श्रमणोपासक था तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छित्ता—आकर कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार बोला हंभो ! कामदेवा ! समणोवासया ! अरे कामदेव श्रमणोपासक ! जाव—यावत् न भंजेसि—यदि तू (शील आदि व्रतो को) नही छोडेगा तो ते अज्जेव अहं सरसरस्स कायं दुरूहामि—तो मै अभी तेरे शरीर पर सर-सर करता हुआ चढता हूँ, दुरूहित्ता—चढ कर पच्छिमेणं भाएणं—पिछले भाग से तिक्खुत्तो—तीन वार गीवं वेढेमि—गले को लपेट लूँगा, वेढित्ता—लपेट कर तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं—तीक्ष्ण विपैली दाढाओ से उरंसि चेव निकुट्टेमि—वक्षस्थल मे डसूँगा, जहा णं तुम—जिस से तू अट्टदुहट्टवसट्टे—अत्यन्त दु ख से पीडित हो कर अकाले चेव—असमय मे ही जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित हो जाएगा ।

भावार्थ—जब हस्तिरूप धारी पिशाच कामदेव श्रावक को धर्म से विचलित न कर सका तो धीरे २ लौट गया । पौपधशाला से वाहिर निकला और हाथी का रूप

त्याग दिया। उसने एक विकराल सर्प का रूप धारण किया जो उग्र विष, चंड विष, घोर विष तथा महाकाय था। स्याही और ऐरन के समान काला था। नेत्र विष और रोष से भरे हुए थे, मानो काजल का पिंड हो। नेत्र रक्त एवं अरुण थे। जिह्वा युगल लपलपा रहा था। ऐसा मालूम होता था जैसे कि पृथ्वी की वेणी हो। काला, अत्यन्त प्रकट, कुटिल, जटिल कठोर और भयङ्कर फण फैलाए हुए था। लुहार की धमनी के समान फुंफकार कर रहा था। वह दुर्दान्त तीव्र और भयङ्कर क्रोध से भरा हुआ था। इस प्रकार सर्प का रूप बना कर वह देव पौषधशाला में कामदेव के पास पहुँचा और बोला—'अरे कामदेव श्रावक! यदि तू शील आदि व्रतों को भङ्ग नहीं करेगा तो मैं अभी तेरे ऊपर सर सर करता हुआ चढ जाऊँगा। गले को लपेट लूँगा और तीक्ष्ण विषैली दाढाओं से वक्षस्थल में डसूँगा जिससे तू दारुण दुःख से पीडित होकर असमय में ही जीवन से रहित हो जाएगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में देव द्वारा उपस्थापित तीसरे उपसर्ग का वर्णन है। हाथी के रूप में अनेक कष्ट देने पर भी जब कामदेव श्रावक साधना से विचलित न हुआ तो पिशाच धीरे २ बाहिर निकला और उसने भयंकर सांप का रूप धारण किया। उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार ने विष के तीन विशेषण दिए हैं—

१ उग्र विष—अर्थात् वह विष जो असह्य वेदना उत्पन्न करने वाला होता है।

२ चण्ड विष—अर्थात वह विष जो तुरन्त सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और अपना प्रभाव शीघ्र दिखाता है।

३ घोर-विष—अर्थात् वह प्रभावशाली, अत्यन्त भयंकर विष जिससे तुरन्त मृत्यु हो जाती है।

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए तेण देवेण सप्प रूवेण एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ। सो वि दोच्चपि तच्चपि भणइ, कामदेवोवि जाव विहरइ ॥ १०५ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तेन देवेन सर्परूपेणवमुक्तः सन् अभीतो यावद्विहरति। सोऽपि द्विवारमपि त्रिवारमपि भणति, कामदेवोऽपि यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक तेणं देवेणं सप्परूवेणं—उस सर्प रूपधारी देव द्वारा एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर अभीए जाव विहरइ—निर्भय यावद् ध्याननिष्ठ—स्थिर रहा, सो वि—उस देव ने भी दोच्चंपि तच्चंपि भणइ—दूसरी और तीसरी वार कहा कामदेवो वि—कामदेव भी जाव—यावत् विहरइ—ध्यान मे स्थिर रहा।

भावार्थ—सर्प रूपधारी देव के ऐसा कहने पर भी कामदेव निर्भय यावत् ध्यानस्थ रहा। देव ने दूसरी और तीसरी वार कहा परन्तु कामदेव विचलित न हुआ।

मूलम्—तए णं से देवे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते ४ कामदेवस्स समणोवासयस्स सरसरस्स कायं दुरूहइ, दुरूहित्ता पच्छिम-भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेइ, वेढित्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निक्कुट्टेइ ॥ १०६ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सर्परूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा आशुरुप्तः ४ कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य सरसरेति कायं दूरोहति, दूरुह्य पश्चिमभागेन त्रि:कृत्वो ग्रीवां वेष्टयति वेष्टयित्वा तीक्ष्णाभिर्विषपरिगताभिर्दंष्ट्राभिरुरस्येव निकुट्टति।

शब्दार्थ— तए णं—तदनन्तर से देवे सप्परूवे—सर्प रूपधारी उस देव ने कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् ध्यानस्थ देखा, पासित्ता—देखकर आसुरुत्ते—अत्यन्त रुष्ट हो कर कामदेवस्स समणोवासयस्स सरसरस्स कायं दुरूहइ—कामदेव श्रमणोपासक के शरीर पर सरसर करता हुआ चढ गया, दुरूहित्ता—चढकर पच्छिम भाएणं—पीछे की ओर से तिक्खुत्तो—तीन वार गीवं वेढेइ—(उसकी) गर्दन को लपेट लिया, वेढित्ता—लपेट कर तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं—तीक्ष्ण और विषैली दाढो से उरंसि चेव निक्कुट्टेइ—वक्षस्थल में डंक मारा।

शब्दार्थ—जब सर्प रूपधारी देव ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत् ध्यान में स्थिर देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर, सरसर करता हुआ उसके शरीर पर चढ

गया, उसकी ग्रीवा को लपेट लिया। विपली तीक्ष्ण दाढो से उसके वक्षस्थल पर डक मारा।

मूलम—तए ण से कामदेवे समणोवासए त उज्जल जाव ग्रहिया-सेइ ॥१०७॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वला यावदध्यास्ते।

शब्दार्थ—तए ण—तदन तर से कामदेवे समणोवासए—उस कामदेव श्रमणोपासक ने त उज्जल जाव ग्रहियासेइ—उस तीव्र वेदना को सहन किया।

भावार्थ—कामदेव श्रावक उस ग्रसह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन करता रहा।

देव का पराजित होकर निजी रूप धारण करना—

मूलम—तए ण से देवे सप्परूवे कामदेव समणोवासय ग्रभीय जाव पासइ, पासित्ता जाहे नो सचाएइ कामदेव समणोवासय निग्गथाग्रो पाव यणाग्रो चालित्तए वा खोभित्तए वा ताहे सते ३ सणिय सणिय पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता पोसहसालाग्रो पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्व सप्परूव विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एग मह दिव्व देवरूव विउव्वइ ॥ १०८ ॥

छाया—तत खलु स देव सपरूप कामदेव श्रमणोपासकमभीत यावत्पश्यति, दृष्ट्वा यदा नो शक्नोति कामदेव श्रमणोपासक नग्र न्थ्यात्प्रवचनाच्चालयितु वा क्षोभ यितु वा विपरिणामयितु वा तदा श्रा त, ता त, परिता त शन शन प्रत्य वष्वष्कति, प्रत्यवष्वष्क्य पौपधशालात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्य सप रूप विप्रजहाति, विप्रजहाय्य महद्दिव्य देवरूप विकुरुते।

शब्दार्थ—तए ण—इस पर भी से देवे सप्परूवे—उस सप रूपधारी देव ने काम देव समणोवासय—कामदेव श्रमणोपासक को ग्रभीय जाव पासइ—निभय यावत (ध्यान मे स्थिर दशा) पासित्ता—देखकर जाहे नो सचाएइ—जब समथ न हो

सका, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को निग्गंथाओ—निर्ग्रन्थ प्रवचन से चालित्तए वा—विचलित करने खोभित्तए वा—क्षुब्ध करने विपरिणामित्तए वा—परिवर्तित करने मे ताहे—तब संते-तते परितन्ते—श्रान्त, ग्लान और अत्यन्त दु खी होकर सणियं सणियं पच्चोसक्कइ—धीरे धीरे लौटा, पच्चोसक्कित्ता—लौटकर पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ—पोषधशाला से निकला पडिणिक्खमित्ता—निकलकर दिव्वं सप्परूवं विप्पजहइ—दिव्य सर्प का रूप त्याग दिया, विप्पजहित्ता—त्याग कर एगं महं दिव्वं—एक महान् दिव्य देवरूव विउव्वइ—देव रूप को धारण किया।

भावार्थ—जब सर्प रूपधारी देव ने देखा कि कामदेव श्रमणोपासक निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित या क्षुब्ध नही हुआ और उसके विचार नही बदले तो वह धीरे-धीरे वापिस लौटा। पौपधशाला से निकल कर उसने साँप का रूप छोड दिया और देवता का रूप धारण कर लिया।

देव द्वारा कामदेव की प्रशंसा और क्षमा प्रार्थना—

मूलम्—हार-विराइय-वच्छं जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं पासाईयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता कामदेवस्स समणोवासयस्स पोसहसालं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिंखिणियाइं पंच-वण्णाइं वत्थाइं पवर-परिहिए कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"हं भो! कामदेवा समणोवासया! धन्नेसि णं तुमं, देवाणुप्पिया! संपुण्णे कयत्थे कय-लक्खणे सु-लद्धे णं तव, देवाणुप्पिया! माणुस्सए जम्मजीवियफले, जस्स णं तव निग्गंथे पावयणे इमेयारूवा पडिवत्ति लद्धा पत्ता अभिसमणागया। एवं खलु देवाणुप्पिया! सक्के देविंदे देवराया जाव सक्कंसि सीहासणंसि चउरासीईए सामाणिए-साहस्सीणं जाव अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य मज्झगए एवमाइक्खइ ४—"एवं खलु देवा! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चम्पाए नयरीए कामदेवे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी जाव दब्भसंथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं

विहरइ। नो खलु से सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा जाव गन्धव्वेण वा निग्गथाश्रो पावयणाश्रो चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा।" तए ण श्रह सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो एयमट्ठ असद्दहमाणे ३ इह हव्वमागए। त श्रहोण, देवाणुप्पिया! इड्ढी ६ लद्धा ३, त दिट्ठाण देवाणुप्पिया! इड्ढी जाव श्रभिसमन्नागया। त खामेमि ण, देवाणुप्पिया! खमतु मज्झ देवाणुप्पिया! खतुमरहति ण देवाणुप्पिया! नाइ भुज्जो करणयाए" त्ति कट्टु पाय-वडिए पजलिउडे एयमट्ठ भुज्जो-भुज्जो खामेइ, खामित्ता जामेव दिस पाउब्भूए तामेव दिस पडिगए॥ १०६॥

छाया—हारविराजित वक्षो यावद् दशदिश उद्द्योतयत प्रासादीय दर्शनीयमभिरूप प्रतिरूप दिव्य देवरूप विकुरुते, विकृत्य कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य पौषधशालामनु प्रविशति, अनुप्रविश्यान्तरिक्षप्रतिपन्न सकिङ्किणीकानि पञ्चवर्णानि वस्त्राणि प्रवर परिहित कामदेव श्रमणोपासकमेवमवादीत—"हभो कामदेव! श्रमणोपासक! धन्योऽसि खलु त्व देवानुप्रिय! सम्पूर्ण, कृतार्थ, कृतलक्षण, सुलभ खलु तव देवानुप्रिय! मानुष्यक जन्मजीवितफल, यस्य खलु तव नैग्रन्थ्ये प्रवचने इयमेतद्रूपा प्रतिपत्तिलब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता। एव खलु देवानुप्रिय! शक्रो देवेन्द्रो देवराजो यावत शक्रे सिंहासने चतुरशीतेः सामानिकसहस्रीणा यावदन्येषा च बहूना देवाना देवीना च मध्यगत एवमाख्याति ४—"एव खलु देवानुप्रिया! जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे चम्पाया नगर्यां कामदेव श्रमणोपासक पौषधशालाया पौषधिको ब्रह्मचारी यावत दर्भसस्तारोपगत श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसपद्य विहरति। नो खलु स शक्य केनापि देवेन वा दानवेन वा गन्धर्वेण वा नैग्रन्थ्यात्प्र वचनाच्चालयितु वा क्षोभयितु वा विपरिणामयितु वा। तत खलु श्रह शक्रस्य देवेन्द्र स्य देवराजस्यतमर्थमश्रद्दधान ३ इह हव्यमागत तदहो खलु देवानुप्रिया! ऋद्धि ६ लब्धा ३ तद् दृष्टा खलु देवानुप्रिया! ऋद्धिर्यावतसमन्वागता तत क्षामयामि देवानुप्रिया! क्षम्यन्ता मम देवानुप्रिया! क्षन्तुमर्हन्ति देवानुप्रिया! न भूय करणतया" इति कृत्वा पादपतित प्राञ्जलिपुट एतदर्थ भूयो भूय क्षमापयति क्षमापयित्वा यामेवदिश प्रादुर्भू तस्तामेवदिश प्रतिगत।

शब्दार्थ--(उस देव ने) **हारविराइयवच्छं**—हारो से विभूषित वक्षस्थल वाला **जाव**—यावत् **दसदिसाओ उज्जोवेमाणं**—दश दिशाओ को प्रकाशित करने वाला **पासाईयं**—मन को प्रसन्न करने वाला **दरिसणिज्जं**--दर्शनीय **अभिरूवं**—अभिरूप **पडिरूवं**–प्रतिरूप **दिव्वं देवरूवं**–दिव्य देव रूप **विउव्वइ**–धारण किया, **विउव्वित्ता**–धारण करके **कामदेवस्स**—कामदेव श्रमणोपासक की **पोसहसालं अणुप्पविसइ**–पौषधशाला में प्रवेश किया **अणुप्पविसित्ता**—प्रवेश करके **अंतलिक्ख पडिवन्ने**—आकाश मे अवस्थित होकर **सखिखिणियाइं पंचवण्णाइं वत्थाइं पवरपरिहिय**—क्षुद्र घटिकाओ से मण्डित पञ्चवर्ण के वस्त्र धारण किए हुए **कामदेवं समणोवासयं**–कामदेव श्रमणोपासक को **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**हंभो कामदेवा समणोवासया !** हे कामदेव श्रमणोपासक ! **धन्नेसि णं तुमं देवाणुप्पिया !** हे देवानुप्रिय ! तुम धन्य हो, **संपुण्णे**–तुम पुण्यशील हो, **कयत्थे**—कृतार्थ हो, **कयलक्खणे**—कृत लक्षण अर्थात् शुभ लक्षणो वाले हो, **सुलद्धेणं तव देवाणुप्पिया ! माणुस्सए जम्मजीवियफले**—हे देवानुप्रिय ! तुम्हारे लिए मनुष्य जन्म और जीवन का फल सुलभ है **जस्स णं**–क्योकि **तव णिग्गंथे पावयणे**—तुम्हे निर्ग्रन्थ प्रवचन मे **इमेयारूवा पडिवत्ती**–यह इस प्रकार की प्रतिपत्ति विश्वास **लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया**—उपलब्ध हुई—प्राप्त हुई और जीवन मे उतर गई ! **एवं खलु देवाणुप्पिया !** इस प्रकार हे देवानुप्रिय ! **सक्के देविंदे देवराया**—शक्र देवेन्द्र देवराज ने **जाव** यावत् **सक्कंसि सीहासणंसि**—शक्रासन से **चउरासीईए सामाणियसाहस्सीणं**–चौरासी हजार सामानिक **जाव**–यावत् **अन्नेसि च बहूणं**—अन्य बहुत से **देवाणं य देवीण य मज्झगए**—देवो और देवियो के मध्य मे **एवमाइक्खइ**—इस प्रकार कहा—**एवं खलु देवाणुप्पिया !** इस प्रकार हे देवो ! **जंबुद्दीवेदीवे**—जम्बूद्वीप मे **भारहेवासे**–भारत वर्ष की **चम्पाए नयरीए**—चम्पा नगरी मे **कामदेवे समणोवासए**—कामदेव श्रमणोपासक **पोसहसालाए पोसहिए**—पौषधशाला मे पौषध अङ्गीकार करके **दब्भसंथारोवगए**—डाभ के सथारे (शय्या) पर बैठा हुआ **समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं**—श्रमण भगवान् महावीर से प्राप्त हुई **धम्मपण्णत्तिं**—धर्मप्रज्ञप्ति को **उवसंपज्जित्ताणं विहरइ**—स्वीकार कर विचर रहा है। **नो खलु से सक्का**—यह शक्य नही कि उसे **केणइ देवेण वा**—कोई देव **जाव**—यावत् **गंधव्वेण वा**—गन्धर्व **निग्गंथाओ पावयणाओ**—निर्ग्रन्थ प्रवचन से **चालित्तए वा**—विचलित **खोभित्तए वा**—अथवा क्षुब्ध कर सके **विपरिणमित्तए वा**—अथवा उसके भावो को

बदल सके तएण ग्रह—तब मैं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो—देवेन्द्र देवराज शक्र की एयमट्ठ—इस बात पर असद्दहमाणे—विश्वास न करता हुग्रा इह हव्वमागए—तत्काल यहा ग्राया, त ग्रहोण देवाणुप्पिया—ग्रहो देवानुप्रिया ! इड्ढी ६ लद्धा ३—तुमने ऐसी ऋद्धिप्राप्त की त दिट्ठाण देवाणुप्पिया ! इड्ढी जाव ग्रभिसमन्नागया—हे देवानुप्रिय ! तुमने ऐसी ऋद्धि का साक्षात्कार किया यावत वह तुम्हारे स मुख ग्राई त खामेमि ण देवाणुप्पिया ! हे देवानुप्रिया ! मैं तुम से क्षमा की याचना करता हूँ, खमतु मज्झ देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रिय ! मुझे क्षमा करो खतुमरिहति ण देवाणुप्पिया—देवानुप्रिय ! ग्राप क्षमा करने योग्य हैं, नाइ भुज्जो करणया—फिर कभी ऐसा नही किया जाएगा, त्ति कट्टु—ऐसा कहकर पाएवडिए—पाग्रो पर गिर पडा पजलिउडे—हाथ जोड कर एयमट्ठ भुज्जो २ खामेइ—इस बात के लिए बार बार क्षमा याचना करने लगा, खामित्ता—क्षमा याचना करके जामेव दिस पाउब्भूए—जिस दिशा से प्रकट हुग्रा था तामेव दिस पडिगए—उसी दिशा मे चला गया।

भावार्थ—उसने वक्षस्थल पर हार पहिने हुए दश दिशाग्रो को प्रकाशित करने वाले चित्ताह्लादक दर्शनीय, ग्रभिरूप प्रतिरूप तथा दिव्य देवरूप को धारण किया, पौषधशाला मे प्रविष्ट हुग्रा, ग्रौर ग्राकाश म खडा हो गया। उसने पाच वर्णों वाले सुन्दर वस्त्र पहन रखे थे जिनमे घुंघरू लगे हुए थे। तत्पश्चात् वह कामदेव श्रमणोपासक से इस प्रकार बोला—'देवानुप्रिय ! तुम धन्य हो पुण्यशील हो कृतार्थ हो कृत लक्षण हो। तुम्हारा जीवन ग्रौर मनुष्यत्व सफल हुग्रा। क्योंकि तुम्हारी निर्ग्रन्थ प्रवचन मे दृढ श्रद्धा है। हे देवानुप्रिय ! देवराज शक्र ने चौरासी हजार सामानिक तथा ग्रन्य देवी देवताग्रो के बीच भरी सभा मे यह घोषणा की थी—'हे देवानुप्रियो ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप, भारत क्षेत्र म चम्पा नगरी है वहा कामदेव श्रमणोपासक पौषधशाला मे भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म की ग्राराधना कर रहा है उसे कोई देव ग्रसुर, या गन्धर्व धर्म से विचलित करने मे समर्थ नहीं है। कोई भी उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन से स्खलित नहीं कर सकता। उसके विचारो को नहीं बदल सकता।' देवेन्द्र देवराज शक्र की इस बात पर मुझे विश्वास न हुग्रा ग्रौर मैं तत्काल यहा ग्राया। ग्रहो देवानुप्रिय ! तुमने ऐसा ऋद्धि प्राप्त की। देवानुप्रिय ! मैं क्षमा याचना करता हूँ। मुझे क्षमा कीजिए। ग्राप मुझे क्षमा करने मे समर्थ हैं। फिर कभी ऐसा काम नही किया जाएगा।" इतना कहकर दोनो हाथ जोड कर

चरणो पर गिर पडा और बारम्बार क्षमा याचना करने लगा। तत्पश्चात् जिस दिशा से आया था उसी दिशा में चला गया।

टीका—देव ने धर्म साधना से विचलित करने के लिए अनेक प्रयत्न किए किन्तु सफल नही हो सका। अन्त मे अपने स्वाभाविक सुन्दर रूप मे प्रकट हुआ और कामदेव से क्षमा याचना की। साथ ही उसने यह भी वताया—देवराज शक्रेन्द्र ने भरी सभा मे तुम्हारी दृढता की प्रशसा की थी। मुझे उस पर विश्वास नही हुआ और परीक्षा लेने के लिए यहाँ चला आया। अव मुझे विश्वास हो गया है कि शक्रेन्द्र ने जो कहा था वह अक्षरश ठीक है। तुम धन्य हो, पुण्य शाली हो, तुम्हारा जीवन सफल है क्योकि निर्ग्रन्थ प्रवचन मे तुम्हारी अटूट श्रद्धा है।

प्रस्तुत सूत्र मे देवता के स्वरूप का वर्णन करते हुए यावत् शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका अर्थ है—थोडा सा वर्णन यहाँ देकर शेप अन्यत्र अनुसन्धान के लिए छोड दिया गया है। वह वर्णन इस प्रकार है—"कडगतुडियथम्भियभुयं अङ्गदकुण्डलमट्ठ-गण्डतलकण्णपीढधारं विचित्तहत्थाभरणं विचित्तमालामउलिं कल्लाणगपवरवत्थपरि-हियं कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरं भासुरबोन्दिं पलम्बवणमालाधरं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गन्धेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए त्ति", कण्ठचम्। नवरं कटकानि—कङ्कणविशेषा, तुटितानि-बाहुरक्षकास्ताभिरतिवहुत्वा-त्स्तम्भितौ—स्तब्धीकृतौ भुजौ यस्य तत्तथा, अङ्गदे च—केयूरे, कुण्डले च—प्रतीते मृष्ट-गण्डतले—घृष्टगण्डे ये कर्णपीठाभिधाने-कर्णाभरणे ते च धारयति यत्तत्तथा, तथा विचित्रमालाप्रधानो मौलिमुकुट मस्तकं वा यस्य तत्तथा, कल्याणकम्—अनुपहतं प्रवरं वस्त्रं परिहितं येन तत्तथा, कल्याणकानि—प्रवराणि माल्यानि—कुसुमानि अनुलेपनानि च धारयति यत्तत्तथा, भास्वर वोन्दीकं—दीप्तशरीरम्, प्रलंबा या वनमाला—आभरण-विशेषस्तां धारयति यत्तत्तथा, दिव्येन वर्णेन युक्तमिति गम्यते, एवं सर्वत्र, नवरं ऋद्धया—विमानवस्त्रभूषणादिकया, युक्त्या—इष्टपरिवारादियोगेन, प्रभया-प्रभावेन, छायया—प्रतिबिम्बेन, अर्चिषा—दीप्तिज्वालाया, तेजसा—कान्त्या, लेश्यया—आत्म-परिणामेन, उद्योतयत्—प्रकाशयत्—प्रभासयत्—शोभयदिति, प्रासादीयं—चिताह्लादकं, दर्शनीयं—यत्पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति, अभिरूपं—मनोज्ञं, प्रतिरूपं—द्रष्टारं २ प्रतिरूपं यस्य

'विकुव्य'—वक्रिय कृत्वा अन्तरिक्षप्रतिपन्न—आकाशस्थित । 'सकिङ्किणीकानि'—क्षुद्रघण्टिकोपेतानि ।"

उपरोक्त सूत्र पाठ मे सक्कसि के पहले भी जाव' अर्थात यावत शब्द है । उस का पूरक नीचे लिखा पाठ है—

सक्के देविन्दे' इत्यादौ यावत्करणादिद दृश्यम—"वज्जपाणी पुरन्दरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघव पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीस विमाणसयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिन्दे अयरम्बरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्त चञ्चल कुण्डलविलिहिज्जमाणगण्डे भासुरबोन्दी पलम्बवणमाले सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिसए विमाणे सभाए सोहम्माएत्ति" शक्रादिशब्दाना च व्युत्पत्त्यर्थभेदेन भिन्नार्थता द्रष्टव्या, तथाहि—शक्तियोगाच्छक्र, देवना च परमेश्वरत्वाद्देवेन्द्र, देवाना मध्ये राजमानत्वा च्छोभमानत्वाद्देवराज, वज्रपाणि—कुलिशकर पुर—असुरादिनगर विशेषस्तस्य दारणात्पुरन्दर, तथा क्रतुशब्देनेह प्रतिमा विवक्षिता, तत कार्तिकश्रेष्ठित्वे शत क्रतूनाम—अभिग्रह विशेषाणा यस्यासौ शतक्रतुरिति चूर्णिकारव्याख्या, तथा पञ्चाना मन्त्रिशताना सहस्रमक्ष्णा भवतीति तद्योगादसौ सहस्राक्ष, तथा मघ शब्देनेह मेघा विवक्षितास्ते यस्य वशवर्तिन सन्ति स मघवान, तथा पाको नाम—बलवास्तस्य रिपुस्तच्छासनात्पाकशासन, लोकस्यार्द्धम—अर्द्धलोको दक्षिणो योऽर्धलोक तस्य योऽधिपति स तथा, ऐरावणवाहणे—ऐरावतो—हस्ती स वाहन यस्य स तथा, सुष्ठु राजन्ते ये ते सुरास्तेषामिन्द्र—प्रभु, सुरेन्द्र, सुराणा—देवाना वा इन्द्र सुरेन्द्र, पूर्वन देवेन्द्रत्वेन प्रतिपादितत्वाद—यथा वा पुनरुक्तपरिहार काय, अरजासि—निर्मलानि अम्बर—आकाश तद्वदच्छत्वेन यानि तान्यम्बराणि तनि च वस्त्राणि तानि धारयति य स तथा, आलगितमालम—आरोपित—स्रगमुकुट यस्य स तथा, नवे इव नवे हेम्न—सुवर्णस्य सम्बन्धिनी चारुणी—शोभने चित्रे चित्रवती चञ्चले ये कुण्डले ताभ्या विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा शेष प्रागिवेति ।"

प्रस्तुत पाठ मे देवराज शक्र के बहुत से नाम दिये गए हैं। टीकाकार ने व्युत्पत्ति द्वारा उनका अर्थ प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है—

१ शक्र—इसका अर्थ है शक्तिशाली । यह शब्द सस्कृत की शक धातु से बना है ।

२. देवेन्द्रः—देवो के परमेश्वर अर्थात् स्वामी ।

३. देवराजः—देवों के बीच विराजमान अर्थात् सुशोभित ।

४. वज्रपाणी—जिसके हाथ मे वज्र है ।

५. पुरन्दरः—पुर अर्थात् असुरो के नगरो का दारण अर्थात् ध्वस करने वाला ।

६. शतक्रतुः—क्रतु का अर्थ है प्रतिमाएँ अर्थात् श्रावक द्वारा किए जाने वाले अभिग्रह विशेष । कहा जाता है इन्द्र ने अपने पूर्व जन्म में, जब वह कार्तिकश्रेष्ठि के रूप मे उत्पन्न हुआ था, सौ बार श्रावक की प्रतिमाएँ अङ्गीकार की थी ।

तुलना—वैदिक परम्परा मे क्रतु का अर्थ यज्ञ है, और यह माना जाता है कि सौ यज्ञ करने वाला इन्द्रासन का अधिकारी बन जाता है ।

७. सहस्राक्षः—इसका शब्दार्थ है हजार आँखों वाला । इन्द्र के पांच सौ मन्त्री होते हैं और उनकी हजार आँखे होती हैं, अत वह हजार आँखों वाला माना जाता है । वैदिक साहित्य मे शत शब्द का अर्थ है असख्य और सहस्र का अर्थ है अनन्त । इन्द्र स्वर्ग का राजा है और उसकी दृष्टि चारो ओर फैली रहती है । अत. वह सहस्राक्ष माना जाता है ।

८. मघवान्—मघ शब्द का अर्थ है मेघ या बादल, उन पर नियन्त्रण करने वाला मघवान् कहलाता है ।

९. पाकशासनः—पाक का अर्थ है बलवान् शत्रु, उसका शासन अर्थात् दमन करने वाला पाकशासन कहलाता है ।

१०. दक्षिणार्द्धाधिपतिः—लोक का आधा भाग दक्षिण है और आधा उत्तर । दक्षिण भाग के अधिपति को दक्षिणार्द्ध अधिपति कहा जाता है ।

११. ऐरावतवाहनः—इन्द्र के हाथी का नाम ऐरावत है । इस सवारी के कारण वह ऐरावतवाहन कहा जाता है ।

१२. सुरेन्द्रः—सुर अर्थात् देवताओ का राजा ।

सूत्र में देव सभा का वर्णन करते हुए ८० हजार सामानिक देवों का निर्देश आया है । इसका अर्थ है वे देव जो शासन का अधिकार न होने पर भी इन्द्र के समान वैभवशाली हैं । इन्द्र की सभा मे उनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के लब्ध-

प्रतिष्ठ देवी देवता विद्यमान होते हैं। उनका सग्रह यावत शब्द से किया गया है। अ यत्र उनका वणन नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

"तायत्तीसाए तायत्तीसगाण चउण्ह लोगपालाण अट्ठण्ह अग्गमहिसीण तिण्ह परिसाण सत्तण्ह अणियाण सत्तण्ह अणियाहिवईण चउण्ह चउरासीण *आयरक्खदेवसा हस्सीण,* त्ति' तत्र त्रायस्त्रिशा —पूज्या महत्तरकल्पा, चत्वारो लोकपाला पूर्वादिदिग धिपतय सोमयमवरुणवश्रवणाख्या, अष्टौ अग्रमहिष्य —प्रधानाभार्या, तत्परिवार प्रत्येक पञ्चसहस्राणि, सवमीलने चत्वारिंशत्सहस्राणि, तिस्र परिषदोऽभ्य तरामध्यमा बाह्या च, सप्तानीकानि—पदातिगजाश्वरथवषभभेदात्पञ्च साङ ग्रामिकाणि, ग धर्वानीक नाटचानीक चेति सप्त, अनीकाधिपतयश्च सप्त व—प्रधान पत्ति प्रधानो गज एवम येऽपि, आत्मरक्षा—अङ्गरक्षास्तेषा चतस्र सहस्राणा चतुरशीत्य। आख्याति— *समा यतो, भापते विशेषत, एतदेव प्रज्ञापयति प्ररूपयतीति पदद्वयेन क्रमेणोच्यत* इति।"

उपरोक्त पाठ मे इ द्र के परिवार सम्ब धी देवी देवताओ का वणन है। वह इस प्रकार है—

१ त्रायस्त्रिश—इसका अथ है ३३ देवताओ का समूह जि ह इ द्र स मान की दष्टि से देखता है और पूज्य मानता है।

२ चार लोकपाल—पूव, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशा के अधिपति–सोम, *यम, वरुण वश्रवण। वदिक परम्परा म दिक्पालो की सख्या आठ है उसमे चार* विदिशाओ के अधिपति भी गिने जात हैं।

३ आठ अग्र महिषिया—अर्थात पटरानिया। प्रत्येक का परिवार पाच हजार माना जाता है। इस प्रकार इ द्र के अ त पुर म चालीस हजार दवियाँ हैं। कही कही प्रत्येक अग्रमहिषी का परिवार सोलह हजार माना जाता है।

४ तीन परिषदें—आभ्य तर, मध्यम और बाह्य।

५ सात प्रकार की अनीक अर्थात सेनाएँ—पदल, घोडे रथ, हाथी तथा बल, इस प्रकार पाँच युद्ध सम्ब धी सेनाएँ तथा ग धर्वानीक अर्थात गाने बजाने वालो का दल और नाटयानीक अर्थात नाटक करने वाला का दल।

६ सात सेनापति—उपरोक्त साता प्रकार की सेनाओ के सचालक।

७. अङ्गरक्षक—इन्द्र की चार प्रकार की अङ्गरक्षक सेनाएँ हैं। प्रत्येक मे ८४ हजार सैनिक होते हैं। यह इन्द्र की ऋद्धि का सामान्य वर्णन है।

उपरोक्त सूत्र में देव शब्द के पहले भी 'जाव' शब्द आया है। वह नीचे लिखे पाठ की ओर निर्देश देता है—"**जक्खेण वा रक्खसेण वा किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गन्धव्वेण वा**" अर्थात् कामदेव श्रमणोपासक को यक्ष, राक्षस, किन्नर किम्पुरुष, महोरग तथा गन्धर्व कोई भी धर्म से विचलित करने में समर्थ नही हैं।

सूत्र मे 'नाइं' पद 'नैव अर्थ का द्योतक है। इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—"**नाइं भुज्जो करणयाए' न-नैव, आइं ति निपातो वाक्यालङ्कारे अवधारणे वा, भूयः करणतायां पुनराचरणे न प्रवर्तिष्य इति गम्यते**" अर्थात् नाई शब्द का अर्थ है 'नही'। यहाँ 'न' के साथ लगा हुआ 'आइं' केवल वाक्य का अलङ्कार है। किसी विशेष अर्थ को प्रकट नही करता अथवा इसका अर्थ है अवधारण या निश्चय और इसका प्रयोग 'नैव' के अर्थ मे हुआ है। देव यह निश्चय प्रकट करता है कि मैं इस कार्य को भविष्य मे नही करूँगा। क्षमायाचना करके देव पीछे लौट गया।

कामदेव द्वारा प्रतिमा की पूर्ति--

मूलम्—**तए णं से कामदेवे समणोवासए "निरुवसग्गं" इइ कट्टु पडिमं पारेइ ॥११०॥**

छाया--**तत खलु स कामदेव श्रमणोपासक 'निरुपसर्गम्' इति कृत्वा प्रतिमां पारयति।**

शब्दार्थ--**तए णं**—तदनन्तर **से कामदेवे समणोवासए**—उस कामदेव श्रमणोपासक ने **निरुवसग्गं इइ कट्टु**—अब उपसर्ग नही रहा यह समझ कर **पडिमं पारेइ**—प्रतिमा-अभिग्रह—का पारण किया।

भावार्थ--तदनन्तर उस कामदेव श्रमणोपासक ने निरुपसर्ग—'उपसर्ग नही रहा' यह जान कर प्रतिमा (अभिग्रह) का पारणा किया।

भगवान् महावीर का चम्पा मे पदार्पण--

मूलम्--**तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ ॥ १११ ॥**

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल उस समय समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर जाव विहरइ—यावत विचर रहे थे ।

भावार्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान महावीर चम्पा नगरी के बाहिर उद्यान मे ठहरे हुए थे ।

कामदेव का दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे "एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, तं सेयं खलु मम समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता तओ पडिणियत्तस्स पोसहं पारित्तए" त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, सुद्ध प्पावेसाइं वत्थाइं जाव अप्प महग्घ जाव मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता चम्पं नगरिं मज्झं मज्झेणं निगच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जहा सखो जाव पज्जुवासइ ॥ ११२ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेव श्रमणोपासकोऽस्या कथाया लब्धार्थ सन "एवं खलु श्रमणो भगवान महावीरो यावद विहरति, तच्छ्रेय खलु मम श्रमण भगवन्तं महावीरं वन्दित्वा नमस्कृत्य तत प्रतिनिवृतस्य पौषध पारयितुम" इति कृत्वा एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य शुद्धप्रवेश्यानि वस्त्राणि यावद अल्पमहार्घ—यावद-मनुष्य वागुरा परिक्षिप्त स्वस्मात गृहात प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य चम्पा नगरीं मध्य-मध्येन निगच्छति, निगत्य येनैव पूर्णभद्रश्चैत्यो यथा शङ्खो यावत पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—यह बात सुनकर कि एवं खलु समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर जाव विहरइ—यावद विचर रहे हैं, (सोचने लगा कि) तं सेयं खलु मम—मेरे लिए यह उचित है कि समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार कर तओ पडिणियत्तस्स—वहां से

लौट कर **पोसहं पारित्तए**—पौषध का पारणा करूँ। **त्ति कट्टु एवं संपेहेइ**—इस प्रकार विचार किया, **संपेहित्ता**—विचार कर **सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं**—शुद्ध प्रवेश योग्य वस्त्र (धारण कर) **जाव**—यावत् **अप्पमहग्घ मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते**—अल्प भार वहुमूल्य (आभूषण धारण कर) यावत् जन समुदाय से वेष्टित होकर **सयाओ गिहाओ**—अपने घर से **पडिणिक्खमइ**—निकला **पडिणिक्खमित्ता य**—निकल कर **चम्पं-नगरिं**—चम्पा नगरी के **मज्झं मज्झेणं**—मध्य मे होता हुआ **निगच्छइ**—निकला, **निग्गच्छित्ता**—निकल कर **जेणेव पुण्णभद्दे चेइए**—जिधर पूर्णभद्र चैत्य था, **जहा संखो**—शख की तरह **जाव**—यावत् **पज्जुवासइ**—पर्युपासना की।

भावार्थ—कामदेव श्रावक ने जव सुना कि "श्रमण भगवान् महावीर यावत् विचर रहे हैं" तो मन मे विचार किया कि "अच्छा होगा यदि मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार कर के लौट कर पौषध का पारणा करूँ।" यह विचार कर परिषद आदि में प्रवेश करने योग्य शुद्ध वस्त्र यावत् अल्प भार वहुमूल्य आभूषण धारण करके यावत् जन समुदाय से परिवृत्त होकर घर से निकला। चम्पा नगरी के वीच होता हुआ पूर्णभद्र चैत्य मे पहुँचा और शङ्ख के समान पर्युपासना की।

टीका—उपसर्ग समाप्त होने पर कामदेव को ज्ञात हुआ कि भगवान् महावीर नगरी के वाहिर उद्यान मे आए हुए हैं। उसने उन्हे वन्दना नमस्कार करने और तत्पश्चात् पौषध पारणे का निश्चय किया। व्रत समाप्त करने से पहले यथा सम्भव धर्म गुरु के दर्शन करने की परिपाटी उस समय से चली आ रही है। इससे यह भी प्रकट होता है कि पारणे के पहले कामदेव में किसी प्रकार की आतुरता नही थी। उसने उत्साह तथा शान्ति के साथ प्रत्येक धर्म क्रिया का पालन किया।

सुद्धप्पावेसाइं—इसका अर्थ है शुद्ध अर्थात् पवित्र एव सभा मे प्रवेश करने योग्य वस्त्र। ज्ञात होता है कि धर्म क्रिया के लिए उस समय भी वाह्य शुद्धि का ध्यान रखा जाता था। शुद्ध तथा निर्मल वस्त्र मन पर भी प्रभाव डालते हैं। गृहस्थो के लिए व्यवहार शुद्धि आवश्यक है।

मणुस्सवग्गुरापरिखित्ते—कामदेव जव भगवान् के दर्शनार्थ निकला तो उसके साथ वहुत से मनुष्य और भी थे। प्रतीत होता है वह पैदल ही भगवान् के दर्शनार्थ गया।

अप्पमहग्घाभरणालंकिये सरीरे—उसने अपने शरीर को अल्प—किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत किया—इससे प्रकट होता है कि उसके मन में उत्साह एवं उमंग थी। भगवान के आगमन को उसने एक उत्सव समझा और हर्षित होता हुआ वन्दनार्थ गया।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य जाव धम्मकहा समत्ता ॥ ११३ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य तस्याश्च यावद्धर्मकथा समाप्ता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने कामदेवस्स समणोवासयस्स—कामदेव श्रमणोपासक तीसे य—और परिषद को धर्मोपदेश किया जाव धम्मकहा सम्मत्ता—यावत् धर्म कथा समाप्त हुई।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान महावीर ने कामदेव श्रमणोपासक और उस महती परिषद को धर्मोपदेश किया यावत्—धर्मोपदेश समाप्त हुआ।

भगवान महावीर द्वारा कामदेव की प्रशंसा—

मूलम्—"कामदेवा" इ समणे भगवं महावीरे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—"से नूणं, कामदेवा ! तुब्भं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतिए पाउब्भूए। तएणं से देवे एगं महं दिव्वं पिसायरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता आसुरुत्ते ४ एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय तुमं एवं वयासी—'हंभो कामदेवा ! जाव जीवियाओ ववरोविज्जसि', तं तुमं तेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरसि"। एवं वण्णग रहिया तिण्णि वि उवसग्गा तहेव पडिउच्चारेयव्वा जाव देवो पडिगओ। "से नूणं कामदेवा ! अट्ठे समट्ठे ?" "हंता, अत्थि" ॥ ११४ ॥

छाया—"कामदेव !" इति श्रमणो भगवान् महावीरः कामदेवं श्रमणोपासक—मेवमवादीत्—"अथ नूनं कामदेव ! तव पूर्वरात्रापररात्रकालसमये एको देवोऽन्तिके

प्रादुर्भूत.। ततः खलु स देव एकं महद्दिव्यं पिशाचरूपं विकुरुते, विकृत्य आशुरुप्त ४ एकं महान्तं नीलोत्पल-यावदसिं गृहीत्वा त्वामेवमवादीत्"हंभो. कामदेव ! यावत् जीविताद् व्यपरोपयिष्यसे" ततस्त्वं तेन देवेनैवमुक्त सन् अभीतो यावद् विहरसि ।" एवं वर्णक रहितास्त्रयोऽप्युपसर्गास्तथैवोच्चारितव्या यावद् देव प्रतिगत.।" "स नूनं कामदेव ! अर्थ. समर्थ ?" "हन्त ! अस्ति ।"

शब्दार्थ—**कामदेवा इ**—हे कामदेव ! **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **कामदेवं समणोवासयं**—कामदेव श्रमणोपासक को **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**से नूणं कामदेवा**—हे कामदेव ! निश्चित ही **तुमं**—तुम्हारे पास **पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि**—मध्य-रात्रि के समय **एगे देवे**—एक देव **अंतिए पाउब्भूए**—प्रकट हुआ था, **तएणं**—तदनन्तर **से देवे**—उस देव ने **एगं महं दिव्वं पिसायरूवं**—एक विकराल पिशाचरूप की **विउव्वइ**—विक्रिया की, **विउव्वित्ता**—विक्रिया कर **आसुरुत्ते ४**—आशुरुप्त-अत्यन्त क्रुद्ध हो कर **एगं महं**—एक महान् **नीलुप्पलं**—नीलोत्पल के समान **जाव**—यावत् **असिं गहाय**—तलवार लेकर **तुमं एवं वयासी**—तुम्हे इस प्रकार कहने लगा **हंभो कामदेवा!**—अरे कामदेव! **जाव**—यावत् **जीवियाओ ववरोविज्जसि**—जीवन से रहित कर दिया जाएगा **तं तुमं**—तो तू **तेणं देवेणं**—उस देव द्वारा **एवं वुत्ते समाणे**—इस प्रकार कहे जाने पर भी **अभीए**—निर्भय **जाव**—यावत् **विहरसि**—ध्यानावस्थित रहा, **एवं**—इस प्रकार **वण्णगरहिया**—वर्णक रहित **तिण्णि वि उवसग्गा**—तीनो उपसर्ग **तहेव पडिउच्चारेयव्वा**—तथैव उच्चारण करने चाहिएँ **जाव**—यावत् **देवो पडिगओ**—देव लौट गया **से नूणं कामदेवा**—हे कामदेव ! निश्चय से ही क्या **अट्ठे समट्ठे**—यह बात ठीक है ? **हंता, अत्थि**—हाँ, भगवन् ! यह ऐसे ही है।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव श्रमणोपासक से पूछा—"हे कामदेव ! मध्यरात्रि के समय एक देव तुम्हारे पास प्रकट हुआ था ! तदनन्तर उस देव ने एक विकराल पिशाचरूप की विक्रिया की और एक भयकर नीलोत्पल के समान चमकती हुई तलवार लेकर तुम्हे इस प्रकार कहा—"भो कामदेव ! यदि तू शीलादि व्रतो को भङ्ग नही करेगा यावत् प्राण रहित कर दिया जाएगा।" तू उस देव द्वारा इस प्रकार

कहे जाने पर भी निर्भय यावत् ध्यान मे स्थिर रहा। इसी प्रकार वर्णन रहित–बिना किसी विशेष के तीनो उपसर्ग उसी प्रकार कहने चाहिएँ। यावद देव वापिस लौट गया। हे कामदेव ! क्या यह बात ठीक है ?" कामदेव ने कहा"—हा, भगवन ! जो आप कृपा करते हैं ठीक है।"

टीका—भगवान ने कामदेव तथा समस्त परिषद् को धर्मोपदेश दिया। अन्त मे पूछा—'कामदेव ! मध्यरात्रि के समय जब तुम धर्म जागरण कर रहे थे, क्या तुम्हारे पास एक देव आया था ? भगवान् ने देवकृत तीनो उपसर्गों का वर्णन किया। उत्तर मे कामदेव ने विनयपूर्वक स्वीकृति प्रदान की।

मूलम्—**"अज्जो" इ समणे भगव महावीरे बहवे समणे निग्गथे य निग्गथीओ य आमतेत्ता एव वयासी—"जइ ताव, अज्जो ! समणोवासगा गिहिणो गिहमज्झावसता दिव्व माणुस तिरिक्ख जोणिए उवसग्गे सम्म सहति जाव अहियासेंति, सक्का पुणाइ, अज्जो ! समणेहिं निग्गथेहिं दुवालसग गणि पिडग अहिज्जमाणेहिं दिव्व माणुस तिरिक्ख-जोणिए सम्म सहित्तए जाव अहियासित्तए ॥ ११५ ॥"**

छाया—हे आर्या ! इति श्रमणो भगवान महावीरो बहून श्रमणान निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थीश्चाऽऽमन्त्र्यवमवादीत—"यदि तावदार्या ! श्रमणोपासका गृहिणो गृहमधि वसन्तो दिव्यमानुष्यतर्यग्योनिकानुपसर्गान सम्यक सहन्ते यावदध्यासते, शक्या पुनरार्या ! श्रमणनिर्ग्रन्थैर्द्वादशाङ्गगणिपिटकमधीयानैर्दिव्यमानुष्यतर्यग्योनिकाउपसर्गा सम्यक सोढु यावदध्यासितुम।

शब्दार्थ—अज्जो इ—हे आर्यो ! (इस प्रकार सम्बोधन कर) समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने बहवे समणे निग्गथे य निग्गथीओ य—बहुत से श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को आमतेत्ता—आमन्त्रित करके एव वयासी—इस प्रकार कहा—जइ ताव अज्जो—हे आर्यो ! यदि समणोवासगा—श्रमणोपासक गिहिणो—गृहस्थ गिहमज्झावसता—गृहस्थ मे निवास करते हुए भी दिव्व माणुस तिरिक्ख जोणिए उवसग्गे—देव सम्बन्धी मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यञ्च सम्बन्धी

उपसर्गों को **सम्मं सहंति**—सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं **जाव अहियासंति**—यावत् दृढता से सहन करते हैं, **सक्का पुणाइं अज्जो**—हे अर्य्यो ! पुन. शक्य ही है **समणेहिं निग्गंथेहिं**—श्रमण निर्ग्रन्थ **दुवालसगं गणिपिडगं**—द्वादशाङ्गरूप गणि-पिटक को **अहिज्जमाणेहिं दिव्व माणुस्स तिरिक्खजोणिए उवसग्गा**—अध्ययन करने वालो द्वारा देव, मनुष्य तिर्यंच सम्वन्धि उपसर्गो का **सम्मं**—सम्यक्तया **सहित्तए जाव अहियासित्तए**—सहन करना यावत् विचलित न होना ।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को आमन्त्रित कर के इस प्रकार कहा—हे आर्यो ! यदि श्रमणोपासक गृहस्थ-गृह में निवास करते हुए भी दिव्य-देव सम्वन्धी, मनुष्य सम्वन्धी और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गो को सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं यावत् दृढ रहते हैं, तो फिर श्रमण निर्ग्रन्थ और गणिपिटकरूप द्वादशाङ्ग का अध्ययन करने वालो को उपसर्गो का भली प्रकार सहन करना यावत् दृढ रहना क्यो शक्य नही ?

मूलम्—तओ ते बहवे समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेति ॥ ११६ ॥

छाया—**ततस्ते बहवः श्रमणाः निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति ।**

शब्दार्थ—**तओ**—तदनन्तर **ते बहवे समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य**—उन वहुसख्यक श्रमणो अर्थात् साधु-साध्वियो ने **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर के **तहत्ति**—तथेति हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ऐसे कहते हुए **एयमट्ठं**—इस वचन को **विणएणं पडिसुणेंति**—विनय पूर्वक अङ्गीकार किया ।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर के इस वचन को साधु तथा साध्वियो ने 'तथेति' कह कर विनय पूर्वक स्वीकार किया ।

टीका—भगवान् ने साधु तथा साध्वियो को सम्वोधित करते हुए कहा—हे आर्यो ! यदि श्रावक गृहस्थ मे रह कर भी धर्म मे इस प्रकार की दृढता रख सकता है और

मारणान्तिक कष्ट एव असह्य वेदना होने पर भी अपनी साधना से विचलित नही होता तो आप सभी का क्या कर्त्तव्य है यह बताने की आवश्यकता नही है। उपसर्ग एव कष्टो के सहन करने से हमारी आत्मा उत्तरोत्तर दढ एव निर्मल होती है अत उनका स्वागत करना चाहिए।

मूलम्—तए ण से कामदेवे समणोवासए हट्ठ जाव समण भगव महावीर पसिणाइ पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठमादियइ, समण भगव महावीर तिक्खुत्तो वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता जामेव दिस पाउब्भूए तामेव दिस पडिगए ॥ ११७ ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासको हृष्टो—यावत श्रमण भगवन्त महावीर प्रश्नान पृच्छति पृष्ट्वा अर्थमाददाति, अर्थमादाय श्रमण भगवन्त महावीर त्रि कृत्वो वन्दते नमस्यति, व० न० यस्या एव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिशा प्रतिगत।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक हट्ठ—प्रसन्न हुआ जाव—यावत (उसने) समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर से पसिणाइ पुच्छइ—प्रश्न पूछे पुच्छित्ता—पूछ कर अट्ठमादियइ—अर्थ ग्रहण किया अट्ठमादित्ता—अर्थ ग्रहण करके समण भगव महावीर व० न०—श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार कर जामेव दिस पाउब्भूए—जिस दिशा से आया था तामेव दिस पडिगए—उसी दिशा में वापिस चला गया।

भावार्थ—कामदेव श्रमणोपासक ने प्रसन्न हो कर भगवान महावीर से प्रश्न पूछे, अर्थ ग्रहण किया पुन भगवान को नमस्कार की और जिस दिशा से आया था उसी दिशा म वापिस चला गया।

भगवान का चम्पा से विहार—

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे अन्नया कयाइ चम्पाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय विहार विहरइ ॥ ११८ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचिच्चम्पातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जन-पदविहारं विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर अन्नया कयाइ—एकदिन चम्पाओ पडिणिक्खमइ—चम्पा से प्रस्थान कर गये पडिणिक्खमित्ता—प्रस्थान करके बहिया जणवय विहारं विहरइ—अन्य जनपदो मे विहार करने लगे ।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने अन्य किसी दिन चम्पा से प्रस्थान कर दिया और अन्य जनपदो मे विचरने लगे ।

कामदेव द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए पढमं उवासग-पडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ ११९ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेव श्रमणोपासकः प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसंपद्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक पढमं उवासगपडिमं—प्रथम उपासक प्रतिमा को ग्रहण कर के विचरने लगा ।

भावार्थ—तत्पश्चात् कामदेव श्रमणोपासक ने प्रथम उपासक प्रतिमा ग्रहण की ।

जीवन का उपसंहार—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए बहूहिं जाव भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासग-परियागं पाउणित्ता, एक्कारस उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते, समाहिपत्ते, कालमासे कालं किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्म-वडिंसयस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता कामदेवस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥ १२० ॥

छाया—तत खलु स कामदेव श्रमणोपासको बहुभिर्यावद भावयित्वा विंशति वर्षाणि श्रमणोपासक पर्याय पालयित्वा, एकादशोपासकप्रतिमा सम्यक कायेन स्पृष्ट्वा मासिक्या सलेखनयाऽऽत्मान जोषयित्वा, षष्ठि भक्तानि अनशनेन छित्वा, आलोचितप्रतिक्रान्त, समाधिप्राप्त, कालमासे काल कृत्वा सौधर्मे कल्पे सौधर्मावतसकस्य महाविमानस्योत्तरपौरस्त्येऽरुणाभे विमाने देवतयोपपन्न । तत्र खलु अस्त्येकेषा देवाना चत्वारि पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक बहूहि जाव भावेत्ता—बहुत सी प्रतिमाओ अभिग्रहो द्वारा आत्मा को भावित कर वीस वासाइ—वीस वर्ष तक समणोवासग परियाग पाउणित्ता—श्रमणोपासक पर्याय को पाल कर एक्कारस्स उवासग पडिमाओ—ग्यारह उपासक प्रतिमाओ को सम्म काएण फासेत्ता—काय द्वारा सम्यक प्रकार से स्पर्श कर मासियाए सलेहणाए अप्पाण झूसित्ता—मासिकी सलेखना द्वारा आत्मा को जोषित कर सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता—अनशन द्वारा साठ भक्तो का छेदन कर के आलोइय पडिक्कते—आलोचना करके तथा पाप कर्म से निवृत्त होकर समाहिपत्ते—समाधि को प्राप्त करके काल मासे काल किच्चा—मृत्यु काल आने पर काल करके सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प मे सोहम्मवडिसयस्स महाविमाणस्स—सौधर्मावतसक महाविमान के उत्तर पुरत्थिमेण—उत्तरपूर्व दिशा मे स्थित अरुणाभे विमाणे—अरुणाभ नामक विमान मे देवत्ताए उववन्ने—देवरूप से उत्पन्न हुआ । तत्थण—वहा पर अत्थेगइयाण देवाण—बहुत से देवो की चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता—चार पल्योपम की स्थिति कही गई है, कामदेवस्स वि देवस्स—देव रूप मे उत्पन्न कामदेव की भी चत्तारि पलिओवमाइ—चार पल्योपम की ठिई—स्थिति पण्णत्ता—कही गई है ।

भावार्थ—तदन तर वह कामदेव श्रमणोपासक बहुत से अभिग्रहो द्वारा यावत आत्मा को भावित करता हुआ वीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय पाल कर ग्यारह उपासक प्रतिमाओ (अभिग्रहो) को सम्यक प्रकार से काय द्वारा स्पर्श करके मासिकी सलेखना द्वारा आत्मा को जोषित कर अनशन द्वारा साठ भक्तो का छेदन कर के अर्थात एक मास तक सथारा करके आलोचना करके तथा पापो से निवृत्त होकर वे यथावसर समाधि पूर्वक मृत्यु प्राप्त कर सौधर्म कल्प के सौधर्मावतसक महाविमान

के उत्तरपूर्व में अरुणाभ नामक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ पर अनेक देवों की चार पल्योपम की स्थिति है, कामदेव की स्थिति भी चार पल्योपम बताई गई है।

कामदेव का भविष्य—

मूलम्—"से णं, भंते! कामदेवे ताओ देव-लोगाओ आउ-क्खएणं भव-क्खएणं ठिइ-क्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गमिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ?"

"गोयमा! महाविदेहेवासे सिज्झिहिइ" ॥ निक्खेवो ॥ १२१ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं बिइयं कामदेवज्झयणं समत्तं ॥

छाया—"स खलु भदन्त! कामदेवो देवस्तस्माद्देवलोकादायुःक्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेणानन्तरं चयं च्युत्वा कुत्र गमिष्यति। कुत्रोत्पत्स्यते? "गौतम! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति"? निक्षेपः।

शब्दार्थ—से णं भंते! कामदेवे—हे भगवन् वह कामदेव नामक देव ताओ देव-लोगाओ—उस देवलोक से आउक्खएणं—आयुक्षय भवक्खएणं—भवक्षय ठिइक्खएणं—स्थिति क्षय के अणंतरं चयं चइत्ता—अनन्तर च्यवकर कहिं गमिहिइ—कहाँ जाएगा? कहिं उववज्जिहिइ—कहाँ उत्पन्न होगा? गोयमा! हे गौतम! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महा विदेह नामक वर्ष में सिद्ध होगा। निक्षेप।

भावार्थ—(गौतम ने पूछा) "हे भगवन्! वह कामदेव नामक देव उस देवलोक से आयु क्षय स्थिति क्षय और भव क्षय होने पर च्यवकर कहाँ जाएगा? कहाँ उत्पन्न होगा?" भगवान् ने उत्तर दिया—"हे गौतम! महाविदेह नामक वर्ष में उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा।" निक्षेप पूर्ववत्।

टीका—उपसर्ग की घटना के पश्चात् कामदेव ने प्रतिमाएँ अङ्गीकार की, आत्म-शुद्धि के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढ़ता गया और बीस वर्ष तक श्रावक के रूप मे धर्मानुष्ठान करके स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यवन करके वह भी महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और मोक्ष प्राप्त करेगा।

सूत्र मे नीचे लिखे तीन पद ध्यान देने योग्य हैं—**आलोइय, पडिक्कते और समाहिपत्ते**—कामदेव ने सब प्रथम आलोचना की। इसका अर्थ है अच्छी तरह देखना। उसने अपने जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण किया और यह पता लगाया कि दुबलता विचारो की मलिनता अथवा अन्य दोष कहा छिपे हुए हैं ? आलोचना के बाद प्रतिक्रमण किया। इसका अर्थ है 'वापिस आया' आत्मा रागद्वेष तथा कषायो के कारण बाहिर की ओर भटकता रहता है। इन्द्रियो के विषयो एव अन्य सुखो की ओर भागता है। उसे वहा से हटा कर पुन अपनी स्वाभाविक स्थिति मे लाना ही प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण आलोचना के पश्चात् होता है क्योकि आत्म दोषो का पता लगे बिना उनसे हटना सम्भव नही है। अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त होने पर आत्मा क्लेशो से मुक्त हो जाता है और आन्तरिक आनन्द का अनुभव करता है। इसी को समाधि कहते हैं। प्रतिक्रमण के पश्चात कामदेव ने इस अवस्था को प्राप्त किया।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का द्वितीय कामदेव अध्ययन समाप्त ॥

तइयमज्झयणं

तृतीय अध्ययन

मूलम्—उक्खेवो तइयस्स अज्झयणस्स–एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसीं नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तूराया ॥ १२५ ॥

छाया—उपक्षेपस्तृतीयस्याध्ययनस्य—एवं खलु जम्बूः ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाराणसी नाम नगरी कोष्ठकश्चैत्यम्, जितशत्रू राजा।

शब्दार्थ—तृतयाध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत्—एवं खलु जम्बू ! हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय वाणारसी नामं नयरी—वाराणसी नाम की नगरी थी कोट्ठए चेइए–कोष्ठक नाम का चैत्य था, जियसतूराया —जितशत्रु राजा था।

भावार्थ—हे जम्बू ! उस काल उस समय वाराणसी नामक नगरी थी, वहाँ कोष्ठक नामक चैत्य था और जित शत्रु राजा राज्य करता था।

टीका—तृतीय अध्ययन मे चुलनीपिता नामक श्रमणोपासक का वर्णन है। अध्ययन के प्रारम्भ मे उपक्षेप का निर्देश किया गया है। इसका अर्थ है जैसे द्वितीय अध्ययन मे श्री जम्बू स्वामी के प्रश्न और श्री सुधर्मा स्वामी के उत्तर के साथ प्रारम्भ हुआ, उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रश्न आदि की योजना कर लेनी चाहिए। जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से पूछा—भगवन् ! यदि द्वितीय अध्ययन का भगवान् महावीर ने उपरोक्त अर्थ बताया है तो तृतीय अध्ययन का क्या अर्थ है ? सुधर्मा स्वामी जी ने उत्तर दिया हे जम्बू ! मैंने तृतीय अध्ययन को नीचे लिखे अनुसार सुना है। यहाँ वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

'उक्खेवो' त्ति उपक्षेपः—उपोद्घातः तृतीयाध्ययनस्य वाच्यः, स चायम्—जइणं भन्ते ! समणेणं भगवया जाव सम्पत्तेणं उवासगदसाणं दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते तच्चस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? इति कण्ठ्यश्चायम्।'

वाराणसी नगरी में जितशत्रु नाम का राजा था। प्राकृत में वाराणसी का वाणारसी हो जाता है इसी आधार पर हिन्दी में बनारस कहा जाता रहा है। भारत के स्वतन्त्र होने पर पुनः संस्कृत नाम को महत्व दिया गया और उसे फिर वाराणसी कहा जाने लगा है।

कोट्ठए—वहां कोष्ठक नाम का चैत्य था। कहीं कहीं इसके स्थान पर महाकाम वन का निर्देश मिलता है।

चुलणीपिता का परिचय और पौषधग्रहण—

मूलम्—तत्थ णं वाणारसीए नयरीए चुलणीपिया नाम गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जाव अपरिभूए। सामा भारिया। अट्ठ हिरण्ण कोडीओ निहाण पउत्ताओ, अट्ठ वुड्ढि पउत्ताओ, अट्ठ पवित्थर पउत्ताओ, अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं। जहा आणंदो राईसर जाव सव्व कज्ज वड्ढावए यावि होत्था। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। चुलणीपियावि, जहा आणंदो तहा, निग्गओ। तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ। गोयम पुच्छा। तहेव सेसं जहा कामदेवस्स जाव पोसह सालाए पोसहिए बंभचारी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ॥ १२३॥

छाया—तत्र खलु वाराणस्यां नगर्यां चुलनीपिता नाम गाथापतिः परिवसति, आढ्यो, यावदपरिभूतः। श्यामा भार्या। अष्ट हिरण्यकोट्यो निधानप्रयुक्ता, अष्ट वृद्धिप्रयुक्ता, अष्ट प्रविस्तरप्रयुक्ता अष्टव्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन। यथा आनन्दो राजेश्वर यावत्सर्वकार्यवर्द्धापकश्चासीत्। स्वामी समवसृतः। परिषन्निर्गता, चुलनीपिताऽपि यथानन्दस्तथा निर्गतः। तथैव गृहधर्मं प्रतिपद्यते। गौतम पृच्छा तथैव। शेषं यथा कामदेवस्य यावत् पौषधशालायां पौषधिको ब्रह्मचारी, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तत्थ णं वाणारसीए नयरीए—उस वाराणसी नगरी में चुलणीपिया नाम गाहावइ परिवसई—चुलणीपिता नामक गाथापति रहता था अड्ढे जाव अपरिभूए—वह आढ्य धनाढ्य यावत् अपरिभूत था सामा भारिया—उसकी श्यामा नामक

भार्या थी, **अट्ठ हिरण्णकोडीओ**—आठ करोड सुवर्ण, **निहाण पउत्ताओ**—कोप में रखे हुए थे **अट्ठ वुड्ढि पउत्ताओ**—आठ कोटि व्यापार मे लगे हुए थे। **अट्ठ पवित्थर पउत्ताओ**—आठ करोड भवन तथा अन्य उपकरणो में लगे हुए थे, **अट्ठ वया दसगो-साहस्सिएणं वएणं**—दस हजार गायो के एक गोकुल के हिसाव से आठ गोकुल थे अर्थात् अस्सी हजार गौएँ थी। आनन्द की तरह **जहा आणंदो राईसर जाव सव्व कज्ज वड्ढावए यावि होत्था**—वह भी राजा-ईश्वर आदि का आधार यावत् सव कार्यो का वर्धक था **सामी समोसढे**—भगवान् महावीर स्वामी पधारे **परिसा निग्गया**—परिषद् निकली, **चुलणीपियावि**—चुलनीपिता भी **जहा आणंदो तहा निग्गओ**—आनन्द के समान घर से निकला, **तहेव गिह धम्मं पडिवज्जइ**—उसी प्रकार गृहस्थ धर्म स्वीकार किया, **गोयम पुच्छा तहेव**—उसी प्रकार भगवान् गौतम ने प्रश्न किया, **सेसं जहा कामदेवस्स**—शेप वृत्तान्त कामदेव के समान जानना चाहिए। **जाव**—यावत् वह **पोसहसालाए**—पौपधशाला मे **पोसहिए बंभचारी**—पौपध तथा ब्रह्मचर्य स्वीकार कर के **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर के **अंतियं**—पास प्राप्त **धम्मपण्णत्तिं**—धर्म प्रज्ञप्ति को **उवसंपज्जित्ता णं विहरइ**—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—उस वाराणसी नगरी मे चुलनीपिता नामक गाथापति रहता था। वह सव प्रकार सम्पन्न यावत् अपरिभूत (अजेय) था। उसकी श्यामा नामक भार्या थी। आठ करोड सुवर्ण कोप मे जमा थे, आठ करोड़ व्यापार मे लगे हुए थे। और आठ करोड घर तथा समान मे लगे हुए थे। दस हजार गायो के एक गोकुल के हिसाव से आठ गोकुल थे अर्थात् अस्सी हजार पशुधन था। वह भी आनन्द की तरह राजा-ईश्वर आदि का आधार यावत् सव कार्यो मे प्रोत्साहन देने वाला था। महावीर स्वामी पधारे, उपदेश श्रवण के लिए परिषद् निकली। चुलनीपिता भी आनन्द श्रावक की भाँति घर से निकला और उसी तरह गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया। उसी प्रकार गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे। शेप वृत्तान्त कामदेव के समान जानना चाहिए। यावत् वह भी पौपधशाला मे पौपध तथा ब्रह्मचर्य को स्वीकार करके भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित धर्मप्रज्ञप्ति को अङ्गीकार करके विचरने लगा अर्थात् तदनुसार मध्य-रात्रि के समय धर्मसाधना करने लगा।

उपसर्ग के लिए देव का आगमन

मूलम्—तए ण तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त काल समयसि एगे देवे अतिय पाउब्भूए ॥ १२४ ॥

छाया—तत खलु तस्य चुलनीपितु श्रमणोपासकस्य पूवरात्रापररात्रकालसमये एको देवोऽन्तिक प्रादुर्भूत ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—उस चुलनी पिता श्रमणोपासक के अतिय—समीप पुव्वरत्तावरत्त कालसमयसि—मध्यरात्रि के सयम एगे देवे पाउब्भए—एक देव प्रकट हुआ ।

चुलनीपिता को धमकी—

मूलम्—तए ण से देवे एग मह नीलुप्पल जाव असि गहाय चुलणीपिय समणोवासय एव वयासी—"ह भो चुलणीपिया ! समणोवासया ! जहा कामदेवो जाव न भजेसि, तो ते अह अज्ज जेट्ठ पुत्त साओ गिहाओ नीणेमि, नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाइत्ता तओ मससोल्ले करेमि, करेत्ता आदाण भरियसि कडाहयसि अद्दहेमि, अद्दहित्ता तव गाय मसेण य सोणिएण य आयचामि, जहा ण तुम अट्ट दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ १२४ ॥

छाया—तत खलु स देव एक महन्नीलोत्पल यावदसि गृहीत्वा चुलनीपितर श्रमणोपासकमेवमवादीत—हभो चुलनीपित ! श्रमणोपासक ! यथा कामदेवो यावन्न भनक्षि तर्हि तऽहमद्य ज्येष्ठ पुत्र स्वकात गृहात नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा, त्रिणि मासशूल्यकानि करोमि, कृत्वा आदहनभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्र मासेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमार्त्त दु खार्त्त वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से देवे**—वह देव **एगं**—एक **महं नीलुप्पल**—एक महान् नीलोत्पल के समान **जाव**—यावत् **असि**—तलवार को **गहाय**—ग्रहण करके **चुलणीपियं**—चुलनीपिता **समणोवासयं**—श्रमणोपासक को **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा—**हंभो**—हे **चुलणीपिया**! चुलनीपिता! **समणोवासया**—श्रमणोपासक! **जहा**—जैसे **कामदेवो**—कामदेव श्रमणोपासक से कहा था **जाव**—यावत् तू न **भंजेसि**—नियमादि को नही छोडता **तो ते**—तो तेरे **अहं**—मैं **अज्ज**—आज **जेट्ठं पुत्तं**—ज्येष्ठ पुत्र को **साओ गिहाओ**—अपने घर से **नीणेमि**—लाता हूँ, **नीणित्ता**—लाकर **तव अग्गओ**—तेरे सामने **घाएमि**—मारता हूँ **घाइत्ता**—मार कर के **तओ मसंसोल्ले करेमि**—तीन माँस खड करता हूँ, **करित्ता**—करके **आदाण भरियंसि कडाहयंसि**—आदान (तेल) से भरी हुई कडाही में **अद्दहेमि**—तलू गा **अद्दहित्ता**—तलकर **तव गायं**—तेरे शरीर को **मंसेण य**—मास और **सोणिएण य** और रुधिर से **आयंचामि**—छीटे देता हूँ **जहाणं**—जिससे **तुमं**—तू **अट्ट-दुहट्ट वसट्टे**—अति चिन्ता मग्न दु.खार्त होता हुआ **अकाले चेव**—अकाल मे ही **जीवियाओ**—जीवन से **ववरोविज्जसि**—पृथक् हो जाएगा।

भावार्थ—वह देव नील कमल के समान यावत् तलवार लेकर चुलनीपिता श्रावक को बोला—"हे चुलनीपिता श्रावक! यावत् कामदेव की तरह कहा" यावत् शील आदि को भग नही करेगा तो तेरे बड़े लडके को घर से लाकर तुम्हारे सामने मार डालू गा। उसके तीन टुकड़े करूँगा और शूल में पिरोकर तेल से भरी हुई कढाई मे पकाऊँगा। तुम्हे उसके मास और खून से छीटूंगा। परिणामस्वरूप तुम चिन्ता-मग्न, दु खी तथा विवश होकर अकाल में जीवन से हाथ धो वैठोगे।

चुलनीपिता का शान्त रहना—

मूलम्—**तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १२६ ॥**

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्तः सन्नभीतो यावत् विहरति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से चुलणीपिया—वह चुलनीपिता, समणोवासए—श्रमणोपासक तेण देवेण—उस देव के एव—ऐसा वुत्ते समाणे—कहने पर भी अभीए जाव—यावत् निभय विहरइ—बना रहा ।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रमणोपासक देवता के ऐसा कहने पर भी निभय यावत शान्त रहा ।

मूलम्—तए ण से देवे चुलणीपिय समणोवासय अभीय जाव पासइ, पासित्ता दोच्चपि तच्चपि चुलणीपिय समणोवासय एव वयासी—"हभो चुलणीपिया ! समणोवासया !" त चेव भणइ, सो जाव विहरइ ॥ १२७ ॥

छाया—तत खलु स देवश्चुलनीपितर श्रमणोपासकमभीत यावत पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि चुलनीपितर श्रमणोपासकमेवमवादीत—हभो चुलनी पित ! श्रमणोपासक ! तदेव भणति स यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने चुलणीपिय समणोवासय—चुलनीपिता श्रमणोपासक को अभीय जाव पासइ—निभय यावत शान्त देखा पासित्ता—देखकर दोच्चपि तच्चपि—द्वितीय तथा ततीय वार चुलणीपिय समणोवासय—चुलनीपिता श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा— हभो चुलणी पिया—ह चुलनीपिता ! समणोवासया ! श्रमणोपासक ! त चेव भणइ—पुन वही वचन कहे सो जाव विहरइ—वह भी यावत् निभय विचरता रहा ।

भावार्थ—जब देव ने चुलनीपिता श्रमणोपासक को निभय यावत शान्त देखा तो दूसरी वार तथा तीसरी वार वही वात कही । चुलनीपिता भी निभय यावत शान्त वना रहा ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे देव कृत उपसग का वणन है जो कामदेव से भिन्न प्रकार का है आदाण भरियसि–आदाण का अर्थ है तल या पानी आदि आद्र वस्तुएँ । यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—"आद्रहण यदुदक-तलादिकमन्यतर द्रव्य पाका याग्नावुत्ताप्यते तदभृते, 'कडाहयसि' त्ति कटाहे—लोहमयभाजनविशेष आद्रहयामि उत्क्वाथयामि ।"

हिन्दी मे इसके लिए अदहन शब्द का प्रयोग होता है यह आर्द्र दहन से बना है। इसका अर्थ है—घी, तेल, पानी आदि वे वस्तुएँ जो गीली होने पर भी जलाती हैं।

पुत्रों का वध और चुलनीपिता का अविचलित रहना—

मूलम्—**तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता आसुरुत्ते ४ चुलणीपियस्स समणोवासयस्स जेट्ठं पुत्तं गिहाओ नीणेइ, नीणित्ता अग्गओ घाएइ, घाइत्ता तओ मंससोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहित्ता चुलणीपियस्स समणोवासयस्स गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ ॥ १२८ ॥**

छाया—तत. खलु से देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावद् दृष्ट्वा आशुरुप्त ४ श्चुलनीपितु श्रमणोपासकस्य ज्येष्ठं पुत्रं गृहान्नयति, नीत्वाऽग्रतो घातयति, घातयित्वा त्रीणि मांसशूल्यकानि करोति, कृत्वा, आदहनभृते कटाहे आदहति, आदह्य चुलनीपितु श्रमणोपासकस्य गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चति।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से देवे**—उस देव ने **चुलणीपियं समणोवासयं**—चुलनीपिता श्रमणोपासक को **अभीयं जाव पासित्ता**—अभय यावत् देख कर **आसुरुत्ते ४**—क्रोधित होकर **चुलणीपियस्स समणोवासयं**—चुलनीपिता के **जेट्ठं पुत्तं**—बड़े पुत्र को **गिहाओ**—घर से **नीणेइ**—निकाला **नीणित्ता**—निकाल कर के **अग्गओ घाएइ**—उसके सामने मार डाला, **घाइत्ता**—मार कर के **तओ**—तीन **मंससोल्लए करेइ**—मास के तीन टुकडे किए **करेइत्ता**—करके **आदाण भरियंसि कडाहयंसि**—अदहन से भरे हुए कडाहे मे **अद्दहेइ**—तला, **अद्दहिता**—तलकर के **चुलणीपियस्स समणोवासयस्स**—चुलनीपिता श्रमणोपासक के **गायं**—शरीर पर **मंसेण य**—मास और **सोणिएण य**—शोणित से **आयंचइ**—छीटे दिए।

भावार्थ—तव तो वह देव क्रोधित होकर चुलनीपिता श्रावक के बडे लडके को घर से निकाल लाया। उसके सामने लाकर मार डाला, और तीन टुकडे किए। उन्हे तेल से भरे कढाह मे तला और उसके मास और रुधिर से चुलनीपिता के शरीर पर छीटे मारे।

मूलम्—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए त उज्जल जाव अहियासेइ ॥ १२९ ॥

छाया—तत खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वला यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक ने त उज्जल—उस तीव्र जाव—यावत वेदना का अहियासेइ—सम्यक प्रकार से सहन किया ।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक ने देव द्वारा दिए हुए कष्ट की उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन किया ।

मूलम्—तए ण से देवे चुलणीपिय समणोवासय अभीय जाव पासइ, पासित्ता दोच्चपि चुलणीपिय समणोवासय एव वयासी—"ह भो चुलणीपिया समणोवासया ! अपत्थियपत्थया ! जाव न भजेसि, तो ते अह अज्ज मज्झिम पुत्त साओ गिहाओ नीणेमि, तव अग्गओ घाएमि" जहा जेट्ठ पुत्त तहेव भणइ, तहेव करेइ । एव तच्चपि कणीयस जाव अहियासेइ ॥ १३० ॥

छाया—तत खलु स देवश्चुलनीपितर श्रमणोपासकमभीत यावत पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि चुलनीपितर श्रमणोपासकमेवमवादीत—"हभो ! चुलनीपित ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थितप्रार्थक ! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽहमद्य मध्यम पुत्र स्वस्माद गृहान्नयामि, नीत्वा तवाऽग्रतो घातयामि" यथा ज्येष्ठ पुत्र तथैव भणति, तथैव करोति, एव ततीयमपि कनीयास यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—उस देव ने (चुलनीपिता श्रमणोपासक को) अभीय जाव पासइ—अभय यावत देखा पासित्ता—देख कर के दोबारा चुलणीपिय समणोवासय एव वयासी—चुलनीपिता श्रमणोपासक के प्रति इस प्रकार कहा—हभो—हे चुलणीपिया समणोवासया !—चुलनीपिता ! श्रमणोपासक ! अपत्थियपत्थया !

—अप्रार्थित अर्थात् मृत्यु की प्रार्थना करने वाले **जाव न भंजेसि**—यावत् तू नियमो को नही तोडेगा **तो ते**—तो तेरे **अज्ज**—आज **अहं**—मैं **मज्झिमं पुत्तं**—मझले पुत्र को **साओ गिहाओ नीणेमि**—घर से लाता हूँ **नीणित्ता**—ला कर **तव अग्गओ घाएमि**—तेरे आगे मारता हूँ **जहा**—जैसे **जेट्ठं पुत्तं**—ज्येष्ठ पुत्र के विषय मे कहा था **तहेव भणइ**—वैसे ही कहा **तहेव करेइ**—और वैसे ही किया। **एवं**—इसी प्रकार **तच्चंपि**—तृतीय **कणीयसं**—छोटे पुत्र को भी किया, **जाव**—यावत् **जाव अहियासेइ**—चुलनीपिता ने उस उपसर्ग को सहन किया।

भावार्थ—तब भी जब देव ने चुलनीपिता श्रावक को निर्भय यावत् देखा, तो पुन. उससे कहा—अरे मृत्यु की प्रार्थना करने वाले! यदि तू शीलादि को भग नही करता तो मैं आज तेरे मझले पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारता हूँ। इस प्रकार उसने ज्येष्ठ पुत्र के सम्वन्ध मे जैसा कहा था वैसा ही किया। चुलनीपिता ने उस असह्य वेदना को अन्त तक सहन किया। देव ने तृतीय पुत्र के विषय मे भी उसी प्रकार कहा और चुलनीपिता के सामने लाकर मार डाला। किन्तु वह विचलित न हुआ।

माता के वध की धमकी—

मूलम्—**तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता चउत्थंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! ४, जइ णं तुमं जाव न भंजेसि, तओ, अहं अज्ज जा इमा तव माया भद्दा सत्थवाही देवय-गुरु-जणणी दुक्कर-दुक्करकारिया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि घाइत्ता तओ मंससोल्लए करेमि, करेत्ता आदण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहित्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि"** ॥ १३१ ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा चतुर्थमपि चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हंभो! चुलनीपित! श्रमणो-

पासक ! अप्रार्थितप्रार्थक ! यदि खलु त्वं यावन्न भनक्षि ततोऽहमद्य येयं तव माता भद्रा सार्थवाही दवतगुरु जननी दुष्करदुष्करकारिका तां ते स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा त्रिणि मासशूल्यकानि करोमि, कृत्वाऽऽदान-भृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मासेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमात्त दुःखार्त्त वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए ण से देवे—तदनन्तर उस देव ने चुलणीपियं समणोवासयं—चुलणी पिता श्रमणोपासक को अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् देखा, पासित्ता—देख कर चउत्थं पि—चौथी बार चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहा—हंभो चुलणीपिया ! समणोवासया !—हे चुलणीपिता श्रमणोपासक ! अपत्थियपत्थीया—मत्यु की प्रार्थना करने वाले जइण—यदि तुम—तू जाव—यावत न भजेसि—शीलादि गुणों का भंग न करेगा तलग्रो अहं—तो मैं अज्ज—आज जा इमा—जो यह तव माया—तेरी माता भद्दा सत्थवाही—भद्रा सार्थवाही देवय गुरु-जणणी—देवता तथा गुरु के समान जननी है दुक्कर-दुक्कर कारिया—जिसने तेरा (लालन पालनादि) अति दुष्कर कार्य किया है तं ते—उसको साओ गिहाओ—अपने घर से नीणेमि—लाता हूँ नीणित्ता—लाकर तव अग्गओ घाएमि—तेरे सामने मारता हूँ घाइत्ता—मार करके तओ—तीन मससोल्लए—मास खंड करेमि—करता हूँ करित्ता—करके आदाण भरियंसि कडाहयंसि—अदहन भरे कडाह मे अद्दहेमि—तलता हूँ अद्दहित्ता—तलकर तव गायं—तेरे शरीर को मंसेण य—मास और सोणिएण य—शोणित से आयचामि—सिञ्चन करता हूँ, जहा ण तुमं—जिससे तू अट्ट दुहट्ट वसट्टे—आर्त दुःखी तथा विवश हो कर अकाले चेव—अकाल में ही जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित हो जाएगा ।

भावार्थ—उस ने चौथी बार चुलनीपिता से कहा—'अरे चुलनीपिता ! अनिष्ट के कामी यदि तू व्रतों का भंग नहीं करता तो मैं तेरी भद्रा नाम की माता को जो तेरे लिए देवता तथा गुरु के समान पूज्य है तथा जिसने तेरे लिए अनेक कष्ट उठाए हैं घर से निकाल लाऊंगा और तेरे समाने मार डालूं गा। उसके तीन टुकडे करके तेल से भरे कडाह मे तलूं गा। उसके मास और रुधिर से तेरे शरीर को छींटू गा।

जिससे तू चिन्ता-मग्न तथा विवश हो कर अकाल में ही जीवन से हाथ धो वैठेगा।

मूलम्—**तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १३२ ॥**

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेन देवनैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरति।

शब्दार्थ—**तए णं से**—तदनन्तर वह **चुलणीपिया समणोवासए**—चुलनीपिता श्रमणोपासक **तेणं देवेणं**—उस देव के **एवं वुत्ते समाणे**—ऐसा कहने पर भी **अभीए जाव**—यावत् निर्भय होकर **विहरइ**—धर्माराधन मे लगा रहा।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक देव के ऐसा कहने पर भी निर्भय वना रहा।

मूलम्—**तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता चुलणीपियं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया! समणोवासया! तहेव जाव ववरोविज्जसि" ॥ १३३ ॥**

छाया—तत खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावद् विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा चुलनीपितरं श्रमणोपासकं द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—"हंभो चुलनीपितः! श्रमणोपासक! यावद् व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—**तए णं से देवे**—तदनन्तर वह देव **चुलणीपियं समणोवासयं**—चुलनीपिता श्रमणोपासक को **अभीयं जाव**—निर्भय यावत् **विहरमाणं**—धर्म साधना मे स्थिर **पासइ**—देखता है, **पासित्ता**—देखकर **चुलणीपियं समणोवासयं**—चुलणीपिता श्रमणोपासक को **दोच्चंपि तच्चंपि**—द्वितीय वार और तृतीय वार **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा—**हंभो**—हे **चुलणीपिया सणोवासय!**—चुलनीपिता श्रमणोपासक! **तहेव**—उसी प्रकार पहले की भाँति कहा, **जाव ववरोविज्जसि**—यावत् मृत्यु को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—देवता ने उसे निर्भय एव स्थिर देखा तो दूसरी और तीसरी वार वही वात कही—"चुलनीपिता श्रावक! उसी प्रकार यावत् मारा जाएगा।"

चुलनीपिता का क्षुब्ध होना और पिशाच को पकडने का प्रयत्न—

मूलम्——तए ण तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स तेण देवेण दोच्चपि तच्चपि एव वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५——"अहो ण इमे पुरिसे अणारिए अणारिय बुद्धी अणारियाइ पावाइ कम्माइ समायरइ, जेण मम जेट्ठ पुत्त साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता मम अग्गओ घाएइ, घाइत्ता जहा कय तहा चिंतेइ, जाव गाय आयचइ जेण मम मज्झिम पुत्त साओ गिहाओ जाव सोणिएण य आयचइ जेण मम कणीयस पुत्त साओ गिहाओ तहेव जाव आयचइ जा वि य ण इमा मम माया भद्दा सत्थ-वाही देवय-गुरु जणणी दुक्कर-दुक्करकारिया, त पि य ण इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता मम अग्गओ घाएत्तए, त सेय खलु मम एय पुरिस गिण्हित्तए" त्ति कट्टु उद्धाइए, से वि य आगासे उप्पइए, तेण च खम्भे आसाइए, महया महया सद्देण कोलाहले कए ॥ १३४ ॥

छाया——तत खलु तस्य चुलणीपितु श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिक ५——"अहो ! खलु अय पुरुषोऽनार्य, अनार्यबुद्धिरनार्याणि पापानि कर्माणि समाचरति, येन मम ज्येष्ठ पुत्र स्वस्माद गृहान्नयति, नीत्वा ममाग्रतो घातयति, घातयित्वा यथा कृत तथा चिन्तयति, यावदगात्रमासिञ्चति, येन मम मध्यम पुत्र स्वस्माद गृहाद यावच्छोणितेनाऽऽसिञ्चति, येन मम कनीयास पुत्र स्वस्माद गृहात्तथव यावद आसिञ्चति, याऽपि च खलु इय मम माता भद्रा साथवाही दवत गुरु जननी दुष्कर दुष्कर कारिका तामपि च खलु इच्छति स्वस्माद गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम । तच्छ्रेय खलु ममन पुरुष ग्रही तुम" इति कृत्वोत्थित, सोऽपि चाकाशे उत्पतित, तेन च स्तम्भ आसादित महता २ शब्देन कोलाहल कृत ।

शब्दार्थ——तए ण—तदनन्तर तस्स—उस चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—चुलनी पिता श्रमणोपासक के तेण देवेण उस देव के द्वारा दोच्चपि तच्चपि—द्वितीय तथा ततीय बार एव वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहे जाने पर इमेयारूवे—ये इस

प्रकार के **अज्झत्थिए ५**—विचार यावत् उत्पन्न हुए, **अहो णं**—अहो ! **इमे पुरिसे**—यह पुरुष **अणारिए अणारियबुद्धी**—अनार्य तथा अनार्यबुद्धि है **अणारियाइं पावाइं कम्माइं**—अनार्योचित पाप कर्मो का **समायरइ**—आचरण करता है, **जेणं**—जिसने **ममं** मेरे **जेट्ठं पुत्तं**—ज्येष्ठ पुत्र को **साओ गिहाओ**—अपने घर से **नीणेइ**—निकाला **नीणेत्ता**—निकाल कर **ममं अग्गओ**—मेरे सामने **घाएइ**—मार दिया **घाइत्ता**—मार कर के **जहा कयं**—जैसे उस देव ने किया **तहा चिंतेइ**—उसी प्रकार सोचने लगा, **जाव गायं आयंचइ**—यावत् उस देव ने मेरे शरीर को माँस और रुधिर से सीचा, **जेणं ममं**—उसने मेरे **मज्झिमं पुत्तं**—मंझले पुत्र को **साओ गिहाओ**—घर से **जाव**—यावत् **सोणिएण य आयंचइ**—शोणित से सिंचन किया **जेणं ममं**—जिसने मेरे **कणीयसं पुत्तं**—कनिष्ठ पुत्र को **साओ गिहाओ**—घर से निकाल कर **तहेव जाव आयंचइ**—उस प्रकार यावत् सिंचन किया। **जा वि य णं**—और जो **इमा**—यह **ममं माया**—मेरी माता **भद्दा सत्थवाही**—भद्रा सार्थवाही **देवय गुरु जणणी**—जो कि देवता, गुरु तथा जननी है, **दुक्कर-दुक्करकारिया**—दुष्कर से भी दुष्कर क्रियाओ के करने वाली है, **तं पि य णं**—उसको भी यह **इच्छइ**—चाहता है **साओ गिहाओ**—घर से **नीणेत्ता**—लाकर **मम अग्गओ घाएत्तए**—मेरे सामने मारना चाहता है, **तं सेयं खलु**—तो यह ठीक होगा कि **ममं**—मै **एयं पुरिसं गिण्हित्तए**—इस पुरुष को पकड़ लूँ, **त्ति कट्टु**—ऐसा विचार करके **उद्धाइए**—उठा **से वि य आगासे उप्पइए**—और वह देव आकाश मे उड गया **तेणं च खम्भे आसाइए**—चुलनीपिता के हाथ मे खम्भा आ गया और **महया २**—वह **सद्देणं कोलाहले कए** उच्च स्वर में पुकारने लगा।

भावार्थ—देव के द्वितीय तथा तृतीय वार ऐसा कहने पर चुलनीपिता श्रावक विचारने लगा—"यह पुरुष अनार्य है, इसकी बुद्धि अनार्य है। अनार्योचित पाप कर्मो का आचरण करता है, इसने मेरे वडे पुत्र को घर से उठा लिया और मेरे सामने लाकर मार डाला। इसी प्रकार मध्यम और कनिष्ठ पुत्र को भी मार डाला। चुलनी-पिता के मन मे देव द्वारा किए गए क्रूर कार्य आने लगे। उसने फिर सोचा अब यह मेरी माता को जो देवता और गुरु के समान पूज्यनीय है तथा जिसने मेरे लिए भयंकर कष्ट उठाए हैं, मेरे सामने लाकर मार डालना चाहता है। अत यही उचित है कि मैं इसको पकड़ लूँ।" यह सोच कर वह पकड़ने के लिए उठा तो देव

आकाश म उड गया। चुलनीपिता के हाथ मे थम्भा लगा। वह उसे पकड कर जोर २ से चिल्लाने लगा।

टीका—देवय गुरु जणणी—यहा माता के लिए तीन शब्द आये हैं—

१ देवय—देवता का अर्थ है पूज्य। माता देवता के समान पूजा और सत्कार के योग्य होती है। स तान के मन म उसके प्रति सदा भक्ति भाव रहना चाहिए।

२ गुरु—का काय है—अच्छी शिक्षा देकर बालक को योग्य बनाना। माता भी बालक मे अच्छे सस्कार डालती है उसे अच्छी बाते सिखाती है और उसके शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक सभी गुणो का विकास करती है अत माता गुरु भी है।

३ जननी—वह ज म देती है और स तान के लिए अनेक कष्ट उठाती है। अत उसके प्रति कृतज्ञ होना स तान का कत्तव्य है। माता के प्रति यह भावना एक आदश श्रावक ने प्रकट की है। उसके प्रति श्रद्धा को मिथ्यात्व कह कर हेय बताना अनुचित और दुमति है।

माता का आगमन और चुलनीपिता को शिक्षण—

मूलम—तए ण सा भद्दा सत्थवाही त कोलाहल सद्द सोच्चा निसम्म जेणेव चुलणीपिया समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चुलणीपिय समणोवासय एव वयासी—"किण्ण पुत्ता तुम महया महया सद्देण कोला हले कए ?" ॥ १३५ ॥

छाया—तत खलु सा भद्रा साथवाही त कोलाहलशब्द श्रुत्वा निशम्य येनव चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेनवोपागच्छति, उपागत्य चुलनीपितर श्रमणोपासकमेव मवादीत—"किं खलु पुत्र ! त्वया महता २ शब्देन कोलाहल कृत ?"

शब्दाथ—तए ण सा भद्दा सत्थवाही—तदन तर वह भद्रा साथवाही त—उस कोलाहल सद्द सोच्चा—कोलाहल शब्द को सुन कर निसम्म—तथा विचार कर जेणेव—जहाँ चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक था तेणेव—

वहां **उवागच्छइ**—आई, **उवागच्छित्ता**—आकर **चुलणीपियं समणोवासयं**—चुलनीपिता श्रमणोपासक को **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगी—**किण्णं पुत्ता !** क्यो पुत्र ! **तुमं**—तुमने **महया २ सद्देणं**—जोर २ से **कोलाहले कए ?**—कोलाहल किया ?

भावार्थ—भद्रा सार्थवाही चिल्लाहट सुन कर चुलनीपिता श्रावक के पास आई और पूछा—"बेटा तुम जोर २ से क्यो चिल्लाए ।"

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए अम्मयं भद्दं सत्थवाहिं एवं वयासी—"एवं खलु अम्मो ! न जाणामि के वि पुरिसे आसुरुत्ते ५ एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय ममं एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थया ! ४ वज्जिया, जइणं तुमं जाव ववरोविज्जसि" ॥ १३६ ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकोऽम्बिकां भद्रां सार्थवाहीमेवमवादीत्—"एवं खलु अम्ब ! न जानामि कोऽपि पुरुष आशुरुप्तः ५ एकं महान्तं नीलोत्पल असिं गृहीत्वा मामैवमवादीत्—हंभो चुलनीपितः ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित-प्रार्थक ! ४ वर्जित ! यदि खलु त्वं यावद्व्यपरोपयिष्यसे ।"

शब्दार्थ—**तए णं से**—तदनन्तर वह **चुलणीपिया समणोवासए**—चुलनीपिता श्रमणोपासक **अम्मयं भद्दं**—माता भद्रा **सत्थवाहिं**—सार्थवाही को **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा—**एवं खलु अम्मो**—इस प्रकार हे माता ! **न जाणामि**—मैं नही जानता **केवि पुरिसे**—कोई पुरुष **आसुरुत्ते ५**—क्रोधित होकर **एगं महं**—एक महान् **नीलुप्पल असिं**—नीलोत्पल के समान वर्ण वाली तलवार को **गहाय**—ग्रहण कर के **ममं**—मुझ से **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा—**हंभो चुलणीपिया ! समणोवासया !** हे चुलनीपिता श्रमणोपासक ! **अपत्थिय पत्थया !**—अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले **वज्जिया**—पुण्यवर्जित अर्थात् अभागे **जइ णं**—यदि **तुमं**—तू शीलादि व्रतो को न तोड़ेगा **जाव ववरोविज्जसि**—यावत् मार दिया जाएगा ।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक माता भद्रा सार्थवाही से कहने लगा "हे माँ ! न जाने क्रोध मे भरा हुआ कोई पुरुष हाथ में नीली तलवार लेकर मुझ से कहने

लगा—'हे चुलनीपिता श्रावक ! अनिष्ट के कामी यदि तू शीलादि का त्याग न करेगा तो मैं तेरे ज्येष्ठ पुत्र को मार डालूँगा।"

मूलम्—तए ण अह तेण पुरिसेण एव वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरामि ॥ १३७ ॥

छाया—तत खल्वह तेन पुरुषेणवमुक्त सन्नभीतो यावद्विहरामि।

शब्दार्थ—तए ण अह—तदनन्तर मैं तेण पुरिसेण—उस पुरुष द्वारा एव वुत्ते समाणे—ऐसा कहने पर भी अभीए जाव विहरामि—निभय यावत शान्त रहा।

भावार्थ—उसके ऐसा कहने पर मैं भय भीत नही हुआ और धमसाधना में स्थिर रहा।

मूलम्—तए ण से पुरिसे मम अभीय जाव विहरमाण पासइ, पासित्ता मम दोच्चपि तच्चपि एव वयासी—"हभो चुलणीपिया ! समणोवासया ! तहेव जाव गाय आयचइ" ॥ १३८ ॥

छाया—तत खलु स पुरुषो मामभीत यावद विहरमाण पश्यति दृष्टवा माम द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत—"हभो चुलनीपित ! श्रमणोपासक ! तथव यावद गात्रमासिञ्चति।"

शब्दार्थ—तए ण से पुरिसे—तदनन्तर उस पुरुष ने मम अभीय—मुझे अभीत जाव विहरमाण—यावत विचरते हुए पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर मम—मुझे दोच्चपि तच्चपि—द्वितीय और ततीय वार एव वयासी—इस प्रकार कहने लगा हभो चुलनीपिया ! हे चुलनीपिता ! समणोवासया ! श्रमणोपासक ! तहेव—सब उसी प्रकार जाव—यावत (उसने) गाय आयचइ—मेरे शरीर पर छींटे मारे।

भावार्थ—तब भी उसने मुझे निभय तथा शा त देखा। और दूसरी तथा तीसरी वार वसा ही कहा—ह चुलनीपिता श्रावक ! पहले की तरह यावत मास और रुधिर से मेरे शरीर को सींचा।

मूलम्—तए णं अहं उज्जलं जाव अहियासेमि, एवं तहेव उच्चारेयव्वं जाव कणीयसं जाव आयंचइ, अहं तं उज्जलं जाव अहियासेमि ॥ १३९ ॥

छाया—ततः खल्वहं तामुज्ज्वलां यावद् अध्यासे। एवं तथैवोच्चारयितव्यं, सर्वं यावत्कनीयासं यावद् आसिञ्चति। अहं तामुज्ज्वलां यावद् अध्यासे।

शब्दार्थ—**तए णं अहं**—तदनन्तर मैंने **तं उज्जलं जाव अहियासेमि**—उस उज्ज्वल यावत् वेदना को शान्त रह कर सहन किया। **एवं**—इसी प्रकार **तहेव उच्चारेयव्वं सव्वं**—वैसे ही सब उच्चारण करना चाहिए, **जाव कणीयसं**—यावत् लघु पुत्र को **जाव आयंचइ**—मारा यावत् मेरे शरीर (चुलनीपिता को) सींचा।

भावार्थ—मैंने उस असह्य वेदना को सह लिया। इसी प्रकार पूर्वोक्त सारा वृत्तान्त कहा। यावत् छोटे लडके को मार कर मेरे शरीर को उसके मास और रुधिर के छींटे मारे। मैंने इस असह्य वेदना को भी सहन किया।"

मूलम्—तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता ममं चउत्थंपि एवं वयासी—"हंभो चुलणीपिया समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! जाव न भंजेसि, तो ते अज्ज जा इमा माया गुरु जाव ववरोविज्जसि" ॥ १४० ॥

छाया—ततः खलु स पुरुषो मामभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा माम् चतुर्थमप्येवमवादीत्—"हंभोः चुलनीपितः! श्रमणोपासक! अप्रार्थित प्रार्थक! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य या इयं माता दैवत गुरु यावद् व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—**तए णं से पुरिसे**—तदनन्तर उस पुरुष ने **ममं अभीयं जाव**—मुझे निर्भय यावत् शान्त **पासइ**—देखा **पासित्ता**—देखकर **मम चउत्थंपि**—मुझे चतुर्थ वार **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा—**हंभो चुलणीपिया**! हे चुलनीपिता! **समणोवासया**! श्रमणोपासक! **अपत्थिय पत्थया**! अनिष्ट के कामी! **जाव न भंजेसि**—यावत् नही भङ्ग करेगा **तो ते**—तो तेरी **अज्ज**—आज **जा**—जो **इमा**—यह **माया**—माता देवय गुरु **जाव ववरोविज्जसि**—देव, गुरु है यावत् काल-धर्म को प्राप्त होगा।

भावार्थ—जब उसने मुझे निर्भय देखा तो चौथी बार बोला—'हे चुलनीपिता श्रावक ! अनिष्ट के कामी ! यावत तू भग नही करता तो जो यह तेरी माता देव, गुरुस्वरूप है उसे भी मार डालूंगा। यावत् तू मर जायगा।'

मूलम्—तए ण अह तेण पुरिसेण एव वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरामि ॥ १४१॥

छाया—तत खल्वह तेन पुरुषेणवमुक्त सन्नभीतो यावद विहरामि ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर अह—मैं तेण पुरिसेण एव वुत्ते समाणे—उस पुरुष के ऐसा कहने पर भी अभीए जाव विहरामि—निर्भय यावत विचरता रहा ।

भावार्थ—तब उसके ऐसा कहने पर भी मैं निर्भय विचरता रहा ।

मूलम्—तए ण से पुरिसे दोच्चपि तच्चपि मम एव वयासी—"हभो चुलणीपिया ! समणोवासया ! अज्ज जाव ववरोविज्जसि" ॥ १४२ ॥

छाया—तत खलु स पुरुषो द्वितीयमपि तृतीयमपि मामवमवादीत—हभो चुलनी पित ! श्रमणोपासक ! अद्य यावद व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से पुरिसे—वह पुरुष दोच्चपि तच्चपि—दूसरी और तीसरी बार मम—मुझे एव वयासी—ऐसा कहने लगा हभो ! चुलणीपिया ! —समणोवासया ! हे चुलनीपिता ! श्रमणोपासक ! अज्ज जाव ववरोविज्जसि—आज यावत मारा जाएगा ।

भावार्थ—उस देव ने दूसरी बार और तीसरी बार उसी प्रकार कहा कि चुलनी पिता ! आज यावत मारा जाएगा ।

मूलम्—तए ण तेण पुरिसेण दोच्चपि तच्चपि मम एव वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५, "अहो ण ! इमे पुरिसे अणारिए जाव समायरइ, जेण मम जेट्ठ पुत्त साओ गिहाओ तहेव जाव कणीयस जाव आयचइ,"

तुब्भे वि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए। सेवि य आगासे उप्पइए, मए वि य खम्भे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए" ॥ १४३ ॥

छाया—तत खलु तेन पुरुषेण द्वितीयमपि तृतीयमपि ममैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ५—अहो खल्वयं पुरुषोऽनार्यो यावत्समाचरति येन मम ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहात्तथैव यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चति, युष्मानपि च खल्विच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम्, तच्छ्रेयः खलु ममैनं पुरुषं ग्रहीतुमिति कृत्वोत्थितः, सोऽपि चाऽऽकाशे उत्पतितः, मयाऽपि च स्तम्भ आसादित, महता २ शब्देन कोलाहलः कृतः।

शब्दार्थ—**तए णं तेणं पुरिसेणं**—तदनन्तर उस पुरुष द्वारा **दोच्चंपि तच्चंपि**—दूसरी वार और तीसरी बार **ममं**—मुझे **एवं वुत्तस्स समाणस्स**—इस प्रकार कहे जाने पर **इमेयारूवे**—इस प्रकार **अज्झत्थिए**—विचार आया **अहोणं इमे पुरिसे**—अहो! यह पुरुष **अणारिए**—अनार्य है **जाव**—यावत् **समायरइ**—पाप कर्मो का समाचरण करता है **जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं**—जिसने मेरे ज्येष्ठ पुत्र को **साओ गिहाओ**—अपने घर से **तहेव**—उसी प्रकार कहा **जाव**—यावत् **कणीयसं जाव अयंचइ**—लघु पुत्र को मार कर मुझे सिञ्चन किया **तुब्भे वि य णं इच्छइ**—तुम्हे भी यह चाहता है **साओ गिहाओ**—अपने घर से **नीणेत्ता**—निकालकर **ममं अग्गओ**—मेरे आगे **घाएत्तए**—मार डालना **तं सेयं खलु ममं**—तो मुझे उचित होगा कि **एयं पुरिसं गिण्हित्तए**—इस पुरुष को पकडलूँ **त्ति कट्टु**—ऐसा विचार करके मैं **उद्धाइए**—उठा **से वि य आगासे उप्पइए**—और वह भी आकाश में उड गया। **मए वि य खम्भे आसाइए**—और मैंने भी यह खंभा पकड लिया **महया २ सद्देणं कोलाहले कए**—और जोर जोर से चिल्लाने लगा।

भावार्थ—उसके दूसरी और तीसरी वार ऐसा कहने पर मुझे विचार आया—यह पुरुप अनार्य है, इसकी वुद्धि भी अनार्य है, और आचरण भी अनार्य है। इसने मेरे वड़े, मंझले और छोटे पुत्र को मार डाला है और मेरा शरीर उनके खून से सीचा। अव यह तुम्हे भी मेरे सामने लाकर मार डालना चाहता है अत इसे

पकड लेना ही उचित है। ऐसा विचार कर ज्यो ही मैं उठा वह आकाश में उड गया, मेरे हाथ म खम्भा आगया और मैं जोर २ से चिल्लाने लगा।

मूलम—तए ण सा भद्दा सत्थवाही चुलणीपिय समणोवासय एव वयासी—"नो खलु कइ पुरिसे तव जाव कणीयस पुत्त साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएइ, एस ण केइ पुरिसे तव उवसग्ग करेइ, एस ण तुमे विदरिसणे दिट्ठे। त ण तुम इयाणि भग्ग व्वए भग्ग-नियमे भग्ग पोसहे विहरसि। त ण तुम पुत्ता! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि" ॥ १४४ ॥

छाया—तत खलु सा भद्रा सार्थवाही चुलनीपितर श्रमणोपासकमेवमवादीत—"नो खलु कोऽपि पुरुषस्तव यावत कनीयास पुत्र स्वस्माद गहान्नयति, नीत्वा तवाग्रतो घातयति, एप खलु कोऽपि पुरुषस्तवोपसर्ग करोति, एतत खलु त्वया विदशन दष्टम, तत खलु त्वमिदानीं भग्न-व्रतो, भग्न नियमो, भग्न पौषधो विहरसि, त्व पुत्र! एतस्य स्थानस्य आलोचय यावत्प्रतिपद्यस्व।"

शब्दार्थ—**तए ण सा भद्दा सत्थवाही**—तदनन्तर वह भद्रा सार्थवाही **चुलणीपिय समणोवासय एव वयासी**—चुलनीपिता! श्रमणोपासक को इस प्रकार कहने लगी—**नो खलु केइ पुरिसे**—ऐसा कोई पुरुष नहीं था जिसने **तव**—तेरे **जाव**—यावत **कणीयस पुत्त**—कनिष्ठ पुत्र को **साओ गिहाओ नीणेइ**—अपने घर स निकाला हो **नीणेत्ता**—निकाल कर **तव अग्गओ घाएइ**—तुम्हारे सामने मारा हो **एस ण केइ पुरिसे**—यह किसी पुरुष ने **तव उवसग्ग करेइ**—तुझे उपसर्ग किया है **एस ण तुमे**—यह तुमने **विदरिसणे दिट्ठे**—मिथ्या घटना देखी है। **त ण तुम इयाणि**—इस लिए हे पुत्र! तुम्हारा **भग्गव्वए**—व्रत टूट गया है **भग्गनियमे**—नियम टूट गया है, **भग्गपोसहे**—पौषध भग्न हो गया है, **त ण तुम पुत्ता**—इस लिए तुम हे पुत्र! **एयस्स ठाणस्स आलोएहि**—इस भूल की आलोचना करो **जाव पडिवज्जाहि**—यावत आत्म विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

भावार्थ—तब भद्रा सार्थवाही चुलनीपिता श्रावक से बोली—'हे पुत्र! कोई भी पुरुष यावत तुम्हारे कनिष्ठ पुत्र को घर स नहीं लाया न तेरे सामने मारा है। यह

किसी ने तुझे उपसर्ग किया है। तू ने मिथ्या घटना देखी है। कषाय के उदय से चलित-चित्त होकर, तुम उस पुरुष को पकडने के लिए उठे, इससे तुम्हारा व्रत, नियम और पौषधोपवास टूट गया है। इस भूल के लिए आलोचना करो और प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि करो।"

टीका—चुलनीपिता का चिल्लाना सुनकर माता आई तो उसने सारी घटना कह सुनाई। माता ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—बेटा ! तेरे तीनो पुत्र आराम से सोए हुए हैं। तुम्हारे साथ कोई दुर्घटना नही हुई, तुझे भ्रम हुआ है। किसी मिथ्या-दृष्टि देव ने तेरे सामने यह भयकर दृश्य उपस्थित किया है। टीकाकार ने विदर्शन शब्द का अर्थ नीचे लिखे अनुसार किया है—

'एस णं तुमे विदरिसणे' एतच्च त्वया विदर्शनं—विरूपाकारं विभीषिकादि दृष्टं—अवलोकितमिति।

'भग्गव्वए त्ति' भग्नव्रतः—स्थूलप्राणातिपातविरतेर्भावतो भग्नत्वात्, तद्विनाशार्थं कोपेनोद्धावनात्, सापराधस्यापि व्रतविषयीकृतत्वात्, भग्ननियमः—कोपोदयेनोत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्नत्वात्, भग्नपौषधो—ऽव्यापारपौषधभङ्गत्वात्।

भग्गव्वए-भग्गपोसहे—माता ने पुन कहा—तुम क्रोध में आकर उस मायावी को पकडने के लिए उठे, इससे तुम्हारा व्रत, नियम और पौषधोवास टूट गया। यहाँ व्रत का अर्थ है—स्थूल प्राणातिपातविरमण रूप प्रथम व्रत। नियम का अर्थ है—उत्तर गुण। क्रोध आने के कारण उत्तर गुणो का भङ्ग हुआ और हिंसात्मक चेष्टा के कारण पौषधोपवास का भङ्ग हुआ। टीकाकार के नीचे लिखे शब्द हैं।

एयस्स त्ति—माता ने फिर कहा—हे चुलनीपिता ! तुम इस भूल के लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त करो। यहाँ मूल पाठ मे यावत् शब्द दिया गया है जिससे टीकाकार ने नीचे लिखी बातो का अनुसन्धान किया है।

'अलोएहि—आलोचय, गुरुभ्योनिवेदय'—अर्थात् गुरु के सामने अपनी भूल को निवेदन करो।

'पडिक्कमाहि-निवर्त्तस्व'—अर्थात् वापिस लौटो, भूल के समय तुम बहिर्मुख हो गए, इसलिए पुन आत्मा-चिन्तन में लीन हो जाओ।

'निन्दाहि—आत्मसाक्षिका कुत्सा कुरु'—आत्मा को साक्षी बना कर इस भूल की निन्दा करो मन म यह विचार करो कि मैंने बुरा काय किया है।

'गरिहाहि–गुरु साक्षिका कुत्सा विदेहि'—गुरु को साक्षी बना कर उस भूल की प्रकट रूप में निन्दा करो।

'विउट्टाहि–वित्रोटय तद्भावानुबन्धच्छेद विदेहि'—तुम्हारे मन मे उस काय के सम्बन्ध मे जो विचारधारा चल रही है उसे समाप्त कर दो तोड डालो।

'विसोहेहि–अतिचारमलक्षालनेन'—अतिचार अर्थात् दोषरूपी मल को धोकर अपनी आत्मा को शुद्ध करलो।

'अकरणयाए अब्भुटठेहि-तदकरणाम्युपगम कुरु'—पुन ऐसा न करने का सकल्प करो।

'अहारिह तवोकम्म पायच्छित्त पडिवज्जाहि–यथार्हं तप कम प्रायश्चित्त प्रतिपद्यस्व'—शुद्धि के लिए यथा-योग्य तपस्या तथा प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

कुछ लोगो का मत है कि श्रावक के लिए निशीथ सूत्र म प्रायश्चित्त का विधान नही है अत उसे इसकी आवश्यकता नही है। यह मान्यता ठीक नही है, क्योकि उपरोक्त पाठ म चुलनीपिता श्रावक को भी प्रायश्चित्त लेने का आदश किया गया है। यहा वत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—"एतेन च निशीथादिषु गहिण प्रति प्रायश्चित्तस्याप्रतिपादनान्न तेपा प्रायश्चित्तमस्तीति ये प्रतिपद्यन्ते, तन्मतमपास्त। साधूद्देशेन गहिणोऽपि प्रायश्चित्तस्य जीतव्यवहारानुपातित्वात।"

कुछ लोगो का मत है कि चुलनीपिता माता की रक्षा करने के लिए उठा इसी कारण उसका व्रत भङ्ग हो गया क्योकि साधु को छोड कर किसी अन्य प्राणी को बचाना पाप है। यह धारणा ठीक नही है। श्रावक के व्रतो मे यह स्पष्ट है कि उसे केवल निरापराध को मारने का त्याग होता है। अपराधी को दण्ड देने का त्याग नहीं होता। उपरोक्त मिथ्यात्वी दव अपराधी था। उसे पकडने और दण्ड देने के लिए उठने मे श्रावक का अहिंसा व्रत नही टूटता किन्तु चुलनीपिता पौषध मे था। उसने दो करण तीन योग से समस्त हिंसा का त्याग कर रखा था। माता या पुत्र ही नही अपने शरीर पर भी यदि कोई प्रहार करने आता है तो पौषधधारी को

शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय उसकी अवस्था एक साधु के समान होती है। इस से यह नहीं सिद्ध होता है कि खुली अवस्था में भी माता-पिता आदि की रक्षा करना पाप है। प्रायश्चित्त तो व्रत के भग्न होने के कारण से है, माता की रक्षा के लिए प्रायश्चित्त नहीं है।

चुलनीपिता द्वारा भूल स्वीकार और प्रायश्चित्त ग्रहण--

मूलम्---तए णं से चुलणीपिया समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्थवाहीए "तह" त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ ॥ १४५ ॥

छाया---ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकोऽम्बिकायाः तथेति एनमर्थं विनयेन प्रतिश्रृणोति, प्रतिश्रुत्य तस्य स्थानस्य आलोचयति, यावत्प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ---तए णं से चुलणीपिया समणोवासए-तदनन्तर उस चुलनीपिता श्रमणोपासक ने अम्मगाए एयमट्ठं---माता भद्रा सार्थवाही की इस बात को विणएणं पडिसुणेइ---विनयपूर्वक स्वीकार किया, पडिसुणेत्ता---स्वीकार करके तस्स ठाणस्स---उस भूल को आलोएइ---आलोचना की जाव पडिवज्जइ---यावत् प्रायश्चित्त अङ्गीकार किया।

भावार्थ---तब चुलनीपिता श्रावक ने माता की बात विनयपूर्वक स्वीकार की, और उस भूल की आलोचना की यावत् प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि की।

चुलनीपिता द्वारा प्रतिमा ग्रहण---

मूलम्---तए णं से चुलणीपिया समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ, पढमं उवासग-पडिमं अहासुत्तं जहा आणंदो जाव एक्कारसमं पि ॥ १४६ ॥

छाया---ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकः प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसम्पद्य-विहरति। प्रथमामुपासक-प्रतिमां यथा सूत्रं यथाऽऽनन्दो यावदेकादशीमपि।

शब्दार्थ—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए—तदन तर उस चुलनीपिता श्रमणोपासक ने पढम उवासग पडिम—प्रथम उपासक प्रतिमा को उवसपज्जित्ताण विहरइ—अङ्गीकार किया, पढम उवासग पडिम—प्रथम उपासक प्रतिमा को अहासुत्त—तथा सूत्र जहा आणदो—आनन्द के समान पालन किया, जाव एक्कारसमपि—यावत ग्यारहवी प्रतिमा का पालन किया।

भावार्थ—तदन तर चुलनीपिता ने श्रावक की पहली प्रतिमा स्वीकार की और आनन्द के समान यथा सूत्र पालन किया। इसी प्रकार क्रमश ग्यारहवी प्रतिमा स्वीकार की।

जीवन का उपसहार और भविष्य—

मूलम—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए तेण उरालेण जहा कामदेवो जाव सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिसगस्स महा विमाणस्स उत्तर पुरत्थिमेण अरुणप्पभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ ५। निक्खेवो ॥ १४७ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण तइय चुलणीपियाज्झयण समत्त ॥

छाया—तत खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेनोदारेण यथा कामदेवो याव त्सौधर्मे कल्पे सौधर्मावतसकस्योत्तरपौरस्त्येऽरुणप्रभे विमाने देवतयोपपन्न। चत्वारि पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता। महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेप ॥

शब्दार्थ—तए ण से चुलणीपिया समणोवासए—तदन तर वह चुलनीपिता श्रमणोपासक तेण उरालेण—उग्र तपश्चरण द्वारा जहा कामदेवो—कामदेव के समान जाव—यावत अ त म सोहम्मे कप्पे—सौधम कल्प म सोहम्मवडिसगस्स—सौधर्मावतसक के उत्तरपुरत्थिमेण—उत्तर पूव—ईशानकोण मे अरुणप्पभे विमाणे—अरुणप्रभ विमान म देवत्ताए उववन्ने—दव रूप मे उत्पन्न हुआ चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता—वहाँ उसकी चार पल्योपम की स्थिति प्रतिपादन की गई है। महाविदेहे वासे—वह चुलनीपिता दव महाविदह क्षेत्र म जन्म लेकर सिज्झिहिइ—सिद्ध होगा।

भावार्थ—कामदेव की भाँति चुलनीपिता भी कठोर तपश्चरण द्वारा सौधर्म कल्प, सौधर्मावतसक के उत्तरपूर्व ईशान कोण मे स्थित अरुणप्रभ विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी चार पल्योपम आयु है। वह भी महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा।

टीका—उपरोक्त तीन सूत्रो मे चुलनीपिता अध्ययन का उपसहार है। माता के कथनानुसार उसने आलोचना, प्रायश्चित्त आदि द्वारा आत्मशुद्धि की। तत्पश्चात् ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की। सलेखना द्वारा शरीर का परित्याग करके सौधर्म देवलोक के अरुणप्रभ विमान में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यव कर वह देव महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और मोक्ष प्राप्त करेगा। निक्षेप—उपसहार पूर्व की भाँति ही जान लेना चाहिए।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशासूत्र का तृतीय चुलनीपिता अध्ययन समाप्त ॥

चउत्थमज्झयणं

चतुर्थ अध्ययन

मूलम्—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। सुरादेवे गाहावई अड्ढे। छ हिरण्ण-कोडीओ जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं। धन्ना भारिया। सामी समोसढे। जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं। जहा कामदेवो जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १४८ ॥

छाया—उपक्षेपकश्चतुर्थस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बूः ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाराणसी नाम नगरी, कोष्ठकश्चैत्यः। जितशत्रू राजा, सुरादेवो गाथापतिः आढ्यः। षड् हिरण्यकोटयो यावत् षड् व्रजा दसगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन, धन्या भार्या, स्वामी समवसृतः, यथाऽऽनन्दस्तथैव प्रतिपद्यते गृहिधर्मम्। यथा कामदेवो यावत्—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स—तृतीय अध्ययन की भान्ति ही अब चतुर्थ अध्ययन का आरम्भ होता है—इस अध्ययन के प्रारम्भ मे भी जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया और सुधर्मास्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—एवं खलु जम्बू !—हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय वाणारसी नामं नयरी वाराणसी नामक नगरी थी, कोट्ठए चेइए—कोष्ठक नाम का चैत्य था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था, सुरादेवे गाहावई—वहाँ सुरादेव नामक गाथापति रहता था, अड्ढे—वह समृद्ध था, छ हिरण्ण कोडिओ—उसके पास छ करोड़ मोहरे कोष मे थी, छः करोड व्यापार में लगी हुई थी और छः करोड घर तथा सामान मे थी, छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक व्रज मे दस हजार के हिसाव से छ व्रज

अर्थात् ६० हजार गाएँ थी धन्ना भारिया–धन्या नाम की भार्या थी, सामी समोसढे–भगवान महावीर स्वामी समवसृत हुए, जहा आणदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं–आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया जहा कामदेवो—कामदेव के समान जाव– यावत् समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिय—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के समीप स्वीकृत धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—धर्मप्रज्ञप्ति का ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—अब चतुर्थ अध्ययन का आरम्भ होता है। सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी के उत्तर में इस प्रकार कहते हैं कि हे जम्बू! उस काल और उस ही समय वाराणसी नाम की नगरी थी। वहा कोष्ठक नामक चैत्य था। जितशत्रु राजा था। सुरादेव गाथापति था जो अतीव समृद्ध था। उसकी धन्या नाम की पत्नी थी उसके पास छ करोड सुवर्ण कोष मे जमा थे, छ करोड व्यापार में लगे हुए थे और छ करोड सामान में। प्रत्येक व्रज मे दस हजार गायो के हिसाब से ऐसे छ व्रज थे अर्थात् ६० हजार पशु धन था। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान महावीर वाराणसी आए और कोष्ठक उद्यान मे ठहर गए। सुरादेव भी आनन्द के समान दर्शनार्थ आया और गृहस्थधर्म स्वीकार करके उसका पालन करने लगा। समय बीतने पर उसने भी कामदेव के समान पौषधोपवास किया और भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मप्रज्ञप्ति के अनुसार जीवन बिताने लगा।

पिशाच का उपद्रव—

मूलम्—तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त काल-समयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था, से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय सुरादेवं समणोवासयं एवं वयासी—"हंभो सुरादेवा समणोवासया! अपत्थियपत्थया! ४, जइ णं तुमं सीलाइं जाव न भंजेसि, तो ते जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता पंच सोल्लए करेमि, करित्ता आदाण भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गाय

मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहाणं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।" एवं मज्झिमयं, कणीयसं; एक्के-क्के पंच सोल्लया। तहेव करेइ, जहा चुलणीपियस्स; नवरं एक्के-क्के पंच सोल्लया ॥ १४६ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सुरादेवस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्र कालसमये एको देवोऽन्तिकं प्रादुरभूत्, स देव एकं महान्तं नीलोत्पल यावदसिं गृहीत्वा सुरादेवं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हंभोः ! सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित प्रार्थक ! यदि खलु त्वं शीलानि यावन्न भनक्षि तर्हि ते ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा पञ्च शूल्यकानि करोमि, कृत्वा, आदहनभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे। एवं मध्यमक, कनीयांसम्, एकैकस्मिन् पञ्च शूल्यकानि तथैव करोति यथा चुलनीपितुः। नवरमेकैकस्मिन् पञ्च शूल्यकानि।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स—उस सुरादेव श्रमणोपासक के अंतियं—पास पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि—अर्धरात्रि के समय एगे देवे पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ, से देवे—वह देव एगं महं—एक बडी नील्लुप्पल जाव असिं गहाय—नील कमल के समान यावत् तलवार लेकर सुरादेवं—समणोवासयं—सुरादेव श्रमणोपासक से एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हंभो सुरादेवा समणोवासया !—अरे सुरादेव श्रमणोपासक ! अपत्थियपत्थया !—अनिष्ट को चाहने वाले ! जइणं—यदि तुमं—तू सीलाइं जाव न भंजेसि—शीलादि व्रतो को यावत् नही छोड़ेगा तो ते जेट्ठं पुत्तं—तो तेरे वडे पुत्र को साओ गिहाओ नीणेमि—अपने घर से लाता हूँ नीणित्ता—लाकर तव अग्गओ घाएमि—तुम्हारे सामने मारता हूँ, घाएत्ता—मारकर पंच सोल्लए करेमि—पाँच टुकडे करूँगा करित्ता—करके आदाण भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि—तेल से भरे हुए कडाह मे तलता हूँ अद्दहित्ता—तलकर तव गायं—तेरे शरीर को मंसेण य—मांस और सोणीएण य—रुधिर से आयंचामि—छीटूंगा जहाणं तुमं—जिससे तू अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि—अकाल मे ही मृत्यु को प्राप्त होगा। एवं मज्झिमयं कणीयसं—इस प्रकार मझले तथा कनिष्ठ पुत्र के एक्के-क्के पंच सोल्लया—एक-एक के पाँच-पाँच मास खण्ड

तहेव करेइ—उसी प्रकार किए, जहा—जसे चुलनीपिता के। नवर एक्केक्के पच सोल्लया—इतना ही भेद है यहा एक एक के पाच पाँच मास खण्ड किए।

भावार्थ—सुरादेव श्रमणोपासक के पास अधरात्रि के समय एक दव हाथ म नीली तलवार लेकर बोला—'अरे सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अनिष्ट के कामी ! यदि तू शीलादि व्रतो का त्याग नही करता तो मैं तेर बडे पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारता हूँ। उसके शरीर के पाच टुकड करके तेल से भरे हुए कडाहे मे तलता हूँ तथा तरे शरीर को उस के मास और रुधिर से छीटू गा जिससे तू अकाल मे ही जीवन से रहित हो जाएगा !" यावत पिशाच ने वसा ही किया। इसी प्रकार मझले तथा कनिष्ठ पुत्र के साथ किया। चुलनीपिता के समान उनके शरीर के टुकडे किए। विशेष बात यही है कि यहा पर एक एक के पाच पाँच टुकडे किए हैं।

सुरादेव के शरीर में १६ रोग उत्पन्न करने की धमकी—

मूलम्—तए ण से देवे सुरादेव समणोवासय चउत्थ पि एव वयासी—"हंभो ! सुरादेवा समणोवासया ! अपत्थियपत्थया ४ ! जाव न परिच्चयसि, तो ते अज्ज सरीरसि जमग समगमेव सोलस रोगायके पक्खिवामि, त जहा—सासे, कासे जाव कोढे, जहा ण तुम अट्ट-दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि" ॥ १५० ॥

छाया—तत खलु स देव सुरादेव श्रमणोपासक चतुर्थमप्येवमवादीत—"हंभो ! सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित प्रार्थक ! यावन्नपरित्यजसि तर्हि तेऽद्य शरीरे यमक समकमेव षोडश रोगातङ्कान प्रक्षिपामि, तद्यथा-श्वास, कासो यावत्कुष्टम, यथा खलु त्वमार्त्त दु खार्त्त यावद्व्यपरोपयिष्यसे।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से देवे—वह देव सुरादेव समणोवासय—सुरादेव श्रमणोपासक को चउत्थपि एव वयासी—चौथी बार भी इस प्रकार कहने लगा—हंभो सुरादेवा ! समणोवासया !—अरे सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अपत्थियपत्थया—अनिष्ट की कामना करने वाले जाव—यावत न परिच्चयसि—यदि शीलादि व्रतो का

नही छोडता तो ते—तो तेरे **अज्ज सरीरंसि**—शरीर मे आज **जमगसमगमेव सोलस**—एक साथ ही सोलह **रोगायंके पक्खिवामि**—रोग और आतक को डालता हूँ, **तं जहा**—जैसे कि **सासे कासे**—श्वास, खाँसी **जाव**—यावत् **कोढे**—कोढ। **जहा णं तुमं**—जिससे तू **अट्ट दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि**—आर्त्त, दु खी तथा विवश होता हुआ यावत् अकाल में मारा जाएगा।

भावार्थ—तदनन्तर वह देव सुरादेव श्रमणोपासक को चौथी वार इस प्रकार कहने लगा—"अरे सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अनिष्ट के कामी ! यावत् यदि तू शीलादि व्रतो को भग नही करेगा तो आज तेरे शरीर मे एक साथ सोलह रोगो को डालता हूँ जैसे श्वास, खाँसी यावत् कोढ जिससे तू आर्त्त, दु खी, विवश होकर अकाल मे ही मर जाएगा।"

मूलम्—तए णं से सुरादेवे समणोवासए जाव विहरइ। एवं देवो दोच्चंपि तच्चंपि भणइ, जाव ववरोविज्जसि ॥ १५१ ॥

छाया—तत खलु स सुरादेवः श्रमणोपासको यावद्विहरति। एवं देवो द्वितीयमपि तृतीयमपि भणति, यावद् व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—**तए णं से सुरादेवे समणोवासए**—तदनन्तर वह सुरादेव श्रमणोपासक **जाव विहरइ**—यावत् धर्म-ध्यान में स्थिर रहा **एवं देवो दोच्चपि तच्चंपि**—देव ने दूसरी और तीसरी वार उसी प्रकार **भणइ**—कहा **ववरोविज्जसि**—यावत् मारा जाएगा।

भावार्थ—सुरादेव श्रमणोपासक फिर भी धर्म ध्यान मे स्थिर रहा। देव ने दूसरी और तीसरी वार भी उसी प्रकार कहा—यावत् मारा जाएगा।

सुरादेव का विचलित होना और पिशाच को पकड़ने का प्रयत्न—

मूलम्—तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स, इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—"अहो णं इमे

पुरिसे अणारिए जाव समायरइ, जेण मम जेट्ठं पुत्तं जाव कणीयसं जाव आयचइ, जे वि य इमे सोलस रोगायंका, ते वि य इच्छइ मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए, तं सेयं खलु मम एयं पुरिसं गिण्हित्तए" त्तिकट्टु उद्धाइए। से वि य आगासे उप्पइए। तेण य खम्भे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए ॥१५२॥

छाया—ततः खलु तस्य सुरादेवस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४—"अहो खल्वयं पुरुषोऽनार्यो यावत् समाचरति येन मम ज्येष्ठं पुत्रं यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चति येऽपि इमे षोडश रोगातङ्कास्तानपि चेच्छति मम शरीरे प्रक्षेप्तुं, तच्छ्रेयः खलु ममैतं पुरुषं ग्रहीतुम्" इति कृत्वोत्थितः, सोऽपि चाऽऽकाशे उत्पतितः तेन च स्तम्भ आसादितः, महता महता शब्देन कोलाहलः कृतः।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स—उस सुरादेव श्रमणोपासक को तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स—उस देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार कहने पर इमेयारूवे—इस प्रकार अज्झत्थिए—विचार उत्पन्न हुआ। अहो णं—अहा! इमे पुरिसे—यह पुरुष अणारिए—अनार्य जाव—यावत् समायरइ—(अनार्य कर्मों का) आचरण करता है जेणं मम जेट्ठं पुत्तं—जिसने मेरे बड़े पुत्र जाव—यावत् कणीयसं—कनिष्ठ पुत्र के जाव आयचइ—रुधिरादि से सींचा जे वि य इमे सोलस रोगायंका—तथा जो ये सोलह रोगातंक हैं ते वि य इच्छइ—उनको भी यह चाहता है मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए—मेरे शरीर में डालना। तं सेयं खलु—तो उचित होगा ममं—मुझे एयं पुरिसं—इस पुरुष को पकड़ लेना त्ति कट्टु उद्धाइए—ऐसा विचार करके (उस देव को पकड़ने के लिए) उठा से वि य आगासे उप्पइए—वह पुरुष आकाश में उड़ गया तेण य खंभे आसाइए—सुरादेव ने खंभे को पकड़ लिया महया महया सद्देणं कोलाहले कए—और जोर जोर से कोलाहल करने लगा।

भावार्थ—सुरादेव उस देव के द्वारा दूसरी तीसरी बार ऐसा कहने पर सोचने लगा— अहो! यह पुरुष अनार्य है अनार्य कर्मों का आचरण करता है। इसने मेरे

वड़े तथा छोटे पुत्र को मार कर मेरे शरीर को उनके रुधिर से छीटे दिए हैं। अब यह श्वास, खाँसी तथा कोढादि सोलह रोगो को मेरे शरीर मे डालना चाहता है। अत. इसको पकड लेना ही उचित है।" यह विचार कर देव को पकड़ने के लिए उठा। परन्तु देव आकाश मे उड गया, उसने एक स्तम्भ पकड और जोर-जोर से चिल्लाने लगा।

टीका—जव देव पुत्रो की हत्या करके भी सुरादेव को विचलित नही कर सका तो उसने पुन प्रयत्न किया और सुरादेव के शरीर मे सोलह भयकर रोग डालने की धमकी दी। इस पर वह विचलित हो गया और देव को पकडने के लिए उठा।

सूत्र मे **'यमगं-समगं'** शब्द आया है। यह सस्कृत के 'यम' और 'सम' शब्दो के साथ 'क' प्रत्यय लगाने पर वना है। इसका अर्थ है 'एक साथ'।

प्राचीन समय मे सोलह भयकर रोग प्रचलित थे इनका वर्णन आगमो एव प्रकरण ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलता है वह इस प्रकार है—

१ श्वास—दमा।
२ कास—खाँसी।
३ ज्वर—वुखार।
४ दाह—पित्त-ज्वर अर्थात् शरीर मे जलन।
५ कुक्षी—कमर मे पीडा।
६ शूल—पेट मे रह-रह कर दर्द उठना।
७. भगन्दर—गुदा पर फोडा।
८ अर्श—ववासीर।
९ अजीर्ण—वदहजमी—खाना न पचना।
१० दृष्टि-रोग—नजर का फटना आदि आँख की वीमारी।
११. मस्तक-शूल—सिर दर्द।
१२ अरुची—भूख न लगना।
१३ अक्षि-वेदना—आख का दुखना।
१४. कर्ण-वेदना—कानो के रोग, दुखना आदि।

१४ कण्डू—खुजली।
१५ उदर रोग—पेट की बिमारी।
१६ और कुष्ट—कोढ।

पत्नी द्वारा धर्म में पुनः संस्थापन—

मूलम्—तए णं सा धन्ना भारिया कोलाहलं सोच्चा निसम्म, जेणेव सुरादेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता एवं वयासी—"किण्णं देवाणुप्पिया! तुब्भेहिं महया महया सद्देण कोलाहले कए?" ॥ १५३ ॥

छाया—ततः खलु सा धन्या भार्या कोलाहलं श्रुत्वा निशम्य, येनैव सुरादेवः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्यैवमवादीत—"किं खलु देवानुप्रिया! युष्माभिर्महता महता शब्देन कोलाहलः कृतः।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर सा धन्ना भारिया—वह धन्या भार्या कोलाहलं—कोलाहल सोच्चा—सुन करके, निसम्म—विचार कर के जेणेव सुरादेवे—जहां सुरादेव समणोवासए—श्रमणोपासक था तेणेव उवागच्छइ—वहां आई उवागच्छित्ता—आकर एवं वयासी—इस प्रकार बोली किण्णं—क्या देवाणुप्पिया—देवानुप्रिय! तुब्भेहिं महया महया सद्देण कोलाहले—तुमने जोर जोर से कोलाहल कए? किया?

भावार्थ—सुरादेव की धन्या नाम की पत्नी कोलाहल सुनकर वह आई और बोली—हे देवानुप्रिय—क्या तुम चिल्लाए थे?

मूलम्—तए णं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिए! के वि पुरिसे तहेव जहा चुलणीपिया। धन्ना वि पडिभणइ, जाव कणीयसं। नो खलु देवाणुप्पिया! तुब्भं के वि पुरिसे सरीरंसि जमग समगं सोलस रोगायंके पक्खिवइ, एस णं के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ।" सेसं जहा चुलणीपियस्स तहा भणइ, एवं

सेसं जहा चुलणीपियस्स निरवसेसं जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकंते कप्पे विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइ ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ निक्खेवो ॥ १५४ ॥

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं चउत्थं सुरादेवज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु स सुरादेवः श्रमणोपासको धन्यां भार्यामेवमवादीत्–"एवं खलु देवानुप्रिये ! कोऽपि पुरुषस्तथैव कथयति यथा चुलनीपिता।" धन्यापि प्रतिभणति, यावत्कनीयांसं, "नो खलु देवानुप्रियाः ! युष्माकं कोऽपि पुरुषः शरीरे यमक-समकं षोड्श रोगातङ्कान् प्रक्षिपति, एवं खलु कोऽपि पुरुषो युष्माकपुपसर्ग करोति", शेषं यथा चुलनीपितरि भद्रा भणति। एवं निरविशेषं यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणकान्ते विमाने उपपन्नः। चत्वारि पल्योपमानि स्थिति. महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेपः।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से सुरादेवे**—वह सुरादेव **समणोवासए**—श्रमणोपासक **धन्नं भारियं**—(अपनी) धन्या पत्नी से **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला। **एवं खलु देवाणुप्पिए !**—हे देवाप्रिये ! इस प्रकार **के वि पुरिसे**—कोई पुरुष **तहेव कहेइ जहा चुलणीपिया**—सब वृतान्त उसी प्रकार कहा जैसे चुलनीपिता ने कहा था, **धन्ना वि पडिभणइ**—धन्या ने भी उसी प्रकार उत्तर दिया, (भद्रा के समान) **जाव**—यावत् **कणीयसं**—कनिष्ठ पुत्रादि (सब घर पर कुशल हैं) **नो खलु देवाणुप्पिया**—निश्चय ही हे देवानुप्रिय ! **केवि पुरिसे**—कोई पुरुप **तुब्भं**—तुम्हारे **सरीरंसि**—शरीर में **जमग समगं**—एक साथ ही **सोलस रोगायंके पक्खिवइ**—सोलह रोगातङ्क डालता। (ऐसा कोई पुरुष नही है) **एस णं के वि पुरिसे तुब्भं**—य किसी पुरुप ने तुम्हारे साथ **उवसग्गं करेइ**—उपसर्ग किया है। **सेसं जहा चुलणीपियस्स भद्दा भणइ**—शेप जैसे चुलनीपिता को भद्रा माता ने कहा था वैसे कहा, **एवं निरवसेसं**—इस प्रकार निरविशेप **जाव**—यावत् **सोहम्मे कप्पे**—सौधर्म कल्प मे **अरुणपकंते कप्पे**—अरुणकात कल्प **विमाणे उववन्ने**—विमान में वह उत्पन्न हुआ, **चत्तारि पलिओवमाइं ठिई**—वहां पर सुरादेव की चार पल्योपम स्थिति है, **महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ**—महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा। **निक्खेवो**—निक्षेप।

भावार्थ—सुरादेव ने अपनी भार्या धन्या को कहा—हे देवानुप्रिये ! निश्चय ही यहाँ कोई पुरुष आया। और सब वृत्तान्त उसी प्रकार कहा, जैसे चुलनीपिता ने अपनी भद्रा माता को कहा था। धन्ना भार्या ने भी सुरादेव को कहा—कि तेरे कनिष्ठ पुत्रादि सब सकुशल हैं। तुम्हारे शरीर में एक साथ सोलह रोग डालने का किसी पुरुष ने उपसर्ग किया है। शेष चुलनीपिता की माता भद्रा के समान कहा ! इस प्रकार यावत सुरादेव भी सौधर्म-कल्प में अरुणकान्त विमान में उत्पन्न हुआ। वहाँ पर इस की चार पल्योपम स्थिति है और वह भी महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप—पूर्ववत जान लेना चाहिए।

।। सप्तम अङ्ग उपासकदशा सूत्र का चतुर्थ सुरादेव अध्ययन समाप्त ।।

पंचमज्झयणं

पंचम अध्ययन

मूलम्—उक्खेवो पञ्चमस्स अज्झयणस्स एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया नामं नयरी। संखवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया। चुल्लसए गाहावई अड्ढे जाव छ हिरण्ण-कोडीओ जाव छ वया दसगोसा-हस्सिएणं वएणं। बहुला भारिया। सामी समोसढे। जहा आणन्दो तहा गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। सेसं जहा कामदेवो जाव धम्मपण्णत्ति उवसं-पज्जित्ताणं विहरइ ॥ १५५ ॥

छाया—उपक्षेपः पञ्चमस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये आलभिका नाम नगरी, शङ्खवनमुद्यानम् जितशत्रू राजा, चुल्लशतको गाथा-पतिराढ्यो षड् हिरण्यकोटयो यावत् षड् व्रजा दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन। बहुला भार्या। स्वामी समवसृतः, यथाऽऽनन्दस्तथा गृहिधर्मं प्रतिपद्यते। शेषं यथा कामदेवो यावद् धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—उवखेवो पंचमस्स अज्झयणस्स—पाँचवे चुल्लशतक अध्ययन का उपक्षेप, जम्बूस्वामी ने प्रश्न किया और सुधर्मा स्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—एवं खलु जम्बू—हे जम्बू ! इस प्रकार तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और समय आल-भिया नामं नयरी—आलभिका नाम की नगरी, संखवणे उज्जाणे—शखवन उद्यान, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा चुल्लसए गाहावई—और चुल्लशतक गाथापति था, अड्ढे जाव—वह समृद्ध यावत् अपरिभूत था, छ हिरण्ण कोडीओ—छः करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे थी, छ करोड व्यापार में लगी हुई थी, और छः करोड़ घर तथा सामान में लगी हुई थी। जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—यावत् प्रत्येक व्रज में दस हजार गायो के हिसाव से छ व्रज अर्थात् ६० हजार गाएँ थी। वहुला

भारिया—बहुला भार्या थी सामी समोसढे—भगवान् महावीर समवसत हुए, जहा आणदो तहा गिहिधम्म पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गहस्थ धम को स्वीकार किया सेस जहा कामदेवो—शेष कामदेव के समान है जाव धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ—यावत धमप्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा।

भावाथ—सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर मे इस प्रकार कहा—हे जम्बू ! उस काल उस समय आलभिका नाम की नगरी थी। वहा शखवन उद्यान था जितशत्रु राजा राज्य करता था और चुल्लशतक नामा गाथापति था वह अति समद्ध यावत अपरिभूत था। उसकी छ करोड सुवण मुद्राएँ कोष म थी, छ करोड व्यापार मे लगी हुई थी और छ करोड घर तथा सामान मे। दस हजार गायो के प्रत्येक व्रज के हिसाब से छ व्रज अर्थात् ६० हजार पशु धन था। बहुला भार्या थी। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान महावीर वहा आलभिका नगरी में पधारे। आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धम को स्वीकार किया। यावत कामदेव के समान धमप्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा।

पिशाच का उपद्रव—

मूलम—तए ण तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त काल-समयसि एगे देवे अतिय जाव असि गहाय एव वयासी—"हभो ! चुल्ल सयगा समणोवासया ! जाव न भजसि तो ते अज्ज जेटठ पुत्त साओ गिहाओ नीणेमि। एव जहा चुलणीपिय, नवर एक्के क्के सत्त मससोल्लया जाव कणीयस जाव आयचामि" ॥ १५६ ॥

तए ण से चुल्लसयए समणोवासए जाव विहरइ ॥ १५७ ॥

छाया—तत खलु तस्य चुल्लशतकस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्र काल समये एको देवोऽन्तिक यावदसि गृहीत्वैवमवादीत—"हभो चुल्लशतक ! श्रमणोपासक ! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य ज्येष्ठ पुत्र स्वस्माद गहान्निणयामि, एव यथा चुलनीपितर, नवरमेकैकस्मिन सप्त मासशूल्यकानि यावत्कनीयास यावदासिञ्चामि।

तत खलु स चुल्लशतक श्रमणोपासको यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स—उस चुल्लशतक श्रमणोपासक के पास अंतियं पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि—अर्धरात्रि में एगे देवे—एक देवता जाव असिं गहाय—यावत् तलवार (हाथ मे) एवं वयासी—इस प्रकार वोला—हंभो चुल्लसयगा समणोवासया!—अरे चुल्लशतक श्रमणोपासक! जाव न भंजसि—यावत् तू यदि शीलादि व्रतो को नही छोड़ेगा तो ते—तो तेरे अज्ज जेट्ठं पुत्तं—आज तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को साओ गिहाओ—अपने घर से नीणेमि—निकाल लाता हूँ एवं जहा चुलणीपियं—इस प्रकार चुलनीपिता के समान (करता है) नवरं एक्के-क्के सत्त मसं सोल्लया—विशेष यही है कि यहाँ एक २ के सात २ मास खड किए, जाव कणीयसं जाव आयंचामि—यावत् कनिष्ठ पुत्र के रुधिर और मास से छीटूं गा।

तए णं से चुल्लसयए समणोवासए—तदनन्तर चुल्लशतक श्रमणोपासक जाव—यावत् विहरइ—शान्त एव ध्यान मे स्थिर रहा।

भावार्थ—चुल्लशतक श्रमणोपासक के पास अर्धरात्रि के समय एक देव हाथ में तलवार लेकर आया। और कहने लगा—अरे चुल्लशतक श्रमणोपासक! यदि तू शीलादि व्रतो को नही छोडेगा तो मैं तेरे ज्येष्ठ पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारूँगा। इस प्रकार चुलनीपिता के समान कहा। विशेष यही है कि यहा पर एक-एक के सात-सात टुकडे—माँस खड करने को कहा यावत् कनिष्ठ के रुधिर और मास से छीटे दूंगा।

चुल्लशतक फिर भी शान्त एवं ध्यानावस्थित रहा।

मूलम्—तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी—"हं भो! चुल्लसयगा समणोवासया! जाव न भंजसि तो ते अज्ज जाओ इमाओ छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर पउत्ताओ, ताओ साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव पहेसु सव्वओ समंता विप्पइरामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि" ॥ १५८ ॥

छाया—तत खलु स देवश्चुल्लशतक श्रमणोपासक चतुर्थमप्येवमवादीत—"हंभो चुल्लशतक ! श्रमणोपासक ! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य या इमा षड हिरण्य-कोटयो निधान प्रयुक्ता, षड वृद्धि प्रयुक्ता षड प्रविस्तर प्रयुक्तास्ता स्वस्माद गृहान्नयामि, नीत्वाऽऽलभिकाया नगर्यां शृङ्गाटक यावत्पथेषु सवत समन्ताद विप्रकिरामि यथा खलु त्वमार्त्तो वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे ।

भावार्थ—तए ण से देव—तदनन्तर वह देव चुल्लसयग समणोवासय—चुल्लशक्त श्रमणोपासक को चउत्थ पि—चतुर्थ बार एव वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हंभो चुल्लसयगा ! समणोवासया !—अरे ! चुल्लशतक ! श्रमणोपासक ! जाव न भजसि—यावत यदि तू शीलादि व्रतो का त्याग नही करता तो ते अज्ज—तो तुम्हारी जाओ इमाओ—जो यह छ हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ छ वुड्ढिपउत्ताओ, छ पवित्थर पउत्ताओ—छ करोड मुद्राएँ कोष म हैं छ करोड व्यापार म लगी हुई हैं और छ करोड गह तथा उपकरणा मे लगी हुई हैं ताओ साओ गिहाओ नीणेमि—उन को घर से लाता हूँ नीणेत्ता—लाकर आलभियाए नयरीए—आलभिका नगरी मे सिंघाडग जाव पहेसु—शङ्गाटक तथा यावत मार्गो म सव्वओ समता विप्पइरामि—चारा ओर विखेर दूगा । जहा ण तुम—जिस से तू अट्ट दुहट्ट वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ—जिससे तू अत्य त चिन्तामग्न तथा विवश हो कर अकाले म ही जीवन से ववरोविज्जसि—पथक हो जाएगा ।

भावार्थ—देव ने चुल्लशतक श्रमणोपासक को चौथी बार कहा—हे चुल्लशतक ! यदि तू शीलादि व्रतो को भग नही करता तो यह जो तेरे छ करोड सुवण मुद्राएँ कोष मे हैं छ करोड व्यापार मे लगी हुई हैं तथा छ करोड गह तथा उपकरणो मे लगी हैं उन सबको चौराहा पर बिखेर दूगा जिससे तू चि तामग्न तथा दुखी होकर अकाल मे ही मत्यु को प्राप्त करेगा ।

मूलम्—तए ण से चुल्लसयए समणोवासए तेण देवेण एव वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १५६ ॥

छाया—ततः खलु स चुल्लशतकः श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं से चुल्लसयए समणोवासए—तदनन्तर वह चुल्लशतक श्रमणोपासक तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे उस देव के इस प्रकार कहने पर भी अभीए जाव विहरइ—निर्भय यावत् ध्यान में स्थिर रहा ।

भावार्थ—चुल्लशतक देव द्वारा इस प्रकार कहने पर भी ध्यान मे स्थिर रहा ।

मूलम्—तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि भणइ, जाव ववरोविज्जसि ॥ १६० ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुल्लशतकं श्रमणोपासकमभीतं यावद् दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि तथैव भणति यावद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं—तदनन्तर वह देव चुल्लशतक श्रमणोपासक को अभीयं जाव पासित्ता—निर्भय यावत् देख कर दोच्चं पि तच्चं पि तहेव भणइ—द्वितीय तथा तृतीय वार उसी तरह कहा जाव ववरोविज्जसि—यावत् मारा जाए गा ।

भावार्थ—देव ने चुल्लशतक को निर्भय यावत् ध्यान स्थिर देख कर दूसरी तथा तीसरी वार उसी प्रकार कहा—यावत् मारा जाएगा ।

चुल्लशतक का विचलित होना और पत्नी द्वारा समाश्वासन—

मूलम्—तए णं चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए ४—"अहो णं इमे पुरिसे अणारिए जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ, जाव कणीयसं जाव आयंचइ, जाओ वि य णं इमाओ ममं छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ

छ वुड्ढि पउत्ताओ छ पवित्थर पउत्ताओ, ताओ वि य ण इच्छइ मम साओ गिहाओ नीणेत्ता, आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव विप्पइरित्तए त सेय खलु मम एय पुरिस गिण्हित्तए" त्ति कट्टु उद्धाइए, जहा सुरादेवो । तहेव भारिया पुच्छइ, तहेव कहेइ ॥ १६१ ॥

छाया—तत खलु तस्य चुल्लशतकस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिक ४—"अहो ! खल्वय पुरुषोऽनार्यो यथा चुलनीपिता तथा चिन्तयति, यावत्कनीयास यावदासिञ्चति, या अपि च खलु इमा मम षड हिरण्यकोटयो निधानप्रयुक्ता षड वृद्धिप्रयुक्ता, षड प्रविस्तरप्रयुक्तास्ता अपि च खलु इच्छति मम स्वस्माद् गृहान्नीत्वाऽलभिकाया नगर्या शृङ्गाटक यावद विप्रकिरितु तच्छ्रेय खलु ममन पुरुष ग्रहीतुमिति" कृत्वोत्थितो यथा सुरादेव । तथव भार्या पच्छति तथव कथयति ।

शब्दार्थ—तए ण तस्स चुल्लसयस्स समणोवासयस्स—तदन तर उस चुल्लशतक श्रमणोपासक को तेण देवेण दोच्चपि तच्चपि एव वुत्तस्स समाणस्स—देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार इस प्रकार कहा जाने पर अयमेयारूवे अज्झत्थिए—इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए-अहो ण इमे पुरिसे अणारिए—अहो ! यह पुरुष अनाय है, जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ—चुलनीपिता के समान वह भी विचार करने लगा जाव कणीयस जाव आयचइ—यावत् कनिष्ठ पुत्र के खून से भी मुझे सींचा जाओ वि य ण-और जो यह मम-मेरी छहिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ छ वुड्ढिपउत्ताओ छ पवित्थर पउत्ताओ—छ करोड सुवण मुद्राएँ कोष म हैं छ करोड व्यापार मे लगी हुई हैं और छ करोड गह तथा उपकरणो में लगी हुई हैं ताओ वि य ण इच्छइ मम साओ गिहाओ णीणेत्ता—उन सबको भी यह मेरे घर से निकाल कर आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव विप्पइरित्तए—आलभिका नगरी मे चौराहा पर यावत बिखेरना चाहता है त सेय खलु मम इम पुरिस गिण्हित्तए—तो मेरे लिए यही उचित है कि इस पुरुष को पकड लूँ त्ति कट्टु—ऐसा विचार करके उद्धाइए—उठा जहा सुरादेवो—सुरादव के समान (उसके साथ भी हुआ) तहेव भारिया पुच्छइ—उसी प्रकार से पत्नी ने पूछा तहेव कहेइ—उसने भी उसी प्रकार उत्तर दिया ।

भावार्थ—चुल्लशतक देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी वार कहे जाने पर सोचने लगा—"यावत् यह पुरुष अनार्य है। यावत् इसने मेरे कनिष्ठ पुत्र को मार कर मेरे शरीर को रुधिर और मास मे सीचा है ! और अब मेरी जो छः करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे हैं, छः करोड व्यापार मे लगी हुई हैं और छ करोड़ घर तथा सामान मे लगी हुई हैं, आज यह उन्हे भी चौराहों पर विखेरना चाहता है। अत. इसको पकड लेना ही उचित है।" यह सोच कर उसने भी सुरादेव की भाँति किया, उसकी भार्या ने उसी प्रकार उससे कोलाहल का कारण पूछा। उसने भी सव वृतान्त उसी प्रकार अपनी पत्नी को कहा।

उपसंहार—

मूलम्—सेसं जहा चुलणीपियस्स जाव सोहम्मे कप्पे अरुणसिट्ठे विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। सेसं तहेव जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवो ॥ १६२ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं पञ्चमंचुल्लसकयज्झयणं समत्तं ॥

छाया—शेषं यथा चुलनीपितुर्यावत्सौधर्म्मे कल्पेऽरुणश्रेष्ठे विमाने उत्पन्नः। चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः, शेषं तथैव यावन्महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेपः।

भावार्थ—सेसं जहा चुलणीपियस्स जाव सोहम्मे कप्पे—शेष सव चुलनीपिता के समान है यावत् सौधर्म-कल्प मे अरुणसिट्ठे विमाणे उववन्ने—अरुणश्रेष्ठ नामक विमान में उत्पन्न हुआ चत्तारि पलिओवमाइं ठिई—(वहाँ उसकी भी) चार पल्योपम स्थिति है सेसं तहेव—शेष पूर्ववत् है जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—यावत् महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा।

शब्दार्थ—शेष सव चुलनीपिता के समान यावत् सौधर्म-कल्प के अरुणश्रेष्ठ विमान मे वह उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी भी चार पल्योपम स्थिति है, महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप पूर्ववत् समझे।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा-सूत्र का पञ्चम चुल्लशतक अध्ययन समाप्त ॥

छट्ठमज्झयणं

षष्ठ अध्ययन

मूलम्—उक्खेवओ छट्ठस्स कुण्डकोलियस्स अज्झयणस्स, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कम्पिल्लपुरे नयरे, सहस्सम्बवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया। कुण्डकोलिए गाहावई। पूसा भारिया। छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ छ वुड्ढि-पउत्ताओ छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं। सामी समोसढे, जहा कामदेवो तहा सावयधम्मं पडिवज्जइ। सच्चेव वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ ॥ १६३ ॥

छाया—उपक्षेपकः षष्ठस्य कुण्डकौलिकस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बूः ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये काम्पिल्यपुरं नगरं सहस्राम्रवनमुद्यानम्, जितशत्रू राजा। कुण्डकौलिको गाथापतिः। पूषा भार्या। षड् हिरण्यकोटयो निधान-प्रयुक्ताः, षड् वृद्धि-प्रयुक्ता., षट् प्रविस्तर-प्रयुक्ता, षड् व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन। स्वामी समवसृतः। यथा कामदेवस्तथा श्रावकधर्म प्रतिपद्यते। सा चैव वक्तव्यता यावत् प्रतिलाभयन् विहरति।

शब्दार्थ—छट्ठस्स कुण्डकोलियज्झयणस्स—छठे कुण्डकौलिक अध्ययन का उक्खेवओ—उपक्षेप अर्थात् आरम्भ इस प्रकार है—एवं खलु जम्बू ! इस प्रकार हे शिष्य जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय में कम्पिलपुरे नयरे—काम्पिल्यपुर नगर, सहस्सम्बवणे उज्जाणे—सहस्राम्रवन उद्यान था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा, कुण्डकोलिए गाहावई—और कुण्डकौलिक गाथापति था, पूसा भारिया—(उसकी) पूषा नामक पत्नी थी, छ हिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ—छह करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष में थी, छ वुड्ढिपउत्ताओ—छह करोड व्यापार में लगी हुई थी और छ पवित्थरपउत्ताओ—छह गृह तथा उपकरण में लगी हुई थी। छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक व्रज में दस हजार गायों के हिसाब से छह व्रज पशु-धन

था। सामी समोसढे—भगवान पधारे। जहा कामदेवो तहा सावयधम्म पडिवज्जइ—कामदेव के समान उसने भी श्रावकधर्म अङ्गीकार किया। सच्चेव वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ—सारी वक्तव्यता उसी प्रकार है यावत श्रमण निर्ग्रन्थो को भक्तपान प्रतिलाभ अर्थात् आहार पानी आदि बहराता हुआ विचरने लगा।

भावार्थ—उपक्षेप पूर्ववत है। हे जम्बू ! उस काल और उस समय काम्पिल्यपुर नगर था। उस नगर के बाहर सहस्राम्रवन नामक रमणीय उद्यान था। वहा पर जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगर म कुण्डकौलिक नामक प्रसिद्ध गाथापति था। उस गाथापति की पूषा नामक धर्म पत्नी थी। कुण्डकौलिक के पास छह करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे सुरक्षित थी, छह करोड सुवर्ण मुद्राएँ व्यापार में लगी हुई थी और छह करोड घर तथा गृहोपकरण मे प्रयुक्त थी। उस गाथापति के पास छह व्रज पशु धन था। उसी काल और समय म श्रमण भगवान ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए काम्पिल्यपुर नगर के बाहर सहस्राम्रवन उद्यान म पधारे। आनद गाथापति के सदृश्य कुण्डकौलिक भी भगवान का धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए गया। फलस्वरूप उसने भी द्वादश व्रतरूप गृहस्थधर्म अङ्गीकार किया। यावत श्रमण निर्ग्रन्थो को आहार पानी बहराते हुए सेवा भक्ति से अपना जीवन यापन करने लगा।

कुण्डकौलिक द्वारा अशोकवनिका में धर्मानुष्ठान—

मूलम्—तए ण से कुण्डकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-कालसमयसि जेणेव असोगवणिया, जेणेव पुढवि सिला पट्टए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता नाम-मुद्दग च उत्तरिज्जग च पुढवि सिला पट्टए ठवेइ, ठवित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय धम्मपण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ ॥ १६४ ॥

छाया—तत खलु स कुण्डकौलिक श्रमणोपासकोऽन्यदा कदाचित्पूर्वापराह्णकाल समये येनैवाऽशोकवनिका येनैव पृथिवी शिला पट्टकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य नाम मुद्रिका चोत्तरीयक च पृथिवी शिला पट्टके स्थापयति, स्थापयित्वा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ—तदनन्तर वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक अन्य किसी दिन पुव्वावरण्हकालसमयंसि—मध्याह्नकाल के समय जेणेव असोगवणिया—जहाँ अशोक-वनिका थी जेणेव पुढविसिलापट्टए—जहाँ पृथ्वी-शिला-पट्ट था तेणेव उवागच्छइ—वहाँ पर आया उवागच्छित्ता—आकर नाम मुद्दगं च—नामाङ्कित मुद्रिका (अगूठी) तथा उत्तरिज्जगं च—उत्तरीय अर्थात् दुपट्टे को पुढविसिलापट्टए ठवइ—पृथ्वी शिला पट्ट पर रखा, ठवित्ता रख करके समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं—श्रमण भगवान् महावीर के पास स्वीकार की हुई धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—धर्मप्रज्ञप्ति को अङ्गीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—तत्पश्चात् किसी दिन कुण्डकौलिक श्रमणोपासक मध्याह्न के समय अशोकवनिका (वाटिका) मे गया, वहाँ पृथ्वी-शिला-पट्ट पर अपने नाम से अङ्कित हाथ की अगूठी और ऊपर ओढने वाले उत्तरीय वस्त्र को रख दिया। तत्पश्चात् श्रमण भगवान् से प्राप्त की हुई धर्म-प्रज्ञप्ति का आराधन करने लगा।

देव का आगमन—

मूलम्—तए णं तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ॥ १६५ ॥

छाया—ततः खलु तस्य कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्यैको देवोऽन्तिके प्रादुरभूत्।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक के पास एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ।

भावार्थ—जिस समय कुण्डकौलिक श्रमणोपासक भगवान् महावीर के धर्म की आराधना कर रहा था उस समय वहाँ पर एक देव प्रकट हुआ।

देव द्वारा नियति-वाद की प्रशंसा—

मूलम्—तए णं से देवे नाममुद्दं च उत्तरिज्जं च पुढवि-सिला-पट्टयाओ गेण्हइ, गिण्हित्ता सखिंखिणि अंतलिक्ख-पडिवन्ने कुण्डकोलियं समणोवासयं

एव वयासी--"हभो कुण्डकोलिया ! समणोवासया ! सुन्दरी ण देवाणुप्पिया ! गोसालस्स मखलि पुत्तस्स धम्म पण्णत्ती,--नत्थि उट्ठाणे इ वा, कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कार परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा, मगुली ण समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म पण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव परक्कमे इ वा, अणियया सव्वभावा" ॥ १६६ ॥

छाया--तत खलु स देवो नाममुद्रा चोत्तरीय च पृथिवी शिला पट्टकाद गृह्णाति, गृहीत्वा सकिङ्किणिक अतरिक्षप्रतिपन्न कुण्डकौलिक श्रमणोपासकमेवमवादीत--"हभो कुण्डकौलिक ! श्रमणोपासक ! सुन्दरी खलु देवानुप्रिय ! गोशालस्य मङ्खलि पुत्रस्य धमप्रज्ञप्ति, नास्ति उत्थानमिति वा, कर्मेति वा, बलमिति वा, वीयमिति वा, पुरुपकार पराक्रमौ इति वा, नियता सवभावा । मगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धमप्रज्ञप्ति, अस्ति उत्थानमिति वा, यावत्पराक्रम इति वा अनियता सवभावा ।

शब्दाथ--**तए ण से देवे**--तदनन्तर उस देव ने **नाममुद्द च उत्तरिज्ज च**--नाम मुद्रिका और उत्तरीय को **पुढवि सिला पट्टयाओ गेण्हइ**--पृथिवी शिला पट्टक से उठाया **गिण्हित्ता**--उठाकर **सखिखिणि**--घुघरू का शब्द करते हुए **अतलिक्ख पडिवन्ने**--*उडकर अन्तरिक्ष मे रुक गया* **कुण्डकोलिय समणोवासय एव वयासी**--कुण्डकौलिक श्रावक को इस प्रकार कहने लगा--**हभो कुण्डकोलिया ! समणोवासया !**--हे कुण्डकौलिक ! श्रमणोपासक ! **सुन्दरी ण देवाणुप्पिया ! गोसालस्स मखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती**--हे देवानुप्रिय ! मखलिपुत्र गोशालक की धमप्रज्ञप्ति सुन्दर है ***नत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा***--*(उसमे) उत्थान कम बल (शारीरिक शक्ति)* **वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा**--वीय पुरुपकार तथा पराक्रम स्वीकार नही किया गया **नियया सव्वभावा**--अर्थात विश्व के समस्त परिवतन नियत अर्थात निश्चित हैं **मगुली ण समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती**--*श्रमण भगवान महावीर की धमप्रज्ञप्ति मिथ्या है ।* ***अत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा***--*क्योकि* उसमे उत्थान और पराक्रमादि को स्वीकार किया गया है। **अणियया सव्वभावा**--वहाँ सब भाव अनियत हैं ।

भावार्थ—उस देव ने नामाङ्कित मुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र को शिलापट पर से उठा लिया और घुगरु बजाते हुए आकाश में उड कर कुण्डकौलिक से कहने लगा—"हे कुण्डकौलिक श्रावक ! देवानुप्रिय ! मखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है। उसमे उत्थान (कर्म के लिए उद्यत होना) कर्म (गमनादि क्रियाएँ) बल (शारीरिक बल) वीर्य (आत्म तेज) पुरुषकार (पौरुष) तथा पराक्रम को स्वीकार नही किया गया। विश्व के समस्त परिवर्तन नियत हैं अर्थात् जो कुछ होना है होकर रहेगा। उसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता। इसके विपरीत श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असुन्दर अथवा मिथ्या है। उसमे उत्थान पराक्रमादि को स्वीकार किया गया है तथा जगत के परिवर्तन अनियत हैं अर्थात् पुरुषार्थ आदि के द्वारा उनमे परिवर्तन किया जा सकता है।"

टीका—पिछले पाँच अध्ययनो की अपेक्षा प्रस्तुत कुण्डकौलिक-अध्ययन भिन्न प्रकार का है। इसमे देवता उपसर्ग उपस्थित नही करता किन्तु कुण्डकौलिक के सामने भिन्न धार्मिक परम्परा का प्रतिपादन करता है, जो महावीर के समय अत्यन्त प्रचलित थी और उसके अनुयायियो की सख्या महावीर से भी अधिक थी। प्रस्तुत सूत्र मे दोनो का परस्पर भेद दिखाया गया है। गोशालक नियतिवादी था। उसके मत मे विश्व के समस्त परिवर्तन नियत अर्थात् निश्चित हैं। उन्हे कोई बदल नही सकता। प्रत्येक जीव को ८४ लाख योनियो में घूमना पडेगा और उसके पश्चात् अपने-आप मुक्ति प्राप्त हो जायगी। इन योनियो मे जो सुख-दु ख हैं वे भोगने ही पडेगे। कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ पराक्रम द्वारा उसमे परिवर्तन नही कर सकता। अत समस्त साधनाएँ, तपस्याएँ तथा भाग-दौड व्यर्थ हैं। इस मत का दूसरा नाम आजीविक भी है और उसका उल्लेख अशोक की धर्मलिपियो मे मिलता है, तत्पश्चात् सम्प्रदाय के रूप में उल्लेख न मिलने पर भी भारतीय जीवन पर उसका प्रभाव अब भी अक्षुण्ण है। अब भी इस देश मे पुरुषार्थ छोडकर भाग्य के भरोसे बैठे रहने वालो की सख्या कम नही है। मलूकदास का नीचे लिखा दोहा साधु सन्यासी तथा फकीरो में ही नही, गृहस्थो मे भी घर किए हुए है—

"अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए सब के दाता राम॥"

सस्कृत साहित्य मे भी इस प्रकार के अनेक श्लोक मिलते हैं। जो पुरुषार्थ को व्यर्थ बताते हैं—

"प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थ,
सोऽवश्य भवति नृणा शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपीह प्रयत्ने,
नाभाव्य भवति न भाविनोऽस्ति नाश ॥"

पुरुषो को नियति अर्थात होनहार के आधीन जो शुभ अथवा अशुभ प्राप्त करना होता है वह अवश्यमेव प्राप्त होता है अर्थात जसा भाग्य मे लिखा है वह होकर ही रहता है। प्राणी कितना ही प्रयत्न करे, जो बात नियति मे नही है नही हो सकती। इसी प्रकार जो होनी है वह टल नही सकती।

"नहि भवति यन्न भाव्य, भवति च भाव्य विनाऽपि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥"

होनहार नही है वह कभी नही हो सकता और जो होनहार है वह बिना ही प्रयत्न के हो जाता है। जिसकी होनहार अथवा भाग्य समाप्त हो गया है उसकी हाथ म आई हुई सपत्ति भी नष्ट हो जाती है।

इसके विपरीत महावीर की परम्परा म पुरुषार्थ के लिए पर्याप्त स्थान है। वहाँ यह माना है कि व्यक्ति पुरुषार्थ द्वारा अपने भविष्य को बदल सकता है। उसका बनाना या बिगाडना स्वय उसके हाथ म है। पूर्व ज म के सञ्चित कर्मों को भी इस ज म के पुरुषार्थ द्वारा बदला जा सकता है। इसी आशय का एक श्लोक योगवशिष्ठ मे भी आया है—

"द्वौ हुडाविव युद्ध्येते, पुरुषार्थौ परस्परम।
प्राक्तनोऽद्यतनश्चव, जयत्यधिकवीर्यवान ॥"

पुराना और नया पुरुषार्थ मेढो की तरह आपस मे टकराते रहते हैं जिसमे अधिक शक्ति होती है वही जीत जाता है।

इस विषय की विशेष चर्चा के लिए जन कर्म सिद्धान्त का मनन करना चाहिए।

सूत्र मे पुरुषार्थ का अभिप्राय प्रकट करने के लिए कई शब्द दिए हैं उनका सूक्ष्म आशय नीचे लिखे अनुसार है—

१. उत्थान—किसी काम को करने के लिए उठना अर्थात् खडे होना। मानसिक दृष्टि से इस का अर्थ है उत्साह।

२. कर्म—क्रिया, जाना-आना, हाथ-पैर हिलाना आदि शारीरिक व्यापार।

३. बल—शारीरिक शक्ति।

४. वीर्य—आत्म-बल अर्थात् हिम्मत न हारना, उत्साह को स्थिर रखना।

५. पुरुषकार—पुरुषत्व का अभिमान, सकटो के सामने पराजित न होना, कठिनाइयाँ आने पर भी हार न मानना।

६. पराक्रम—सफलता प्राप्त करने की शक्ति।

कुण्डकौलिक का उत्तर और देव का पराजित होना—

मूलम्—**तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—"जइ णं देवा! सुन्दरी गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा जाव अणियया सव्वभावा। तुमे णं देवा! इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी, दिव्वा देवज्जुई, दिव्वे देवाणुभावे किणा लद्धे, किणा पत्ते, किणा अभिसमन्नागए? किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं? उदाहु अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं?" ॥ १६७ ॥**

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकस्तं देवमेवमवादीद्—"यदि खलु देव! सुन्दरी गोशालस्य मंखलिपुत्रस्य धर्मप्रज्ञप्तिः—नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियताः सर्वभावा, मंगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्मप्रज्ञप्तिः—अस्त्युत्थानमिति वा यावदनियताः सर्वभावाः। त्वया खलु देवानुप्रिय! इयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिः, दिव्या देवद्युतिः, दिव्यो देवानुभावः केन लब्धः? केन प्राप्तः, केनाभिसमन्वागतः? किमुत्थानेन यावत्पुरुषकारपराक्रमेण? उताहो! अनुत्थानेनाऽकर्मणा यावदपुरुषकार पराक्रमेण?"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक त देव—उस देव को एव वयासी—इस प्रकार बोला—जइ ण देवा !—हे देव ! यदि सुन्दरी गोसालस्स मखली पुत्तस्स धम्म पण्णत्ती—मखलीपुत्र गोशाल की धम प्रज्ञप्ति समीचीन है, नत्थि उट्ठाणे इ वा—क्योंकि इसमे उत्थान नही है, जाव नियया सव्वभावा—यावत् सबभाव नियत हैं मगुली ण समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म पण्णत्ती—तथा श्रमण भगवान् महावीर की धमप्रज्ञप्ति असमीचीन है। अत्थि उट्ठाणे इ वा—क्योकि उसमे उत्थान है जाव अणियया सव्वभावा—यावत सब भाव अनियत हैं, तुमे ण देवा !—हे देव ! तुम्हे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी—इस प्रकार की दिव्य देवी सम्पत्ति दिव्वा देवज्जुई—दिव्य कान्ति दिव्वे देवाणुभावे—दिव्य अनुभाव (अलौकिक प्रभाव) किणा लद्धे—कसे मिला ? किणा पत्ते—कसे प्राप्त हुआ ? किणा अभिसमन्नागए—कसे समन्वागत हुआ कि उट्ठाणेण—क्या उत्थान से जाव पुरिसक्कारपरक्कमेण—यावत पुरुषकार पराक्रम से उदाहु—अथवा अणुट्ठाणेण—विना उत्थान अकम्मेण जाव अपुरिसक्कार परक्कमेण—विना कम से यावत विना पुरुषकार और पराक्रम के प्राप्त हुआ ?

भावार्थ—कुण्डकौलिक ने उत्तर दिया हे देव ! यदि मखलिपुत्र गोशालक की धम प्रज्ञप्ति समीचीन है क्योकि उसमे उत्थान नही है यावत सब पदार्थ नियत हैं और श्रमण भगवान महावीर की धम प्रज्ञप्ति समीचीन नही है क्योंकि उसमे उत्थान है यावत समस्त पदार्थ अनियत हैं तो हे देव ! तुम्हे यह दिव्य अलौकिक देव ऋद्धि अलौकिक कान्ति, अलौकिक अनुभाव कहा से मिला ? कसे प्राप्त हुआ ? और कसे समन्वागत हुआ ? क्या यह उत्थान यावत पराक्रम अथवा पुरुषकार से प्राप्त हुआ ? या उनके विना ?

मूलम्—तए ण से देवे कुण्डकोलिय समणोवासय एव वयासी—"एव खलु देवाणुप्पिया ! मए इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेण लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया" ॥ १६८ ॥

छाया—तत खलु स देव कुण्डकौलिक श्रमणोपासकमेवमवादीत—"एव खलु देवानुप्रिय ! मयतद्रूपा दिव्या देवर्द्धि ३ अनुत्थानेन यावद अपुरुषकारपराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे—उस देव ने कुण्डकोलियं समणोवासयं—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहा—एवं खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! मए—मुझे इमेयारूवा—इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देव-ऋद्धि अणुट्ठाणेणं—विना उत्थान जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं—यावत् विना पुरुषकार और पराक्रम के लद्धा—मिली है, पत्ता—प्रप्त हुई है, अभिसमन्नागया—पास आइ है।

भावार्थ—तदनन्तर देव ने उत्तर दिया हे देवानुप्रिय ! "मुझे यह अलौकिक देव-ऋद्धि विना उत्थान, पुरुषकार-पराक्रम के मिली है।"

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—"जइ णं देवा ! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया ? जेसिं णं जीवाणं नत्थि उट्ठाणेइ वा, परक्कमे इ वा, ते किं न देवा ? अह णं, देवा ! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ उट्ठाणेणं जाव परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया, तो जं वदसि—सुन्दरी णं गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती—नत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती—अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव अणियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा" ॥ १६९ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकस्तं देवमेवमवादीत्—"यदि खलु देव ! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरनुत्थानेन यावद् अपुरुषकारपराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता ? येषां खलु जीवानां नास्त्युत्थानमिति वा, यावत् पराक्रम इति वा, ते किं न देवा ? अथ खलु देव ! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरुत्थानेन यावत्पराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता, ततो यद्वदसि-सुन्दरी खलु गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य धर्म-प्रज्ञप्ति, नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियता. सर्वभावा, मंगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्म-प्रज्ञप्ति. अस्त्युत्थानमिति वा, यावदनियता. सर्वभावास्तत्ते मिथ्या ।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक त देव—उस देव को एव वयासी—इस प्रकार बोला—जइ ण देवा !—हे देव ! यदि सुन्दरी गोसालस्स मखलीपुत्तस्स धम्म पण्णत्ती—मखलीपुत्र गोशाल की धर्म प्रज्ञप्ति समीचीन है, नत्थि उट्ठाणे इ वा—क्योंकि इसमें उत्थान नहीं है, जाव नियया सव्वभावा—यावत सब भाव नियत हैं, मंगुली ण समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म पण्णत्ती—तथा श्रमण भगवान महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असमीचीन है। अत्थि उट्ठाणे इ वा—क्योंकि उसमें उत्थान है जाव अणियया सव्वभावा—यावत सब भाव अनियत हैं, तुमे ण देवा !—हे देव ! तुम्ह इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी—इस प्रकार की दिव्य दैवी सम्पत्ति दिव्वा देवज्जुई—दिव्य कान्ति दिव्वे देवाणुभावे—दिव्य अनुभाव (अलौकिक प्रभाव) किणा लद्धे—कैसे मिला ? किणा पत्ते—कैसे प्राप्त हुआ ? किणा अभिसमन्नागए—कैसे समन्वागत हुआ कि उट्ठाणेण—क्या उत्थान से जाव पुरिसक्कारपरक्कमेण—यावत पुरुषकार पराक्रम से उदाहु—अथवा अणुट्ठाणेण—बिना उत्थान अकम्मेण जाव अपुरिसक्कार परक्कमेण—बिना कर्म से यावत बिना पुरुषकार और पराक्रम के प्राप्त हुआ ?

भावार्थ—कुण्डकौलिक ने उत्तर दिया हे देव ! 'यदि मखलिपुत्र गोशालक की धर्म प्रज्ञप्ति समीचीन है क्योंकि उसमें उत्थान नहीं है यावत् सब पदार्थ नियत हैं और श्रमण भगवान महावीर की धर्म प्रज्ञप्ति समीचीन नहीं है क्योंकि उसमें उत्थान है यावत समस्त पदार्थ अनियत हैं तो हे देव ! तुम्हे यह दिव्य अलौकिक देव ऋद्धि, अलौकिक कान्ति, अलौकिक अनुभाव कहां से मिला ? कैसे प्राप्त हुआ ? और कैसे समन्वागत हुआ ? क्या यह उत्थान यावत पराक्रम अथवा पुरुषकार से प्राप्त हुआ ? या उनके बिना ?'

मूलम्—तए ण से देवे कुण्डकोलिय समणोवासय एव वयासी—"एव खलु देवाणुप्पिया ! मए इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेण लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया" ॥ १६८ ॥

छाया—तत खलु स देव कुण्डकौलिक श्रमणोपासकमेवमवादीत—"एव खलु देवानुप्रिय ! मयतद्रूपा दिव्या देवर्द्धि ३ अनुत्थानेन यावद अपुरुषकारपराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से देवे—उस देव ने कुण्डकोलियं समणोवासयं—उस कुण्डकोलिक श्रमणोपासक को एवं वयासी—इस प्रकार कहा—एव खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! मए—मुझे इमेयारूवा—इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देव-ऋद्धि अणुट्ठाणेणं—विना उत्थान जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं—यावत् विना पुरुषकार और पराक्रम के लद्धा—मिली है, पत्ता—प्राप्त हुई है, अभिसमन्नागया—पास आई है।

भावार्थ—तदनन्तर देव ने उत्तर दिया हे देवानुप्रिय ! "मुझे यह अलौकिक देव-ऋद्धि विना उत्थान, पुरुषकार-पराक्रम के मिली है।"

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—"जइ णं देवा ! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया ? जेसिं णं जीवाणं नत्थि उट्ठाणेइ वा, परक्कमे इ वा, ते किं न देवा ? अह णं, देवा ! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ उट्ठाणेणं जाव परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया, तो जं वदसि—सुन्दरी णं गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती—नत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती—अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव अणियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा" ॥ १६६ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकस्तं देवमेवमवादीत्—"यदि खलु देव ! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरनुत्थानेन यावद् अपुरुषकारपराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता ? येषां खलु जीवानां नास्त्युत्थानमिति वा, यावत् पराक्रम इति वा, ते किं न देवा ? अथ खलु देव ! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरुत्थानेन यावत्पराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता, ततो यद्वदसि-सुन्दरी खलु गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य धर्म-प्रज्ञप्ति, नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियता. सर्वभावा, मंगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्म-प्रज्ञप्ति अस्त्युत्थानमिति वा, यावदनियता सर्वभावास्तत्ते मिथ्या ।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक त देव—उस देव को एव वयासी—इस प्रकार बोला—जइ ण देवा !—हे देव ! यदि तुमे इमा एयारूवा—तुम्हे यह इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देव ऋद्धि अणुट्ठाणेण—उत्थान जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेण—यावत अपुरुषकार पराक्रम के बिना ही लद्धा—मिली है पत्ता—प्राप्त हुई है अभिसमन्नागया—आई है, तो जेसि ण जीवाण—जिन जीवो के नत्थि—नही है उट्ठाणे इ वा—उत्थान परक्कमेइ वा अथवा पराक्रम त कि न देवा—वे देव क्या नही बने ? अह ण देवा !—हे देव चूकि तुमे—तुमने इमा एयारूवा—यह इस प्रकार की दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देवर्द्धि उट्ठाणेण जाव परक्कमेण—उत्थान यावत पराक्रम से लद्धा, पत्ता—लब्ध की है प्राप्त की है अभिसमन्नागया—तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुई है तो ज वदसि—जो तू कहता है कि सुदरी ण गोसालस्स मखलि पुत्तस्स धम्मपण्णत्ती—गोशाल मखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति सुदर है क्योकि उसमे नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नही है जाव—यावत नियया सव्वभावा—सब भाव नियत हैं मगुली ण समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती—श्रमण भगवान महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असुदर है क्योकि उसमे अत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान है जाव अणियया सव्वभावा—यावत सब भाव अनियत हैं त ते मिच्छा—तो तेरा यह कथन मिथ्या है।

भावार्थ—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने उस देव से पुन पूछा— हे देव ! यदि तुम्हे इस प्रकार की अलौकिक देव ऋद्धि उत्थान यावत पुरुषकार पराक्रम के बिना ही मिली है तो जिन जीवो के उत्थान यावत पराक्रम नही है तो वे देव क्या न बने ? हे देव ! यदि तू ने यह ऋद्धि उत्थान यावत पराक्रम से प्राप्त की है, तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या है कि मखलिपुत्र गोशालक की धर्म प्रज्ञप्ति समीचीन है। और श्रमण भगवान महावीर की धर्म प्रज्ञप्ति समीचीन नही है।

टीका—देव द्वारा की गई महावीर के सिद्धान्त की निन्दा तथा गोशालक के सिद्धान्त की प्रशसा सुनकर कुण्डकौलिक ने देव से पूछा—आपको जो यह दैवी शक्ति तथा सम्पत्ति प्राप्त हुई है क्या इसके लिए किसी प्रकार की तपस्या या धर्मानुष्ठान नही करना पडा ? यदि ऐसा है तो समस्त प्राणी तुम्हारे सरीखे देव क्या नही बन गए ? उनमे परस्पर भेद क्या है ? कोई सुखी है कोई दुखी, कोई दुर्बल कोई

वलवान। कोई सम्पन्न कोई दरिद्र ! इस विषमता का एक मात्र कारण है—पुरुषार्थ, जिसने जैसा उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम किया है उसने तदनुसार फल प्राप्त किया है। कुण्डकौलिक ने पुरुषार्थ के आधार पर कर्मवाद की ओर सकेत किया है। कुण्डकौलिक ने देव के समक्ष दो विकल्प उपस्थित किए और उससे पूछा—तुमने यह समृद्धि पुरुषार्थ आदि के द्वारा प्राप्त की है या उनके विना ? यदि उनके बिना, तो विश्व के समस्त जीव तुम्हारे सरीखे क्यो नही हैं ? इसके विपरीत यदि पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त की है, तो महावीर का सिद्धान्त असमीचीन कैसे हो सकता है ?" यहा टीकाकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

"ततोऽसौ कुण्डकोलिकः तं देवमेवमवादीत्—यदि गोशालकस्य सुन्दरो धर्मो, नास्ति कर्मादीत्यतो नियताः सर्वभावा इत्येवंरूपो, मंगुलश्च महावीरधर्मोऽस्ति कर्मादीत्यनियताः सर्वभावा इत्येवं स्वरूप, तन्मतमनूद्य कुण्डकोलिकस्तन्मतदूषणाय विकल्पद्वयं कुर्वन्नाह—'तुमे णमित्यादि, पूर्ववाक्ये यदीति पदोपादानादेतस्य वाक्यस्यादौ तदेति पदं द्रष्टव्यं इति, त्वयायं दिव्यो-देवर्ध्यादिगुणः केन हेतुना लब्धः ? किमुत्थानादिना 'उदाहु'त्ति' अहोश्वित् अनुत्थानादिना ?, तपोब्रह्मचर्यादीनामकरणेनेति भावः, यद्युत्थानादेरभावेनेति पक्षो गोशालकमताश्रितत्वाद् भवतः तदा येषां जीवानां नास्त्युत्थानादि—तपश्चरणकरणमित्यर्थ', 'ते' इति जीवाः किं न देवा ? पृच्छतोऽयमभिप्राय—यथा त्वं पुरुषकार विना देव संवृत्त' स्वकीयाभ्युपगमत एव सर्वजीवा ये उत्थानादिवर्जितास्ते देवा प्राप्नुवन्ति, न चैतदेवमिष्टमित्युत्थानाद्यपलापपक्षे दूषणम्। अथ त्वयेयं ऋद्धिरुत्थानादिना लब्धा ततो यद्वदसि—सुन्दरा गोशालकप्रज्ञप्तिरसुन्दरा महावीरप्रज्ञप्ति इति, तत्ते—तव मिथ्यावचनं भवति, तस्य व्यभिचारादिति।"

देव का निरुत्तर होकर वापिस लौटना——

मूलम्—तए णं से देवे कुण्डकोलिएणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए जाव कलुससमावन्ने नो संचाएइ कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स किंचि पामोक्खमाइक्खित्तए; नाम-मुद्दयं च उत्तरिज्जयं च पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ, ठवेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए, तामेव दिसिं पडिगए॥ १७०॥

छाया—तत खलु स देव कुण्डकौलिकश्रमणोपासकेनवमुक्त सन शङ्कितो यावत कलुषसमापन्नो नो शक्नोति कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्य किञ्चित प्रातिमुख्य मारयातुम । नाम मुद्रिका चोत्तरीयक च पृथ्वी शिला पट्टके स्थापयति, स्थापयित्वा यामेव दिश प्रादुभू तस्तामेव दिश प्रतिगत ।

शब्दार्थ—तए ण—नदन तर से देवे—वह देव कुण्डकोलिएण समणोवासएण—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक द्वारा एव वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर सकिए—शङ्कित हो गया, जाव—यावत कलुससमावन्ने—कलुप (हतप्रभ) हा गया कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को किचि—कुछ भी पामोक्खमाइक्खित्तए—उत्तर मे नही कह सका नाम मुद्दय च उत्तरिज्जय च—उसने नाम मुद्रा और उत्तरीय वस्त्र को पुढवि सिला पट्टए ठवेइ—पृथ्वी शीला पट्ट पर रख दिया ठवित्ता—रखकर जामेव दिसि पाउब्भूए—जिस दिशा से प्रकट हुआ था तामेव दिसि पडिगए—उसी दिशा को चला गया।

भावार्थ—कुण्डकौलिक के इस प्रकार कहने पर देव के मन मे शङ्का उत्पन हो गई यावत वह हतप्रभ हो गया और कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को कुछ भी उत्तर न दे सका। तब नाम मुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र को पथ्वी शिला पट्ट पर रख कर जिधर से आया था उधर चला गया।

भगवान महावीर का आगमन—

मूलम्—तेण कालेण तेण समएण सामी समोसढे ॥ १७१ ॥

छाया—तस्मिन काले तस्मिन समये स्वामी समवसत ।

शब्दार्थ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल और उस समय सामी समोसढे—भगवान महावीर स्वामी समवसत हुए।

भावार्थ—उस समय भगवान महावीर स्वामी पधारे।

कुण्डकौलिक का दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे हट्ठ जहा कामदेवो तहा, निग्गच्छइ, जाव पज्जुवासइ, धम्मकहा ॥ १७२ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकोऽस्यां कथायां लब्धार्थः सन् हृष्टो यथा कामदेवस्तथा निर्गच्छति, यावत् पर्युपास्ते । धर्मकथाः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक इमीसे कहाए लद्धट्ठे—इस समाचार को सुनकर हट्ठ—प्रसन्न हुआ, जहा कामदेवो तहा निग्गच्छइ—कामदेव की तरह दर्शनार्थ निकला जाव पज्जुवासइ—यावत् पर्युपासना की धम्मकहा—भगवान् का धर्म उपदेश हुआ ।

भावार्थ—कुण्डकौलिक भी भगवान् के आने की वात सुनकर प्रसन्न हुआ और कामदेव के समान दर्शनार्थ गया, भगवान् की पर्युपासना की। भगवान् का धर्मोपदेश हुआ ।

भगवान् द्वारा कुण्डकौलिक की प्रशंसा और साधु-साध्वियों को उद्बोधन—

मूलम्—"कुण्डकोलिया" ! इ समणे भगवं महावीरे कुण्डकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—"से नूणं कुण्डकोलिया ! कल्लं तुब्भ पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि असोग-वणियाए एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था । तए णं से देवे नाममुद्दं च तहेव जाव पडिगए । से नूणं कुण्डकोलिया ! अट्ठे समट्ठे ?" "हन्ता ! अत्थि ।" "तं धन्नेसि णं तुमं कुण्डकोलिया !" (जहा कामदेवो) "अज्जो" ! इ समणे भगवं महावीरे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी—"जइ ताव, अज्जो ! गिहिणो गिहिमज्झा-वसंता णं अन्न-उत्थिए अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य निप्पट्ठ-पसिणवागरणे करेति, सक्का पुणाइं, अज्जो ! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसङ्गं गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं अन्न-उत्थिया अट्ठेहि य जाव निप्पट्ठ-पसिणवागरणा करित्तए" ॥ १७३ ॥

छाया—"कुण्डकौलिक" ! इति श्रमणो भगवान महावीर कुण्डकौलिक श्रमणो पासकमेवमवादीत—'अथ नून कुण्डकौलिक !' कल्ये तव पूर्वापराह्णकालसमये अशोक वनिकायामेको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत । तत खलु स देवो नाम मुद्रा च तथव यावनि गत । स नून कुण्डकौलिक ! 'अथ समथ ? 'ह तास्ति !' 'तद्ध योऽसि खलु त्व कुण्डकौलिक !' यथा कामदेव । 'आर्या' ! इति श्रमणो भगवान महावीर श्रमणा न्निग्र थाश्च निग्र थीश्चाऽऽमन्त्र्यवमवादीत—'यदि तावदार्या ! गहिणो गहमध्यावस त खलु अन्ययूथिकान अर्थेश्च हेतुभिश्च प्रश्नश्च कारणश्च व्याकरणश्च नि स्पष्ट (निष्पिष्ट) प्रश्नव्याकरणान कुवन्ति, शक्या पुनरार्या ! श्रमणनिग्र थर्द्वादशाङ्ग गणिपिटकमधीयानरन्ययूथिका अर्थेश्च यावन्नि स्पष्टप्रश्नव्याकरणा कतु म ।'

शब्दाथ—कुण्डकोलिया !—हे कुण्डकौलिक ! इ समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने कुण्डकोलिय समणोवासय—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को एव वयासी—इस प्रकार कहा—से नूण कुण्डकोलिया !—हे कुण्डकौलिक ! कल्ल पुव्वा वरण्ह कालसमयसि—कल दोपहर के समय असोगवणियाए—अशोक वणिका म एगे देवे—एक दव अतिय—तुम्हार पास पाउब्भवित्था—प्रकट हुआ था तए ण—तदन तर से देवे—उस दव ने नाम मुद्द च—नाम मुद्रिका उठाई तहेव जाव पडिगए—उसी प्रकार सारा वत्तात कहा यावत चला गया, से नूण कुण्डकोलिया !—हे कुण्ड कौलिक ! अटठे समटठे ?—क्या यह बात ठीक है ? हता अत्थि—हाँ भगवन ठीक है, त धन्नेसि ण तुम कुण्डकोलिया !—महावीर स्वामी ने कहा—हे कुण्टकौलिक ! तुम ध य हो जहा कामदेवो—इत्यादि कथन कामदेव की तरह समझना । अज्जो !—ह आर्यो ! इ समणे भगव महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने समणे निग्गथे य—श्रमण निग्र थ निग्गथीओ य—और निग्र थियो का आमतित्ता—बुलाकर एव वयासी—इस प्रकार कहा—जइ ताव अज्जो !—हे आर्यो ! यदि गिहिणो गिहिमज्झावसता ण—घर म रहने वाले गहस्थ भी अन्नउत्थिए—अन्य यूथिया को अटठेहि य—अर्थों से, हेऊहि य—हेतुओ से, पसिणेहि य—प्रश्ना स कारणेहि य—युक्तिया से वागरणेहि य—और व्याख्याओ से निप्पट्ठपसिणवागरणे करेंति—निरुत्तर कर सकत हैं तो सक्का पुणाइ अज्जो!—ह आर्यो ! तुम भी समथ हो अत समणेहि निग्गथेहि—तुम श्रमण निग्र थो का दुवालसग गणिपिड

अहिज्जमाणेहि—जो द्वादशाङ्ग-गणिपिटक का अध्ययन करते हैं, **अन्नउत्थिया**—अन्ययूथिकों को **अट्ठेहि य जाव निप्पट्ठपसिणवागरणा करित्तए**—अर्थ से, हेतु से, यावत् युक्ति के द्वारा निरुत्तर करना।

भावार्थ—भगवान् महावीर ने कुण्डकौलिक को सम्बोधित करते हुए कहा—हे कुण्डकौलिक श्रमणोपासक! कल अशोकवनिका (वाटिका) मे एक देव तुम्हारे पास आया था। उसने तुम्हारी नाम मुद्रा और उत्तरीय को उठाकर कहा यावत् भगवान् ने देव प्रकट होने से लेकर तिरोधान तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उससे पूछा—कुण्डकौलिक! क्या यह ठीक है? हाँ भगवन्! यह ठीक है (कुण्डकौलिक ने उत्तर दिया) भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को सम्बोधित करके कहा—आर्यो! यदि घर मे रहने वाला एक गृहस्थ भी विविध अर्थो, हेतुओ, युक्तियो एव व्याख्याओ द्वारा अन्य-यूथिको को निरुत्तर कर सकता है तो हे आर्यो! आप लोग तो समर्थ हैं। द्वादशाङ्ग-गणिपिटक का अध्ययन करते हैं। आपको भी चाहिए कि इसी प्रकार अन्य यूथिको को अर्थ, हेतु तथा युक्ति आदि के द्वारा निरुत्तर करे।

मूलम्—तए णं समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति ॥ १७४ ॥

छाया—**ततः खलु श्रमणा निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थ विनयेन प्रतिशृण्वन्ति।**

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **समणा निग्गंथा य**—श्रमण निर्ग्रन्थ **निग्गंथीओ य**—और निर्ग्रन्थियो ने **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर के **एयमट्ठं**—इस कथन को **तहत्ति**—तथेति कह कर **विणएणं पडिसुणेंति**—विनयपूर्वक स्वीकार किया।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो ने श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन विनयपूर्वक स्वीकार किया।

टीका—पिछले चार सूत्रा मे भगवान महावीर के आगमन और उनके द्वारा कुण्डकौलिक की प्रशसा का वणन है। इसम कई बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१ कुण्डकौलिक श्रावक था फिर भी भगवान ने उसकी प्रशसा की और निग्र न्थ तथा निग्र न्थियो के सामने उसे उदाहरण के रूप मे उपस्थित किया। इस से यह सिद्ध होता है कि साधु के लिए गहस्थ की प्रशसा करना वर्जित नही है। सदगुण कही भी हा उसकी प्रशसा करना महानता का लक्षण है। इससे चित्त शुद्धि होती है।

सूत्र मे अथ, हेतु प्रश्न कारण और व्याकरण पाँच शब्द आए हैं। इनका उन दिनो शास्त्राथ मे उपयोग होता था। इसका अथ नीचे लिखे अनुसार है—

२ अथ—पदाथ अर्थात अपने सिद्धान्त मे प्रतिपादित जीव अजीव आदि वस्तुएँ अथवा प्रमाण रूप मे उद्धत आगम पाठ का अथ। न्यायदशन मे प्रतिवादी दो प्रकार के बताए गए हैं—(क) समान तन्त्र अर्थात आगम के रूप मे उन्ही ग्रन्थो को मानने वाले जिन्हे वादी मानता है अथवा एक ही परम्परा के अनुयायी। (ख) प्रतितन्त्र अर्थात वादी से भिन्न परम्परा वाले, भिन्न आगमो को प्रमाण मानने वाले। *समान तन्त्र के साथ शास्त्राथ करते समय प्राय मूल पाठ का अथ किया* जाता है और प्रतितन्त्र के साथ शास्त्राथ करते समय अपने सिद्धान्तो मे प्रतिपादित वस्तुआ का निरूपण किया जाता है।

३ हेतु—*वह वस्तु जिसके आधार पर लक्ष्य या साध्य को सिद्ध किया जाए।* जैसे धुँए के आधार पर अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करना क्योंकि धुँआ अग्नि के बिना नही होता।

४ प्रश्न—इसका अथ है—प्रतिवादी से विविध प्रकार के प्रश्न पूछना जिस से वह अपनी मिथ्या धारणा को छोडदे इसे शास्त्राथ म विश्लेपणात्मक पद्धति (Analytic approach) कहते हैं।

५ कारण—युक्तियो द्वारा पक्ष का उपपादन।

६ व्याकरण—प्रतिवादी द्वारा पूछे गए प्रश्न की व्याख्या या खुलासा।

कुण्डकौलिक का प्रत्यागमन—

मूलम्——तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठमादियइ, अट्ठमादित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। सामी बहिया जणवय विहारं विहरइ ॥ १७५ ॥

छाया——ततः खलु कुण्डकौलिकः श्रमणोपासक श्रमणं भगवंतं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य प्रश्नान् पृच्छति, पृष्ट्वाऽर्थमाददाति, अर्थमादाय यस्याः एव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं प्रतिगतः। स्वामी बहिर्जनपद विहारं विहरति।

शब्दार्थ——तए णं—तदनन्तर से कुण्डकोलिए समणोवासए—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके पसिणाइं पुच्छइ—प्रश्न पूछे, पुच्छित्ता—पूछकर अट्ठमादियइ—अर्थ ग्रहण किया, अट्ठमादित्ता—अर्थ ग्रहण करके जामेव दिसिं पाउब्भूए—जिस दिशा से आया था तामेव दिसि पडिगए—उसी दिशा में वापिस चला गया। सामी बहिया जणवय विहारं विहरइ—भगवान महावीर स्वामी भी अन्य जनपदो में प्रस्थान कर गए।

भावार्थ——कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार किया, प्रश्न पूछे, अर्थ ग्रहण किया और वापिस लौट गया। भगवान महावीर स्वामी भी देश-देशान्तरो मे विहार करने लगे।

उपसंहार—

मूलम्——तए णं तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ (जहा कामदेवो तहा) जेट्ठपुत्तं ठवेत्ता तहा पोसह-सालाए जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। एवं

एक्कारस उवासग-पडिमाओ तहेव जाव सोहम्मे कप्पे अरुणज्झए विमाणे जाव अंत काहिइ । निक्खेवो ॥ १७६ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं छट्ठं कुण्डकोलियज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु तस्य कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शील यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सराणि व्यतिक्रान्तानि, पञ्चदशं संवत्सरमन्तरावर्तमानस्यान्यदा कदाचिद् यथा कामदेवस्तथा ज्येष्ठपुत्रं स्थापयित्वा तथा पौषधशालायां यावद्धर्म प्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति । एवमेकादशोपासकप्रतिमास्तथैव यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणध्वजे विमाने यावदन्तं करिष्यति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स—बहुत से शील व्रत आदि के पालन द्वारा आत्मा को भावित करते हुए चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं—चौदह वर्ष व्यतीत हो गए पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरावट्टमाणस्स—पन्द्रहवें वर्ष के बीच मे अन्नया कयाइं—एक दिन जहा कामदेवो तहा—कामदेव की तरह जेट्ठपुत्तं ठवेत्ता—ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार देकर तहा पोसह सालाए—उसी प्रकार पौषध शाला में जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—धर्म प्रज्ञप्ति स्वीकार करके विचरने लगा एवं एक्कारस उवासगपडिमाओ—उसी तरह ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ अङ्गीकार की तहेव जाव सोहम्मे कप्पे—यावत् सौधर्मकल्प के अरुणज्झए विमाणे—अरुणध्वज विमान मे देवरूप में उत्पन्न हुआ जाव अंतं काहिइ—यावत् समस्त कर्मों का अन्त करेगा अर्थात् सिद्ध होगा ।

भावार्थ—विविध प्रकार के शील एवं व्रतों के द्वारा आत्म विकास करते हुए कुण्डकौलिक को चौदह वर्ष बीत गए । पन्द्रहवें वर्ष में उसने कामदेव के समान घर का भार ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और स्वयं पौषधशाला में रहकर भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म प्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा । क्रमशः ग्यारह प्रतिमाएं स्वीकार की और मरकर सौधर्म कल्प के अरुणध्वज नामक विमान में उत्पन्न हुआ । वहां से च्यव कर वह भी महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और कर्मों का अन्त करेगा ।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा सूत्र का छठा कुण्डकौलिक अध्ययन समाप्त ॥

सत्तमज्झयणं

सप्तम अध्ययन

मूलम्—सत्तमस्स उक्खेवो, पोलासपुरे नामं नयरे। सहस्संबवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया ॥ १७७ ॥

छाया—सप्तमस्योपक्षेप:, पोलासपुर नामक नगरम्। सहस्राम्रवन-मुद्यानम्। जित-शत्रू राजा।

शब्दार्थ—सत्तमस्स उक्खेवो—सप्तम का उपक्षेप, पोसालपुरे नामं नयरे—पोसालपुर नामक नगर सहस्संबवणे उज्जाणे—सहस्राम्रवन उद्यान और जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था।

भावार्थ—उस काल उस समय पोलासपुर नामक नगर था। उसके बाहिर सहस्राम्र नामक उद्यान था। वहाँ जितशत्रु राजा राज्य करता था।

मूलम्—तत्थ णं पोलासपुरे नयरे सद्दालपुत्ते नामं कुम्भकारे आजीविओवासए परिवसइ। आजीविय-समयंसि लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगयट्ठे, अट्ठि-मिंज-पेमाणुराग-रत्ते य "अयमाउसो! आजीवियसमए अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे" त्ति आजीविय समएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ १७८ ॥

छाया—तत खलु पोलासपुरे नगरे सद्दालपुत्रो नाम कुम्भकार आजीविकोपासकः प्रतिवसति। आजीविकसमये लब्धार्थ, गृहीतार्थः, पृष्टार्थ, विनिश्चितार्थ, अभिगतार्थः, अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्तश्च—"अयमायुष्मन्! आजीविकसमयोऽर्थ, अयं परमार्थ, शेषोऽनर्थ" इत्याजीविकसमयेनात्मानं भावयन् विहरति।

शब्दार्थ—तत्थ णं पोलासपुरे नयरे—उस पोलासपुर नगर में सद्दालपुत्ते नामं कुम्भकारे—सद्दालपुत्र नामक कुम्भकार आजीविओवासए परिवसइ—आजीविक

(गोशालक) के मत का अनुयायी रहता था, आजीवियसमयसि—आजीविक के सिद्धान्त में लद्धट्ठे—लब्धार्थ था अर्थात् उस सिद्धान्त को उसने अच्छी तरह समझा था, गहियट्ठे—स्वीकार किया था, पुच्छियट्ठे—प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया हुआ था, विणिच्छियट्ठे—उनका निश्चय अर्थात् निर्णय किया हुआ था, अभिगयट्ठे—पूरी तरह जाना था अट्ठिमिञ्जपेमाणुरागरत्ते य—(आजीविक सिद्धान्तों का) प्रेम तथा अनुराग उसकी अस्थि हड्डियों और मज्जा में समाया हुआ था (वह कहता था) अयमाउसो—हे आयुष्मन्! आजीविय-समए अट्ठे—यह आजीविक सिद्धान्त ही अर्थ है अयं परमट्ठे—यही परमार्थ है, सेसे अणट्ठे—शेष अर्थात् दूसरे सिद्धान्त अनर्थ हैं त्ति—इस प्रकार आजीविय समएण—आजीविक सिद्धान्त के द्वारा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ—आत्मा को भावित करता हुआ विचर रहा था।

भावार्थ—पोलासपुर नगर में आजीविक मत का अनुयायी, सद्दालपुत्र नामक कुम्भकार रहता था। उसने आजीविक सिद्धान्त को अच्छी तरह समझा हुआ था स्वीकार किया था, प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया था निश्चय किया था और सम्यक् जाना था। आजीविक सिद्धान्तों का पूर्णतया अनुराग उसकी अस्थि तथा मज्जा में प्रविष्ट हो चुका था। वह कहता था—हे आयुष्मन्! आजीविक सिद्धान्त ही अर्थ है। अन्य सिद्धान्त अनर्थ हैं। इस प्रकार आजीविक सिद्धान्त के द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ विचर रहा था।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एक्का हिरण्ण कोडी निहाण पउत्ता, एक्का वुड्ढि पउत्ता, एक्का पवित्थरपउत्ता, एक्के वए दस-गोसाहस्सिएणं वएणं ॥ १७६ ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्यैका हिरण्यकोटि निधान-प्रयुक्ता, एका वृद्धि प्रयुक्ता, एका प्रविस्तर प्रयुक्ता, एको व्रजो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के पास एक्का हिरण्ण कोडी—एक करोड सुवर्ण मुद्राएँ निहाण पउत्ता—कोष में सञ्चित थी एक्का वुड्ढि पउत्ता—एक करोड व्यापार में लगे हुए थे एक्का

पवित्थर-पउत्ता—और एक करोड़ गृह और उपकरणों मे लगे हुए थे एवके वए दस-गोसाहस्सिएणं वएणं—दस हजार गायों का एक व्रज था।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के पास एक करोड सुवर्ण कोष मे सञ्चित थे, एक करोड़ व्यापार से लगे हुए थे और एक करोड़ घर तथा सामान मे। दस हज़ार गौओ वाला एक व्रज था।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था ॥ १८० ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्य आजीविकोपासकस्याग्निमित्रा नाम भार्याऽऽसीत्।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था—अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी।

भावार्थ—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पोलासपुरस्स नगरस्स वहिया पंच कुम्भकारावण-सया होत्था। तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं वहवे करए य वारए य पिहडए य घडए य अद्ध-घडए य कलसए य अलिजरए य जम्बूलए य उट्टियाओ य करेंति। अन्ने य से वहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं तेहिं बहूहिं करएहि य जाव उट्टियाहि य राय-मग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति ॥ १८१ ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य पोलासपुरान्नगराद् वहिः पंचकुम्भकारापणशतान्यासन्। तत्र खलु वहवः पुरुषा दत्त-भृति-भक्त वेतना., कल्याकल्यि वहून् करकांश्च, वरकांश्च, घटकांश्च, कलशाँश्चालिञ्जरांश्च, जम्बूलकांश्चोष्ट्रिकाश्च कुर्वन्ति। अन्ये च तस्य वहवः पुरुषाः दत्त-भृति-भक्ता-वेतनः कल्याकल्यि तैर्बहुभि करकैश्च यावदुष्ट्रिकाभिश्च राजमार्गे वृत्तिं कल्पयन्तो विहरन्ति।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया—पोलासपुर नगर के बाहिर पंच कुम्भकारावणसया होत्था—पांच सौ बर्तनों के आपण थे तत्थ णं—उनमें बहवे पुरिसा—बहुत से पुरुष दिण्ण भइ भत्त वेयणा—भत्ति—दैनिक मजदूरी भक्त—भोजन और वेतन प्राप्त करके कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन प्रभात होते ही बहवे—बहुत से करए य—करक, जलघटी वारए य—गुल्लक याम टके पिहडए य—स्थालायाँ या कुंड घडए य—घडे अद्धघडए य—अर्धघटक—बडे कूंडे, कलसए य—कलश—बड़े घड़े अलिंजरए य—अलिञ्जर—मट्ट जम्बूलए—जम्बूलक—सुराहियां उट्टियाओ य—उष्ट्रिका—छोटे मुंह लम्बी गर्दन और बडे पेट वाले बर्तन (कुप्पी) जिनमे तैलादि डाला जाता है। करेंति—बनाते थे, अन्ने य से बहवे पुरिसा—और बहुत से अन्य पुरुष दिण्ण भइ भत्त वेयणा—भति भक्त और वेतन प्राप्त करके कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन प्रात तेहिं बहूहिं करएहिं य उन करक जल घटिकाओ जाव—यावत उट्टियाहि य—उष्ट्रिकाओं को बेचकर रायमग्गंसि—राजमार्ग पर बैठकर वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति—आजीविका का उपार्जन करते थे।

भावार्थ—सद्दालपुत्र के पोलासपुर नगर के बाहिर ५०० आपण थे, जहां प्रतिदिन सैकडो व्यक्ति प्रातः होते ही पहुँच जाते थे और दैनिक मजदूरी, भोजन तथा वेतन प्राप्त करके तरह तरह के बर्तन बनाते थे। इसी प्रकार बहुत से पुरुष दैनिक मजदूरी तथा वेतन पर उन बर्तनों को नगर के चौराहों पर मार्गों पर बेचते थे। और इस प्रकार आजीविका कमाते थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे सद्दालपुत्र की सम्पत्ति का वर्णन है। उसके पास १ करोड सुवर्ण कोष मे सञ्चित थे एक करोड व्यापार में तथा एक करोड गृह तथा उपकरणों में लगे हुए थे। दस हजार गायों वाला एक व्रज था। इसके अतिरिक्त उसके पोलासपुर नगर से बाहिर ५०० आपण थे जहाँ सैकडों व्यक्ति बर्तन बनाते थे और सैकडों नगर के चौराहों पर बेचा करते थे। इन व्यक्तियों को तीन प्रकार से पारिश्रमिक मिलता था। किसी को दैनिक मजदूरी, किसी को भोजन और किसी को मासिक या साप्ताहिक वेतन मिलता था।

शास्त्रकार ने मिट्टी के वर्तनो का विस्तृत वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि उन दिनो इस प्रकार के वर्तन वना करते थे। वर्णन मे नीचे लिखे प्रकार दिये गये हैं।

१. करए—(करक) पानी ठण्डा रखने के लिए काम मे आने वाला घडा।

२. वारए—(वारक) गुल्लक।

३. पिहडए—(पिठर) चपटे पेदे वाली मिट्टी की परात या कठौती जिसे दुकानदार दही जमाने के काम मे लेते हैं।

४. घडए—(घट) कुआ, तालाव, नदी आदि से पानी भरने के काम मे आने वाला मटका।

५. अद्धघडए—(अर्धघटक) छोटा मटका।

६. जम्वूलए—(जाम्वूनद) मुराही।

७. उट्टियाए—(उष्ट्रिका) लम्वी गर्दन और वडे पेट वाले मटके जो तेल, घी आदि भरने के काम आते हैं।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि जेणेव असोग-वणिया तणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स अंतियं धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १८२ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽन्यदा कदाचित् पूर्वापराह्ण-काल-समये येनैवाऽशोकवनिका तेनैवोपागच्छति, उपागत्य गोशालस्य मंखलि-पुत्रस्याऽऽन्तिकी धर्म-प्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शव्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते आजीवियोवासए**—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र **अन्नया कयाइ पुव्वावरण्हकालसमयंसि**—एक दिन दोपहर के समय **जेणेव असोग-वणिया**—जहाँ अशोक-वनिका थी **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आया **उवागच्छित्ता**—आ कर **गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स अंतियं**—गोशालक मंखलि-पुत्र के पास

से स्वीकृत धम्मपण्णत्ति—धम प्राप्ति का उवसपज्जित्ताण विहरइ—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावाथ—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र एक दिन दोपहर के समय अशोक वनिका म आया और गोशालक मखलिपुत्र की धम प्रनप्ति का स्वीकार करके विचरने लगा।

मूलम—तए ण तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एगे देवे अतिय पाउब्भवित्था ॥ १८३ ॥

छाया—तत खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्यको देवोऽन्तिके प्रादुरभूत।

शब्दाथ—तए ण—तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस सद्दालपुत्र आजीविकापासक के अतिय—पास एगे देवे पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ।

भावाथ—तत्पश्चात उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के समीप एक देव प्रकट हुआ।

मूलम—तए ण से देवे अतलिक्ख पडिवन्ने सखिखिणियाइ जाव परिहिए सद्दालपुत्त आजीविओवासय एव वयासी—"एहिइ ण देवाणुप्पिया ! कल्ल इह महा-माहणे, उप्पन्नणाण दसणधरे, तीय-पडुपन्न मणागय जाणए, अरहा जिणे केवली, सव्वण्णू, सव्व दरिसी, तेलोक्क वहिय महिय पूइए, स देव मणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे, वदणिज्जे, सक्कारणिज्जे, सम्माणणिज्जे कल्लाण मगल देवय चेइय जाव पज्जुवासणिज्जे, तच्चकम्म सपया सपउत्ते। त ण तुम वदेज्जाहि जाव पज्जुवासेज्जाहि, पाडिहारिएण पीढ फलग सिज्जासथारएण उवनिमतेज्जाहि।" दोच्च पि तच्च पि एव वयइ, वइत्ता जामेव दिस पाउब्भूए तामेव दिस पडिगए॥ १८४ ॥

छाया—तत खलु स देवोऽन्तरिक्षप्रतिपन्न सकिङ्किणाकानि यावत्परिहित सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत—' एष्यति खलु देवानुप्रिय ! कल्यमिह

महामाहनः, उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधरोऽतीत प्रत्युत्पन्नानागतज्ञोऽर्हन् जिनः केवलीसर्वज्ञः, सर्वदर्शी, त्रैलोक्य वहित-महित-पूजितः, सदेवमनुजासुरस्य लोकस्यार्चनीयो वन्दनीयः, सत्करणीयः, सम्माननीयः, कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यो यावत्पर्युपासनीय , तथ्यकर्म-सम्पदा सम्प्रयुक्तः । तत् खलु त्वं वन्दस्व यावत् पर्युपासस्व, प्रातिहारिकेण पीठ-फलक-शय्या-संस्तारकेणोपनिमन्त्रय !" द्वितीयमपि तृतीयमप्येवं वदति । उदित्वा यस्या एव दिश प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं प्रतिगतः ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से देवे**—वह देव **अंतलिक्खपडिवन्ने**—आकाश मे स्थित होकर **सखिखिणियाइं जाव परिहिए**—घुंगरुओ वाले वस्त्र पहने हुए **सद्दालपुत्तं आजीविओवासग** आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**एहिइ णं देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिय ! आएँगे, **कल्लं इहं**—कल यहाँ **महामाहणे**—महामहनीय, **उप्पन्न नाणदंसणधरे**—अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन के धारक, **तीयपडुप्पन्नमणागयजाणए**—अतीत, वर्तमान और अनागत के जानने वाले, **अरहा**—अरिहन्त **जिणे**—जिन **केवली**—केवली **सव्वण्णू**—सर्वज्ञ, **सव्वदरिसी**—सर्वदर्शी **तेलोक्क वहिय-महिय-पूइए**—तीनो लोको के द्वारा ध्यात, महित तथा पूजित **सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे**—देव, मनुष्य तथा असुरो के अर्चनीय, **वंदणिज्जे**—वदनीय, **सक्कारणिज्जे**—सत्कार करने योग्य, **सम्माणणिज्जे**—सम्मान-नीय, **कल्लाणं**—कल्याण स्वरूप, **मंगलं**—मगल स्वरूप, **देवयं**—देव स्वरूप, **चेइयं**—ज्ञान-स्वरूप **जाव**—यावत् **पज्जुवासणिज्जे**—पर्युपासना करने योग्य, **तच्चकम्म संपया संपउत्ते**—तथ्य कर्मरूप सपत्ति से युक्त, **तं णं**—उनकी **तुमं वंदेज्जाहि**—तुम वन्दना करना **जाव पज्जुवासेज्जाहि**—यावत् पर्युपासना करना, **पाडिहारिएणं**—प्रातिहारिक—ऐसी वस्तुएँ जिन्हे साधु काम में लेकर वापिस कर देते हैं, **पीढ फलग सिज्जा-संथारएणं उवनिमंतेज्जाहि**—पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए निमन्त्रित करना, **दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ**—इसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार कहा **वइत्ता**—कह कर **जामेव दिसं पाउब्भूए**—जिस दिशा से प्रकट हुआ था **तामेव दिसं पडिगए**—उसी दिशा मे चला गया ।

भावार्थ—वह देव जो घुंघरू वाले वस्त्र पहने हुए था, आकाश स्थित होकर सद्दालपुत्र से कहने लगा—"हे देवानुप्रिय ! कल यहाँ महामाहन, अप्रतिहत ज्ञान,

दर्शन के धारक, अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानने वाले अरिहन्त, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिनका तीनों लोक ध्यान, स्तुति तथा पूजन करते हैं। देव, मनुष्य तथा असुरों के अर्चनीय, वन्दनीय, सत्कारणीय तथा सम्माननीय, कल्याण स्वरूप मंगल स्वरूप, देवता स्वरूप और ज्ञान स्वरूप यावत् पर्युपासनीय तथ्य कर्म सम्पत्ति के स्वामी कल यहाँ आएँगे। तुम उन्हें वन्दना यावत् पर्युपासना करना। उन्हें प्रातिहारिक पीठ फलक शय्या और संस्तारक आदि के लिए निमन्त्रित करना।" दूसरी और तीसरी बार भी उसने इसी प्रकार कहा और जिस दिशा से आया था उसी दिशा में चला गया।

टीका—एक दिन सद्दालपुत्र अपनी अशोक वनिका में गोशालक के कथनानुसार धर्मानुष्ठान कर रहा था। दोपहर के समय उसके पास एक देव प्रकट हुआ। उसने सूचना दी कि कल यहां सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त, जिन, केवली आएंगे। साथ ही सद्दालपुत्र से अनुरोध किया—तुम भगवान को वन्दना नमस्कार करने के लिए जाना। उनकी उपासना करना उन्हें पीठ फलक शय्या, संस्तारक आदि के लिए निमन्त्रित करना। देव ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है वे श्रमण महावीर के लिए हैं। उसका लक्ष्य भगवान महावीर की ओर था।

वे विशेषण इस बात को प्रकट करते हैं कि उन दिनों धर्माचार्यों में किस प्रकार के गुणों की अपेक्षा की जाती थी। वे विशेषण इस प्रकार हैं—

१ 'महामाहणे' त्ति—जैन आगमों में भगवान महावीर के महामाहन, महामुणी आदि विशेषण मिलते हैं। माहन का शब्दार्थ है मत मारो। भगवान महावीर सर्वत्र अहिंसा या 'मत मारो' का उपदेश दिया करते थे। इसलिए उनका नाम माहन या महामाहन' पड गया। कई स्थानों पर इसका अर्थ ब्राह्मण भी किया जाता है जिसका अभिप्राय है ज्ञानी। टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—जो व्यक्ति स्वयं किसी को न मारने का निश्चय करता है। साथ ही दूसरों को न मारने का उपदेश भी देता है। जो सूक्ष्म तथा स्थूल समस्त जीवों की हिंसा से सदा के लिए निवृत्त है वही महामाहन है—माहंमि—न हन्मीत्यर्थ, आत्मना वा हननानिवृत्त पर प्रति 'मा हन' इत्यवमाचष्टे य स माहन स एव मन प्रभृतिकरणादिभिराजन्म सूक्ष्मादिभेदभिन्नजीवहननिवृत्तत्वात महामाहनो महामाहन।"

२. **उप्पन्ननाण-दंसण-धरे**--(उत्पन्न-ज्ञान-दर्शन-धर) अव्याहत ज्ञान और दर्शन के धारक। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन से सम्पन्न है। किन्तु उसके यह गुण कर्मो के आवरण से दवे हुए हैं। कर्म-मल दूर होते ही वे अपने आप प्रकट हो जाते हैं। ज्ञान का अर्थ है—साकार या सविकल्पक बोध और दर्शन का अर्थ है—निराकार या निर्विकल्पक प्रतीति। भगवान महावीर को पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण दर्शन प्रकट हो चुका था।

३. **तीय-पडुपन्न-मणागय-जाणए**—(अतीत प्रत्युत्पन्नानागतज्ञाता) भूत, वर्तमान तथा भविष्यत तीनो कालो को जानने वाले।

४. **अरहा**--(अर्हत्) सस्कृत में 'अर्ह' पूजायाम् धातु है अत अर्हत् शव्द का अर्थ पूज्य है। इसका दूसरा अर्थ है 'योग्य'। इसका तीसरा अर्थ आरि अर्थात् 'आत्म शत्रुओ को मारने वाला' भी किया जाता है।

५. **जिणे**--(जिन) रागद्वेष को जीतने वाला। ई० पूर्व पष्ठ शताव्दी में जिन शव्द अत्यन्त प्रतिप्ठा का सूचक था। महावीर, गोशालक, जामाली, वुद्ध आदि धर्म-प्रवर्तको के अनुयायी अपने २ शास्ता को जिन कहने में गौरव का अनुभव करते थे। इस विपय मे उनका परस्पर विवाद भी चलता रहता था और प्रत्येक अनुयायी अपने उपास्य को जिन सिद्ध करने का प्रयत्न करता था। भगवती सूत्र के पन्द्रहवे शतक मे लिखा है—"**सावत्थीए णयरीए अजिणे जिणप्पलावी, अजिणे जिण-सद्दं पगासमाणे विहरइ**" अर्थात् श्रावस्ती नगरी मे गोशालक मखलिपुत्र जिन न होता हुआ भी जिन, अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ न होता हुआ भी अपने आपको अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ कहता हुआ विचरता था।

६. **केवली**--इसका अर्थ है केवलज्ञान तथा केवलदर्शन के धारक। केवल शव्द का अर्थ है—शुद्ध मिश्रण से रहित। साख्य दर्शन मे प्रकृति और पुरुप के विवेक को कैवल्य कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार कैवल्य ज्ञान का अर्थ है—विशुद्ध एव विश्व जगत का पूर्ण ज्ञान।

७. **सव्वण्णू**--(सर्वज्ञ) सव वस्तुओ को जानने वाले।

८. **सव्वदरिसी**--(सर्वदर्शी) सव वस्तुओ को देखने वाले।

६ तेलोक्कवहिय-महिय पूइए—(त्रलोक्यावहितमहितपूजित) तीनों लोकों के द्वारा अवहित, महित तथा पूजित। अवहित शब्द संस्कृत की धा धातु के साथ *अव उपसर्ग लगाने पर बना है। इसी से अवधान शब्द भी बनता है जिसका अर्थ* है–ध्यान। अवहित का अर्थ है ध्यान अर्थात् तीनों लोकों के द्वारा जिनका ध्यान अथवा चिन्तन किया जाता है। महित का अर्थ है—'प्रतिष्ठित, अपनी महानता के लिए सब विदित। पूजित का अर्थ स्पष्ट है। वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की है। त्रलोक्येन—त्रिलोकवासिना जनेन, 'वहिय त्ति' समग्रैश्वर्यातिशयसन्दोहदर्शनसमाकुलचेतसा हृषभरनिर्भरेण प्रबलकुतूहलबलादनिमिषलोचनेनावलोकित, 'महिय त्ति सेव्यतया वाञ्छित, पूजित —पूजितश्च।

१० सदेवमणुयासुरस्सलोगस्स अच्चणिज्जे सम्माणणिज्जे—देव, मनुष्य तथा असुर सभी द्वारा अर्चनीय वन्दनीय सत्कार करने योग्य तथा सम्मान करने योग्य।

प्राचीन समय में देव मनुष्य और असुर सृष्टि के प्रधान एवं शक्तिशाली अङ्ग माने जाते थे। महापुरुष का वर्णन करते समय उसे तीनों का ही पूज्य बताया जाता था।

११ कल्लाण—(कल्याण) कल्याण स्वरूप अर्थात् प्राणीमात्र के उद्धारक।

१२ मगल—(मंगल) मंगल स्वरूप अर्थात् सच्चा सुख प्राप्त कराने वाले।

१३ देवय—(दैवत) दैवत का अर्थ है—अतिन्द्रिय तेज तथा शक्ति के धारक साथ ही इष्ट देवता के रूप में पूजनीय।

१४ चेइय—(चैत्य) इस शब्द के अनेक अर्थ किए जाते हैं। यहाँ इसका अर्थ है ज्ञानस्वरूप। यह संस्कृत की चिति संज्ञाने धातु से बना है चिञ् चयने धातु से भी यह शब्द बनाया जाता है। जिस का अर्थ है—ईंटों का चिना हुआ चबूतरा। इसी से चिता शब्द भी बनता है। किन्तु यहां यह अर्थ नहीं लिया जा सकता।

१५ पज्जुवासणिज्जे—(पर्युपासनीय) यह शब्द आस—उपवेशने धातु के साथ परि तथा उप उपसर्ग लगाने पर बना है। उपासनीय का अर्थ है–उपासना करने या पास में बैठने योग्य। परि का अर्थ है सब तरह से किसी महापुरुष के पास

बैठना, उसकी सगति करना, उपासना कहा जाता है। जो व्यक्ति सव प्रकार से उपासना करने योग्य हो उसे पर्युपासनीय कहा जाता है।

१६. **तच्च-कम्म-संपया संपउत्ते**--(तथ्यकर्म-सम्पदा-सम्प्रयुक्त) यह विशेषण महत्वपूर्ण है। भगवान् महावीर केवल उपदेष्टा ही नही थे। कर्म-सम्पदा अर्थात् आचरण रूप सम्पत्ति के भी स्वामी थे। कर्म-सम्पत्ति भी दो प्रकार की होती है-- (१) तथ्य अर्थात् सफल--जीवन को ऊँचा उठाने वाली जो विधि के अनुसार की जाती है। (२) अतथ्य अर्थात् निष्फल--जो केवल दिखावा है, वह आत्म-शुद्धि के लिए उपयोगी नही है। भगवान महावीर के समय तापस, सन्यासी, परिव्राजक आदि अनेक प्रकार की तपस्याएँ--अज्ञान तप किया करते थे कोई अपने चारो ओर आग सुलगा कर पञ्चाग्नि तप किया करता था, कोई वृक्ष से उल्टा लटका रहता था। कोई हाथ ऊपर उठा कर घूमता रहता था और कोई काँटो पर लेटता था। इस प्रकार शारीरिक कष्ट उठाने पर भी वे लोग क्रोधी एव दम्भी हुआ करते थे। उनकी साधना केवल लोक दिखावा थी जिससे भोली जनता आकृष्ट हो जाती थी। आत्म शुद्धि के लिए उसका कोई उपयोग न था। महावीर और बुद्ध दोनो ने इस प्रकार की तपस्या को बुरा वताया है। इसके विपरीत महावीर की कर्म-सम्पदा तथ्य थी अर्थात् वह जिस उद्देश्य से की जाती थी वह वास्तव मे उस पर पहुँचाने वाली थी। तथ्य शब्द एक अन्य वात को भी प्रकट करता है, गोशालक नियतिवादी था। उसकी दृष्टि मे उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, आदि निष्फल हैं, अर्थात् इनसे कोई लाभ नही क्योकि विश्व मे समस्त परिवर्तन नियत हैं जो होना है अवश्य होगा, उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता। इसके विपरीत महावीर की दृष्टि में उत्थान आदि के द्वारा घटना चक्र मे परिवर्तन लाया जा सकता है। पुरुषार्थ निष्फल नही होता अत. महावीर की कर्म-सम्पदा तथ्य अर्थात् फलवती है। जवकि गोशालक की फल शून्य है। यहाँ वृत्तिकार के ये शब्द हैं--

"तथ्यानि सत्फलानि अव्यभिचारितया यानि कर्माणि--क्रियास्तत्सम्पदा सत्समृद्धया सम्प्रयुक्तो--युक्तः स तथा।"

देव ने सद्दालपुत्र से कहा तुम भगवान की वन्दना यावत् उपासना करना उन्हे प्रातिहारिक पीठ, फलक आदि के लिए निमन्त्रित करना।

प्रातिहारिक—इस शब्द का अर्थ है—व वस्तुएँ जिन्हे काम पूरा हो जाने पर लौटा दिया जाता है। यहा दो शब्द मननीय हैं—आहार और प्रतिहार भोजन सामग्री को आहार कहा जाता है। 'आ उपसर्ग का अर्थ पूरी तरह, और हृ धातु का अर्थ है हरण करना या लाना। जो वस्तु एक बार लाकर वापिस नही की जाती उसे आहार कहा जाता। भोजन इसी प्रकार की वस्तु है। इसके विपरीत बठने का पीढा खाने के लिए चौकी आदि वस्तुएँ कुछ दिनो के लिए लाइ जाती हैं और काम पूरा हो जाने पर वापिस कर दी जाती हैं। इन्हे प्रतिहार कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र प्रतिहारी के रूप चार वस्तुओ का उल्लेख है (१) पीठ अर्थात पीढा—बैठने की चौकी। (२) फलक—पट्टा या खाने की चौकी। पजाबी मे इसे फट्टा कहा जाता है। (३) शय्या—निवास स्थान तथा (४) सस्तारक—बिछौना के लिए घास या चटाई आदि।

यहा एक बात और ध्यान देने योग्य है। देव ने भोजन, पानी आदि का उल्लेख नही किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि महावीर की परम्परा मे निमन्त्रित भोजन स्वीकार नही किया जाता था। यह परम्परा अब भी अक्षुण्ण है। निमन्त्रित भोजन को साधु के लिए दोषपूर्ण माना जाता है। इसके विपरीत बुद्ध तथा गोशालक के साधु निमन्त्रित भोजन स्वीकार कर लेते थे।

मूलम—तए ण तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तेण देवेण एव वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—"एव खलु मम धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मखलि पुत्ते, से ण महामाहणे उप्पन्नणाण-दसणधरे जाव तच्च कम्म सपया सपउत्ते, से ण कल्ल इह हव्वमागच्छि-स्सइ। तए ण त अह वदिस्सामि जाव पज्जुवासिस्सामि पाडिहारिएण जाव उवनिमतिस्सामि ॥ १८५ ॥

छाया—तत खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य तेन देवेनैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिक ४ समुत्पन्न —"एव खलु मम धर्माचार्यो धर्मोपदेशको गोशालो मङ्खलि पुत्र, स खलु महामाहन उत्पन्नज्ञानदर्शनधरो यावत्तथ्य-कर्मसम्पदा

सम्प्रयुक्त , स खलु कल्ये इह हव्यमागमिष्यति, ततः खलु तमहं वन्दिष्ये, प्रातिहारिकेण यावदुपनिमन्त्रयिष्यामि ।"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स**—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के **तेणं देवेणं**—उस देव द्वारा **एवं वुत्तस्स समाणस्स**—इस प्रकार कहे जाने पर **इमेयारूवे**—यह **अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने**—विचार उत्पन्न हुआ—**एवं खलु**—इस प्रकार **ममं**—मेरे **धम्मायरिए**—धर्माचार्य **धम्मोवएसए**—धर्मोपदेशक **गोसाले मंखलि-पुत्ते**—गोशाल मखलि-पुत्र हैं, **से णं महामाहणे**—वे महामाहन हैं, **उप्पन्नणाणदंसणधरे**—अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारक हैं, **जाव तच्च-कम्म संपया संपेउत्ते**—यावत् तथ्य-कर्म रूप सपत्ति के स्वामी हैं, **सेणं कल्लं इहं हव्वमागच्छिस्सइ**—वे कल यहाँ आएँगे, **तए णं तं अहं वंदिस्सामि**—तब मैं उनको वन्दना करूँगा, **जाव पज्जुवासिस्सामि**—यवत् पर्युपासना करूँगा, **पाडिहारिएणं जाव उवनिमतिस्सामि**—प्रातिहारिक—पीठ-फलक आदि के लिए यावत् निमन्त्रित करूँगा ।

भावार्थ—उस देव के ऐसा कहने पर आजीविकोपासक सद्दाल-पुत्र के मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि "मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक गोशालक मखलि-पुत्र, महामाहन, अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारक यावत् तथ्य-कर्म रूप सपत्ति के स्वामी कल यहाँ आएँगे । मैं उन्हे वन्दना करूँगा यावत् उनकी पर्युपासना करूँगा । उन्हे प्रातिहारिक पीठ-फलकादि के लिए निमन्त्रित करूँगा ।"

मूलम्—**तए णं कल्लं जाव जलंते समणे भगवं महावीरे जाव समोसरिए । परिसा निग्गया जाव पज्जुवासइ ।। १८६ ।।**

छाया—**ततः खलु यावज्ज्वलति श्रमणो भगवान् महावीरो यावत्-समवसृत । परिषन्निर्गता, यावत् पर्युपास्ते ।**

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **कल्लं जाव जलंते**—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर **जाव समोसरिए**—यावत् पधारे **परिसा निग्गया**—परिषद् निकली **जाव पज्जुवासइ**—यावत् पर्युपासना की ।

भावार्थ—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही भगवान महावीर पधार, यावत परिषद धर्म श्रवण के लिए निकली। यावत पर्युपासना हुई।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—"एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव पज्जुवासामि" एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए जाव पायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं जाव अप्पमहग्घाभरणालंकिय सरीरे-मणुस्सवग्गुरा परिगए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसित्ता जाव पज्जुवासइ ॥ १८७ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽस्या कथाया लब्धार्थः सन्—"एवं खलु श्रमणो भगवान् महावीरो यावद्विहरति, तद् गच्छामि खलु श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दे यावत् पर्युपासे" एवं सम्प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य स्नातो यावत् प्रायश्चित्तः शुद्धप्रवेश्यानि यावद् अल्पमहार्घाभरणालङ्कृतशरीरो मनुष्यवागुरा परिगतः स्वस्माद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य पोलासपुरं नगरं मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव सहस्राम्रवणमुद्यानं येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिकृत्व आदक्षिणं प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा यावत् पर्युपासते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—इस वृतान्त को सुना कि एवं खलु समणे भगवं महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर जाव विहरइ—यावत् विचर रहे हैं तं गच्छामि णं—इसलिये मैं जाता हूँ समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को वंदामि जाव पज्जुवासामि—वन्दना करूंगा यावत् पर्युपासना करूंगा। एवं संपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया संपेहित्ता—विचार करके

ण्हाए—स्नान किया जाव पायच्छित्ते—यावत् प्रायश्चित्त अर्थात् मङ्गलाचार किया, सुद्धप्पावेसाइं—शुद्ध तथा सभा में प्रवेश करने योग्य वस्त्र जाव—यावत् अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे—अल्प भार वाले बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को आलंकृत किया, और मणुस्सवग्गुरापरिगए—जन-समूह के साथ साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ—अपने घर से निकला पडिणिक्खमित्ता—निकल कर पोलासपुरं नगरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ—पोलासपुर नगर के बीचो-बीच होता हुआ बाहिर निकला, निग्गच्छित्ता —निकल कर जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे—जहाँ सहस्राम्रवन उद्यान था, जेणेव समणे भगवं महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छित्ता—आकर तिक्खुत्तो आयाहिणं-पयाहिणं करेइ—दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की करेत्ता वंदइ नमंसइ—प्रदक्षिणा कर के वन्दना की, नमस्कार किया वंदित्ता नमसित्ता जाव पज्जुवासइ—वन्दना नमस्कार कर के यावत् पर्युपासना की।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने इस वृत्तान्त को सुना कि श्रमण भगवन् महावीर यावत् विचर रहे हैं, उसके मन में आया "मैं जाता हूँ और उन्हें वन्दना नमस्कार करता हूँ यावत् पर्युपासना करता हूँ।" इस प्रकार विचार कर के स्नान किया यावत् कौतुक तथा मंगलाचार किये तथा सभा में जाने योग्य शुद्ध वस्त्र पहने। अल्प भार किन्तु बहुमूल्य आभूषणों द्वारा अपने शरीर को आलंकृत किया और जन समूह के साथ घर से निकल कर पोलासपुर नगर के बीचो-बीच होता हुआ सहस्राम्रवन उद्यान में भगवान् महावीर के पास पहुँचा। उन्हें वन्दना नमस्कार करके पर्युपासना करने लगा।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य महइ जाव धम्मकहा समत्ता ॥ १८८ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य तस्यां च महति यावद् धर्मकथा समाप्ता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र तीसे य महइ—तथा

उस विशाल परिषद् को (धम कथा सुनाई) जाव धम्मकहा समत्ता—यावत् धम कथा समाप्त हुई।

भावाय—तब श्रमण भगवान महावीर न उस विशाल परिषद मे आजीविको पासक सद्दालपुत्र का धमकथा कही यावत वह समाप्त हो गई।

मूलम्—"सद्दालपुत्ता" ! इ समणे भगव महावीरे सद्दालपुत्त आजीवोओ वासय एव वयासी—"से नूण, सद्दालपुत्ता ! कल्ल तुम पुव्वावरण्ह काल समयसि जेणेव असोग वणिया जाव विहरसि। तए ण तुब्भ एग देवे अतिय पाउब्भवित्था। तए ण से देवे अतलिक्खपडिव ने एव वयासी—"हभो सद्दालपुत्ता !" त चेव सव्व जाव "पज्जुवासिस्सामि"। से नुण, सद्दालपुत्ता ! अट्ठे समट्ठे ?" "हता ! अत्थि"। नो खलु, सद्दालपुत्ता ! तेण देवेण गोसाल मखलि-पुत्त पणिहाय एव वुत्ते" ॥ १८६ ॥

छाया—"सद्दालपुत्र" ! इति श्रमणो भगवान महावीर सद्दालपुत्रमाजीविको पासकमेवमवादीत—"तन्नून सद्दालपुत्र ! कल्यें त्व पूर्वापराह्लकालसमये येनवाऽशोक वनिका यावद विहरसि। तत खलु तवको देवोऽतिके प्रादुरासीत। तत खलु स देवोऽन्तरिक्षप्रतिपन्न एवमवादीत—"हभो सद्दालपुत्र" ! तदेव सव यावत पुयु पासिष्ये", तन्नून सद्दालपुत्र ! अथ समथ ?" "हन्तास्ति"। नो खलु सद्दालपुत्र ! तेन देवेन गोशाल मखलिपुत्र प्रणिधायवमुक्तम्।"

शब्दाथ—सद्दालपुत्ता !—हे सद्दालपुत्र इ समणे भगव महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने सद्दालपुत्त आजीविओवासय एव वयासी—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को इस प्रकार कहा—से नूण सद्दालपुत्ता—निश्चय ही हे सद्दालपुत्र ! कल्ल तुम पुव्वावरण्हकालसमयसि—तुम कल दोपहर के समय जेणेव असोग वणिया जाव विहरसि—जहा अशोक वनिका म बठे थे तए ण—तब एगे देवे—एक देव तुब्भ अतिय पाउब्भवित्था—तुम्हारे पास प्रकट हुआ तए ण—तब से देवे—उस देव ने अतलिक्ख पडिवन्ने एव वयासी—आकाश मे स्थित होकर यह कहा—हभो सद्दालपुत्ता !—हे सद्दालपुत्र ! त चेव सव्व—पूर्वोक्त सारा वता त उसी प्रकार कह सुनाया जाव—

पज्जुवासिस्सामि—यावत् पर्युपासना करूँगा **से नूणं सद्दालपुत्ता !**—निश्चय ही हे सद्दालपुत्र ! **अट्ठे समट्ठे**—क्या यह बात ठीक है ? **हंता ! अत्थि**—हाँ भगवन् ! हे सद्दालपुत्र ! ठीक है, **नो खलु सद्दालपुत्ता ! तेणं देवेणं गोसालं मंखलिपुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते**—उस देव ने मङ्खलिपुत्र गोशालक को लक्ष्य करके ऐसा नही कहा था ।

भावार्थ—इस प्रकार भगवान महावीर ने सद्दालपुत्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे सद्दालपुत्र ! तुम जब अशोकवनिका मे थे, एक देव तुम्हारे पास आया और उसने बताया कि इस प्रकार अरिहत केवली आएँगे । भगवान ने सद्दालपुत्र के द्वारा पर्युपासना सम्वन्धी निश्चय तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त में पूछा—क्या यह वात ठीक है ?" हाँ भगवन्—ठीक है, सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया । भगवान् ने फिर कहा—"सद्दालपुत्र ! देव ने यह वात गोशालक को लक्ष्य करके नही कही थी ।"

मूलम्—**तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—"एस णं समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्न-णाण-दंसणधरे, जाव तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते । तं सेयं खलु ममं समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता पाडिहारिएणं पीढ-फलग जाव उवनिमंतित्तए ।" एवं संपेहेइ, संपेहित्ता उट्ठाए उट्ठेइ, उठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, वन्दित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—"एवं खलु भंते ! ममं पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया पंच कुम्भकारावणसया । तत्थ णं तुब्भे पाडिहारियं पीढ जाव संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरह" ॥ १९० ॥**

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य श्रमणेन भगवता महावीरेणैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिक ४—"एवं खलु श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधरो यावत्तथ्य-कर्म सम्पदा सम्प्रयुक्तस्तत् श्रेयः खलु मम श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दित्वा नमस्कृत्य प्रातिहारिकेण पीठ-फलक यावदुपनिमन्त्रयितुम्" एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य उत्थायोत्तिष्ठति, उत्थित्वा श्रमणं भगवन्तं महावीरं

वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत—'एवं खलु भदन्त ! मम पोलास पुरान्नगराद् बहिः पञ्च कुम्भकारापणशतानि, तत्र खलु यूयं प्रातिहारिकं पीठं सस्तार कमवगृह्य विहरत ।"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणेणं भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान महावीर के एवं वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहने पर सद्दालपुत्तस्स आजीविओ वासयस्स—आजीविकोपासक सद्दाल पुत्र के मन में इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—यह विचार उत्पन्न हुआ एस णं समणे भगवं माहावीरे—यह श्रमण भगवान महावीर महामाहणे—महामाहन उप्पन्नणाण दंसणधरे—अप्रतिहत ज्ञान दर्शन के धारक जाव तच्च कम्म-सपया सपउत्ते—यावत् तथ्य कर्म सम्पदा के स्वामी हैं तं सेयं खलु मम—इसलिए उचित है कि मैं समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को वन्दित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके पाडिहारिएणं पीढ फलग जाव उव निमंतित्तए—प्रातिहारिक पीठ फलक आदि के लिए निमन्त्रित करूँ। एवं संपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता उट्ठाए उट्ठेइ—विचार कर उठा उट्ठित्ता—उठ कर समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को वंदइ नमसइ—वन्दना की नमस्कार किया वंदित्ता नमसित्ता एवं वयासी—वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा एवं खलु भंते !—हे भगवन ! पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया—पोलासपुर नगर के बाहिर मम पंच कुंभकारावणसया—मेरे कुम्हार सम्बन्धी पांच सौ आपण हैं तत्थ णं तुब्भे-वहां से आप पाडिहारिय-प्रातिहारिक पीठ जाव संथारयं—पीठ यावत संस्तारक आदि ओगिण्हित्ता णं विहरह—ग्रहण करके विचरें। ।

भावार्थ—श्रमण भगवान् की बात सुन कर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने सोचा— यह अप्रतिहत ज्ञान दर्शन के धारक यावत सम्पदा और कर्म सम्पदा के स्वामी श्रमण भगवान महावीर हैं। मुझे इन्हें वन्दना नमस्कार करके प्रातिहारिक पीठ फलक आदि के लिए निमन्त्रित करना चाहिए। यह विचार कर उठा श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और निवेदन किया—हे भदन्त ! पोलासपुर नगर के बाहिर मेरे पांच सौ आपण हैं वहां से आप प्रातिहारिक पीठ यावत संस्तारक ग्रहण करके मुझे अनुगृहित करें।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एयट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पंचकुम्भ-कारावणसएसु फासुएसणिज्जं पाडिहारियं पीढफलग जाव संथारयं ओगि-ण्हित्ता णं विहरइ ॥ १९१ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्यै-तमर्थं प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य पञ्चसु कुम्भकारापण-शतेषु प्रासुकैषणीयं प्रातिहारिकं पीठ-फलक शय्या संस्तारकमवगृह्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की एयमट्ठं पडिसुणेइ—इस विनती को स्वीकार किया, पडिसुणित्ता—स्वीकार करके सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की पंचकुम्भकारावणसएसु—पाँच सौ आपणो से फासुएसणिज्जं—प्रासुक और एपणीय पाडिहारियं—प्रातिहारिक पीढफल-गसिज्जासंथारयं—पीढ-फलक, शय्या सस्तारक ओगिण्हित्ता णं विहरइ—ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—तव श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की इस प्रार्थना को स्वीकार किया और सद्दालपुत्र की पाँच सौ दुकानो से प्रासुक, एपणीय और प्रातिहारिक पीठ-फलक, शय्या-सस्तारक ग्रहण करके विचरने लगे ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ वायाहययं कोलाल-भंडं अंतो सालाहिंतो बहिया नीणेइ, नीणित्ता, आयवंसि दलयइ ॥ १९२ ॥

छाया—तत. खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽन्यदा कदाचिद् वाताहतकं कौलालभाण्डमन्त शालाया बहिर्नयति, नीत्वाऽऽतपे ददाति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविको-पासक सद्दालपुत्र अन्नया कयाइ—एक दिन वायाहययं कोलाल-भंडं—कुम्हार द्वारा

बनाए जाने वाले हवा से शुष्क मिट्टी के बतनों का अतो सालाहितो बहिया नीणेइ—अन्दर के कोठे से बाहिर लाया नीणित्ता—लाकर आयवंसि दलयइ—धूप में रखने लगा।

भावार्थ—एक दिन आजीविकोपासक सद्दालपुत्र हवा से कुछ सूखे हुए बर्तनों को अन्दर के कोठे से बाहिर लाकर धूप में सुखाने लगा।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—"सद्दालपुत्ता! एस णं कोलालभंडे कओ?" ॥ १९३ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेव मवादीत्—"सद्दालपुत्र! एष खलु कौलालभाण्डः कुतः?"

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को एवं वयासी—इस प्रकार पूछा—सद्दालपुत्ता!—हे सद्दालपुत्र! एस णं कोलालभंडे कओ—यह मिट्टी के बर्तन कहां से आए अर्थात् कैसे बने?

भावार्थ—यह देखकर भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्र से पूछा—यह बर्तन कैसे बने?

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—"एस णं भंते! पुव्विं मट्टिया आसी, तओ पच्छा उदएणं निगिज्जइ, निगिज्जित्ता छारेण य करिसेण य एगयाओ मीसिज्जइ, मीसिज्जित्ता चक्के आरोहिज्जइ, तओ बहवे करगा य जाव उट्टियाओ य कज्जंति॥ १९४॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकः श्रमणं भगवन्तं महावीरमेव मवादीत्—"एष खलु भदन्त! पूर्वं मृत्तिकाऽऽसीत् ततः पश्चादुदकेन निमज्ज्यते, निम

ज्ज्य क्षारेण च करीषेण चैकतो मिश्यते मिश्रयित्वा चक्रे आरोप्यते, ततो बहव कर-काश्च यावदुष्ट्रिकाश्च क्रियन्ते ।

शब्दार्थ--तए णं—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए**—वह आजीविको-पासक सद्दालपुत्र **समणं भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला-**एस णं भंते !**—हे भगवन् ! यह **पुव्विं मट्टिया आसी**—पहले मिट्टी थी, **तओ पच्छा**—तत्पश्चात् **उदएणं निगिज्जइ**—इन्हे पानी मे भिगोया गया, **निगिज्जित्ता**—भिगो कर **छारेण य करिसेण य**—क्षार और करीष के साथ **एगओ मीसिज्जइ**—एकत्र मिलाया गया **मीसिज्जित्ता**—मिलाकर **चक्के आरोहिज्जइ**—चाक पर चढाया **तओ बहवे करगा य**—तब बहुत से करक **जाव उट्टियाओ**--यावत् उष्ट्रिकाएँ बनाई जाती हैं ।

भावार्थ--सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—"भगवन् ! सर्व प्रथम मिट्टी लाई गई, उसे पानी मे भिगोया गया । तत्पश्चात् क्षारतत्व और गोबर के साथ मिला कर चाक पर चढाया गया । तब यह वर्तन बने ।"

मूलम्---**तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी---"सद्दालपुत्ता ! एस णं कोलाल-भंडे किं उट्ठाणेणं जाव पुरिस-क्कार-परक्कमेणं कज्जंति उदाहु अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति ?" ॥ १९५ ॥**

छाया—तत. खलु श्रमणो भगवान् महावीर सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेव-मवादीत्—"सद्दालपुत्र ! एतत् खलु कौलाल-भाण्डं किमुत्थानेन यावत् पुरुषकार-पराक्रमेण क्रियते उताहो ! अनुत्थानेन यावत् पुरुषकार-पराक्रमेण क्रियते ?"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं**—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से **एवं वयासी**—यह पूछा—**सद्दालपुत्ता !**—हे सद्दालपुत्र ! **एस णं कोलाल-भंडे**—यह मिट्टी के वर्तन **किं उट्ठाणेणं**

—उत्थान स जाव पुरिसक्कार-परक्कमेण कज्जति—यावत पुरुषकार पराक्रम से बनाए जाते हैं, उदाहु—अथवा अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसकार परक्कमेण—विना उत्थान यावत पुरुषार्थ पराक्रम से कज्जति—बनाए जाते हैं ?

भावार्थ—भगवान ने फिर पूछा—'सद्दालपुत्र ! यह बतन उत्थान यावत पुरुषकार पराक्रम से बने है ? अथवा उनके विना ही बने हैं ?'

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समण भगव महावीर एव वयासी—"भते ! अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसक्कार परक्कमेण, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा" ॥ १९६ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक श्रमण भगवन्त महावीरमेव मवादीत—"भदन्त ! अनुत्थानेन यावदपुरुषकारपराक्रमेण, नास्त्युत्थानमिति वा यावत्पराक्रमइति वा, नियता सर्वभावा ।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर को एव वयासी—इस प्रकार बोला—भते !—हे भगवन ! अणुट्ठाणेण—उत्थान जाव अपुरिसक्कार परक्कमेण—यावत पुरुषकार पराक्रम के बिना बनते हैं नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नहीं जाव परक्कमे इ वा—यावत् पराक्रम भी नहीं है नियया सव्वभावा—सब भाव नियत हैं ।

भावार्थ—सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—भगवन ! यह सब बतन उत्थान यावत पुरुषकार पराक्रम के बिना ही बने हैं । उत्थान आदि का कोई अर्थ नहीं है । समस्त परिवर्तन नियत हैं ।

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे सद्दालपुत्त आजीविओवासय एव वयासी—"सद्दालपुत्ता! जइ ण तुब्भ केइ पुरिसे वायाहय वा पक्केल्लय

वा कोलाल-भंडं अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिंदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोग-भोगाइं भुञ्जमाणे विहरेज्जा, तस्स णं तुमं पुरिसस्स किं दंडं वत्तेज्जासि ?" "भंते ! अहं णं तं पुरिसं आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बन्धेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा।"

"सद्दालपुत्ता ! नो खलु तुब्भ केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलाल-भंडं अवहरइ वा जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोग-भोगाइं भुञ्जमाणे विहरइ, नो वा तुमं तं पुरिसं आओसेज्जसि वा हणेज्जसि वा जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि, जइ नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा नियया सव्वभावा। अह ण तुब्भ केइ पुरिसे वायाहयं जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा जाव विहरइ, तुमं ता तं पुरिसं आओसेसि वा जाव ववरोवेसि। तो जं वदसि नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव नियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा।"

एत्थ णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए संबुद्धे ॥ १९७ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—"सद्दालपुत्र ! यदि खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहत वा पक्वं वा कौलालभाण्डमपहरेद्वा, विकिरेद्वा, भिन्द्याद्वा, आछिद्याद्वा, परिष्ठापयेद्वा, अग्निमित्रया भार्यया सार्द्धं विपुलान् भोग-भोगान् भुञ्जानो विहरेत्, तस्य खलु त्वं पुरुषस्य कि दण्डं वर्त्तये. ?" (सद्दालपुत्र उवाच) "भदन्त ! अहं खलु तं पुरुषमाक्रोशयेयं वा, हन्यां वा, बध्नीयां वा, मथ्नीयां वा, तर्जयेयं वा, ताडयेयं वा, निश्छोटयेयं वा, निर्भर्त्सयेयं वा, अकाल एव जीविताद्व्यपरोपयेयं वा"। (भगवानुवाच) "सद्दालपुत्र ! नो खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहतं वा पक्वं वा कौलालभाण्डमपहरति वा, यावत् परिष्ठापयति वा, अग्निमित्रया वा भार्यया सार्द्धं विपुलान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति। नो वा त्वं तं पुरुषमाक्रोशसि वा हंसि वा यावदकाले एव जीविताद्व्यपरोपयसि।

यदि नास्त्युत्थानमिति वा यावत्पराक्रम इति वा नियता सर्वभावा, अथ खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहत यावत्परिष्ठापयति वा, अग्निमित्रया वा यावद्विहरति, त्वं त पुरुषमाक्रोशसि वा यावद् व्यपरोपयसि तर्हि यद्वदसि—"नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियता सर्वभावास्तत्ते मिथ्या।"

अत्र खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक सम्बुद्ध ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने सद्दालपुत्त आजीविओवासय—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को एव वयासी—इस प्रकार कहा—सद्दालपुत्ता—हे सद्दालपुत्र ! जइ ण—यदि केइ पुरिसे—कोई पुरुष तुब्भ—तेरे वायाहय वा—हवा लगे हुए पक्केल्लय वा कोलालभड—अथवा पके हुए बरतनो को अवहरेज्जा वा—अपहरण करले विक्खिरेज्जा वा—बिखेर दे भिदेज्जा वा—फाड दे अच्छिदेज्जा वा—छीन ले परिट्ठवेज्जा वा—फेक दे अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि—अथवा अग्निमित्रा भार्या के साथ विउलाइ भोग भोगाइ भुञ्जमाणे विहरेज्जा—विपुल भोग भोगता हुआ विचरे तस्स ण तुम पुरिसस्स—उस पुरुष को तुम कि दड वत्तेज्जासि—क्या दण्ड दोगे ? (सद्दालपुत्र उवाच) सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया भते ! —हे भगवन ! अह ण त पुरिस—मैं उस पुरुष को आओसेज्जा वा—फटकारूँगा हणेज्जा वा—पीटूँगा बधेज्जा वा—बाध दूँगा महेज्जा वा—कुचल दूँगा तज्जेज्जा वा—तर्जना करूँगा तालेज्जा वा—ताडना करूँगा निच्छोडेज्जा वा—छीना झपटी करूँगा निब्भच्छेज्जा वा—भिर्त्सना करूँगा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा वा—अथवा अकाल में ही मार डालूगा। (भगवान ने कहा) सद्दालपुत्ता ! —हे सद्दालपुत्र ! नो खलु केइ पुरिसे—ऐसा कोई पुरुष तुब्भ—तेरे वायाहय वा—हवा लगे हुए पक्केल्लय वा—अथवा पके हुए कोलालभड—बरतनो को अवहरइ वा—नही चुराता जाव परिट्ठवेइ वा—यावत नही फेकता अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि अथवा अग्निमित्रा भार्या के साथ विउलाइ भोग भोगाइ भुञ्जमाणे विहरइ—विपुल भोग भोगता हुआ नही विचरता है नो वा तुम त पुरिस—न ही तुम उस पुरुष को आओसेज्जसि वा—फटकारते हो हणेज्जसि वा—मार पीट करते हो जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि—यावत प्राणापहरण करते हो जइ—यदि नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नही है जाव परक्कमे इ वा—यावत पराक्रम नही है नियया सव

भावा—और सब भाव नियत हैं, अह णं केइ पुरिसे—यदि कोई पुरुष तुब्भं वायाहयं जाव परिट्ठवेइ वा—तेरे हवा लगे हुए बर्तनो को चुराता है यावत् बाहिर फेंकता है अग्गिमित्ताए वा जाव विहरइ—यावत् अग्निमित्रा भार्या के साथ विहार करता है, तुमं वा तं पुरिसं—और तुम उस पुरुष को आओसेसि—फटकारते हो, जाव ववरोवेसि—यावत् प्राण लेते हो, तो जं वदसि—तो फिर भी यह कहते हो कि नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नही है, जाव नियया सव्वभावा—यावत् सब भाव नियत हैं, तं ते मिच्छा—तेरा यह कहना मिथ्या है।

एत्थ णं—इस पर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए संबुद्धे—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समझ गया अर्थात् उसे बोध हो गया।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से पूछा—"हे सद्दालपुत्र! यदि कोई पुरुष हवा लगे हुए अथवा पके हुए तेरे बर्तनो को चुराले, कही बाहिर ले जाकर रख दे और तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ काम-भोग सेवन करे तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे?" सद्दालपुत्र—"भदन्त! मैं उस पुरुष को गालिया दूंगा, फटकारूंगा, पीटूंगा, बाध दूंगा, पैरो तले कुचल दूंगा, धिक्कारूंगा, ताडना करूंगा, नोच डालूंगा, भला-बुरा कहूंगा, अथवा उसके प्राण लेलूंगा।" भगवान् ने कहा—"हे सद्दालपुत्र! तुम्हारी मान्यता के अनुसार न तो कोई पुरुष बर्तनो को चुराता है, और न अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार करता है। न ही तुम उस पुरुष को दण्ड देते हो या मारते हो। क्योकि उत्थान यावत् पुरुषकार तो हैं ही नही—जो कुछ होता है अपने आप होता है, इसके विपरीत यदि कोई पुरुष तुम्हारे बर्तनो को वास्तव मे चुराता है, या अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार सेवन करता है और तुम उसे गाली-गलौच देते हो यावत् मारते हो तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या है कि उत्थान यावत् पुरुपार्थ कुछ नही है, और सब भाव नियत हैं।" यह सुनकर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र वास्तविकता को समझ गया।

टीका—पिछले तथा इन सूत्रो मे भगवान महावीर ने गोशालक के नीतिवाद का खण्डन करने के लिए युक्तिया दी हैं। नीतिवाद का स्वरूप कुण्डकौलिक अध्ययन में बताया जा चुका है। देवता ने जब कुण्डकौलिक के सामने गोशालक के सिद्धान्त को

समीचीन बताकर विश्व के समस्त परिवर्तनों को नियत बताया और कहा कि जीवन में प्रयत्न तथा पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं है तो कुण्डकौलिक ने उससे पूछा—"यदि सब बातें नियत हैं तो सभी प्राणी तुम्हारी तरह देव क्यों नहीं बन गये ? इस पर देव निरुत्तर हो कर चला गया।

सद्दालपुत्र भी गोशालक का अनुयायी था। एक दिन वह बर्तनों को धूप में रख रहा था। भगवान ने पूछा—यह बर्तन कैसे बने ? सद्दालपुत्र ने बताया—पहले मिट्टी को पानी में भिगोते हैं फिर उसमें क्षार और करीष मिलाते हैं फिर चाक पर चढाते हैं तब जा कर तरह २ के बर्तन बनते हैं।

भगवान ने पूछा—क्या इनके लिये पुरुषार्थ या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती ? सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया नहीं यह पुरुषार्थ और पराक्रम के बिना ही बन जाते हैं। *यद्यपि गोशालक का उत्तर ठीक नहीं था फिर भी भगवान ने उसे* दूसरी तरह समझाने का निश्चय किया। उन्होंने देखा कि सद्दालपुत्र अपने को भी नियति का एक अङ्ग मान रहा है और स्वयं जो प्रयत्न कर रहा है उसे भी नियति ही समझ रहा है। अतः ऐसे उदाहरण देने चाहिए जो अस्वाभाविक या अनपेक्षित हो। जिसे वह प्रतिदिन के व्यवहार में सम्मिलित न कर सके। भगवान ने पूछा—सद्दालपुत्र ! यदि तुम्हारे इन बर्तनों को कोई चुरा ले, फोड दे या इधर उधर फेंक दे अथवा तुम्हारी भार्या अग्निमित्रा के साथ दुर्व्यवहार करे तो उसे क्या दण्ड दोगे ?

भगवन ! मैं उस पुरुष को धिक्कारूंगा पीटूंगा उसे पकड लूंगा यहां तक कि उसके प्राण भी ले सकता हूँ।' सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया। भगवान ने पूछा—तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार सब भाव नियत हैं। अर्थात जो होनहार है वही होता है, व्यक्ति कुछ नहीं करता। ऐसी स्थिति में तुम्हारे बर्तन फूटने ही वाले थे। उनके लिए कोई व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है फिर तुम ऐसा करने वाले को दण्ड क्या देते हो ? सद्दालपुत्र ने अपने उत्तर में यह कहा था कि बर्तन आदि फोडने वाला व्यक्ति अकाल में ही जीवन से हाथ धो बैठेगा। यह उत्तर अपने आप नियतिवाद का खण्डन करता है।

भगवान का उत्तर सुनकर सद्दालपुत्र समझ गया और वह नियतिवाद को छोड कर पुरुषार्थ में विश्वास करने लगा।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—"इच्छामि णं, भंते ! तुब्भं अंतिए धम्मं निसामेत्तए" ॥ १९८ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—"इच्छामि खलु भदन्त ! युष्माकमन्तिके धर्मं निशामयितुम् ।"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए**—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने **समणं भगवं महावीर**—श्रमण भगवान् महावीर को **वंदइ नमंसइ**—वन्दना नमस्कार किया **वंदित्ता नमंसित्ता**—वन्दना नमस्कार करके **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**इच्छामि णं भंते** !—हे भगवन् ! मैं चाहता हूँ कि **तुब्भं अंतिए**—आपके पास **धम्मं निसामेत्तए**—धर्म सुनूँ ।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और कहा—"हे भगवन् ! मैं आप से धर्म सुनना चाहता हूँ ।

मूलम्—तए ण समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य जाव धम्मं परिकहेइ ॥ १९९ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रस्याजीविकोपासकस्य तस्यां च यावद्धर्मं परिकथयति ।

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स**—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को **तीसे य जाव धम्मं परिकहेइ**—उस महती परिषद् मे यावत् धर्म सुनाया ।

भावार्थ—इस पर श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को महती परिषद् मे धर्मोपदेश किया ।

मूलम—तए ण से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव हियए जहा आणदो तहा गिहि-धम्म पडिवज्जइ। नवर एगा हिरण्ण कोडी निहाण पउत्ता, एगा हिरण्ण-कोडी वुड्ढि पउत्ता, एगा हिरण्ण कोडी पवित्थर-पउत्ता, एगे वए दस गो साहस्सिएण वएण जाव समण भगव महावीर वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता जेणेव पोलासपुरे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोलास पुर नयर मज्झ मज्झेण जेणेव सए गिहे, जेणेव अग्गिमित्ता भारिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, अग्गिमित्त एव वयासी—"एव खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगव महावीरे जाव समोसढे, त गच्छाहि ण तुम, समण भगव महावीर वदाहि जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए पचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय दुवालसविह गिहिधम्म पडिवज्जाहि" ॥ २०० ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याि तके धम श्रुत्वा निशम्य हृष्टतुष्टो यावत हृदयो यथाऽऽनन्दस्तथा गहिधम प्रतिपद्यते, नवरमेका हिरण्यकोटिर्निधान प्रयुक्ता, एका हिरण्यकोटिव द्धि प्रयुक्ता, एका हिरण्यकोटि प्रविस्तर प्रयुक्ता, एको व्रजा दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन यावत श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य येनव पोलासपुर नगर तेनवोपागच्छति, उपागत्य पोलासपुर नगर मध्य-मध्येन येनव स्वक गृह येनवाग्निमित्राभार्या तेनवोपागच्छति, उपागत्याग्निमित्रा भार्यामेवमवादीत—"एव खलु देवानुप्रिये ! श्रमणो भगवान महावीरो यावत समवसत, तदगच्छ खलु त्व श्रमण भगवन्त महावीर वन्दस्व, यावत्पयु पास्व श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पञ्चाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध गहिधम प्रतिपद्यस्व।'

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए—श्रमण भगवान महावीर के समीप धम्म सोच्चा निसम्म—धम को सुनकर हृदयगम करके हट्ठ-तुट्ठ जाव हियए—मन में प्रसन्न तथा सतुष्ट हुआ, जहा आणदो तहा गिहिधम्म पडिवज्जइ—आनन्द की

तरह गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया नवरं—केवल इतना अन्तर है कि एगा हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता—उसके पास एक करोड सुवर्ण कोष मे एगा हिरण्ण-कोडी—वुड्ढि-पउत्ता—एक करोड व्यापार मे एगा हिरण्ण-कोडी पवित्थर-पउत्ता—और एक करोड़ गृह तथा उपकरणो मे रखने की मर्यादा की। एगे वए दसगोसाहस्सिएणं वएणं—इस प्रकार दस हजार गायो का एक व्रज रखा जाव—यावत् समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया वदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके जेणेव पोलासपुरे नयरे—जहा पोलास-पुर नगर था, तेणेव उवागच्छइ—वहा आया, उवागच्छित्ता—आकर पोलासपुर नयरं मज्झं मज्झेण—पोलासपुर नगर के बीच होता हुआ जेणेव सए गिहे—जहा अपना घर था जेणेव अग्गिमित्ता भारिया—जहाँ अग्निमित्रा भार्या थी तेणेव उवागच्छइ—वहा आया उवागच्छित्ता—आकर अग्गिमित्त भारियं—अग्निमित्रा भार्या से एवं वयासी—इस प्रकार बोला—एवं खलु देवाणुप्पिए!—हे देवानुप्रिये! समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर जाव समोसढे—यावत् समवसृत हुए हैं, तं गच्छाण तुमं—इसलिए तुम जाओ समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् को वंदाहि—वन्दना करो जाव पज्जुवासाहि—यावत् पर्युपासना करो, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए—श्रमण भगवान् महावीर के पास पंचाणुव्वइयं—पाच अणुव्रत सत्तसिक्खा-वइयं—और सात शिक्षाव्रतरूप दुवालसविहं—बारह प्रकार के गिहिधम्मं पडिवज्जाहि—गृहस्थ धर्म को स्वीकार करो।

भावार्थ—इस पर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने हर्ष और सन्तोष का अनुभव किया। उसने भी आनन्द की भाति गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। इतना ही अन्तर है कि उसके पास एक करोड सुवर्ण कोष मे थे, एक करोड व्यापार मे और एक करोड गृह और उपकरणो मे लगे हुए थे। दस हजार गायो का एक व्रज था। सद्दालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को पुन वन्दना नमस्कार किया और पोलासपुर नगर मे से होता हुआ अपने घर पहुँचा। वहा जाकर अग्निमित्रा भार्या से कहा—हे देवनुप्रिये! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं। तुम जाओ, उन्हे वन्दना नमस्कार यावत् उनकी पर्युपासना करो। उनसे पॉच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म स्वीकार करो।

मूलम्—तए ण सा अग्गिमित्ता भारिया सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स 'तह' त्ति एयमट्ठ विणएण पडिसुणेइ ॥ २०१ ॥

छाया—तत खलु साऽग्निमित्रा भार्या सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य तथेति एत मर्थं विनयेन प्रतिशृणोति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर सा अग्गिमित्ता भारिया—उस अग्निमित्रा भार्या ने सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स तहत्ति एयमट्ठ—सद्दालपुत्र श्रमणोपासक के वचन 'तथेति इस प्रकार कहकर विणएण पडिसुणेइ—विनयपूर्वक स्वीकार किए ।

भावार्थ—अग्निमित्रा ने सद्दालपुत्र के कथन को 'तथेति' कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया ।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते समणोवासए कोडुम्बिय पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एव वयासी—"खिप्पामेव, भो देवाणुप्पिया ! लहुकरण जुत्त-जोइय सम खुर-वालिहाण समलिहिय सिंगएहिं, जबूणयामय कलाव जोत्त पइविसिट्ठएहिं रययामय घट-सुत्त-रज्जुग वरकचण खइय नत्था पग्गहोग्ग-हियएहिं, नीलुप्पल कयामेलएहिं, पवर गोण जुवाणएहिं नाणा मणि कणग घटिया जाल परिगय सुजाय जुग-जुत्त उज्जुग पसत्थ सुविरइय निम्मिय पवर लक्खणोववेय जुत्तामेव धम्मिय जाण प्पवर उवट्ठवेह, उवट्ठवित्ता मम एयमाणत्तिय पच्चप्पिणह" ॥ २०२ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासक कौटुम्बिकपुरुषान शब्दापयति, शब्दापयित्वा एवमवादीत—"क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियया ! लघुकरणयुक्तयौगिकसम-खुरवालिधानसमलिखितशृङ्गकाभ्या जाम्बूनदमयकलापयोक्त्रप्रतिविशिष्टाभ्यां रजत मयघण्टसूत्र रज्जुकवरकाञ्चनखचितनस्ताप्रग्रहावगृहीतकाभ्या नीलोत्पल कृताऽऽपीड काभ्या प्रवरगो युवाभ्या नानामणि-कनकघण्टिकाजालपरिगत सुजातयुगयुक्तजु कप्रशस्त सुविरचितनिर्मित प्रवरलक्षणोपेत युक्तमेव धार्मिक यानप्रवरमुपस्थापयत, उपस्थाप्य ममतामाज्ञप्तिका प्रत्यर्पयत ।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते समणोवासए**—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने **कोडुम्बिय पुरिसे सद्दावेइ**—कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाया **सद्दावित्ता एवं वयासी**—और बुलाकर इस प्रकार कहा—**खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रियो ! **लहुकरण**—शीघ्रगामी **जुत्तजोइयं**—ऐसे बैलो से युक्त **समखुरवालिहाण समलिहिय सिंगएहिं**—जिनके खुर तथा पूँछ एक समान हो और सीग रगे हुए हो **जंबूणयामय कलाव जोत्त पइविसिट्ठएहिं**—कठाभरण सुवर्णमय तथा रस्सिया सुनहरे तारो से मढी हुई हो **रययमयघंट सुत्त रज्जुग वरकंचण खइय नत्थापगहोग्गहिएहि** चादी के घटे सूत की डोरियो के साथ बधे हुए तथा नकेल सुवर्ण से मढी हुए हो **नीलुप्पल-कयामेलएहि**—मस्तिष्क पर नीले कमल सजे हुए हो **पवर गोणजुवाणएहिं** तथा किशोर आयु हो, ऐसे बैलो से युक्त **नाणामणिकणग घंटिया जाल परिगयं सुजाय जुग जुत्त उज्जुगं पसत्थ सुविरइय निम्मियं**—नाना मणियो से मडित और घटियो से युक्त अच्छी लकडी के युग अर्थात् जुए वाले **पवर लक्खणोववेयं**—उत्तम लक्षणो से युक्त **धम्मियं जाण प्पवरं**—धर्म-क्रिया के योग्य श्रेष्ठ रथ को **उवट्ठवेह**—उपस्थित करो। **उवट्ठवित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह**—मेरी इस प्रकार की आज्ञा को पूरी करके मुझे सूचना दो।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाकर कहा—"हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही तेज चलने वाला रथ सजाओ। उसमे नई उमर के ऐसे उत्तम बैलो की जोडी जोतना, जिनके खुर तथा पूँछ एक ही रग के हो। सीग विभिन्न रगो से रगे हुए हो। उनके गले मे आभूषण पहनाना। नाक की (नकेल) रस्सियों को भी सुवर्ण के तागो से सुशोभित करना। मस्तक नीले कमलो से सजे हो। रथ नाना प्रकार की मणियो से मडित हो। युग (जुआ) उत्तम लकडी का बना हुआ हो। बनावट समीचीन ऋजु, तथा प्रशस्त हो। धर्मक्रिया के लिए उपयुक्त ऐसे उत्तम रथ को उपस्थित करो और आज्ञा का पालन करके मुझे सूचना दो।"

मूलम्—**तए णं ते कोडुम्बिय-पुरिसा जाव पच्चप्पिणंति ॥ २०३ ॥**

छाया—ततः खलु ते कौटुम्बिकपुरुषा यावत्प्रत्यर्पयन्ति ।

पदार्थ—तए ण—तदनन्तर ते कोडुम्बिय पुरिसा जाव पच्चप्पिणंति—उन कौटुम्बिक पुरुषों—सेवकों ने आज्ञा पालन करके सूचना दी।

भावार्थ—कौटुम्बिक पुरुषों ने आज्ञा पूरी करके सद्दालपुत्र को सूचना दी।

मूलम्—तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया जाव पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियासरीरा चेडिया चक्कवाल-परिकिण्णा धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता पोलासपुरं नगरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता चेडियाचक्कवालपरिवुडा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो जाव वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे जाव पञ्जलिउडा ठिइया चेव पज्जुवासइ ॥ २०४ ॥

छाया—ततः खलु साग्निमित्रा भार्या स्नाता यावत् प्रायश्चित्ता शुद्धात्मवेष्याणि यावदल्प महार्घाभरणालंकृतशरीरा चेटिका चक्रवाल परिकीर्णा धार्मिकं यानप्रवरं दूरोहति, दूरुह्य पोलासपुरं नगरं मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव सहस्राम्रवण मुद्यानं येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य धार्मिकाद् यानप्रवरात् प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य चेटिका चक्रवालपरिवृत्ता येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिःकृत्वो यावद्वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्कृत्य नात्यासन्ने नातिदूरे यावत्प्राञ्जलिपुटा स्थितैव पर्युपास्ते।

पदार्थ—तए णं—तदनन्तर सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया—उस अग्निमित्रा भार्या ने स्नान किया जाव पायच्छित्ता—यावत् प्रायश्चित्त अर्थात् पाप नाशक कर्म किए सुद्धप्पावेसाइं—शुद्ध तथा सभा में प्रवेश करने योग्य उत्तम वस्त्र धारण किए जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा—यावत् अल्प भार तथा बहुमूल्य आभूषणों से अपने शरीर को आभूषित किया चेडिया चक्कवाल परिकिण्णा—चेटिका चक्रवाल—दासी समूह से घिरी हुई वह अग्निमित्रा धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ—

धार्मिक यान श्रेष्ठ पर सवार हुई, **दुरुहित्ता**—सवार हो कर **पोलासपुरं नगरं मज्झं-मज्झेणं**—पोलासपुर नगर के बीचो-बीच **निग्गच्छइ**—निकली, **निग्गच्छित्ता**—निकल कर **जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे** जहाँ सहस्राम्रवन उद्यान था, **जेणेव समणे भगवं महावीरे**—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे **तेणेव**—वहाँ **उवागच्छइ**—आई, **उवागच्छित्ता**—आकर **धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ**—उस धार्मिक यानप्रवर-रथ से नीचे उतरी **पच्चोरुहित्ता**—उतर कर **चेडिया चक्कवाल परिवुडा**—दासी-समूह से घिरी हुई **जेणेव समणे भगवं महावीरे**—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आई **उवागच्छित्ता**—आकर **तिक्खुत्तो जाव वंदइ नमंसइ**—तीन वार यावत् वन्दना नमस्कार किया **वंदित्ता नमंसित्ता**—वन्दना नमस्कार करके **नच्चासन्ने नाइदूरे**—न तो बहुत समीप और न ही बहुत दूर **जाव पञ्जलिउडा**—यावत् प्राञ्जलिपुट होकर अर्थात् हाथ जोडे हुए **ठिइया चेव पज्जुवासइ**—खडी-खडी पर्युपासना करने लगी।

भावार्थ—अग्निमित्रा भार्या ने स्नान किया, शुद्ध तथा सभा मे प्रवेश करने योग्य उत्तम वस्त्र धारण किये यावत् अल्प भार किन्तु बहुमूल्य आभूषणो से अपने शरीर को आभूषित किया। दासी समूह से घिरी हुई धार्मिक रथप्रवर पर सवार हुई तथा पोलासपुर नगर के बीच होती हुई सहस्राम्रवन उद्यान मे पहुँची। रथ से उतर कर चेटि-परिवार से घिरी हुई भगवान् महावीर के पास पहुँची। भगवान् को तीन बार वन्दना नमस्कार किया, न बहुत समीप न अति दूर खडी हुई और हाथ जोडकर उपासना करने लगी।

मूलम्—**तए णं समणे भगवं महावीरे अग्गिमित्ताए तीसे य जाव धम्मं कहेइ ॥ २०५ ॥**

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽग्निमित्रायै तस्यां च यावद् धर्म कथयति।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **अग्गिमित्ताए**—अग्निमित्रा को **तीसे य जाव धम्मं कहेइ**—उस महती परिषद् मे यावत् धर्मोपदेश किया।

भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने अग्निमित्रा को उस महती परिषद में धर्मोपदेश किया।

मूलम्—तए ण सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ तुट्ठा समण भगव महावीर वदइ नमसइ, नमसित्ता एव वयासी—"सद्दहामि ण, भते ! निग्गथ पावयण जाव से जहेय तुब्भे वयह, जहा ण देवाणुप्पियाण अंतिए बहवे उग्गा भोगा जाव पव्वइया, नो खलु अह तहा सचाएमि देवाणुप्पियाण अंतिए मुण्डा भवित्ता जाव अह ण देवाणुप्पियाण अंतिए पचाणुव्वइय सत्त सिक्खावइय दुवालस-विह गिहि धम्म पडिवज्जिस्सामि।" "अहासुह, देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह" ॥ २०६ ॥

छाया—तत खलु सा अग्निमित्रा भार्या श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिक धर्म श्रुत्वा निशम्य हृष्ट-तुष्टा श्रमण भगव त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत—"श्रद्दधामि खलु भद त ! नैर्ग्रन्थ्य प्रवचन यावत तद यथतद यूय वदथ। यथा खलु देवानुप्रियाणामन्तिके बहव उग्रा भोगा यावत प्रव्रजिता, नो खल्वह तथा शक्नोमि देवानुप्रियाणामन्तिक मुण्डा भूत्वा यावद, अह खलु देवानुप्रियाणामन्तिके पञ्चाणुव्रतिक सप्तशिक्षाव्रतिक द्वादशविध गहि धर्म प्रतिपत्स्ये।" "यथा सुख देवानुप्रिये ! मा प्रतिबन्ध कुरु।"

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर सा अग्गिमित्ता भारिया—वह अग्निमित्रा भार्या समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए—श्रमण भगवान महावीर के पास धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठ तुट्ठा—धर्मोपदेश सुनकर हृष्ट-तुष्ट हुई और समण भगव महावीर वदइ नमसइ—श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार किया वदित्ता नमसित्ता एव वयासी—वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार बोली—सद्दहामि ण भते ! निग्गथ पावयण—हे भगवन ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन मे श्रद्धा करती हूँ, जाव से जहेय तुब्भे वयह—यावन जसे आप कहते हैं वह यथार्थ है जहा ण देवाणुप्पियाण अंतिए—जिस प्रकार देवानुप्रिय के पास बहवे उग्गा भोगा—बहुत से उग्रवंशी, भोगवंशी जाव

पव्वइया–यावत् प्रव्रजित–दीक्षित हुए हैं **नो खलु अहं तहा संचाएमि**–मै उस प्रकार समर्थ नही हूँ कि **देवाणुप्पियाणं अंतिए मुण्डा भवित्ता**—देवानुप्रिय के पास मुण्डित हो सकू **जाव अह णं**—यावत् मै **देवाणुप्पियाणं अंतिए**—देवानुप्रिय के पास **पंच्चाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइय**—पॉच अणुव्रत तथा सात शिक्षा व्रत रूप **दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि**—बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार करूँगी, **अहासुह देवाणुप्पिया !**–हे देवानुप्रिये ! तुम्हे जिस तरह सुख हो **मा पडिबंधं करेह**–विलम्ब मत करो।

भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर के धर्मोपदेश को सुन कर अग्निमित्रा भार्या अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और कहा–हे भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करती हूँ। जिस तरह आप कहते हैं, यह उसी प्रकार है। आप देवानुप्रिय के पास जिस तरह बहुत से उग्रवशी यावत् भोगवशी प्रव्रजित-दीक्षित हो चुके हैं मैं उस प्रकार दीक्षित होने में समर्थ नही हूँ। मैं आपसे पाच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकार के गृहस्थ-धर्म को स्वीकार करूँगी।" भगवान् ने कहा—"जैसे तुम्हे सुख हो। विलम्ब मत करो।"

मूलम्—**तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुवइयं सत्तसिक्खा-वइयं दुवालस-विहं सावग-धम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता तमेव धम्मियं जाण-प्पवरं दुरुहइ दुरुहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ॥ २०७ ॥**

छाया—ततः खलु साऽग्निमित्रा भार्या श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पंचाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं श्रावकधर्म प्रतिपद्यते। प्रतिपद्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य तदेव धार्मिकं यानप्रवरं दूरोहति, दूरुह्य यामेव दिशं प्रादुर्भूता तामेव दिश प्रतिगता।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **सा अग्गिमित्ता भारिया**—उस अग्निमित्रा भार्या ने **समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए**—श्रमण भगवान् महावीर के पास **पंचाणुव्वइयं**

सत्तसिक्खावइय—पाच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप दुवालसविह सावगधम्म पडिवज्जइ—बारह प्रकार के श्रावक धर्म का ग्रहण किया पडिवज्जित्ता—ग्रहण करके समण भगव महावीर वदइ नमसइ—श्रमण भगवान महावीर का वन्दना नमस्कार किया वदित्ता नमसित्ता—वन्दना नमस्कार करके तमेव धम्मिय जाणप्पवर दुरुहइ—उसी धार्मिक रथ पर सवार हुई दुरुहित्ता—सवार होकर जामेव दिस पाउब्भूया—जिस दिशा से आई थी तामेव दिस पडिगया—उसी दिशा में चली गई ।

भावार्थ—इस अग्निमित्रा भार्या ने श्रमण भगवान महावीर के पास पाच अणुव्रत सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार किया । श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार किया और उसी धार्मिक रथ पर सवार होकर जिस दिशा से आई थी उसी दिशा चली में गई ।

मूलम्—तए ण समणे भगव महावीरे अन्नया कयाइ पोलास पुराओ नयराओ सहस्सववणाओ, पडिनिग्गच्छइ पडिनिगच्छित्ता बहिया जणवय-विहार विहरइ ॥ २०८ ॥

छाया—तत खलु श्रमणो भगवान महावीरोऽन्यदा कदाचित पोलासपुरात नगरात सहस्राम्रवणात प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदविहार विहरति ।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर अन्नया कयाइ—एक दिन पोलास पुराओ नयराओ—पोलासपुर नगर सहस्सववणाओ—सहस्राम्रवन से पडिनिक्खमइ—विहार कर गए पडिनिक्खमित्ता—विहार करके बहिया जणवय विहार विहरइ—बाहिर के जनपदो म विचरने लगे ।

भावार्थ—उसके बाद एक दिन श्रमण भगवान् महावीर पोलासपुर के सहस्राम्र वन उद्यान से विहार कर गये और बाहिर के जनपदो में विचरने लगे ।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्त समणोवासए जाए अभिगए जीवा जीवे जाव विहरइ ॥ २०९ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासकोऽभिगतजीवाजीवो यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र अभिगय-जीवाजीवे—जीव-अजीव का ज्ञाता होकर जाव विहरइ—यावत् विचरने लगा।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक सद्दालपुत्र जीवाजीव का ज्ञाता बनकर जीवन व्यतीत करने लगा।

मूलम्—तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—"एवं खलु सद्दालपुत्ते आजीविय-समयं वमित्ता समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठि पडिवन्ने। तं गच्छामि णं सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठि वामेत्ता पुणरवि आजीविय-दिट्ठि गेण्हावित्तए" त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता आजीविय-संघ-सम्परिवुडे जेणेव पोलासपुरे नयरे, जेणेव आजीविय-सभा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आजीवियसभाए भण्डग-निक्खेवं करेइ, करेत्ता कइवएहिं आजीविएहिं सद्धिं जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छइ॥ २१०॥

छाया—ततः खलु स गोशालो मंखलि-पुत्रोऽस्यां कथायां लब्धार्थः सन्—"एवं खलु सद्दालपुत्र आजीविकसमयं वमित्वा श्रमणानां निर्ग्रन्थानां दृष्टि प्रतिपन्नः, तद् गच्छामि खलु सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकं श्रमणानां निर्ग्रन्थानां दृष्टि वामयित्वा पुनरप्याजीविकदृष्टि ग्राहयितुम्" इति कृत्वा, एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्याजीविकसंघ संपरिवृतो येनैव पोलासपुरं नगरं येनैवाजीविकसभा तेनैवोपागच्छति, उपागत्या-जीविकसभायां भाण्डकनिक्षेपं करोति, कृत्वा कतिपयैराजीविकैः सार्द्धं येनैव सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से गोसाले मंखलिपुत्ते—वह गोशालक मखलिपुत्र इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—इस वृत्तान्त को सुनकर एवं खलु सद्दालपुत्ते—कि इस प्रकार सद्दालपुत्र ने आजीवियसमयं वमित्ता—आजीविक सिद्धान्त को त्याग कर समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठि पडिवन्ने—श्रमण निर्ग्रन्थो की मान्यता को अङ्गीकार कर

लिया है त गच्छामि ण—इस लिए मैं जाता हूँ और सद्दालपुत्ते आजीविओवासय—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को समणाण निग्गथाण दिट्ठि वामेत्ता—श्रमण निग्र न्थो की मान्यता छुडा कर पुणरवि—पुन आजीवियदिट्ठि गेण्हावित्तए—आजीविक दृष्टि ग्रहण कराता हूँ त्ति कट्टु एव सपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया सपेहित्ता—विचार करके आजीवियसघसम्परिवुडे—आजीविक सघ के साथ जेणेव पोलासपुरे नयरे—जहा पोलासपुर नगर था जेणेव आजीवियसभा—और जहाँ आजीविक सभा थी तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया उवागच्छित्ता—आकर आजीवियसभाए—आजीविक सभा म भण्डग निक्खेव करेइ—भाण्ड उपकरण रख दिए करेत्ता—ऐसा करके कइ वर्एहि आजीविर्एहि सद्धि—कुछ आजीविको के साथ जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए—जहा सद्दालपुत्र श्रमणोपासक रहता था तेणेव उवागच्छइ—वहा पहुँचा।

भावार्थ—कुछ दिन बीतने पर मखलिपुत्र गोशाल ने यह समाचार सुना कि सद्दाल पुत्र आजीविक सिद्धान्त को छोडकर श्रमण निग्र थो का अनुयायी बन गया है। उसने मन ही मन विचार किया कि मुझे पोलासपुर जाकर सद्दालपुत्र को पुन आजीविक सम्प्रदाय मे लाना चाहिए। यह विचार कर आजीविक सघ के साथ वह पोलासपुर पहुँचा और आजीविक सभा म अपने भाण्डोपकरण रखकर कुछ आजीविको के साथ सद्दालपुत्र श्रमणोपासक के पास आया।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसाल मखलि पुत्त एज्जमाण पासइ, पासित्ता नो आढाइ, नो परिजाणाइ, अणाढायमाणे, अपरिजाणमाणे तुसिणीए सचिट्ठइ ॥ २११ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासको गोशाल मखलिपुत्रमायात पश्यति, दृष्ट्वा नो आद्रियते, नो परिजानाति अनाद्रियमाणोऽपरिजानन तूष्णीक सन तिष्ठति।

शब्दार्थ—तए ण—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने गोसाल मखलिपुत्त एज्जमाण पासइ—मखलिपुत्र गोशाल को आते हुए देखा पासित्ता—देखकर नो आढाइ नो परिजाणाइ—न तो आदर ही किया और न

पहचाना **अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे**—बिना आदर किए तथा बिना पहचाने **तुसिणीए संचिट्ठइ**—चुप-चाप बैठा रहा।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशाल को आते हुए देखा किन्तु न तो उसका आदर किया और न ही पहचाना (अपरिचित के समान उपेक्षा भाव रखा) अपितु चुप-चाप बैठा रहा।

मूलम्—तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे पीढ-फलग-सिज्जा-संथारट्ठयाए समणस्स भगवओ महावीरस्स गुण-कित्तणं करेमाणे सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—"आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-माहणे" ? ॥ २१२ ॥

छाया—तत खलु स गोशालो मंखलिपुत्र सद्दालपुत्रेण श्रमणोपासकेनानाद्रियमाणोऽपरिज्ञायमानः पीठ-फलक-शय्या-संस्तारार्थं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य गुण-कीर्तनं कुर्वाणः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"आगतः खलु देवानुप्रिय ! इह महामाहन. ?"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से गोसाले मंखलिपुत्ते**—वह मखलिपुत्र गोशाल **सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं**—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र द्वारा **अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे**—बिना आदर तथा परिज्ञान प्राप्त किए **पीढ-फलग-सिज्जा-संथारट्ठयाए**—पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर का **गुणकित्तणं करेमाणे**—गुण कीर्तन करता हुआ **सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी**—सद्दालपुत्र श्रमणोपासक को इस प्रकार बोला—**आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महामाहणे**—हे देवानुप्रिय ! क्या यहाँ महामाहन आए थे ?"

भावार्थ—मखलिपुत्र गोशाल को सद्दालपुत्र की ओर से कोई सन्मान सत्कार या परिज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। फिर भी उसने पीठ, फलक शय्या तथा संस्तारक आदि प्राप्त करने के लिए पूछा—"क्या यहाँ महामाहन आए थे।

मूलम्—तए ण से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसाल मखलिपुत्त एव वयासी—"के ण, देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?" ॥ २१३ ॥

छाया—तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासको गोशाल मखलिपुत्रमेवमवादीत—"क खलु देवानुप्रिय ! महामाहन ?"

शब्दार्थ—तए ण—तद तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दाल पुत्र गोसाल मखलिपुत्त—गोशाल मखलिपुत्र से एव वयासी—इस प्रकार बोला—के ण देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?—हे देवानुप्रिय ! महामाहन कौन हैं ?

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक से पूछा— हे देवानु प्रिय ! महामाहन कौन हैं ? अर्थात आपका अभिप्राय किस से है ?"

मूलम्—तए ण से गोसाले मखलिपुत्ते सद्दालपुत्त समणोवासय एव वयासी—"समणे भगव महावीरे महामाहणे"। "से केणट्ठेण, देवाणुप्पिया ! एव वुच्चइ—समणे भगव महावीरे महामाहणे।"

"एव खलु, सद्दालपुत्ता ! समणे भगव महावीरे महामाहणे उप्पन्न णाण दसणधरे जाव महिय-पूइए जाव तच्चकम्म सपया सपउत्ते। से तेणटठेण, देवाणुप्पिया ! एव वुच्चइ समणे भगव महावीरे महामाहणे"। "आगए ण, देवाणुप्पिया ! इह महागोवे" ? "के ण, देवाणुप्पिया ! महागोवे" ! "समणे भगव महावीरे महागोवे"। "से केणटठेण, देवाणुप्पिया ! जाव महागोवे ?"

"एव खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगव महावीरे ससाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्जमाणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे धम्ममएण दण्डेण सारक्खमाणे सगोवेमाणे, निव्वाण महावाड साहत्थि सपावेइ। से तेणटठेण, सद्दालपुत्ता ! एव वुच्चइ समणे भगव महावीरे-महा गोवे।" "आगए ण, देवाणुप्पिया ! इह महा सत्थवाहे ?"

"के णं, देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ?" "सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे।" "से केणट्ठेणं० ?" "एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे धम्ममएणं पंथेणं सारक्खमाणे निव्वाण-महा-पट्टणाभिमुहे साहत्थि संपावेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे।" "आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-धम्म-कही ?" के णं देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?"

"समणे भगवं महावीरे महा-धम्मकही।" "से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महा-धम्मकही ?"

"एवं खलु, देवाणप्पिया ! समणे भगवं महावीरे महइ-महालयंसि संसारंसि बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्ज-माणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे उम्मग्ग-पडिवन्ने सप्पहविप्पणट्ठे मिच्छत्त-बला-भिभूए अट्ठविह-कम्म-तम-पडल-पडोच्छन्ने, बहूहिं अट्ठेहि य जाव वागरणेहि य चाउरंताओ संसारकंताराओ साहत्थि नित्थारेइ। से तेणट्ठेणं, देवाणु-प्पिया ? एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही।' "आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महानिज्जामए ?"

"के णं, देवाणुप्पिया ! महा-निज्जामए ? "समणे भगवं महावीरे माहानिज्जामए।" "से केणट्ठेणं० ?"

"एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसार-महा-समुद्दे बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे ४ बुड्डमाणे निबुड्डमाणे उप्पियमाणे धम्ममईए नावाए निव्वाण-तीराभिमुहे साहत्थि संपावेइ। से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महा-निज्जा-मए" ॥ ११४ ॥

छाया—ततः खलु स गोशालो मङ्खलिपुत्रः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहनः !" "तत्केनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते

श्रमणो भगवान महावीरो महामाहन ?" "एव खलु सद्दालपुत्र ! श्रमणो भगवान महावीरो महामाहन उत्पन्न ज्ञानदर्शनधरो याव महितपूजितो यावत्तथ्यकर्म सम्पदा सम्प्रयुक्त, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान महावीरो महामाहन ।" "आगत खलु, देवानुप्रिय ! इह महागोप ?" "क खलु, देवानुप्रिय ! इह महा गोप ?" "श्रमणो भगवान महावीरो महागोप !" "तत्केनार्थेन देवानुप्रिय ! याव महागोप ?" "एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान महावीर ससाराटव्या बहून जीवान नश्यतो विनश्यत खाद्यमानान भिद्यमानान लुप्यमानान विलुप्यमानान धममयेन दण्डेन सरक्षन सगोपयन निर्वाण महावाट स्वहस्तेन सप्रापयति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान महावीरो महागोप ।" "आगत खलु देवानुप्रिय ! इह महासार्थवाह ?" "क खलु देवानुप्रिय ! महासार्थवाह ?" "सद्दाल पुत्र ! श्रमणो भगवान महावीरो महासार्थवाह ।" "तत्केनार्थेन ?" "एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान महावीर ससाराटव्य बहून जीवान नश्यतो विनश्यतो यावद विलुप्यमानान धममयेन पथा सरक्षन निर्वाणमहापत्तनाभिमुखान स्वहस्तेन सम्प्रापयति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान महावीरो महासार्थवाह ।" आगत खलु देवानुप्रिय । इह महाधमकथी ?" "क खलु देवानुप्रिय ! महाधमकथी ?" "श्रमणो भगवान महावीरो महाधमकथी ।" "तत्केनार्थेन श्रमणो भगवान महावीरो महाधमकथी ?" "एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान महावीरो महातिमहालय ससारे बहून जीवान नश्यतो विनश्यत खाद्यमानान छिद्यमानान भिद्यमानान लुप्यमानान विलुप्यमानान उ मार्गप्रतिपन्नान सत्पथविप्रनष्टान मिथ्यात्वबलाभिभूतानष्टविधकर्म तम पटलप्रत्यवच्छन्नान बहुभिरर्थैश्च यावद व्याकरणैश्च चातुर तात्ससारकान्तारात स्वहस्तेन निस्तारयति, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान महावीरो महाधमकथी। आगत खलु देवानुप्रिय ! इह महानिर्यामिक ?" "क खलु देवानु प्रिय ! "महानिर्यामक ?" "श्रमणो भगवान् महावीरो महानिर्यामक ।' "तत्क नार्येन ?" एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान महावीर ससारमहासमुद्रे बहून जीवान नश्यतो विनश्यतो यावद विलुप्यमानान ब्रुडतो निब्रुडत उत्प्लवमानान धममय्या नावा निर्वाणतीराभिमुख स्वहस्तेन सम्प्रापयति, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान महावीरो महानिर्यामक ।"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से गोसाले मंखलिपुत्ते**—वह मंखलिपुत्र गोशालक **सद्दालपुत्तं समणोवासयं**—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**समणे भगवं महावीरे महामाहणे**—श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं, **से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ**—हे देवानुप्रिय ! यह किस लिए कहा जाता है कि **समणे भगवं महावीरे महामाहणे**—श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं ?

गोशालक ने कहा—**एवं खलु सद्दालपुत्ता !**—हे सद्दालपुत्र ! **समणे भगवं महावीरे महामाहणे**—श्रमण भगवान महावीर ही महामाहन हैं, **उप्पन्न णाणदंसणधरे**—अप्रतिहत केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धारण करने वाले **जाव**—यावत् **महिय पूइए**—महित तथा पूजित **जाव**—यावत् **तच्च कम्म संपया संपउत्ते**—सत्फल प्रदान करने वाली कर्तव्यरूपी सम्पत्ति से युक्त हैं, **से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ**—हे देवानुप्रिय ! इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि **समणे भगवं महावीरे महामाहणे**—श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं।

आगए णं देवाणुप्पिया इहं महागोवे ? हे देवानुप्रिय ! क्या यहाँ महागोप—[गायो अर्थात् प्राणियो के रक्षको मे सब से बड़े] आए थे ? **के णं देवाणुप्पिया ! महागोवे ?**—हे देवानुप्रिय ! महागोप कौन हैं ? **समणे भगवं महावीरे महागोवे**—(गोशालक ने कहा)—श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।

से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! जाव महागोवे—(सद्दालपुत्र ने पूछा)—हे देवानुप्रिय ! किस कारण से यावत् श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं ? **एव खलु देवाणुप्पिया !** हे देवानुप्रिय ! यह इस अभिप्राय से है **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर **संसाराडवीए**—ससार अटवी मे **बहवे जीवे**—बहुत से जीव **नस्समाणे**—जो नष्ट हो रहे हैं **विणस्समाणे**—विनष्ट हो रहे हैं, **खज्जमाणे**—खाए जा रहे हैं, **छिज्जमाणे**—छेदन किए जा रहे हैं, **भिज्जमाणे**—भेदन किए जा रहे हैं, **लुप्पमाणे**—विकलाङ्ग किए जा रहे हैं **विलुप्पमाणे**—और घायल किए जा रहे हैं, उन सबकी **धम्ममएणं दण्डेणं**—धर्म रूपी दण्ड द्वारा **सारक्खमाणे**—रक्षा करते हैं, **संगोवेमाणे**—गोपन करते हैं, **निव्वाणमहावाडं**—निर्वाण रूपी विशाल वाडे मे **साहत्थि संपावेइ**—अपने हाथ से पहुँचाते हैं, **से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ**—हे सद्दालपुत्र ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि **समणे भगवं महावीरे महागोवे**—श्रमण भगवान् महावीर महागोप हैं। **आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महासत्थवाहे ?**—हे देवानुप्रिय ! क्या महासार्थवाह यहाँ आए थे।

के ण देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ? हे देवानुप्रिय ! महासार्थवाह कौन हैं ? सद्दालपुत्र ने पूछा। सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे—हे सद्दाल पुत्र ! श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं से केणट्ठेणं० ? एवं खलु देवाणुप्पिया ! हे देवानुप्रिय ! यह किस कारण से कहा जाता है ? (गोशालक ने उत्तर दिया)—समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर संसाराडवीए—संसार अटवी में बहवे जीवे—बहुत से जीव नस्समाणे—जो कि नष्ट हो रहे हैं विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं जाव—यावत् विलुप्पमाणे—घायल किए जा रहे हैं, (उन सब को) धम्ममएणं पयेणं सारक्खमाणे—धर्मरूपी मार्ग द्वारा रक्षा करते हैं निव्वाणमहापट्टणाभिमुहे—निर्वाण—मोक्षरूपी महानगर की ओर उन्मुख करते हैं साहत्थिं संपावेइ—अपने हाथ से उन्हें वहां पहुँचाते हैं से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ—हे सद्दाल पुत्र ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे—श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं।

आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महाधम्मकही—हे देवानुप्रिय ! क्या यहां महाधर्म कथी आए थे ? के णं देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?—हे देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी कौन हैं ? समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही—श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही ? किस कारण से श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं ? एवं खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर महइमहालयंसि संसारंसि—इस अत्यन्त विशाल संसार से बहवे जीवे—बहुत से जीव जाव—यावत् नस्समाणे—जो नष्ट हो रहे हैं विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं खज्जमाणे ४—खाए जा रहे हैं ४ उम्मग्गपडिवन्ने—उन्मार्ग पर चल रहे हैं सप्पहविप्पणट्ठे—सन्मार्ग से दूर हो रहे हैं मिच्छत्तबलाभिभूए—मिथ्यात्व में फँस रहे हैं अट्ठविह कम्म तम-पडल-पडोच्छन्ने—अष्टविध कर्मरूपी अन्धकार पटल से घिरे हुए हैं (उन्हें) बहूहिं अट्ठेहिं य—अनेक प्रकार की बातों जाव—यावत् वागरणेहिं य—व्याख्याओं द्वारा चाउरंताओ संसार कंताराओ—चार गतिरूप संसाररूपी आरण्य से साहत्थिं नित्थारेइ—अपने हाथ से पार करते हैं से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! यह इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही—श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं।

आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-निज्जामए ?—हे देवानुप्रिय ! क्या यहाँ पर महानिर्यामक (महाकर्णधार) आए थे ? के णं देवाणुप्पिया ! महानिज्जामए—हे देवानुप्रिय ! महानिर्यामक-महाकर्णधार कौन है ? समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए—श्रमण भगवान् महावीर महाकर्णधार हैं से केणट्ठेणं ? यह किस अभिप्राय से कहते हो (कि श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं) एवं खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! यह बात इस अभिप्राय से कही जाती है समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ससारमहासमुद्दे—ससाररूपी महान् समुद्र मे बहुवे जीवे—बहुत से जीवो को नस्समाणे—जो नष्ट हो रहे हैं विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं, जाव विलुप्पमाणे—यावत् जो घायल किए जा रहे हैं, वुड्डमाणे—डूब रहे हैं निवुड्डमाणे—गोते खा रहे हैं उप्पियमाणे—तथा वह रहे हैं, धम्ममईए नावाए—धर्मरूपी नाव के द्वारा निव्वाणतीराभिमुहे—निर्वाणरूपी किनारे पर साहत्थि संपावेइ—अपने हाथ से पहुँचाते हैं, से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए—श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक-महाकर्णधार हैं।

भावार्थ—मखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सद्दालपुत्र से कहा—कि श्रमण भगवान् महावीर महामाहन है।"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! किस अभिप्राय से श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं ?"

गोशालक—"क्योकि भगवान महावीर अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक है। महित, पूजित यावत् तथ्य अर्थात् सफल कर्मसम्पदा के स्वामी हैं। इसी लिए मैं कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं।"

गोशालक—"क्या यहाँ महागोप आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"हे देवानुप्रिय ! महागोप कौन हैं ?

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।

सद्दालपुत्र—तुम यह किस अभिप्राय से कहते हो ? कि श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं ?"

गोशालक—' श्रमण भगवान महावीर ससार अटवी म नष्ट होते हुए, भटकते हुए, विविध कष्टो से पीडित होते हुए विनष्ट होते हुए, छिन्न भिन्न, क्षत एव विक्षत किए जाते हुए, प्राणिया को धमरूपी दण्ड लेकर रक्षा करते हैं, बचाते हैं और अपने हाथ से निवाणरूपी विशाल बाड म पहुँचाते हैं। इसी लिए कहता हू कि श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।"

गोशालक— 'सद्दालपुत्र ! क्या यहा महासाथवाह आए थे ?"

सद्दालपुत्र—' हे देवानुप्रिय ! महामाथवाह कौन है ?"

गोशालक—' श्रमण भगवान महावीर महासायवाह हैं ?"

सद्दालपुत्र— आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महासाथवाह हैं ?'

गोशालक— श्रमण भगवान महावीर ससार अटवी मे भटक्त हुए विविध प्रकार के कष्टा से पीडित क्षत विक्षत छिन्न भिन्न प्राणियो को धमरूपी माग पर पहुँचाते हैं और निर्वाणरूपी नगर की ओर ले जाते हैं। इसी अभिप्राय स मैं कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महासाथवाह हैं।

गोशालक— 'क्या यहा महाधमक्थी आए थे ?

सद्दालपुत्र—' ह देवानुप्रिय ! महाधमकथी कौन हैं ?

गोशालक— श्रमण भगवान महावीर महाधमक्थी हैं।"

सद्दालपुत्र— 'आप यह किस अभिप्राय मे कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महाधमक्थी हैं ?'

गोशालक –' हे दवानुप्रिय ! श्रमण भगवान महावीर इस विशाल समार मे भटक्त हुए पथभ्रष्ट कुमागगामी सन्माग से भ्रष्ट मिथ्यात्व मे फँस हुए तथा आठ प्रकार के कमरूपी अ धकार से घिरे हुए प्राणियो को अनेक प्रकार की युक्तियो उपदेशो यावत व्याख्याओ द्वारा भयकर अटवी के पार पहुँचात हैं। इसी अभिप्राय से श्रमण भगवान महावीर महाधमकथा कहे जात हैं।'

गोशालक— क्या यहाँ (तुम्हार पास) महानियामक आए थे ?"

सद्दालपुत्र—"महानिर्यामिक कौन हैं ?

गोशालक—"श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं।"

सद्दालपुत्र—आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं ?"

गोशालक—"हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान महावीर ससाररूपी महासमुद्र में नष्ट होते हुए, विनष्ट होते हुए, डूबते हुए, गोते खाते हुए और बहते हुए बहुत से जीवो को धर्मरूपी नौका द्वारा निर्वाणरूपी तट पर ले जाते हैं। इस लिए श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक अथवा महाकर्णधार कहे जाते हैं।"

टीका—प्रस्तुत पाठ मे गोशालक द्वारा की गई भगवान् महावीर की प्रशसा का वर्णन है उसने पॉच विशेषण दिये हैं। और प्रत्येक विशेषण की व्याख्या करते हुए उसे महावीर के साथ घटाया है। वे विशेषण हैं—महामाहन, महागोप, महासार्थ-वाह, महाधर्मकथी और महानिर्यामक। प्रत्येक की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार है—

१. महामाहन—इसकी विस्तृत व्याख्या पहले आ चुकी है। इसी अध्ययन के प्रारम्भ मे देव ने सद्दालपुत्र को महामाहन का वर्णन करते हुए कहा था कि वे उत्पन्न ज्ञान और दर्शन के धारक हैं। यहाँ उत्पन्न शब्द का अर्थ अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन है। क्योकि साधारण ज्ञान और दर्शन प्रत्येक प्राणी में सदा रहते हैं। जैन दर्शन मे ज्ञान के पॉच भेद है—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल। इनमे से मति, श्रुत, ज्ञान या अज्ञान रूप से प्रत्येक प्राणी मे होते हैं। किन्तु अन्तिम तीन विशेष शुद्धि द्वारा किसी-किसी को ही होते हैं। अन्तिम केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। यहाँ उसी से अभिप्राय है। इसी प्रकार दर्शन के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। यहाँ केवल दर्शन से अभिप्राय है। देव ने कहा था—वे अतीत, वर्तमान और अनागत के ज्ञाता हैं। अरिहन्त, जिन हैं, केवली हैं, सर्वज्ञ सर्वदशी हैं, त्रिलोक-द्वारा वन्दित, पूजित तथा सेवित हैं। देव, मनुष्य तथा असुरो के वन्दनीय, अर्चनीय, पूजनीय, सम्माननीय कल्याण तथा मगल रूप हैं। देवता स्वरूप हैं। उनके उपासनीय हैं। तथ्य अर्थात् सफल चारित्र सम्पत्ति के स्वामी हैं।

इन शब्दों की व्याख्या पिछली टीका में दी जा चुकी है। यहां भी शीलांक ने महामाहन शब्द की व्याख्या करते हुए इन्हीं बातों की ओर संकेत किया है।

महामाहन का दूसरा अर्थ है—मा हन (मत मारो) इस प्रकार का उपदेश देने वाले निर्ग्रन्थों के अग्रणी।

तीसरा अर्थ है श्रेष्ठ ब्राह्मण। जैन शास्त्रों में ब्राह्मण का अर्थ है वह व्यक्ति जो ब्रह्मचर्य का धारक है। स्थूल रूप से ब्रह्मचर्य का अर्थ है काम भोग एवं वासनाओं से विरक्ति। यह इसका निषेधात्मक अर्थ है। विध्यात्मक अर्थ है 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा में विचरण।

जैन धर्म में दोनों अर्थ लिए गये हैं और उन्हीं के आधार पर ब्राह्मण या माहन शब्द की व्याख्या की गई है। 'बम्भचेरेण बम्हणो' देखिये उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २५।

२ महागोप—दूसरे विशेषण के रूप में भगवान महावीर को महागोप कहा है। इसका अर्थ है ग्वाला या रक्षक। संसार के प्राणी अनेक कष्टों से पीडित हैं। बलवान प्राणी दुर्बल को सता रहा है सिंह आदि मांसाहारी अन्य प्राणियों को खा जाते हैं। कोई मारा जा रहा है कोई बांधा जा रहा है, कोई काटा जा रहा है, कोई छेदा जा रहा है। चारों ओर त्राहि त्राहि मची हुई है। भगवान् महावीर हाथ में धर्म रूपी दण्ड लेकर प्राणियों को बुरे कर्मों से रोकते हैं और जिस प्रकार ग्वाला अपने दण्ड से पशुओं को हांकता हुआ बाड़े में पहुँचा देता है। इसी प्रकार भगवान महावीर भी अपने सम्पर्क में आए हुए भव्य प्राणियों को मोक्ष रूपी बाड़े में पहुँचाते हैं इस लिए वे महागोप कहे जाते हैं।

३ महासार्थवाह तीसरा विशेषण है। सार्थ का अर्थ है काफिला और सार्थवाह का अर्थ काफिले का संचालन करने वाला उसका नेता। प्राचीन काल में व्यापारी, यात्री तथा अन्य लोग इकट्ठे होकर यात्रा किया करते थे। क्योंकि उन्हें घने जंगल पार करने पड़ते थे और वहाँ चोर डाकू हिंसक जीव तथा अन्य संकटों का सामना करना पड़ता था। अतः वे इकट्ठे होकर पूरी तैयारी के साथ चलते थे। उसका संचालन तथा सारी व्यवस्था किसी एक व्यक्ति के हाथ में रहती थी। उसी को सार्थवाह कहा जाता था। धार्मिक साहित्य में संसार को विशाल

अटवी की उपमा दी जाती है। उसमें अनेक यात्री रास्ता भूल जाते हैं। चोर उन्हे लूट लेते हैं, डाकू मार डालते है, हिसक प्राणी खा जाते हैं। सार्थवाह उन सव की रक्षा करता हुआ उन्हे पार ले जाता है और नगर तक पहुँचा देता है। भगवान् महावीर को भी इसी प्रकार मोक्ष रूपी नगर तक पहुँचाने वाला सार्थवाह वताया गया है।

४. **महाधर्म-कथी**—चौथा विशेपण है। इसका अर्थ है धर्मोपदेशक। भगवान् महावीर महान् धर्मोपदेशक थे। धर्मोपदेशक का कार्य है पथ भ्रष्टो को सत्पथ दिखाना। जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार मे पडे हुए हैं उन्हे प्रकाश देना तथा जीवन के उलझे हुए मार्ग को सुलझाना। भगवान् महावीर विविध प्रकार के दृष्टान्त-कथाओ, व्याख्याओ तथा प्रश्नोत्तरो द्वारा सवको धर्म का रहस्य समझाया करते थे। इसलिए उन्हे महाधर्म-कथी कहा गया है।

५. **महानिर्यामक**—पाँचवा विशेपण है। इसका अर्थ है महाकर्णधार। ससार एक समुद्र के समान है, जहा अनेक प्राणी डूव रहे हैं, भवर मे फसे हुए हैं। भगवान् महावीर उन्हे धर्म रूपी नौका द्वारा पार उतारते हैं। अतः वे महा-कर्णधार हैं।

उपरोक्त पाच विशेपणो मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो को उपस्थित किया गया है। महामाहन विशेपण मे उनकी ज्ञान एव चारित्र सम्पत्ति का वर्णन है। वहा वे सर्वोच्च आदर्श के रूप मे उपस्थित होते है। महागोप विशेपण मे वे रक्षक के रूप मे सामने आते हैं। अज्ञानी जीव पशुओ के समान हैं। उन्हे धर्म रूपी दण्ड द्वारा इधर-उधर भटकने से रोकने वाला तथा उन्हे अपने इष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला महागोप है। यहा धर्म को दण्ड की उपमा दी गई है। दण्ड कठोरता या हिसा का सूचक होता है। किन्तु साधक को दूसरो के प्रति मृदु किन्तु अपने प्रति सदा कठोर रहना चाहिए। इसी का नाम अनुशासन है और अनुशासन के विना जीवन का विकास नही हो सकता। तीसरे विशेपण मे ससार को अटवी वताया गया है और जीव को उसमे भटकने वाला पथिक। मोक्ष को वह नगर जहां पहुँचाना है। और महावीर को वहाँ पहुँचाने वाला सार्थवाह। यहाँ वे नेता या निर्यामक के रूप मे सामने आते हैं।

चौथे विशेपण मे उन्हे धर्म-कथी कहा गया है। अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रूपी अन्धकार मे फसे हुए हैं। सन्मार्ग छोड कर कुमार्ग को पकडे हुए हैं। धर्मोपदेशक

अन्धकार को दूर करके सन्मार्ग को आलोकित करता है। यहां वे पथप्रदर्शक के रूप में सामने आते हैं। पांचवें विशेषण में निर्यामक अर्थात् कर्णधार से उपमा दी गई है। संसार समुद्र है, प्राणी उसमें गोते खा रहे हैं भगवान धर्म रूपी नौका के द्वारा उन्हें पार उतारते हैं। यहां उनका समुद्धारक रूप सामने आता है।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—"तुब्भे णं देवाणुप्पिया! इय-च्छेया जाव इय-निउणा, इय नय-वादी, इय उवएसलद्धा, इय विण्णाण पत्ता, पभू णं तुब्भे मम धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं भगवया महावीरेण सद्धिं विवादं करेत्तए?"

"नोतिणट्ठे समट्ठे"।

"से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया! एवं वुच्चइ नो खलु पभू तुब्भे मम धम्मायरिएणं जाव महावीरेण सद्धिं विवादं करेत्तए?"

"सद्दालपुत्ता! से जहा नामए केइ पुरिसे तरुणे जुगवं जाव निउण सिप्पोवगए एगं महं अयं वा, एलयं वा, सूयरं वा, कुक्कुडं वा, तित्तिरं वा, वट्टयं वा, लावयं वा, कवोयं वा, कविंजलं वा, वायसं वा, सेणयं वा हत्थंसि वा, पायंसि वा, खुरंसि वा, पुच्छंसि वा, पिच्छंसि वा, सिंगंसि वा, विसाणंसि वा, रोमंसि वा, जहिं जहिं गिण्हइ, तहिं तहिं निच्चलं निप्फंदं धरेइ। एवामेव समणे भगवं महावीरे ममं बहूहिं अट्ठेहिं य हेऊहिं य जाव वागरणेहिं य जहिं जहिं गिण्हइ, तहिं तहिं निप्पट्ठ पसिण वागरणं करेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता! एवं वुच्चइ नो खलु पभू अहं तव धम्मायरिएणं जाव महावीरेण सद्धिं विवादं करेत्तए"॥ २१५॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासको गोशालं मङ्खलिपुत्रमेवमवादीत्—"यूयं खलु देवानुप्रिय! इयच्छेका, यावद् इयन्निपुणा, इयन्नयवादिन, इयदुपदेशलब्धा, इयद्विज्ञानप्राप्ता। प्रभवः खलु यूयं मम धर्माचार्येण धर्मोपदेशकेन भगवता महावीरेण सार्द्धं विवादं कर्तुम्?" "नायमर्थः समर्थः।" "तत्केनार्थेन

देवानुप्रियाः ! एवमुच्यते—नो प्रभवो यूयं मम धर्माचार्येण यावन्महावीरेण सार्द्धं विवादं कर्तुम् ?" "सद्दालपुत्र ! तद्यथानामक कोऽपि पुरुषस्तरुणः, बलवान्, युगवान् यावन्निपुणशिल्पोपगत एकं महान्तमजं वा, एडकं वा, शूकरं वा, कुक्कुटं वा, तित्तिरं वा, वर्त्तकं वा, लावकं वा, कपोतं वा, कपिञ्जलं वा, वायसं वा, श्येनकं वा, हस्ते वा, पादे वा, खुरे वा, पुच्छे वा, पिच्छे वा, शृङ्गे वा, विषाणे वा, रोम्णि वा, यत्र-यत्र गृह्णाति तत्र-तत्र निश्चलं निःस्पन्दं धरति । एवामेव श्रमणो भगवान् महावीरो मम बहुभिरर्थैश्च, हेतुभिश्च यावद् व्याकरणैश्च यत्र-यत्र गृह्णाति तत्र-तत्र निस्पष्ट-प्रश्नव्याकरणं करोति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते नो खलु प्रभुरहं तव धर्माचार्येण यावन्महावीरेण सार्द्धं विवादं कर्तुम् ।"

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से सद्दालपुत्ते समणोवासए**—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र **गोसालं मंखलिपुत्तं**—मखलिपुत्र गोशाल को **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला—**तुब्भे णं देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिय ! तुम **इयच्छेया**—ऐसे विदग्ध अवसर के जानकार हो **जाव**—यावत् **इय-निउणा**—ऐसे निपुण हो **इय-नयवादी**—इस प्रकार के नीतिज्ञ हो **इय उवएसलद्धा**—उपदेश अर्थात् शिक्षा ग्रहण किये हुए हो **इय-विण्णाणपत्ता**—इस प्रकार विज्ञान को प्राप्त हो **पभू णं तुब्भे**—क्या तुम समर्थ हो ? **मम धम्मायरिएणं**—मेरे धर्माचार्य **धम्मोवएसएणं**—धर्मोपदेशक **भगवया महावीरेण सद्धिं**—भगवान् महावीर के साथ **विवाद करेत्तए ?**—विवाद करने मे ? **नो तिणट्ठे समट्ठे**—गोशालक ने कहा—नही यह सभव नही है, **से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ**—हे देवानुप्रिय ! यह किस कारण से कहते हो **नो खलु पभू तुब्भे**—कि तुम समर्थ नही हो **मम धम्मायरिएणं जाव महावीरेणं सद्धिं**—मेरे धर्माचार्य यावत् श्रमण भगवान् महावीर के साथ **विवादं करेत्तए**—विवाद करने मे **सद्दालपुत्ता !**—हे सद्दालपुत्र ! **से जहानामए केइ पुरिसे**—जैसे अज्ञात नाम वाला कोई पुरुष **तरुणो**—जवान **बलव**—बलवान् **जुगवं**—युग वाला अर्थात् युगपुरुष **जाव**—यावत् **युवा**—निरोग तथा दृढ कलाई, हाथ-पैर, पसवाडे, पीठ तथा जघाओ वाला हो, **निउण सिप्पोवगए**—निपुण और कला कौशल का जानकार यदि **एगं महं अयं वा**—एक महान् काय वाले बकरे को **एलयं वा**—अथवा मेढे को **सूयरं वा**—अथवा सूअर को **कुक्कुडं वा**—अथवा मुर्गे को **तित्तिरं वा**—अथवा तीतर को

वट्टय वा—अथवा बटेर का लावय वा—अथवा लावक पक्षी (चिड़िया) का कवोय वा—अथवा कबूतर को कविजल वा—कपिजल को वायस वा—अथवा कौए का सेणय वा—अथवा बाज को हत्थसि वा—हाथ अथवा पायसि वा—पर का खुरसि वा पुच्छसि वा—खुर अथवा पूछ को पिच्छसि वा—पख सिंगसि वा—सीग अथवा विसाणसि वा—विषाण रोमसि वा—अथवा रोमो को जहि जहि गिण्हइ—जहाँ २ से भी पकडता है तहि तहि निच्चल निप्फद धरेइ—उसे वही वही निश्चल और निस्पद कर देता है। अर्थात उसे तनिक भी इधर उधर हिलने नही देता, एवामेव—इसी तरह समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर मम—मुझको बहूहि अट्ठेहि य—बहुत से अर्थो हेऊहि य—हेतुओ जाव—यावत वागरणहि य—व्याकरण—प्रश्नोत्तरो द्वारा जहि जहि गिण्हइ—जहाँ २ निगहीत करते हैं अर्थात पकडते हैं तहि तहि—वही मुझे निप्पट्ठपसिण वागरण करेइ—निरुत्तर कर देते हैं, से तेणट्ठेण सद्दालपुत्ता !—इसलिए हे सद्दालपुत्र ! एव वुच्चइ—मै कहता हूँ कि नो खलु पभू अह—मै समर्थ नही हूँ तव धम्मायरिएण—तुम्हारे धर्माचार्य जाव—यावत महावीरेण सद्धि विवाद करेत्तए—भगवान महावीर के साथ विवाद करने मे।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक से कहा—'हे देवानुप्रिय ! तुम इस प्रकार विदग्ध अवसर ज्ञाता, निपुण नीतिज्ञ तथा सुशिक्षित हो। क्या तुम मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान महावीर के साथ शास्त्रार्थ कर सकते हो ?' गोशालक ने कहा—'नही' मैं नही कर सकता।" सद्दालपुत्र ने फिर पूछा— हे देवानुप्रिय ! 'क्यो ?

सद्दालपुत्र ! जसे कोई तरुण बलवान, भाग्यशाली, युवा, नीरोग तथा दृढ कलाई हाथ-पैर पसवाडे, पीठ के मध्य भाग जघाओ वाला कला कौशल का जानकार पुरुष किसी बकरे मढे सूअर कपिजल काक और बाज का हाथ पैर खुर पूछ पख सीग दात, रोमादि जहाँ जहाँ से भी पकडता है वही से निश्चल और निस्पन्द दबा देता है और उसे जरा भी हिलने नही देता। इसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर अनेक अर्थों हेतुओ यावत व्याकरणो एव प्रश्नोत्तरो द्वारा जहाँ कही से भी मुझे पकडते हैं वही २ मुझे निरुत्तर कर देते हैं। हे सद्दालपुत्र ! इस लिये मै कहता हूँ कि तुम्हारे धर्माचार्य भगवान महावीर के साथ मै शास्त्रार्थ करने में समर्थ नही हूँ।'

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—"जम्हा णं, देवाणुप्पिया ! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स संतेहिं, तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेह, तम्हा णं अहं तुब्भे पाडिहारिएणं पीढ जाव संथारएणं उवनिमंतेमि ।" नो चेव णं धम्मोत्ति वा, तवोत्ति वा, तं गच्छह णं तुब्भे मम कुम्भारावणेसु पाडिहारियं पीढ-फलग जाव ओगिण्हित्ताणं विहरह" ॥ २१६ ॥

छाया—तत. खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासको गोशालं मङ्खलिपुत्रमेवमवादीत्—"यस्मात्खलु देवानुप्रियाः ! यूयं मम धर्माचार्यस्य यावन्महावीरस्य सद्भिस्तत्त्वैस्तथ्यैः सद्भूतैर्भावैर्गुणकीर्तनं कुरुथ, तस्मात् खलु अहं युष्मान् प्रातिहारीकेण पीठ यावत्संस्तारकेणोपनिमन्त्रयामि ।" नो चैव धर्म इति वा, तप इति वा, तद्गच्छत खलु यूयं मम कुम्भकारापणेषु प्रातिहारिकं पीठफलक यावद् अवगृह्य विहरत ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र गोसाल मखलिपुत्तं—गोशाल मङ्खलिपुत्र को एवं वयासी—इस प्रकार बोला—जम्हा णं देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! चूंकि तुब्भे—तुम ने मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स—मेरे धर्माचार्य यावत् श्रमण भगवान् महावीर का संतेहि—सद्रूप सत्य तच्चेहि—तत्वरूप तहिएहि—तथ्यरूप सब्भूएहिं भावेहिं—सद्भूत भावो द्वारा गुणकित्तणं करेह—गुण कीर्तन किया है, तम्हा णं अहं तुब्भे—इसलिए मै तुम्हे पाडिहारिएणं—प्रातिहारिक पीढ जाव संथारएणं उवनिमंतेमि—पीठ यावत् फलक, शय्या सस्तारक आदि के लिए उपनिमन्त्रणा करता हूँ, नो चेव णं धम्मोत्ति वा तवोत्ति वा—इसे धर्म या तप समझ कर नही तं गच्छह णं तुब्भे—इसलिए आप जाओ और मम कुम्भारावणेसु—मेरी वर्तनो की दुकानो से पाडिहारियं पीढ फलग—प्रातिहारिक के रूप मे अर्थात् वापिस लौटाने की शर्त पर पीठ-फलक जाव—यावत् शय्या-सस्तारक आदि ओगिण्हित्ताणं विहरह—ग्रहण करके विचरे ।

भावार्थ—इस पर श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मंखलिपुत्र गोशालक से कहा—"देवानुप्रिय कि तुमने मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर का सत्य, तथ्य

तथा सदभूत गुण कीतन किया है इसलिए म तुम्हे प्रातिहारिक, पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए उपनिमन्त्रणा करता हूँ यद्यपि म इसम धम और तप नही मानता। तो आप जाएँ और मरी बतना की दुकान, से पीठ फलक, शय्या सस्तारक आदि गहण करके विचरें।'

मूलम्—तए ण से गोसाले मखलिपुत्ते सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स एय मटठ पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता कुम्भारावणेसु पाडिहारिय पीढ जाव ओगिण्हित्ताण विहरइ ॥ २१७ ॥

छाया—तत खलु स गोशालो मङ्खलिपुत्र सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्यतमथ प्रतिशृणोति प्रतिश्रुत्य कुम्भकारापणेषु प्रातिहारिक पीठ यावद अवगह्य विहरति।

शब्दाथ—तए ण—तदन तर से गोसाले मखलिपुत्ते—उस मखलिपुत्र गोशाल ने सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र की एयमटठ पडिसुणेइ—इस बात को स्वीकार किया पडिसुणेत्ता—स्वीकार करके कुम्भारावणेसु—बतना की दुकानो से पाडिहारिय पीढ जाव प्रातिहारिक के रूप म पीठ यावत फलक शय्या, सस्तारकादि ओगिण्हित्ताण विहरइ—ग्रहण कर के विचरने लगा।

भावाथ—मखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सद्दालपुत्र की इस बात को स्वीकार किया और उसकी बतनो की दुकाना से प्रातिहारिक रूप म पीठ आदि गहण करके विचरने लगा।

मूलम्—तए ण से गोसाले मखलि पुत्ते सद्दालपुत्त समणोवासय जाहे नो सचाएइ बहूहि आघवणाहि य पण्णवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य निग्गथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे सते तते परितते पोलासपुराओ नयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्ख मित्ता बहिया जणवय विहार विहरइ ॥ २१८ ॥

छाया—तत खलु स गोशालो मखलिपुत्र सद्दालपुत्र श्रमणोपासक यदा नो शक्नोति बहुभिराख्यापनाभिश्च प्रज्ञापनाभिश्च सञ्ज्ञापनाभिश्च नग्रन्थात प्रवचना

च्चालयितुं वा, क्षोभयितुं वा, विपरिणमयितु वा, तदा श्रान्तस्तान्तः परितान्तः पोलासपुरान्नगरात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य वहिर्जनपदविहारं विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से गोसाले मंखलिपुत्ते—वह मंखलिपुत्र गोशालक वहूहिं आघवणाहि य—अनेक प्रकार की आख्यापनाओ (सामान्य कथनो) पण्णवणाहि य—प्रज्ञापनाओ (विविध प्ररूपणाओ) सण्णवणाहि य—संज्ञापनाओ (प्रतिवोधो) विण्णवणाहि य—और विज्ञापनाओ (अनुनय वचनो के द्वारा) सद्दालपुत्तं समणोवासयं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को निग्गंथाओ पावयणाओ—निर्ग्रन्थ प्रवचन से चालित्तए वा—विचलित करने मे खोभित्तए वा—क्षुब्ध करने में विपरिणामित्तए वा—विचार वदलने मे जाहे नो संचाएइ—जव समर्थ न हो सका ताहे सते—तव श्रान्त तंते-खिन्न परितंते-अत्यन्त दुखी होकर पोलासपुराओ नगराओ पडिणिक्खमइ—पोलासपुर नगर से वाहिर निकला पडिणिक्खमित्ता—निकलकर वहिया जणवय विहारं विहरइ—वाहिर के जनपदो मे विहार करने लगा ।

भावार्थ—जव मखलिपुत्र गोशालक अनेक प्रकार की आख्यापनाओ, सामान्य कथनो से प्रज्ञापनाओ—प्रतिपादनो, सज्ञापनाओ—प्रतिवोधो तथा विज्ञापनाओ—अनुनय वचनो से—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित, क्षुब्ध और विरुद्ध न कर सका तव श्रान्त, खिन्न और अत्यन्त दुखी होकर पोलासपुर नगर से वाहिर चला गया और वाहिर के जनपदो मे विहार करने लगा ।

टीका—किसी प्रकार की सासारिक अभिलाषा के विना यदि भगवान महावीर जैसे महापुरुषो का गुण कीर्तन किया जाए तो उससे सर्वोत्कृष्ट निर्जरा रूप फल की प्राप्ति होती है । गोशालक ने जो भगवान महावीर की स्तुति की थी वह अभिलाषा रहित न थी । इसलिए उसे मुख्य फल निर्जरा फल की प्राप्ति न होकर गौण फल अर्थात् प्रातिहारिक रूप मे पीठ फलक आदि प्राप्त हुए ।

गोशालक ने सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ प्रवचन से स्खलित करने के लिए अनेक प्रकार के आख्यानो, प्रज्ञापनाओ विविध प्ररूपणाओ तथा अनुनयपूर्ण वचनो द्वारा भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल न हो सका । इसी अभिप्राय को सूचित करने के लिए सूत्रकार ने 'सते तते परितते' पद दिए हैं ।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील० जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले जाव पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ २१९ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शीलव्रतानि यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सराणि व्युत्क्रान्तानि, पञ्चदशं संवत्सरमन्तरावर्तमानस्य पूर्वरात्रापररात्रकाले यावत् पौषधशालायां श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के बहूहिं सील० जाव भावेमाणस्स—विविध प्रकार के शीलव्रत नियम आदि के द्वारा आत्मा को भावित—संस्कारित करते हुए चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता—चौदह वर्ष व्यतीत हो गए पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स—जब पन्द्रहवाँ वर्ष चल रहा था पुव्वरत्तावरत्तकाले—मध्यरात्रि के समय जाव—यावत् पोसहसालाए—पौषधशाला में समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के अंतियं धम्मपण्णत्तिं—समीप प्राप्त की हुई धर्मप्रज्ञप्ति को उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को बहुत से शील यावत् व्रत नियम आदि के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। पन्द्रहवें वर्ष में अर्धरात्रि के समय यावत् पौषधशाला में श्रमण भगवान महावीर से प्राप्त की हुई धर्मप्रज्ञप्ति का आराधन करते हुए विचरने लगा।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ॥ २२० ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापररात्रकाले एको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत्।

शब्दार्थ—**तए ण**—तदनन्तर **तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स अंतियं**—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के समीप **पुव्वरत्तावरत्त काले**—आधी रात्रि के समय **एगे देवे पाउब्भवित्था**—एक देव प्रकट हुआ।

भावार्थ—इसके वाद अर्धरात्रि में उस सद्दालपुत्र के पास एक देव प्रकट हुआ।

मूलम्—**तए णं से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—(जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्गं करेइ। नवरं एक्केक्के पुत्ते नव मंस-सोल्लए करेइ) जाव कनीयसं घाएइ, घाइत्ता जाव आयंचइ॥ २२१॥**

छाया—तत. खलु स देव एकं महान्तं नीलोत्पल यावद् असिं गृहीत्वा सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—यथा चुलनीपितुस्तथैव देव उपसर्ग करोति। नवरमेकैकस्मिन् पुत्रे नव मांसशूल्यकानि करोति, यावत् कनीयांसं घातयति, घातयित्वा यावदासिञ्चति।

शब्दार्थ—**तए णं**—तदनन्तर **से देवे**—उस देव ने **एगं महं नीलुप्पल**—नीले कमल के समान एक वडी **जाव**—यावत् चमकती हुई **असि गहाय**—तलवार लेकर **सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी**—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को इस प्रकार कहा—**जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्गं करेइ**—चुलनीपिता श्रावक के समान देव ने उपसर्ग किये **नवरं**—विशेषता इतनी है कि **एक्के-क्के पुत्ते**—प्रत्येक पुत्र के **नव मंस सोल्लए करेइ**—मास के नौ २ टुकडे किए **जाव कणीयसं घाएइ**—यावत् सवसे छोटे पुत्र को भी मार डाला **घाइत्ता जाव आयंचइ**—मार कर सद्दालपुत्र के शरीर पर मास और रुधिर के छीटे दिये।

भावार्थ—उस देव ने नील कमल के समान प्रभा वाली विशाल तलवार लेकर, चुलनीपिता के समान समस्त उपसर्ग किये। केवल इतना अन्तर है कि प्रत्येक पुत्र के नौ टुकड़े किये। यावत् सवसे छोटे लडके को मार डाला और सद्दालपुत्र के शरीर पर मास तथा रुधिर से छीटे दिये।

मूलम्——तए ण से सद्दालपुत्ते समणोवासए अभीए जाव विहरइ ॥ २२२ ॥

छाया——तत खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासकोऽभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ——तए ण——तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र अभीए जाव विहरइ—भयरहित यावत ध्यानस्थ रहा ।

भावार्थ——फिर भी श्रमणोपासक सद्दालपुत्र निर्भय यावत समाधिस्थ रहा ।

मूलम्——तए ण से देवे सद्दालपुत्त समणोवासय अभीय जाव पासित्ता चउत्थपि सद्दालपुत्त समणोवासय एव वयासी——"हभो सद्दालपुत्ता ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थया ! जाव न भजसि तओ जा इमा अग्गिमित्ता भारिया धम्म सहाइया, धम्म विइज्जिया धम्माणुराग रत्ता समसुह दुक्ख-सहाइया, त ते साओ गिहाओ नोणेमी, नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाइत्ता नव मस सोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण भरियसि कडाहयसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गाय मसेण य सोणिएण य आयचामि, 'जहा ण तुम अट्ट, दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि" ॥ २२३ ॥

छाया——तत खलु स देव सद्दालपुत्र श्रमणोपासकमभीत यावद दृष्ट्वा चतुर्थमपि सद्दालपुत्र श्रमणोपासकमेवमवादीत——"हभो सद्दालपुत्र ! श्रमणोपासक ! अप्रार्थित-प्रार्थक ! यावन्न भनक्षि ततस्त येयमग्निमित्रा भार्या धर्मसहायिका, धर्मवद्या, धर्मानुरागरक्ता, समसुखदु ख सहायिका, ता ते स्वस्माद गृहान्नयामि नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा नव मासशूल्यकानि करोमि, कृत्वाऽऽदानभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्र मासेन च शोणितेन चासिञ्चामि यथा खलु त्वमार्त्तो यावद्-व्यपरोपयिष्यसे ।"

शब्दार्थ——तए ण——तदनन्तर से देवे——उस देव ने सद्दालपुत्त समणोवासय—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को अभीय जाव पासित्ता——निर्भय यावत समाधिस्थ देखकर

चउत्थंपि—चौथी बार भी सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—श्रमणोपासक सद्दाल-पुत्र को इस प्रकार कहा—हंभो सद्दालपुत्ता ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थया !—हे श्रमणोपासक ! सद्दालपुत्र ! मृत्यु को चाहने वाले ! जाव न भंजसि—यावत् तू शीलादि व्रतो को भङ्ग नही करेगा तओ—तो ते जा इमा—तेरी जो यह अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भार्या है और जो धम्मसहाइया—धर्म मे सहायता देने वाली, ,धम्मविइज्जिया—धर्म की वैद्य अर्थात् धर्म को सुरक्षित करने वाली, धम्माणुरागरत्ता—धर्म के अनुराग मे रगी हुई, समसुहदुक्खसहाइया—दुःख सुख में समान रूप से सहायता करने वाली है तं—उसको ते साओ गिहाओ—तेरे अपने घर से नीणेमि—लाऊँगा नीणित्ता—लाकर तव अग्गओ घाएमि—तेरे सामने मार डालूँगा घाइत्ता—मारकर नव मससोल्लए करेमि—मास के नौ टुकडे करूँगा करेत्ता—ऐसा करके आदाण भरियसि कडाहयंसि अद्दहेमि—तेल से भरे हुए कडाहे मे तलूँगा, अद्दहित्ता—तलकर तव गाय—तेरे शरीर को मंसेण य सोणिएण य आयचामि—मास और रुधिर से छीटे दूँगा, जहा णं तुमं—जिससे तू अट्ट-दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि—अति दुखार्त तथा विवश हो कर यावत् मर जाएगा ।

भावार्थ—देव ने इस पर भी सद्दालपुत्र को निर्भय यावत् समाधिस्थ देखा तो चौथी बार बोला—अरे श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ! मृत्यु को चाहने वाले ! यदि तू शीलादि व्रतो को भङ्ग नही करेगा तो तेरी अग्निमित्रा भार्या को जो कि धर्म मे सहायता देने वाली, धर्म की वैद्य अर्थात् धर्म को सुरक्षित रखने वाली, धर्म के अनु-राग मे रगी हुई, तथा दुःख सुख मे सहायक है, उसे तेरे घर से लाकर तेरे सामने मार कर नौ टुकडे करूँगा । उन्हे तेल से भरे कडाहे मे तलूँगा । उसके तपे हुए खून एव मास से तेरे शरीर पर छीटे दूँगा, जिससे तू चिन्तित दुःखी तथा विवश हो कर असमय मे ही प्राणो से हाथ धो वैठेगा ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ २२४ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्तः सन्नभीतो यावद् विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र तेणं देवेणं—उस देव द्वारा एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी अभीए जाव विहरइ—निर्भय यावत् समाधि में स्थिर रहा।

भावार्थ—देव द्वारा इस प्रकार कहने पर भी सद्दालपुत्र समाधि में स्थिर रहा।

मूलम्—तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—"हंभो सद्दालपुत्ता! समणोवासया!" तं चेव भणइ ॥ २२५ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकं द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—हंभो सद्दालपुत्र! श्रमणोपासक! तदेव भणति।

शब्दार्थ—तए णं तदनन्तर से देवे—उस देव ने साद्दलपुत्तं समणोवासयं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—दूसरी तीसरी बार इसी प्रकार कहा—हंभो सद्दालपुत्ता समणोवासया!—हे श्रमणोपासक सद्दालपुत्र! तं चेव भणइ—वही बात दुहराई।

भावार्थ—देव ने सद्दालपुत्र को दूसरी तथा तीसरी बार भी यही कहा।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयं अज्झत्थिए समुप्पन्ने४ एवं जहा चुलणीपिया! तहेव चिंतेइ। "जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं, जेणं ममं मज्झिमयं पुत्तं जेणं ममं कणीयसं पुत्तं जाव आयंचइ, जावि य णं ममं इमा अग्गिमित्ता भारिया समसुहदुक्ख सहाइया, तंपि य इच्छइ, साओ गिहाओ नीणित्ता ममं अग्गओ घाएत्तए। तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति" कट्टु उद्धाइए। (जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्वं नवरं) अग्गिमित्ता भारिया कोलाहलं सुणित्ता भणइ। सेसं जहा चुलणीपियावत्तव्वया, नवरं ***अरुणभूए विमाणे उववन्ने जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवओ।*** **॥ २२६ ॥**

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं सत्तमं सद्दालपुत्तमज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्यसतोऽयमाध्यात्मिकः ४ समुत्पन्न—"एवं यथा चुलनीपिता तथैव चिन्तयति, येन मम ज्येष्ठं पुत्र, येन मम मध्यमकं पुत्र, येन मम कनीयांसं पुत्रं, यावद् आसिञ्चति, यापि च खलु ममेयमग्निमित्रा भार्या समसुखदुःख सहायिका, तामपि चेच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम्, तत् श्रयेः खलु ममैतं पुरुष ग्रहीतुमिति" कृत्वोत्थित., यथा चुलनीपिता तथैव सर्वं भणितव्यम्, नवरमग्निमित्रा भार्या कोलाहलं श्रुत्वा भणति। शेषं यथा चुलनीपितृवक्तव्यता, नवरमरुणभूते विमाने उपपन्नो यावन्महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति।

शब्दार्थ—तए ण तदनन्तर तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के मनमे तेणं देवेणं—उस देव द्वारा दोच्चपि तच्चंपि—दूसरी और तीसरी वार भी इस प्रकार कहे जाने पर अयं अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—यह विचार उत्पन्न हुआ एवं जहा चुलणीपिया—जिस प्रकार चुलनीपिता ने सोचा था तहेव चिंतेइ—उसी तरह सोचने लगा जेणं ममं जेट्ठं पुत्त—जिसने मेरे ज्येष्ठ पुत्र को जेणं ममं मज्झिमयं पुत्तं—जिसने मेरे मझले पुत्र को जेणं ममं कणीयसं पुत्तं—जिसने मेरे कनिष्ठ पुत्र को मार डाला जाव आयचइ—यावत् छींटे दिए जावि य णं ममं इमा—और जो यह मेरी अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भारिया समसुहदुक्ख सहाइया—मेरे सुख-दु.ख मे सहायक है तपि य—उसको भी साओ गिहाओ नीणेत्ता—घर से लाकर मम अग्गओ—मेरे आगे घाएत्तए इच्छइ—मारना चाहता हे तं सेयं खलु ममं—अत मेरे लिए यही उचित है कि एयं पुरिसं गिण्हित्तए—इस पुरुप को पकड लूँ त्ति कट्टु उद्धाइए—यह सोचकर उठा जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्वं—शेप सव वाते चुलनीपिता के समान समझना नवरं—इतनी ही विशेपता है कि अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भार्या कोलाहलं सुणित्ता भणइ—कोलाहल सुनकर वोलती है सेसं जहा चुलणीपिया वत्तव्वया—शेप वर्णन चुलनीपिता के समान है नवरं—विशेषता इतनी ही है कि अरुणभूए विमाणे उववन्ने—अरुणभूत विमान मे उत्पन्न हुआ जाव—यावत् महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप।

भावार्थ—जव उस अनार्य पुरुप ने दूसरी और तीसरी बार इसी प्रकार कहा तो सद्दालपुत्र के मन मे यह पुरुष अनार्य है इत्यादि सारी बाते आई। उसने सोचा

कि इस अनाय ने मेरे ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ पुत्र को मार डाला है। उनके टुकड टुकडे किए और मेरे शरीर को उनके रुधिर और मास से छींटे दिए। अब मेरी पत्नी अग्निमित्रा को जो सुख-दुःख तथा धर्म कार्यो मे सहायक है, घर से लाकर मेरे सामने मारना चाहता है। इस प्रकार सारा वृत्ता त चुलनीपिता के समान समझना चाहिए। केवल इतना फर्क है कि कोलाहल सुनकर चुलनीपिता की माता आई थी और यहा पत्नी अग्निमित्रा आई। सद्दालपुत्र भी मरकर अरुणभूत विमान मे उत्पन्न हुवा और महाविदेह क्षेत्र मे सिद्धि प्राप्त करेगा।

टीका—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र पौषधशाला मे भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म की आराधना कर रहे थे। आधी रात के समय एक देव उनके समीप आया। उसके पास नील कमल के समान चमचमाती तलवार थी। अत्यन्त क्रुद्ध होकर वह सद्दालपुत्र से बोला—यदि तू शीलादि व्रतो का परित्याग नही करता तो मैं तेरे पुत्रो को मार डालूँगा इत्यादि कहकर चुलनीपिता के समान ही देव ने सद्दालपुत्र को नाना प्रकार के उपसर्ग किए। देवी माया के कारण सद्दालपुत्र को ऐसा प्रतीत हुआ कि उसके तीनो पुत्र मार डाले गए हैं तथा उसके शरीर को रुधिर तथा मास से छींटे दिए जा रहे हैं। यह भीषण दृश्य देखकर और देवकृत नाना उपसर्गो कष्टो को सह कर भी सद्दालपुत्र निर्भय बना रहा और अपनी समाधि से विचलित नही हुआ। यह देखकर देव ने चौथी बार कहा— यदि तू अब भी शीलादि को भग नही करेगा तो मैं तेरी भार्या अग्निमित्रा जो कि धर्म मे तेरी सहायक है, धर्म वैद्या है तथा धर्म के अनुराग मे रगी हुई है घर से लाकर तेरे सामने मार डालूँगा। तेल से भरे कडाह मे तल कर उसके मास और रुधिर से तेरे शरीर को छींटूँगा। जिससे तू अत्यन्त दुःखी हो कर मर जायगा।' इस पर सद्दालपुत्र के मन में विचार हुआ कि जिसने मेरे सब पुत्रो को मार डाला और जो मेरी धर्म तथा सुख दुःख मे सहायक पत्नी को भी मार डालना चाहता है। ऐसे अनार्य पुरुष को पकड लेना चाहिए। यह विचार कर सद्दालपुत्र ज्यो ही देव को पकडने के लिए उठा, वह अदृश्य हो गया। अग्निमित्रा कोलाहल सुनकर आई और उसने सद्दालपुत्र से यथार्थ बात कही और बताया कि यह सब देव माया था। वास्तव मे कुछ नही हुआ। तेरे सभी पुत्र आराम से सोए हुए हैं। इस माया के कारण तुम अपने व्रतो से विचलित हो गए हो।

अत तुम इसके लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि करो। सद्दालपुत्र ने आत्मशुद्धि की और क्रमश श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ अङ्गीकार की। अन्त में सलेखना द्वारा शरीर त्याग कर के अरुणभूत नामक विमान मे उत्पन्न हुआ वहाँ आयुष्य पूरी करके महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और सिद्धि प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत वर्णन मे अग्निमित्रा भार्या के जो गुण बताए गए हैं वे महत्वपूर्ण हैं। जो इस प्रकार हैं—

१. **धम्म-सहाइया**—अग्निमित्रा धर्म-कार्यो मे सद्दालपुत्र की सहायता करती थी। उनमे बाधा नही डालती थी। इतना ही नही, प्रत्येक धर्म-कार्य मे प्रोत्साहन देती थी।

२. **धम्मविइज्जिया**—(धर्म-वैद्या) वह धार्मिक जीवन के लिए वैद्य के समान थी। अर्थात् किसी प्रकार की शिथिलता या दोप आने पर उसे दूर कर देती थी और धार्मिक अर्थात् आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए प्रेरणा करती रहती थी।

३. **धम्माणुराग-रत्ता**—(धर्मानुरागरक्ता) धर्म के प्रेम मे रमी हुई थी अर्थात् धर्म उसके बाह्य जीवन मे ही नही, हृदय मे भी उतरा हुआ था। धर्मानुष्ठान स्वय करने मे तथा दूसरो से कराने मे उसे आनन्द आता था।

४. **सम-सुहदुक्ख सहाइया**—(समसुख-दु ख सहायिका) वह अपने पति के सुख और दु ख मे बराबर हिस्सा बटाती थी और प्रत्येक अवसर पर सहायता करती थी।

भारतीय परम्परा मे पत्नी को सहधर्म चारिणी कहा गया है। अग्निमित्रा अपने इस कर्त्तव्य का पालन कर रही थी। उसने गृहस्थी के कार्यो मे पति को सदा सहायता दी और उसकी सुख सुविधाओ का ध्यान रखा। उसमे धर्म भावना जागृत रखी। जब देव द्वारा किए गए उपसर्ग के कारण सकट आया और वह विचलित हो गया, तो उसे पुन धर्म में स्थापित किया आत्मविकास के मार्ग पर अग्रसर किया। इस प्रकार वह सच्चे रूप मे धर्म सहायिका और धर्म वैद्या सिद्ध हुई।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का सप्तम सद्दालपुत्र अध्ययन समाप्त ॥

अट्ठमज्झयणं

अष्टम अध्ययन

मूलम्——अट्ठमस्स उक्खेवओ, एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे । गुणसिले चेइए । सेणिए राया ।। २२७ ।।

छाया——अष्टमस्योपक्षेपकः, एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नगरम्, गुणशीलश्चैत्यः, श्रेणिको राजा ।

शब्दार्थ—**अट्ठमस्स उक्खेवओ**—आठवे अध्ययन का उपक्षेप—प्रारम्भ पूर्ववत् है, **एव खलु, जम्बू !**—इस प्रकार हे जम्बू ! **तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल उस समय **रायगिहे नयरे**—राजगृह नामक नगर था **गुणसिले चेइए**—गुणशील नामक चैत्य था **सेणिए राया**—श्रेणिक राजा था ।

भावार्थ—आठवे अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् है । श्री जम्बू स्वामी के प्रश्न करने पर श्री सुधर्मा जी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! उस काल जबकि चतुर्थ आरक था और श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी विराजमान थे, उस समय राजगृह नामक नगर था । गुणशील चैत्य उसके बाहिर था । वहाँ पर महाराजा श्रेणिक राज्य करते थे ।

महाशतक का वर्णन—

मूलम्——तत्थ णं रायगिहे महासयए नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जहा आणंदो । नवरं अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ वुड्ढि-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं ।। २२८ ।।

छाया—तत्र खलु राजगृहे महाशतको नाम गाथापति परिवसति, आढ्यो, यथाऽऽनन्द, नवरमष्ट हिरण्यकोटय सकास्या निधान प्रयुक्ता, अष्ट हिरण्यकोटय सकास्या वृद्धि प्रयुक्ता, अष्ट हिरण्यकोटय, सकास्या प्रविस्तर प्रयुक्ता, अष्ट व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन।

शब्दार्थ—तत्थ ण रायगिहे—उस राजगृह नगर म महासयए नाम गहावई—महाशतक नाम का गाथापति परिवसइ—रहता था अड्ढे—वह आढ्य यावत समृद्ध था जहा आणदो—आनन्द श्रावक के समान सारा वृत्तान्त समझ लेना चाहिए नवर—इतना विशेष है अट्ठ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुवर्ण मुद्राए सकसाओ—कास्य के साथ निहाण पउत्ताओ—कोष म सञ्चित थी अट्ठ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ सकसाओ—कास्य सहित वुड्ढि पउत्ताओ—व्यापार मे प्रयुक्त थी अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकसाओ—कास्य से नपी हुई आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ कास्य से प्रयुक्त पवित्थर पउत्ताओ—घर व सामान मे लगी हुई थी अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएण वएण—प्रत्येक म दस हजार गायो वाले आठ व्रज थे।

भावार्थ—राजगृह नगर म महाशतक नामक गाथापति रहता था। वह आढ्य एव आनन्द श्रावक की तरह सम्पन्न था। उसके कास्य सहित आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष म आठ करोड व्यापार म और आठ करोड घर तथा सामान म लगी हुई थी। पशुधन के आठ व्रज थे।

१३ भार्याएँ—

मूलम्—तस्स ण महासयगस्स रेवई पामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था, अहीण जाव सुरूवाओ॥ २२९॥

छाया—तस्य खलु महाशतकस्य रेवती प्रमुखास्त्रयोदश भार्या आसन, अहीन यावत्सुरूपा।

शब्दार्थ—तस्स ण महासयगस्स—उस महाशतक के रेवई पामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था—रेवती आदि प्रमुख १३ पत्नीया थी अहीण जाव सुरूवाओ—(व) अहीन (अर्थात सम्पूर्णाङ्ग) यावत सरूप थी।

भावार्थ—उसकी रेवती आदि १३ पत्नीयाँ थी। सभी सम्पूर्णाङ्ग यावत् सुन्दर थी।

पत्नियों की सम्पत्ति—

मूलम्—**तस्स णं महासयगस्स रेवईए भारियाए कोल-घरियाओ अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ, अट्ठ वया दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था। अवसेसाणं दुवालसण्हं भारियाणं कोल-घरिया एगमेगा हिरण्ण-कोडी एगमेगे य वए दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था॥ २३०॥**

छाया—तस्य खलु महाशतकस्य रेवत्या भार्याया कौलगृहिका अष्टहिरण्य-कोटयोऽष्ट व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेनाऽऽसन्। अवशेषाणां द्वादशानां भार्याणां कौल-गृहिका एकैका हिरण्यकोटी, एकैकश्च व्रजो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेनाऽऽसीत्।

शब्दार्थ—**तस्स णं महासयगस्स**—उस महाशतक की **रेवईए भारियाए**—रेवती भार्या के पास **कोलघरियाओ**—पितृकुल से प्राप्त **अट्ठ हिरण्णकोडीओ**—आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ थी **अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं होत्था**—और प्रत्येक मे दस हजार गायो के हिसाब से आठ व्रज थे, **अवसेसाणं दुवालसण्हं भारियाणं**—शेष १२ भार्याओ के पास **कोल-घरिया**—पितृ गृह से प्राप्त **एगमेगा हिरण्णकोडी**—एक २ करोड सुर्वण मुद्राएँ **एगमेगे य वए दसगोसाहस्सिएणं वएणं होत्था**—तथा दस हजार गायो वाला एक-एक व्रज था।

भावार्थ—रेवती के पास पितृ-कुल से प्राप्त आठ करोड सुवर्ण मुद्राएँ थी और प्रत्येक मे दस हज़ार गायो वाले आठ गोकुल थे। शेष बारह स्त्रियो मे प्रत्येक के पास पितृकुल से प्राप्त एक एक करोड सुवर्ण मुद्राएँ और दस हजार गायो वाला एक-एक व्रज था।

भगवान् का आगमन तथा महाशतक का व्रत ग्रहण—

मूलम्—**तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे। परिसा निग्गया। जहा आणंदो तहा निग्गच्छइ। तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ। नवरं अट्ठ**

हिरण्ण कोडीओ सकसाओ उच्चारेइ, अट्ठ वया, रेवइ पामोक्खाहि तेरसहि भारियाहि अवसेस मेहुणविहि पच्चक्खाइ। सेस सव्व तहेव इम च ण एयारूव अभिग्गह अभिगिण्हइ—"कल्लाकल्लि च ण कप्पइ मे वेदोणियाए कस पाईए हिरण्ण-भरियाए सववहरित्तए" ॥ २३१ ॥

छाया—तस्मिन काले तस्मिन समये स्वामी समवसृत , परिषन्निगता । यथाऽऽनन्द स्तथा निर्गच्छति । तथव श्रावकधर्म प्रतिपद्यते, नवरमष्टहिरण्यकोटच सकास्या निधान प्रयुक्ता उच्चारयति, अष्ट व्रजा , रेवती प्रमुखाभ्यस्त्रयोदशभ्यो भार्याभ्योऽव-शेष मथुनविधि प्रत्याख्याति, शेष सर्व तथव । इम च खलु एतद्रूपमभिग्रहमभिग ह्लाति– 'कल्या कल्यि कल्पते मे द्विद्रोणीकया कास्यपान्या हिरण्यभृतया सव्यवहर्तु म ।"

शब्दाथ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल और उस समय सामी समोसढे—श्रमण भगवान महावीर स्वामी समवसृत हुए परिसा निग्गया—परिषद धम कथा सुनने का निकली जहा आणदो तहा निग्गच्छइ—आनन्द के समान महाशतक भी निकला तहेव सावयधम्म पडिवज्जइ—उसने भी उसी प्रकार श्रावक धम अङ्गीकार किया नवर—इतना विशेष है कि अट्ठ हिरण्ण कोडीओ सकसाओ निहाणपउत्ताओ—आठ करोड सुवण मुद्राएँ काम्य द्वारा नापी हुई कोष आदि म रखने का उच्चारेइ—उच्चारण किया अट्ठ वया—आठ व्रज रग्व रेवई पामोक्खाहि तेरसहि—रेवती प्रमुख १३ भारियाहि अवसेस मेहुण विहि पच्चक्खाइ—भार्याओ के अतिरिक्त अ य स्त्रिया से मथुन सेवन का प्रत्याख्यान किया सेस सव्व तहेव—शेष सब उसी प्रकार आनन्द की तरह समझना चाहिए । इम च ण एयारूव अभिग्गह अभिगिण्हइ—उसने एसा अभिग्रह भी लिया कल्ला किल्ल कप्पइ मे—प्रतिदिन मुझे कल्पता है कि वेदोणीयाए–कसपाईए हिरण्ण भरियाए सववहरित्तए—दो द्रोण जितनी कास्य पात्र म भरी हुई सुवण मुद्राओ से व्यापार करना ।

भावाथ—उस काल उस समय भगवान महावीर स्वामी पधारे । परिषद दश नाथ निकली । महाशतक भी आनन्द श्रावक की भान्ति निकला । और उसी प्रकार गहस्थधम स्वीकार किया । विशेषता यही है कि उसने कास्य सहित आठ २

करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष आदि मे रखने की मर्यादा की। रेवती आदि तेरह पत्नियो के अतिरिक्त अन्य स्त्रियो से मैथुन सेवन का परित्याग किया। अन्य सब आनन्द के समान है। उसने यह भी अभिग्रह लिया कि "मै प्रतिदिन दो द्रोण सुवर्ण से भरे हुए कास्य पात्र द्वारा व्यापार करूँगा।

मूलम्——तए णं से महासयए समणोवासए जाए अभिगय-जीवाजीवे जाव विहरइ ॥ २३२ ॥

छाया——तत. खलु स महाशतक. श्रमणोपासको जातोऽभिगत-जीवाजीवो यावद्विहरति।

शब्दार्थ——**तए णं से महासयए**—तदनन्तर वह महाशतक **समणोवासए जाए**—श्रमणोपासक हो गया **अभिगय-जीवाजीवे जाव विहरइ**—यावत् जीवाजीव का जानकार हो कर विचरने लगा।

भावार्थ——महाशतक श्रमणोपासक हो गया और जीवाजीव का ज्ञाता हो कर विचरने लगा।

मूलम्——तए णं समणे भगवं महावीरे बहिया जणवयविहारं विहरइ ॥ २३३ ॥

छाया——तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरो बहिर्जनपदविहारं विहरति।

शब्दार्थ——**तए णं समणे भगवं महावीरे**—एक दिन श्रमण भगावान् महावीर **बहिया जाणवय-विहारं विहरइ**—अन्य जनपदो मे विचरने लगे।

भावार्थ——इसके बाद श्रमण भगवान् महावीर विहार कर गए और अन्य जनपदो में विचरने लगे।

रेवती का क्रूर अध्यवसाय—

मूलम्——तए णं तीसे रेवईए गाहावइणीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि कुडुम्ब जाव इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ ——"एवं खलु अहं इमासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं विघाएणं नो संचाएमि महासयएणं समणोवास-

एण सद्धिं उरालाइं माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणी विहरित्तए। त सेयं खलु मम एयाओ दुवालसवि सवत्तियाओ अग्गिप्पओगेण वा, विसप्प- ओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्ता एयासिं एगमेगं हिरण्ण कोडिं, एगमेगं वयं सयमेव उवसम्पज्जित्ता णं महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं जाव विहरित्तए" एवं सपेहेइ, सपेहेइत्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अतराणि य, छिद्दाणि य, विवराणि य पडिजागरमाणी विहरइ ॥ २३४ ॥

छाया—तत खलु तस्या रेवत्या गाथापत्न्या अन्यदा कदाचित्पूर्वरात्रापररात्रकाल समये कुटुम्ब यावद् अयमेतद्रूप आध्यात्मिक —"एव खलु अहमासा द्वादशाना सपत्नी ना विघातेन नो शक्नोमि महाशतकेन श्रमणोपासकेन सार्द्धमुदारान मानुष्यकान भोग भोगान भुञ्जाना विहर्तु म, तच्छ्रेय खलु ममता द्वादशापि सपत्नयोऽग्निप्रयोगेण वा, शस्त्रप्रयोगेण वा, विषप्रयोगेण वा जीविताद्व्यपरोपयित्वतासामेकका हिरण्यकोटी मेकक व्रज स्वयमेवोपसम्पद्य महाशतकेन श्रमणोपासकेन सार्द्धमुदारान यावद्विह र्तु म।" एव सम्प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य तासा द्वादशाना सपत्नीनामन्तराणि च छिद्राणि च विवराणि च प्रतिजाग्रती विहरति।

शब्दार्थ—तए ण तीसे रेवईए गाहावइणीए—तदनन्तर उस रेवती गाथा पत्नी को अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि—अर्धरात्री मे कुडुम्ब जाव इमेयारूवे अज्झत्थिए—कौटुम्बिक वार्ता के लिए जागरण करते हुए यह विचार आया एव खलु अह—इस प्रकार मै इमासि दुवालसण्हं—इन बारह सवत्तीण विघाएण—सपत्नियो के विघ्न के कारण नो सचाएमि—समर्थ नही हूँ महासयएण समणोवासएण सद्धि—महाशतक श्रमणोपासक के साथ उरालाइ—इच्छानुसार माणुस्सयाइ भोगभोगाइ भुञ्जमाणी विहरित्तए—मनुष्य सम्बन्धी काम भोग भोगती हुई विचरने मे त सेयं खलु मम—तो मेरे लिए उचित है कि एयाओ दुवालसवि सवत्तियाओ—इन १२ सपत्नियो को अग्गिप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा—अग्नि प्रयोग से अथवा विष प्रयोग के द्वारा जीवियाओ ववरोवित्ता—जीवन से पृथक् करके एयासिं—इनका एगमेगं—एक २ हिरण्णकोडिं—करोड सुवर्ण मुद्राएं एगमेगं—एक एक व्रज सयमेव उवसपज्जित्ताण—स्वय अपने अधीन करूँ तथा महासयएण समणोवासएण

सद्धि—महाशतक श्रमणोपासक के साथ उरालाइ जाव विहरित्तए—स्वेच्छानुसार यावत् भोग भोगू एवं संपेहेइ—इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता—विचार करके तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं—उन १२ सपत्नियो के अंतराणि य छिद्दाणि य–गुप्त छिद्रो और विवराणि य—विवरो को पडिजागरमाणी विहरइ—ढूण्डने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी को अर्धरात्रि के समय कुटुम्ब जागरणा करते हुए यह विचार आया। "मै इन १२ सपत्नियो के विघ्न के कारण महाशतक श्रमणोपासक के साथ इच्छानुसार भोग नही भोग सकती। अच्छा होगा कि इन सौतो को मार डालू। प्रत्येक की एक २ करोड सुवर्ण मुद्रा रूप सम्पति तथा व्रजो पर अधिकार जमा लू और महाशतक के साथ स्वेच्छानुसार काम भोगो का आनन्द लू।" यह सोच कर वह उनके गुप्त विवरो तथा छिद्रो को ढूण्डने लगी।

रेवती द्वारा सपत्नियो की हत्या और सम्पत्ति का अपहरण—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतरं जाणित्ता छ सवत्तीओ सत्थ-प्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता छ सवत्तीओ विस-प्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं कोल-घरियं एगमेगं हिरण्ण-कोडिं, एगमेगं वयं सयमेव पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता महासयएणं समणोवासएणं सद्धि उरालाइं भोगभोगइं भुञ्जमाणी विहरइ ॥ २३५ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्यदा कदाचित्तासां द्वादशानां सपत्नीनामन्तरं ज्ञात्वा षट् सपत्नीः शस्त्रप्रयोगेणोपद्रवति, उपद्रुत्य षट् सपत्नीर्विषप्रयोगेणोपद्रवति, उपद्रुत्य तासां द्वादशानां कौलगृहिकमेकैकां हिरण्यकोटीमेकैकं व्रजं स्वयमेव प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य महाशतकेन सार्द्धमुदारान् भोग-भोगान् भुञ्जाना विहरति।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर उस रेवती गाथापत्नी ने अन्नया कयाइ—एक दिन तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं—उन १२ सपत्नियो के अंतरं जाणित्ता—छिद्रो को जानकर छ सवत्तीओ सत्थ-प्पओगेणं उद्दवेइ—छ सपत्नियो

को शस्त्र के प्रयोग से मार डाला उद्दवेत्ता—मारकर छ सवत्तीश्रो विसप्पश्रोगेण उद्दवेइ—छ सपत्नियो को विषप्रयोग द्वारा मार डाला उद्दवेत्ता—मार कर तासि दुवालसण्ह सवत्तीण कोल घरिय—उन १२ सपत्नियो की पितृ-कुल से प्राप्त एगमेग हिरण्ण कोडि एगमेग वय सयमेव पडिवज्जइ—एक २ करोड सुवर्ण मुद्राश्रो तथा एक २ व्रज को अपने अधीन कर लिया पडिवज्जित्ता—ग्रहण कर के महा सयएण समणोवासएण सद्धि—श्रमणोपासक महाशतक के साथ उरालाइ—मन माने भोग भोगाइ भुञ्जमाणी विहरइ—भोगों को भोगने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी ने अपनी बारह सपत्नियो की गुप्त बात जान ली और उन मे से छ को शस्त्र द्वारा और छ को विष देकर मार डाला। उनकी सुवर्ण मुद्राश्रो और व्रजो को अपने अधीन कर लिया तथा महाशतक के साथ मन माने भोग भोगने लगी।

रेवती की मास-मदिरा लोलुपता—

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी मस लोलुया मसेसु मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, श्रज्भोववन्ना बहु विहेहिं मसेहि य, सोल्लेहि य, तलिएहि य भज्जिएहि य सुर च महु च मेरग च मज्ज च सीधु च पसन्न च श्रासाएमाणी ४ विहरइ ॥ २३६ ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी मासलोलुपा मासेषु मूर्छिता, गृद्धा, ग्रथिता, श्रध्युपपन्ना, बहुविधर्मासैश्च, शूल्यकैश्च, तलितैश्च, भर्जितैश्च, सुरा च, मधु च मरेय च, मद्य च, सीधुञ्च प्रसन्नाञ्चाऽऽस्वादयन्ती ४ विहरति।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी मस लोलुया—मास मे लोलुप मसेसु मुच्छिया—मास मे मूर्च्छित गिद्धा—मास मे गद्ध होती हुई गढिया—मास मे ग्रथित अर्थात् अग २ मे मास भक्षण के अनुराग वाली श्रज्झोववन्ना—मास मे ही अत्यन्त आसक्त होती हुई बहुविहेहिं मसेहि य—नाना प्रकार के मासो मे और सोल्लेहि य—मास के शूलकों मे और तलिएहि य—तले हुए

मास आदि मे और भज्जिएहि य—भूने हुए मांस मे और सुरं च महुं च मेरगं च—सुरा (गुड आटे से बनी हुई शराब) मधुक, महुआ से बनी शराब तथा मेरग मज्जं च—'आसव' नामक अपरिपक्व मद्य सीधुं च—तथा सीधु नामक शराब पसन्नं च—सुगन्ध युक्त शराब आदि को आसाएमाणी ४ विहरइ—आस्वादन करती हुई विचरने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी माँस तथा मदिरा मे आसक्त रहने लगी। शूलक, तले हुए, भुने हुए तथा अन्य प्रकार के माँसो के साथ सुरा, सीधु, मेरक, मधु, मद्य तथा अन्य प्रकार की मदिराओ का सेवन करने लगी।

राजगृह मे अमारि की घोषणा--

मूलम्--तए णं रायगिहे नयरे अन्नया कयाइ अमाघाए घुट्ठे यावि होत्था ॥ २३७ ॥

छाया--ततः खलु राजगृहे नगरे अन्यदा कदाचित् अमाघातः (अमारि) घुष्टश्चाप्यासीत्।

शब्दार्थ—तए णं रायगिहे नयरे—तदनन्तर राजगृह नगर मे अन्नया कयाइ—एक दिन अमाघाए घुट्ठे यावि होत्था—अमारि अर्थात् किसी जीव को न मारने की घोषणा हुई।

भावार्थ--एक दिन राजगृह नगर मे अमारि अर्थात् हिसा न करने की घोषणा हुई।

रेवती द्वारा खाने के लिए पीहर से बछड़े मँगवाना--

मूलम्--तए णं सा रेवई गाहावइणी मंस-लोलुया मंसेसु मुच्छिया ४ कोलघरिए पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी--"तुब्भे, देवाणुप्पिया! मम कोल-घरिएहिंतो वएहिंतो कल्लाकल्लि दुवे-दुवे गोणपोयए उद्दवेह, उद्दवित्ता ममं उवणेह" ॥ २३८ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी मांसलोलुपा मांसेषु मूर्च्छिता ४ कौल गृहिकान् पुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वा एवमवादीत्—"यूयं देवानुप्रिया ! मम कौलगृहिकेभ्यो व्रजेभ्यः कल्याकल्यि द्वौ-द्वौ गोपोतकावुपद्रवत, उपद्रुत्य ममोपनयत।"

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—इस पर उस रेवती गाथापत्नी ने मंस लोलुया—मांस लोलुप मंसेसु मुच्छिया—तथा मांस में मूर्च्छित होकर कोलघरिए पुरिसे सद्दावेइ—अपने पितृ गृह के पुरुषों को बुलाया सद्दावित्ता—बुलाकर एवं—वयासी—इस प्रकार कहा तुब्भे देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रियो ! तुम मम कोलघरिएहितो वएहिंतो-मेरे पीहर के व्रजों में से कल्लाकल्लिं दुवे दुवे-प्रतिदिन दो गोण पोयए उद्दवेह—बछड़े मारा करो उद्दवित्ता मम उवणेह—मार कर मेरे पास लाया करो।

भावार्थ—मांस लोलुप रेवती ने पितृगृह के पुरुषों को बुलाकर कहा—हे देवानुप्रियो ! तुम प्रतिदिन मेरे पीहर के व्रजों में से दो बछड़े मार कर लाया करो।

मूलम्—तए णं ते कोल घरिया पुरिसा रेवईए गाहावइणीए 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता रेवईए गाहावइणीए कोलघरिएहिंतो वएहिंतो कल्ला कल्लिं दुवे दुवे गोण पोयए वहंति, वहित्ता रेवईए गाहावइणीए उवणेंति ॥ २३९ ॥

छाया—ततः खलु ते कौलगृहिकाः पुरुषाः रेवत्या गाथापत्न्या 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य रेवत्या गाथापत्न्याः कौलगृहिकेभ्यो व्रजेभ्यः कल्याकल्यि द्वौ द्वौ गोपोतकौ घ्नन्ति, हत्वा रेवत्यै गाथापत्न्यै उपनयन्ति।

शब्दार्थ—तए णं ते कोलघरिया पुरिसा—इस पर पीहर के पुरुषों ने रेवईए—रेवती गाहावइणीए तहत्ति एयमट्ठं—गाथापत्नी की इस बात को ठीक है इस प्रकार विणएणं पडिसुणंति—विनयपूर्वक स्वीकार किया पडिसुणित्ता—स्वीकार कर के रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी के कोलघरिएहिंतो वएहिंतो—पीहर के गोव्रजों में से कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन दुवे दुवे गोणपोयए वहंति—दो बछड़े मारने

लगे, वहित्ता—मारकर के रेवईए गाहावईणीए उवणेति—रेवती गाथापत्नी को पहुँचाने लगे।

भावार्थ—दास पुरुषो ने रेवती के इस कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया और प्रतिदिन दो वछडो को मार कर लाने लगे।

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहिं मंसेहिं सोल्लेहि य ४ सुरं च ६ आसाएमाणी ४ विहरइ ॥ २४० ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी तैर्गोमांसैः शूल्यकैश्च ४ सुरञ्च ६ आ-स्वादयन्ती ४ विहरति।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी तेहिं गोणमंसेहि सोल्लेहि य ४—उन गोमासो के शूलको मे सुरं च ६—तथा मदिरा आदि मे आसक्त होकर आसाएमाणी ४ विहरइ—उनका स्वाद लेती हुई विचरने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी उन (वछडो के) मास को शूलक आदि के रूप मे खाने और मदिरापान मे आसक्त रहने लगी।

महाशतक का पौषधशाला मे धर्माराधन—

मूलम्—तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता। एवं तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ, जाव पोसह-सालाए धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥ २४१ ॥

छाया—ततः खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य बहुभि शील यावद् भावयतश्चतुर्दश सवत्सरा व्युत्क्रान्ताः। एवं तथैव ज्येष्ठं पुत्रं स्थापयति यावत्पौषध-शालायां धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तएणं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक के बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स—विविध प्रकार के व्रत-नियमो के

द्वारा आत्मा का संस्कार करते हुए चोद्दस संवच्छरा वइक्कंता—१४ वर्ष व्यतीत हो गए एवं तहेव—इस प्रकार आनन्द की भांति जेट्ठं पुत्तं ठवेइ—उसने भी ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार दे दिया जाव—यावत् पोसहसालाए धम्मपण्णत्ति—पौषध शाला में धर्मप्रज्ञप्ति को उवसपज्जित्ता णं विहरइ—ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—महाशतक श्रमणोपासक को विविध प्रकार के व्रत नियमों का पालन तथा धर्म द्वारा आत्मा का संस्कार करते हुए १४ वर्ष व्यतीत हो गए। उसने भी आनन्द की भान्ति ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दिया और स्वयं पौषधशाला में धर्मानुष्ठान करने लगा।

रेवती का कामोन्मत्त होकर पौषधशाला में पहुँचना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी मत्ता लुलिया विइण्णकसी उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी २ जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मोहुम्माय जणणाइं सिंगारियाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी २ महासययं समणोवासयं एवं वयासी—"हंभो महासयया ! समणोवासया ! धम्म कामया ! पुण्ण कामया ! सग्ग कामया ! मोक्ख कामया ! धम्म कङ्खिया ! ४, धम्म पिवासिया ४, किण्णं तुब्भं, देवाणुप्पिया ! धम्मेण वा, पुण्णेण वा, सग्गेण वा, मोक्खेण वा?, जण्णं तुमं मए सद्धिं उरालाइं जाव भुञ्जमाणे नो विहरसि ?" ॥ २४२ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी मत्ता, लुलिता, विकीर्णकेशी, उत्तरीयकं विकर्षन्ती २ येनैव पौषधशाला येनैव महाशतकः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य मोहोन्मादजननान् शृङ्गारिकान् स्त्री भावान् उपसंदर्शयन्ती २ महाशतकं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—"हंभो महाशतक ! श्रमणोपासक ! धर्मकामुक ! पुण्यकामुक ! स्वर्गकामुक ! मोक्षकामुक ! धर्मकाङ्क्षिन् ! ४ धर्मपिपासित ! ४, किं खलु तव देवानुप्रिय ! धर्मेण वा ? पुण्येन वा ? स्वर्गेण वा ? मोक्षेण वा ? यत्खलु त्वं मया सार्द्धमुदारान् यावद् भुञ्जानो नो विहरसि ?

शब्दार्थ—**तए ण सा रेवई गाहावइणी**—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी **मत्ता**—मास, सुरा आदि से मत्त बनी हुई **लुलिया**—लोलुप **विइण्णकेसी**—बालो को बिखेरे हुए **उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी २**—उत्तरीय को फैकती हुई काम-वासना से पीडित **जेणेव पोसहसाला**—जहाँ पौपधशाला थी **जेणेव महासयए समणोवासए**—जहाँ श्रमणोपासक महाशतक था **तेणेव उवागच्छइ**—वहाँ आई **उवागच्छित्ता**—आकर **मोहुम्माय जणणाइं**—मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाले **सिंगारियाइं**—शृङ्गार भरे हाव-भाव कटाक्ष आदि **इत्थि-भावाइं**—स्त्री सम्बन्धि चेष्टाओ को **उवदंसेमाणी २**—दिखाती हुई **महासययं समणोवासयं एव वयासी**—इस प्रकार कहने लगी **हंभो महासयया ! समणोवासया !**—हे महाशतक ! श्रमणोपासक ! तुम **धम्म-कामया !**—धर्म की कामना करते हो, **पुण्णकामया !**—पुण्य की कामना करते हो, **सग्गकामया !**—स्वर्ग की कामना करते हो, **मोक्खकामया !**—मोक्ष की कामना करते हो, **धम्मकंखिया !**—धर्म की आकाक्षा करते हो **धम्मपिवासिया !**—धर्म के प्यासे हो परन्तु **किण्णं तुब्भं देवाणुप्पिया !**—किन्तु हे देवानुप्रिय ! **धम्मेण वा पुण्णेण वा सग्गेण वा मोक्खेण वा**—धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष से क्या मिलेगा ? **जण्णं तुमं**—जो तुम **मए सद्धि**—मेरे साथ **उरालइं जाव भुञ्जमाणे नो विहरसि**—इच्छापूर्वक भोग भोगना पसन्द नही करते ?

भावार्थ—मास तथा मदिरा मे आसक्त और कामवासना से उन्मत्त होकर रेवती पौषधशाला मे महाशतक के पास पहुँची। उसके बाल बिखरे हुए थे और साडी नीचे गिर रही थी। वहाँ पहुँच कर वह हाव-भाव तथा शृङ्गारिक चेष्टाएँ करती हुई महाशतक से बोली—"देवानुप्रिय ! तुम मेरे साथ मन-माने भोगो का आनन्द ले रहे थे। उन्हे छोडकर यहाँ चले आए और स्वर्ग तथा मोक्ष की कामना से धर्म और पुण्य का सञ्चय करने लगे। किन्तु स्वर्ग और मोक्ष मे इससे बढकर क्या मिलेगा ? धर्म और पुण्य का इससे बढकर और क्या फल है ?"

महाशतक का उसकी ओर ध्यान न देना—

मूलम्—**तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणाइ, अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ ॥ २४३ ॥**

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्न्या एतमर्थं नो आद्रियते नो परिजानाति, अनाद्रियमाणोऽपरिजानस्तूष्णीको धर्मध्यानोपगतो विहरति।

शब्दार्थ—तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी की एयमट्ठ नो आढाइ नो परियाणाइ—इस बात का न तो सत्कार किया और न उस पर ध्यान दिया, अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे—परन्तु सत्कार तथा ध्यान के बिना तुसिणीए धम्म ज्झाणोवगए विहरइ—मौन रहकर धर्मानुष्ठान म लगा रहा।

भावार्थ—महाशतक गाथा पति ने रेवती की कुचेष्टाओ और बातो पर कोई ध्यान नही दिया और मौन रह कर धर्मध्यान धर्मानुष्ठान मे लगा रहा।

मूलम—तए ण सा रेवई गाहावइणी महासयय समणोवासय दोच्चपि तच्चपि एव वयासी—"हभो"! त चेव भणइ, सोवि तहेव जाव अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे विहरइ ॥ २४४ ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतक श्रमणोपासक द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत—"हभो"। तथैव भणति। सोऽपि तथैव यावद अनाद्रियमाणोऽपरिजानन विहरति।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी महासयय समणोवासय—महाशतक श्रमणोपासक के प्रति दोच्चपि तच्चपि—द्वितीय तथा तृतीय बार भी एव वयासी—इस प्रकार बोली—हभो! त चेव भणइ—हे महाशतक! पहले की भाति कहा सो वि—वह भी तहेव जाव—उसी प्रकार यावत अणाढाइज्जमाणे अपरियामाणे विहरइ—*बिना आदर सत्कार किए ध्यान म स्थिर रहा।*

भावार्थ—तब गाथापत्नी रेवती ने महाशतक श्रावक से दूसरी तथा तीसरी बार भी वही बात कही किन्तु महाशतक पहले की भाँति ध्यान म स्थिर रहा।

रेवती का निराश होकर लौटना--

मूलम्---तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणी अपरियाणमाणी जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ॥ २४५ ॥

छाया---ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकेन श्रमणोपासकेनानाद्रियमाणा अपरिज्ञायमाना यस्या एव दिशं प्रादुर्भूता तामेव दिशं प्रतिगता ।

शब्दार्थ---तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी महासयएणं समणोवासएणं—महाशतक श्रमणोपासक के द्वारा आणाढाइज्जमाणी अपरियाणिज्जमाणी—अनादरित तथा तिरस्कृत होकर जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया—जिस दिशा से वह आई थी उसी दिशा मे चली गई ।

भावार्थ---रेवती गाथापत्नी तिरस्कृत होकर जहाँ से आई थी उधर ही वापिस चली गई ।

महाशतक द्वारा प्रतिमा ग्रहण--

मूलम्---तए णं से महासयए समणोवासए पढमं उवासग-पडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । पढमं अहा-सुत्तं जाव एक्कारसऽवि ॥ २४६ ॥

तए णं से महासयए समणोवासए तेणं उरालेणं जाव किसे धमणिसंतए जाए ॥ २४७ ॥

छाया---ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासकः प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसंपद्य विहरति, प्रथमां यथासूत्रं यावदेकादशापि ।

तत खलु स महाशतकः श्रमणोपासकस्तेनोदारेण यावत्कृशो धमनिसन्ततो जात ।

शब्दार्थ—तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक पढम उवासगपडिम—प्रथम उपासक प्रतिमा को ग्रहण करके विहरइ—विचरने लगा पढम अहा सुत्त जाव एक्कारसऽवि—प्रथम से लेकर यावत ११ श्रावक प्रतिमाओं को शास्त्रानुसार अङ्गीकार किया।

तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक तेण उरालेण—उस उग्र तपश्चरण के द्वारा जाव—यावत किसे—कृश होकर धमणि सतए जाए—उसकी नस नस दिखाई देने लगी।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक महाशतक ने क्रमश पहली से लेकर ग्यारहवीं तक श्रावक की प्रतिमाएँ स्वीकार की और शास्त्रोक्त रीति से आराधना की। उस उग्र तपश्चर्या के कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया और उसकी नस नस दिखाई देने लगी।

मूलम्—तए ण तस्स महासययस्स समणोवासयस्स अन्नया कयाइ पुव्व रत्तावरत्तकाले धम्म जागरिय जागरमाणस्स अय अज्झत्थिए ४—"एव खलु अह इमेण उरालेण" जहा आणदो तहेव अपच्छिम मारणतिय सलेहणाए झूसियसरीरे भत्त पाण पडियाइक्खिए काल अणवकखमाणे विहरइ ॥ २४८ ॥

छाया—तत खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य यदाकदाचित्पूर्वरात्रापर रात्रकाले धर्म जागरिका जाग्रतोऽयमाध्यात्मिक ४—"एव खलु अहमनेनोदारेण" यथाऽऽनन्दस्तथवापश्चिममारणान्तिकसलेखनया जोषितशरीरो भक्तपानप्रत्याख्यात कालमनवकाक्षन् विहरति।

शब्दार्थ—तए ण तस्स महासययस्स समणोवासयस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक को अन्नया कयाइ—एक दिन पुव्वरत्तावरत्तकाले—अर्धरात्री के समय धम्म जागरिय जागरमाणस्स—धर्म जागरणा करते हुए अय अज्झत्थिए ४—यह विचार उत्पन्न हुआ एव खलु अह—इस प्रकार मैं इमेण उरालेण—इस उग्रतपश्चर्या

के कारण अति कृस हो गया हूँ यावत् **जहा आणंदो**—जिस प्रकार आनन्द श्रमणोपासक ने किया था, **तहेव**—उसी प्रकार **अपच्छिममारणंतिय-संलेहणाए झूसियसरीरे**—इसने भी अन्तिम मारणान्तिक सलेखना के द्वारा शरीर का परित्याग करके **भत्त-पाणपडियाइक्खिए**—भक्तपान का प्रत्याख्यान करके **कालं अणवकंखमाणे विहरइ**—मृत्यु की आकाक्षा से रहित होकर विचरने लगा।

भावार्थ—एक दिन अर्धरात्रि के समय धर्म जागरण करते हुए उसके मन मे विचार आया कि इस उग्र तपश्चरण के कारण मैं कृश हो गया हूँ। नसे दिखाई देने लगी हैं। अब यही उचित है कि अन्तिम मारणान्तिक सलेखना अङ्गीकार कर लूँ और शुभ विचारो के साथ शरीर का परित्याग करूँ। यह विचार करके महाशतक ने भी आनन्द के समान अन्तिम सलेखना व्रत ले लिया और जीवन तथा मृत्यु दोनो की आकाक्षा से रहित होकर आत्म चिन्तन मे लीन रहने लगा।

महाशतक को अवधिज्ञान—

मूलम्—**तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स सुभेणं अज्झवसाणेणं जाव खओवसमेणं ओहिणाणे समुप्पन्ने—पुरत्थिमेणं लवणसमुद्दे जोयण-साहस्सियं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं, पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं जाव चुल्ल-हिमवंतं वासहर-पव्वयं जाणइ पासइ, अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं नरयं चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइयं जाणइ पासइ ॥ २४९ ॥**

छाया—ततः खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य शुभेनाऽध्यवसायेन यावत् क्षयोपशमेनावधिज्ञानं समुत्पन्नम्—पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे योजनसाहस्रिकं क्षेत्रं जानाति पश्यति, एवं दाक्षिणात्ये खलु, पाश्चात्ये खलु, औत्तरे खलु यावत्क्षुद्र-हिमवन्तं वर्षधरं पर्वतं जानाति पश्यति, अधोऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां लोलुपाच्युतं नरकं चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकं जानाति पश्यति।

शब्दार्थ—**तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स**—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक को **सुभेणं अज्झवसाणेणं**—शुभ परिणामो के उत्पन्न होने पर **जाव**—

यावत खग्रोवसमेण—ग्रवधिनानावरणीय कम के क्षयोपशम होने पर ग्रोहिणाणे समुप्पन्ने—ग्रवधिनान उत्पन्न हो गया, पुरत्थिमेण लवणसमुद्दे—पूव दिशा म लवण समुद्र के ग्रन्दर जोयणसाहस्सिय खेत्त जाणइ पासइ—वह एक हजार योजन क्षेत्र का जानने ग्रौर देखने लगा एव दक्खिणेण—इसी प्रकार दक्षिण दिशा म पच्चत्थिमेण—तथा पश्चिम दिशा म एक हजार योजन क्षत्र को जानने दखने लगा उत्तरेण जाव—उत्तर दिशा म यावत चुल्लहिमवत वासहर पव्वय जाणइ पासइ—चुल्लहिमवत वषधर पवत तक जानने तथा देखने लगा, ग्रहे—नीची दिशा म इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पथ्वी के लोलुयच्चुय नरय—लोलुपाच्युत नरकावास को चउरासीइवाससहस्स ट्ठिइय—जहाँ ८४ हजार वष की ग्रायु मयादा है जाणइ पासइ—जानने देखने लगा।

भावाथ—शुभ ग्रध्यवसायो क कारण उसकी ग्रात्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होती गई ग्रौर ज्ञानावरण कम का क्षयोपशम होने पर ग्रवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। परिणाम स्वरूप वह पूव दिशा म लवण समुद्र के ग्रन्दर एक एक हज़ार योजन तक जानने देखने लगा। इसी प्रकार दक्षिण तथा पच्छिम दिशा म भी एक एक हज़ार योजन तक जानने ग्रौर दखने लगा, तथा उत्तर दिशा म चुल्लहिमवान पवत तक देखने लगा। ग्रधोदिशा म रत्नप्रभा पृथ्वी के ग्रन्दर लोलुपाच्युत नरक तक देखने लगा। जहाँ जीवो की चौरासी हजार वष की ग्रायु है।

रेवती का पुन ग्रागमन ग्रौर उपद्रव करना—

मूलम—**तए ण सा रेवई गाहावइणी ग्रन्नया कयाइ मत्ता जाव उत्तरिज्जय विकड्ढेमाणी २ जेणेव महासयए समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता महासयय तहेव भणइ, जाव दोच्चपि तच्चपि एव वयासी—"हभो!" तहेव ॥ २५० ॥**

छाया—*तत खलु सा रेवती गाथापत्नी ग्रन्यदा कदाचिन्मत्ता यावदुत्तरीयक* विकषयन्ती २ येनैव महाशतक श्रमणोपासको येनैव पौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य महाशतक तथैव भणति यावद् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत "हभो"! तथैव।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी अन्नया कयाइ—एक दिन मत्ता—मतवाली होकर जाव—यावत् उत्तरिज्जयं विकड्ढेमाणी २—उत्तरीय वस्त्र को गिराती हुई जेणेव महासयए समणोवासए—जहां महाशतक श्रमणोपासक था, जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ—जहाँ पौषधशाला थी वहाँ आई, उवागच्छित्ता—आकर महासययं तहेव भणइ—महाशतक श्रमणोपासक को उसी प्रकार कहने लगी जाव—यावत् दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय और तृतीय वार एवं वयासी—इस प्रकार बोली हंभो ! तहेव—हे महाशतक ! तथैव पहले की तरह कहा।

भावार्थ—फिर एक दिन रेवती गाथापत्नी उन्मत्त होकर ओढने को नीचे गिराती हुई, महाशतक श्रावक के पास आई और दूसरी तथा तीसरी बार उसी प्रकार बोली।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइं गाहावइणिं एवं वयासी—"हंभो रेवई ! अपत्थिय-पत्थिए ४ एवं खलु तुमं अंतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया समाणी अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा असमाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि" ॥ २५१ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्न्या द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तः सन् आशुरुप्त ४ अवधिं प्रयुंक्ते प्रयुज्यावधिना आभोगयति, आभोग्य रेवतीं गाथापत्नीमेवमवादीत्—"हंभो रेवति ! अप्रार्थित प्रार्थिके ! ४—एवं खलु त्वमन्तः सप्तरात्रस्यालसकेन व्याधिनाऽभिभूतासती आर्त्तदुःखार्त्त-वशार्त्ता असमाधिप्राप्ता कालमासे कालं कृत्वाऽधोऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां—लोलुपाच्युते नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नैरयिकतयोत्पत्स्यसे।"

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी के दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे—

द्वारा दूसरी और तीसरी बार भी इस प्रकार कहने पर आसुरुत्ते ४—यावत क्रुध हो गया ओहिं पउजइ—तब उसने अवधिज्ञान का प्रयोग किया पउजित्ता—प्रयोग करके ओहिणा आभोएइ—अवधिज्ञान के द्वारा देखा आभोइत्ता—देख करके रेवइ गाहावइणि एव वयासी—रेवती गाथापत्नी को इस प्रकार कहा हंभो रेवई !—हे रेवति ! अपत्थियपत्थिए ४ !—अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाली एवं खलु—इस प्रकार तुम—तू अतो सत्तरत्तस्स—सात रात्रि के अन्दर अलसएण वाहिणा अभिभूया-अलसक नामक व्याधि से पीडित हो कर अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा—चिन्तित दु खी तथा विवश हो कर असमाहिपत्ता—असमाधि (कष्ट रोग) को प्राप्त हो कर कालमासे काल किच्चा—समय आने पर मर कर अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे लोलुयच्चुए नरए—लोलुपाच्युत नरक में चउरासीइ वास-सहस्सट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नारकियो मे नारकी के रूप में उत्पन्न होगी।

भावार्थ—उसने अवधिज्ञान द्वारा उपयोग लगाकर देखा और कहा "तू सात दिन के अन्दर अलस रोग से पीडित हो कर कष्ट भोगती हुई मर जायेगी और लोलुपाच्युत नरक में उत्पन्न होगी।" वहाँ ८४ हजार वर्ष की आयु प्राप्त करेगी।

रेवती का भयभीत होकर लौटना—

मूलम्—तए ण सा रेवई गाहावइणी महासयएण समणोवासएण एव वुत्ता समाणी एव वयासी—"रुट्ठे ण मम महासयए समणोवासए, हीणे ण मम महासयए समणोवासए, अवज्झाया ण अहं महासयएण समणोवासएण, न नज्जइ ण, अहं केणवि कुमारेण मारिज्जिस्सामि" त्ति कट्टु भीया तत्था तसिया उव्विग्गा सजायभया सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ओहय जाव झियाइ ॥ २५२ ॥

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकेन श्रमणोपासकेनैवमुक्ता सत्येवमवादीत्—"रुष्ट खलु मम महाशतक श्रमणोपासक, हीन खलु मम महाशतक श्रमणोपासक, अपध्यातास्म्यहं महाशतकेन श्रमणोपासकेन न ज्ञायते खल्वहं केनापि

कुमारेण मारयिष्ये" इति कृत्वा भीता, त्रस्ता, (नष्टा) उद्विग्ना सञ्जातभया शनैः शनैः प्रत्यवष्वष्कति प्रत्यवष्वष्कय येनैव स्वकं गृहं तेनैवोपागच्छति, उपागत्य, अवहृत यावद्-ध्यायति ।

शब्दार्थ—**तए णं सा रेवई गहावइणी**—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी **महासयएणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणी**—महाशतक श्रमणोपासक के द्वारा इस प्रकार कही जाने पर **एवं वयासी**—बोली—**रुट्ठेणं ममं महासयए समणोवासए**—मुझ पर महाशतक श्रमणोपासक रुष्ट हो गया है **हीणे णं ममं महासयए**—महाशतक मेरे प्रति हीन अर्थात् दुर्भावना वाला हो गया है **अवज्झायाणं अहं महासयएणं समणोवासएणं**—महाशतक मेरा बुरा चाहता है **न नज्जइ णं अहं**—मै नही जानती **केणवि कुमारेणं-मारिज्जिस्सामि**—कि मै किस मौत से मारी जाऊँगी (ऐसा विचार करके) **भीया**—भयभीत हुई **तत्था**—त्रसित हो कर **तसिया**—डर गई **उव्विग्गा**—उद्विग्न हो उठी **संजाय भया**—भय के कारण **सणियं २ पच्चोसक्कइ**—शनै २ वापिस लौटी **पच्चोसक्कित्ता**—लौट कर वहाँ से निकल कर **जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ**—जहाँ अपना घर था, वहाँ पर आई **उवागच्छित्ता**—आ कर **ओहय जाव झियाइ**—उदास हो कर चिता मे डूब गई ।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी महाशतक द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर सोचने लगी—"महाशतक मेरे से रुष्ट होगया है, मेरे प्रति बुरे विचार ला रहा है। न मालूम मैं किस मौत से मारी जाऊँगी। यह विचार कर डर के कारण वहाँ से चली गई और अपने घर जा पहुँची।

रेवती का मरकर नरक मे उत्पन्न होना—

मूलम्—**तए णं सा रेवई गाहावइणी अंतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ना ।। २५३ ।।**

छाया—तत खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्त सप्तरात्रस्यालसकेन व्याधिनाऽभिभूताऽऽर्त्तदु खार्त्तवशार्त्ता कालमासे काल कृत्वाऽस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या लोलुपाच्युते नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नरयिकेषु नरयिकतयोपपन्ना।

शब्दार्थ—तए ण सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी अतो स सरत्तस्स—सात रात्री के अन्दर ही अलसएण वाहिणा—अलसक व्याधि से अभिभूया—पीडित होकर अट्ट दुहट्ट वसट्टा—चिन्तित दुखी तथा विवश होकर कालमासे काल किच्चा—काल मास म काल कर इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे लोलुयच्चुए—लोलुपाच्युत नरए—नरक मे चउरासीइवाससहस्सट्ठिइएसु—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नरइएसु—नारकियो म नेरइयत्ताए उववन्ना—नारकी के रूप म उत्पन्न हुई।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी सात दिना के अदर अलस नामक रोग से पीडित हो कर चिन्तित दु खी तथा विवश होती हुई मर गई और लोलुपाच्युत नरक मे उत्पन्न हुई जहा ८४ हजार वर्षो की आयु प्राप्त हुई।

टीका—अलसएण—महाशतक ने क्रुध हो कर रेवती से कहा—तू अलसक रोग से पीडित हो कर सात दिन मे मर जायेगी। टीकाकार ने अलसक रोग का अर्थ विसूचिका (पेट का दर्द) किया है और इस विषय मे एक श्लोक उदधृत किया है—

"नोर्ध्व व्रजति नाधस्तादाहारो न च पच्यते।
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसक स्मृत ॥"

अर्थात जब आहार न तो ऊपर की ओर जाता है न नीचे की ओर और न पचता है आमाशय म गाठ की तरह जम जाता है उसे अलसक रोग कहते हैं। इस से ज्ञात होता है कि अलसक मन्दाग्नि का उत्कट रूप है। हाथ परो की सूजन को भी अलसक कहते हैं। इसी प्रकार हाथ परो के स्तम्भन अर्थात उनकी हलचल रुक जाने को अलसक कहा जाता है।

चुलनीपिता तथा सुरादेव के वर्णन मे आया है—कि पुत्र या पति के अस्थिर होने पर माता या पत्नी ने उन्ह धर्म म स्थिर किया। महाशतक का उदाहरण इसके विपरीत है। यहा पति धर्म मे स्थिर है और पत्नी उसे विचलित करना

चाहती है। पत्नी या परिवार की इस अनुकूलता तथा प्रतिकूलता को प्रदर्शित करने के लिए स्थानाङ्ग सूत्र मे एक रूपक दिया है—

१ साल का वृक्ष साल का परिवार।

२ साल का वृक्ष एरण्ड का परिवार।

३ एरण्ड वृक्ष साल का परिवार।

४ एरण्ड वृक्ष का एरण्ड परिवार।

इसी प्रकार गृहस्थ तथा उसके परिवार का सम्बन्ध भी चार प्रकार का है—

१ स्वय श्रेष्ठ और परिवार भी श्रेष्ठ।

२ स्वय श्रेष्ठ और परिवार निकृष्ट।

३ स्वय निकृष्ट और परिवार श्रेष्ठ।

४ स्वय निकृष्ट और परिवार भी निकृष्ट।

स्वय धर्म मे स्थिर होने पर भी रेवती के कारण महाशतक को क्रोध आ गया। उत्तराध्ययन सूत्र मे इसी प्रकार गुरु और शिष्य को प्रकट किया गया है—

अणासवा थूलवया कुसीला मिउंपि चंडंपकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयंपि॥

अर्थात् अविनीत, कठोर बोलने वाले तथा दुराचारी शिष्य कोमल हृदय गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं, और गुरु के मन को पहचानने वाले चतुर तथा सुशील शिष्य क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेते है।

भगवान् का आगमन—

मूलम्—**तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरणं जाव परिसा पडिगया॥ २५४॥**

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः समवसरणं यावत्परिषत् प्रतिगता।

शब्दार्थ—तेण कालेण तेण समएण—उस काल उस समय समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर आए समोसरण—समवसरण रचा गया जाव परिसा पडिगया—यावत परिषद् वापिस चली गई।

भावार्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान समवसृत हुए। परिषद् आई और धर्मोपदेश सुन कर चली गई।

महाशतक के पास गौतम स्वामी को भेज कर उसका दोष बताना—

मूलम्—"गोयमा!" इ समणे भगव महावीरे एव वयासी—"एव खलु गोयमा! इहेव रायगिहे नयरे मम अतेवासी महासयए नाम समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम मारणतिय सलेहणाए भूसिय सरीरे भत्त-पाणपडियाइक्खिए काल अणवकखमाणे विहरइ॥ २५५॥

छाया—'गौतम!" इति श्रमणो भगवान महावीर एवमवादीत—"एव खलु गौतम! इहैव राजगृह नगरे ममान्तेवासी महाशतको नाम श्रमणोपासक पौषध शालायामपश्चिममारणान्तिकसंलेखनया जोषितशरीरो भक्तपानप्रत्याख्यात कालम नवकाङ्क्षमाणो विहरति।"

शब्दार्थ—गोयमा इ—हे गौतम! इस प्रकार समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर एव वयासी—बोले—एव खलु गोयमा—इस प्रकार हे गौतम! इहेव रायगिहे नयरे-इसी राजगृह नगर में मम अतेवासी-मेरा अन्तेवासी महासयए नाम समणोवासए—महाशतक नाम का श्रमणोपासक पोसहसालाए—पौषधशाला में अपच्छिममारणतिय सलेहणाए—अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना द्वारा झूसियसरीरे—जोषित शरीर होकर भत्तपाणपडियाइक्खिए—भक्त पान का प्रत्याख्यान (त्याग करके) काल अणवकखमाणे—मृत्यु की न चाहता हुआ विहरइ—विचरता है।

भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—इसी राजगृह नगर में मेरा शिष्य महाशतक श्रावक पौषधशाला में संलेखना द्वारा आहार का परित्याग करके मृत्यु की कामना न करता हुआ विचर रहा है।'

मूलम्—तए णं तस्स महासयगस्स रेवई गाहावइणी मत्ता जाव विकड्ढेमाणी २ जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए तेणेव उवागया, मोहुम्माय जाव एवं वयासी—तहेव जाव दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी ।। २५६ ।।

छाया—तत खलु तस्य महाशतकस्य रेवती गाथापत्नी मत्ता यावद् विकर्षयन्ती २ येनैव पौषधशाला येनैव महाशतकस्तेनैवोपगता, महोन्माद—यावद् एवमवादीत्—तथैव यावद् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत् ।

शब्दार्थ—तए ण—एक दिन तस्स महासयगस्स—उस महाशतक की रेवई गाहावइणी—रेवती गाथापत्नी मत्ता जाव विकड्ढेमाणी २—उन्मत्त होकर उत्तरीय को गिराती हुई जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए तेणेव उवागया—जहाँ पौषधशाला और महाशतक श्रावक था, वहाँ आई, मोहुम्माय जाव एवं वयासी—यावत् मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाली बाते कहने लगी तहेव—उसी प्रकार दोच्चपि तच्चंपि एवं वयासी—दूसरी और तीसरी बार भी वही बात कही ।

भावार्थ—उसका महाशतक की पत्नी उन्मत्त होकर कपडे बिखेरती हुई वहाँ आई और महाशतक के सामने शृगार भरी चेष्टाएँ तथा बाते करने लगी । उसके दो तीन बार ऐसा कहने पर महाशतक को क्रोध आ गया ।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइं गाहावइणि एवं वयासी—जाव उववज्जिहिसि, "नो खलु कप्पइ, गोयमा ! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव झूसियसरीरस्स भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स परो संतेहि तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहि अणिट्ठेहिं अकंतेहि अप्पिएहिं अमणुण्णेहिं अमणामेहिं वागरणेहिं वागरित्तए ।" "तं गच्छ णं, देवाणुप्पिया ! तुमं महासययं समणोवासयं एवं वयाहि—"नो खलु देवाणुप्पिया ! कप्पइ समणोवासगस्स अपच्छिम जाव भत्तपाण पडियाइक्खियस्स परो संतेहि जाव वागरित्तए । तुमे य णं

देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी सतेहिं ४ अणिट्ठेहिं ५ वागरणेहिं वागरिया। त ण तुम एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव जहारिहं च पाय-च्छित्त पडिवज्जाहि" ॥ २५७ ॥

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्न्या द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्त सन आशुरुप्त ४ अवधि प्रयुनक्ति, प्रयुज्यावधिना आभोगयति, आभोग्य रेवतीं गाथापत्नीमेवमवादीत—यावदुत्पत्स्यसे ! नो खलु कल्पते गौतम ! श्रमणोपासकस्याऽपश्चिमयावज्जोषितशरीरस्य भक्तपानप्रत्याख्यातस्य पर सद्भिस्तत्त्वस्तथ्य सदभूतरनिष्टरकान्तैरप्रियरमनोज्ञरमनआपर्व्याकरणर्व्याकर्त्तु म" तद गच्छ खलु देवानुप्रिय ! त्व महाशतक श्रमणोपासकमेव वद—"नो खलु देवानुप्रिय ! कल्पते श्रमणोपासकस्यापश्चिमयावद भक्तपानप्रत्याख्यातस्य पर सद्भिर्यावद व्याकर्त्तु म।" त्वया च खलु देवानप्रिय ! रेवती गाथापत्नी ४ अनिष्ट, ५ व्याकरणर्व्याकृता, तत खलु त्वमिद स्थानमालोचय यावद्यथार्ह च प्रायश्चित्त प्रतिपद्यस्व।"

शब्दार्थ—तए ण से महासयएसमणोवासए—तदन तरवह महाशतकश्र मणोपासक रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी द्वारा दोच्चपि तच्चपि एव वुत्ते समाणे—दूसरी तथा तीसरी बार ऐसा कह जाने पर आसुरुत्ते ओहि पउजइ—क्रुद्ध हो गया और अवधिज्ञान का प्रयाग किया पउजित्ता—प्रयोग करके ओहिणा आभोएइ—अवधिज्ञान द्वारा देखा आभोइत्ता—देखकर के रेवइ गहावइणि एव वयासी—रेवती गाथापत्नी को ऐसा कहने लगा। जाव उववज्जिहिसि—यावत् तू (नरक म) उत्पन्न होगी नो खलु कप्पइ गोयमा !—हे गौतम ! नही कल्पता समणोवासगस्स—श्रमणोपासक को अपच्छिम जाव झूसिय सरीरस्स—जिसने अ तिम सलेखना ले रखी है और भत्तपाणपडियाइक्खियस्स—आहार पानी का त्याग कर रखा है परो—दूसरे व्यक्ति के प्रति सतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं—सत्य तत्त्व, तथ्य तथा सदभूत होने पर भी अणिट्ठेहि अकंतेहिं अप्पिएहिं अमणुण्णेहिं अमणामेहिं वागरणेहिं वागरित्तए—अनिष्ट अकान्त (अप्रिय) अमनोज्ञ मन को अच्छा न लगने वाले अमनाम विचार करने पर भी दु खदायी वचन बोलना। त गच्छण देवाणुप्पिया !—

इसलिए हे देवानुप्रिय! **जाओ तुमं महासययं समणोवासयं एवं वयाहि**—तुम श्रमणोपासक महाशतक से ऐसा कहो—**नो खलु देवाणुप्पिया! नो कप्पइ समणोवासगस्स**—हे देवानुप्रिय! श्रमणोपासक को नही कल्पता **अपच्छिम जाव भत्तपाण—पडियाइक्खियस्स**—जिसने अन्तिम संलेखना यावत् आहार पानी का त्याग कर रखा है **परो संतेहिं जाव वागरित्तए**—दूसरे व्यक्ति के प्रति सत्य होने भी अनिष्ट यावत् वचन बोलना। **तुमे य णं देवाणुप्पिया!**—और तुमने हे देवानुप्रिय! **रेवई गाहावइणी**—रेवती गाथापत्नी को **संतेहि ४ अणिट्ठेहिं ५ वागरणेहिं वागरिया**—सत्य होने पर भी अनिष्ट बाते कही **तं णं तुमं**—इसलिए तुम **एयस्स ठाणस्स आलोएहि**—इस भूल के लिए आलोचना करो **जाव**—यावत् **जहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जाहि**—यथायोग्य प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

भावार्थ—रेवती द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार ऐसा कहने पर महशतक क्रुध हो गया। उसने अवधिज्ञान का प्रयोग करके रेवती का भविष्य देखा और उसने नरक में उत्पन्न होने की बात कही। हे देवानुप्रिय! मारणान्तिक सलेखना द्वारा भक्तपान का परित्याग करने वाले श्रमणोपासक को सत्य तथ्य, तथा सद्भूत होने पर भी ऐसे वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए जो अनिष्ट, अप्रिय तथा अमनोज्ञ हो। जिनके सत्य होने पर भी दूसरे को कष्ट हो। अत तुम जाओ और महाशतक से इस बात के लिए आलोचना एव प्रायश्चित्त के लिए कहो।

टीका—प्रथम अध्ययन मे भी भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को श्रावक आनन्द के पास भेजा था। उस समय गौतम स्वामी की अपनी भूल थी और उन्हे आनन्द से क्षमायाचना के लिए भेजा गया था। उन्होने आनन्द से कहा था कि श्रावक को इतना विशाल अवधिज्ञान नही हो सकता। अत असत्य भाषण के लिए आलोचना करो। महावीर के पास पहुँचने पर उन्हे अपनी भूल का पता लगा और भगवान् के आदेशानुसार वे क्षमा-प्रार्थना करने के लिए गये। महाशतक सच्चा होने पर भी दोषी था क्योकि उसने ऐसी बात कही थी जो दूसरे को कष्ट देने वाली थी। जीवन के अन्तिम अर्थात् सलेखना व्रत की आराधना करते समय श्रावक को कटु वचन नही बोलने चाहिएँ। भगवान् ने इस भूल की शुद्धि के लिए महाशतक के पास गौतम स्वामी को भेजा और कहलाया कि बात कितनी ही सत्य,

तथ्य या यथार्थ हो फिर भी यदि दूसरे को कष्ट देने वाली हो, अप्रिय है तो उसे नही कहना चाहिए। सूत्रकार ने यहाँ इस प्रकार के कथन के लिए कई विशेषण दिये हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं। नीचे टीकाकार के शब्दों के साथ उनकी व्याख्या दी जायेगी।

सतेहि—सद्भिर्विद्यमानार्थैः—सत का अर्थ है वे—वचन जिनमें कही गई बात विद्यमान हो।

तच्चेहिं—तथ्यैस्तत्त्वरूपर्वाऽनुपचारिकैः—तच्चेहि का अर्थ है तत्त्व या तथ्य अर्थात् जिनका प्रयोग उपचार या गौण रूप में नहीं हुआ है। हम अपने भाषण में बहुत से शब्दों का प्रयोग गौण रूप में करते हैं। उदाहरण के रूप में पराक्रमी पुरुष को सिंह कहा है क्योंकि उसमें सिंह के समान शौर्य तथा पराक्रम आदि गुण विद्यमान हैं। इसी प्रकार क्रोधी व्यक्ति को आग कहा जाता है। तेजस्वी को सूर्य कहते हैं। इसका दूसरा प्रयोग उपचार के रूप में होता है। टांगे वाले को ओ टांगे ! कहकर पुकारना। तत्त्व वचन उनको कहते हैं जहाँ गौण या औपचारिक प्रयोग नहीं है अपितु शब्द अपने असली अर्थ को लिए हुए हैं।

तहिएहिं—तमेवोक्तं प्रकारमापन्नैः मात्रयापि न्यूनाधिकैः—अर्थात् जैसे कहे गये हैं ठीक वैसे ही, जहाँ तनिक भी अतिशयोक्ति या न्यूनोक्ति नहीं है अर्थात् बात जितनी है उतनी ही कही गई है। उसमें न कुछ बढ़ाया गया है न कुछ घटाया गया।

अनिष्टैः—अवाञ्छितैः—अनिष्ट अर्थात् अवाञ्छित जिन्हें कोई न चाहता हो।

अकान्तैः—स्वरूपेणाकमनीयैः—जो सुन्दर न लगें अर्थात् भद्दे हों। अनिष्ट का अर्थ है जिन्हें सामने वाला न सुनना चाहता हो और अकान्त का अर्थ है जो प्रत्येक सुनने वाले को बुरे या भद्दे लगें। अनिष्ट तो सुनने वाले की अपेक्षा से है और अकान्त सर्वसाधारण की दृष्टि से।

अप्रियैः—अप्रीतिकारकैः—अप्रिय अर्थात् जिन्हें सुनकर मन में अप्रसन्नता या दुःख हो यह भी सर्वसाधारण की दृष्टि से है।

अमनोज्ञैः—मनसा न ज्ञायन्ते नाभिलप्यन्ते वक्तुमपि यानि तैः—अमनोज्ञ अर्थात् जिन्हें मन बोलना नहीं चाहता।

अमन-आपै—न मनसा आप्यन्ते प्राप्यन्ते चिन्तयाऽपि यानि तैः वचने चिन्तने च येषां मनो नोत्सहत इत्यर्थः—अर्थात् मन जिन्हे सोचना, विचारना भी नही चाहता।

मूल पाठ मे 'अमनामेहि' शब्द आया है। किन्तु टीकाकार ने 'अमनआपै' दिया है दोनो का अभिप्राय एक ही है।

मूलम्—**तए णं से भगवं गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स "तह" त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता तओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ २५८ ॥**

छाया—तत खलु स भगवान् गौतम श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य ततः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य राजगृहं नगरं मध्यंमध्येनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य येनैव महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य गृहं येनैव महाशतक श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति।

शब्दार्थ—**तए णं से भगव गोयमे**—तदनन्तर श्री भगवान् गौतम ने **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर की **एयमट्ठं**—इस बात को **तहत्ति**—यही ठीक है कहकर **विणएणं पडिसुणेइ**—विनय पूर्वक स्वीकार किया, **पडिसुणित्ता**—स्वीकार कर के **तओ पडिणिक्खमइ**—वहाॅ से निकले **पडिणिक्खमित्ता**—निकल कर **रायगिहं नयरं मज्झं मज्झेणं**—राजगृह नगर के बीच मे **अणुप्पविसइ**—प्रवेश किया **अणुप्पविसित्ता**—प्रवेश कर के **जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे**—जहाँ महाशतक श्रमणोपासक का घर था **जेणेव महासयए समणोवासए**—जहाँ महाशतक श्रमणोपासक था **तेणेव उवागच्छइ**—वहाॅ आये।

भावार्थ—भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर के कथन को 'ठीक है' कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया। वे वहाॅ से चले और राजगृह नगर में महाशतक के घर पहुँचे।

मूलम्—तए ण से महासयए समणोवासए भगव गोयम एज्जमाण पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव हियए भगव गोयम वदइ नमसइ ॥ २५६ ॥

छाया—तत खलु स महाशतक श्रमणोपासको भगव त गौतममाया त पश्यति, दृष्ट्वा हृष्टयायावद हृदयो भगव त गौतम व दते नमस्यति ।

शब्दार्थ—तए ण से महासयए समणोवासए—तदनन्तर महाशतक श्रमणोपासक ने भगव गोयम एज्जमाण पासइ—भगवान गौतम को आते हुए देखा पासित्ता—देख कर हट्ठ जाव हियए—हृदय म हृष्ट तुष्ट होकर भगव गोयम—भगवान गौतम का वदइ नमसइ—व दना नमस्कार किया ।

भावार्थ—महाशतक भगवान गौतम का आते देख कर प्रसन्न और स तुष्ट हुआ । और उन्हे व दना नमस्कार किया ।

मूलम्—तए ण से भगव गोयमे महासयय समणोवासय एव वयासी—"एव खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगव महावीरे एवमाइक्खइ, भासइ, पण्णवेइ, परूवेइ"—"नो खलु कप्पइ, देवाणुप्पिया ! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव वागरित्तए । "तुमे ण देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी सतेहि जाव वागरिओ," त ण तुम देवाणुप्पिया ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि" ॥ २६० ॥

छाया—तत खलु स भगवान गौतमो महाशतकमेवमवादीत—"एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान महावीर एवमाख्याति, भापते, प्रज्ञापयति, प्ररूपयति—"नो खलु कल्पते देवानुप्रिय ! श्रमणोपासकस्यापश्चिम यावद व्याकर्तु म, त्वया खलु देवानुप्रिय ! रेवती गाथापत्नी सद्भिर्यावद व्याकृता" तत्खलु त्व देवानुप्रिय ! एतस्य स्थानस्याऽऽलोचय यावत प्रतिपद्यस्व ।"

शब्दार्थ—तए ण से भगव गोयमे—तदन तर भगवान गौतम महासयय समणोवासय एव वयासी—महाशतक श्रमणोपासक से इस प्रकार बोले एव खलु देवाणु

प्पिया !—हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर ने **एवमाइक्खइ**—ऐसा कहा है, **भासइ**—भाषण किया है, **पण्णवेइ**—प्रतिपादन किया है, **परूवेइ**—प्ररूपित किया है, **नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया !**—कि हे देवानुप्रिय ! नही कल्पता **समणोवासगस्स**—श्रमणोपासक को **अपच्छिम जाव वागरित्तए**—अतिम सलेखना धारी को यावत् ऐसा कहना, **तुमेणं**—तुमने **देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिय ! **रेवई गाहावइणी**—रेवती गाथापत्नी को **सतेहि जाव वागरिश्रा**—तथ्यरूप वचन कहे **तं णं तुमं देवाणुप्पिया !**—अत हे देवानुप्रिय ! तुम **एयस्स ठाणस्स आलोएहि**—इस स्थान की आलोचना करो **जाव पडिवज्जाहि**—यावत् प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो ।

भावार्थ—भगवान् गौतम ने महाशतक श्रमणोपासक से कहा—"देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का यह कथन है—कि सलेखनाधारी श्रावक को ऐसा कहना नही कल्पता । तुमने अपनी पत्नी रेवती को ऐसा कहा है । अत इस दोष की आलोचना करो यावत् यथा-योग्य प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो ।

महाशतक की भूल स्वीकार करना और प्रायश्चित्त लेना—

मूलम्—**तए णं से महासयए समणोवासए भगवओ गोयमस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव अहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जइ ॥ २६१ ॥**

छाया—ततः खलु स महाशतक श्रमणोपासको भगवतो गौतमस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिश्रृणोति, प्रतिश्रुत्य तत् स्थानमालोचयति, यावद् यथार्हं च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते ।

शब्दार्थ—**तए णं से महासयए समणोवासए**—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने **भगवओ गोयमस्स**—भगवान् गौतम की **एयमट्ठं**—इस बात को **तहत्ति**—तथेति (ठीक है) कह कर **विणएणं पडिसुणेइ**—विनय पूर्वक स्वीकार किया **पडिसुणेत्ता**—स्वीकार करके **तस्स ठाणस्स आलोएइ**—उस बात की अलोचना की **जाव**—यावत् **अहारिहं च**—यथा योग्य **पायच्छित्तं पडिवज्जइ**—प्रायश्चित्त अङ्गीकार किया ।

भावार्थ—महाशतक ने भगवान गौतम की इस बात को विनय पूर्वक तथेति कह कर स्वीकार किया और अपने दोष के लिए आलोचना, प्रायश्चित्त किया ।

गौतम स्वामी का वापिस आना—

मूलम्—तए ण से भगवं गोयमे महासयगस्स समणोवासयस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ २६२ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमो महाशतकस्य श्रमणोपासकस्यान्तिकात्प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य राजगृहं नगरं मध्यंमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं से भगवं गोयमे—उसके पश्चात् भगवान् गौतम महासयगस्स समणोवासयस्स—महाशतक श्रमणोपासक के अंतियाओ—समीप से पडिणिक्खमइ—निकले पडिणिक्खमित्ता—निकल कर रायगिहं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ—राजगृह नगरी के बीच में से होते हुए जेणेव—जहां पर समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ—श्रमण भगवान महावीर थे वहां आये उवागच्छित्ता—आकर समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके संजमेणं तवसा—संयम और तप के द्वारा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ—आत्मा का विकास करते हुए विचरने लगे ।

भावार्थ—भगवान गौतम महाशतक श्रावक के पास से लौटे और राजगृह नगर के बीच होते हुए भगवान महावीर के पास आए । उन्हें वन्दना नमस्कार किया और संयम तथा तप द्वारा आत्मविकास करते हुए विचरने लगे ।

भगवान् महावीर का विहार—

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ रायगिहाओ नयराओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं-विहरइ ॥ २६३ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचित् राजगृहान्नगरात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदविहारं विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं समणे भगवं महावीरे—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर अन्नया कयाइ—एक दिन रायगिहाओ नयराओ—राजगृह नगरी से पडिणिक्खमइ—निकले पडिणिक्खमित्ता—निकल कर बहिया जणवय विहारं विहरइ—अन्य जनपदो मे विचरने लगे ।

भावार्थ—कुछ समय पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर से विहार करके अन्य जनपदो मे विचरने लगे ।

महाशतक के जीवन का उपसहार—

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए बहूहिं सील जाव भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासग-परियायं पाउणित्ता, एक्कारस उवासगपडिमाओ सम्मं काएण फासित्ता, मासियाएं संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइए-पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणवडिंसए विमाणे देवत्ताए उववन्ने । चत्तारि पलिओवमाइं ठिई । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवो ॥ २६४ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं महासययमज्झयणं समत्तं ॥

छाया—तत खलु स महाशतकः श्रमणोपासको बहुभिः शील यावद् भावयित्वा विशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयित्वा, एकादशोपासकप्रतिमाः सम्यक् कायेन

स्पृष्ट्वा मासिक्या संलेखनयाऽऽत्मानं जोषयित्वा, षष्टिं भक्तान्यनशनेन छित्त्वा आलोचितप्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पेऽरुणावतंसके विमाने देवतयोपपन्नः। चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः, महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेपः।

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने बहूहिं सील जाव भावेत्ता—अनेक प्रकार से शील व्रत आदि का यावत पालन किया इस प्रकार वीसं वासाइं—२० वर्ष तक समणोवासग परियायं पाउणित्ता—श्रमणोपासक पर्याय का पालन किया एक्कारस पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता—एकादश उपासक प्रतिमाएं शरीर द्वारा सम्यक् रूप से ग्रहण कीं मासियाए संलेहणाए—एक मास की संलेखना द्वारा अप्पाणं झूसित्ता—अपने आपको जोषित करके सट्ठिं भत्ताइं—साठ भक्तों को अणसणाए छेदेत्ता—अन्न पानी के अनशन का पूरा करके आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते—आलोचना प्रतिक्रमण द्वारा समाधि प्राप्त करके कालमासे कालं किच्चा—समय पूरा होने पर मृत्यु प्राप्त करके सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प अरुणवडिंसए विमाणे—अरुणावतंसक विमान में देवत्ताए उववन्ने—देव रूप में उत्पन्न हुआ चत्तारि पलिओमाइं ठिई—और चार पल्योपम की स्थिति प्राप्त की महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—यावत महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त करेगा। निक्खेवो—निक्षेप पूर्ववत है।

भावार्थ—महाशतक श्रावक अनेक प्रकार से शील एवं व्रतों द्वारा आत्मविकास करने लगा। कुल २० वर्ष तक श्रावक पर्याय पालन की। ग्यारह प्रतिमाओं को अङ्गीकार किया। एक महीने की संलेखना द्वारा आत्मा को पवित्र करके साठ भक्तों का अनशन किया। आलोचना प्रतिक्रमण तथा समाधि द्वारा आत्मा को शुद्ध किया। इस प्रकार धर्मानुष्ठान करते हुए समय आने पर मृत्यु प्राप्त कर के सौधर्म देवलोक के अरुणावतंसक विमान में उत्पन्न हुआ और चार पल्योपम की आयु प्राप्त की। वहां समय आने पर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और सिद्धि प्राप्त करेगा।

टीका—उपरोक्त सूत्रों में भगवान गौतम के आदेशानुसार महाशतक द्वारा प्रायश्चित्त का वर्णन है उसने अपनी भूल स्वीकार की। आलोचना तथा प्रतिक्रमण करके समाधि को प्राप्त हुआ। यहां समाधि का अर्थ है चित्त की प्रसन्नता। जब दोष रूपी कांटा निकल गया तो उसका चित्त प्रसन्न हो गया। अन्त में शरीर परित्याग करके वह भी देवलोक में उत्पन्न हुआ और अन्य श्रावकों के समान महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का अष्टम महाशतक अध्ययन समाप्त ॥

नवमज्झयणं

नवम अध्ययन

मूलम्---नवमस्स उक्खेवओ, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। तत्थ णं सावत्थीए नयरीए नंदिणीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे। चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ वुड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया दस-गोसाहस्सिएणं वएणं। अस्सिणी भारिया ॥ २६५ ॥

छाया---नवमस्योपक्षेपक। एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रावस्ती नगरी, कोष्ठकश्चैत्यः। जितशत्रू राजा। तत्र खलु श्रावस्त्यां नगर्यां नंदिनी-पिता नाम गाथापतिः परिवसति, आढ्यः। चतस्रो हिरण्य-कोटयो निधानप्रयुक्ता, चतस्रो हिरण्य-कोटयो वृद्धिप्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोटय प्रविस्तरप्रयुक्ता', चत्वारो व्रजा दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन। अश्विनी भार्या।

शब्दार्थ---नवमस्स उक्खेवओ--नवम अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् ही है। एवं खलु जम्बू !—सुधर्मास्वामी ने अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय सावत्थी नयरी—श्रावस्ती नामक नगरी थी, कोट्ठए चेइए—कोष्ठक चैत्य था जियसत्तू राया—और जित शत्रु राजा था तत्थ णं सावत्थीए नयरीए–उस श्रावस्ती नगरी मे नंदिणीपिया नामं गाहावई परिवसइ—नन्दिनीपिता नामक गाथापति रहता था अड्ढे—वह आढ्य अर्थात् सम्पन्न था चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाण पउत्ताओ—उसकी चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोप मे थी चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढि पउत्ताओ—चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ व्यापार मे लगी हुई थी तथा चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपउत्ताओ—चार करोड सुवर्ण

मुद्राएँ घर तथा सामान मे लगी हुई थी चत्तारि वया दसगोसाहस्सिएण वएण —प्रत्येक म दस हजार गायो वाले चार व्रज अर्थात् गोकुल थे अस्सिणी भारिया— अश्विनी नामक भार्या थी।

भावार्थ—नवम अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत है। सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य से कहा—हे जम्बू ! उस समय श्रावस्ती नगरी तथा कोष्टक चैत्य था। जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगरी मे नन्दिनीपिता नामक गाथापति रहता था। वह धन आदि से परिपूर्ण था। उसकी चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष म सञ्चित थी, चार करोड व्यापार मे लगी हुई थी तथा चार करोड घर तथा सामान म लगी हुई थी। प्रत्येक मे दस हजार गायो के हिसाब से चार व्रज थे। अश्विनी नामक भार्या थी।

मूलम्—सामी समोसढे। जहा आणदो तहेव गिहि धम्म पडिवज्जइ। सामी बहिया विहरइ ॥ २६६ ॥

छाया—स्वामी समवसृत। यथाऽऽनन्दस्तथैव गृहिधर्म प्रतिपद्यते। स्वामी बहिर्विहरति।

शब्दार्थ—सामी समोसढे।—स्वामी समवसृत हुए जहा आणदो तहेव गिहिधम्म पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया सामी बहिया विहरइ—महावीर स्वामी अन्य जनपदो मे विहार कर गये।

भावार्थ—भगवान महावीर स्वामी समवसृत हुए ! आनन्द के समान उस नन्दिनीपिता ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। उसके बाद भगवान महावीर स्वामी अन्य जनपदो म विहार कर गये।

मूलम्—तए ण से नदिणीपिया समणोवासए जाए जाव विहरइ

छाया—ततः खलु स नन्दिनीपिता श्रमणोपासको जातो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं नंदिणीपिया समणोवासए जाए—तदनन्तर वह नन्दिनीपिता श्रमणोपासक बन कर जाव विहरई—यावत् विचरने लगा ।

भावार्थ—नन्दिनीपिता श्रावक बन कर विचरने लगा ।

मूलम्—तए णं तस्स नंदिणीपियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सीलव्वय-गुण जाव भावेमाणस्स चोद्दस सवंच्छराइं वइक्कंताइं । तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ । धम्मपण्णत्तिं । वीसं वासाइं परियागं । नाणत्तं अरुणगवे विमाणे उववाओ । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवओ ॥ २६८ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं नवमं नन्दिणीपियाज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु तस्य नंदिनीपितुः श्रमणोपासकस्य बहुभि शील-व्रत-गुण यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सरा व्युत्क्रान्ता. । तथैव ज्येष्ठं पुत्रं स्थापयति । धर्मप्रज्ञप्तिम् । विंशतिं वर्षाणि पर्यायम् । नानात्वमरुणगवे विमाने उपपातः । महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेप ।

शब्दार्थ— **तए णं तस्स नंदिणीपियस्स समणोवासयस्स**—तदनन्तर उस नन्दिनीपिता श्रमणोपासक को **बहूहिं सीलव्वयगुण जाव भावेमाणस्स**—अनेक प्रकार के शील व्रतादि से आत्मा को भावित करते हुए **चोद्दस सवंच्छरा वइक्कंताइं**—१४ वर्ष बीत गए **तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ**—आनन्द की भाँति उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को स्व-कुटुम्ब का स्वामी बना दिया **धम्मपण्णत्तिं**—और भगवान के पाससे ग्रहण की हुई धर्मप्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा । **वीसं वासाइं परियागं**—वह वीस वर्ष तक श्रमणोपासक अवस्था मे रहा, शेष पहले की भाँति है **नाणत्तं**—इतना अन्तर है कि **उववाओ**—उसकी उत्पत्ति **अरुणगवे विमाणे**—अरुणगव विमान मे हुई, **महाविदेहे वासे सिज्झिहि**—महाविदेह क्षेत्र मे सिद्ध होगा । **निक्खेवो**—निक्षेप पूर्ववत् है ।

भावार्थ—तदनन्तर उस श्रमणोपासक नन्दिनीपिता को शील आदि व्रतों से आत्मा को भावित करते हुए १४ वर्ष बीत गए। आनन्द की भांति उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपा और भगवान् से प्राप्त धर्मप्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। २० वर्ष तक श्रमणोपासक अवस्था में रहा। शेष पूर्ववत है। इतना विशेष है कि उसकी उत्पत्ति अरुणगव विमान में हुई तथा वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा।

।। सप्तम अङ्ग उपासकदशा का नवम नन्दिणीपिया अध्ययन समाप्त ।।

दसमज्झयणं

दशम अध्ययन

मूलम्——दसमस्स उक्खेवो, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। तत्थ णं सावत्थीए नयरीए सालिहीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे दित्ते। चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ, वुड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया दस-गोसाहस्सिएणं वएणं। फग्गुणी भारिया॥ २६९॥

छाया——दशमस्योपक्षेप। एवं खलु जम्बूः ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रावस्ती नगरी, कोष्ठकश्चैत्यः, जितशत्रू राजा। तत खलु श्रावस्त्यां नगर्यां सालिहीपिया नाम गाथापति परिवसति। आढ्यो दीप्त०। चतस्रो हिरण्णकोट्यो निधान-प्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोट्यो वृद्धि-प्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोट्य प्रविस्तर-प्रयुक्ताः, चत्वारो व्रजा दशगोसाहस्त्रिकेण व्रजेन। फाल्गुनी भार्या।

शब्दार्थ——दसमस्स उक्खेवो—दसवे अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् है, एवं खलु जम्बू !—सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से इस प्रकार कहा—हे जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय सावत्थी नयरी—श्रावस्ती नगरी, कोट्ठए चेइए—कौष्ठक चैत्य था और जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा तत्थ णं सावत्थीए नयरीए—उस श्रावस्ती नगरी मे सालिहीपिया नामं गाहावई परिवसइ—सालिहीपिया नामक गाथापति रहता था अड्ढे दित्ते—वह आढच यावत् धन, धान्यादि से युक्त था, चत्तारि हिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ—उसकी चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ कोष मे थी चत्तारि हिरण्णकोडीओ निवुड्ढिपउत्ताओ—चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ व्यापार में लगी हुई थी चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ—चार करोड सुवर्ण मुद्राएँ घर तथा सामान मे लगी हुई थी चत्तारि

वया दस गोसाहस्सिएण वएण—प्रत्येक म दस हजार गायो वाले चार व्रज अर्थात गोकुल थे फग्गुणी भारिया—और फाल्गुनी भार्या थी ।

भावाथ—दसव अध्ययन का उपक्षेप पूववत ही है । श्री सुधर्मा स्वामी न अपने शिष्य जम्बू स्वामी स कहा—ह जम्बू ! उस काल उस समय श्रावस्ती नगरी म कोष्ठक चत्य था और जितशत्रु राजा था। उस श्रावस्ती नगरी म सालिहीपिया नामक गथापति रहता था। वह धन धा य स समद्ध था। उसकी चार कराड सुवण मुद्राए कोष मे सञ्चित थी, चार करोड व्यापार म लगी हुई थी तथा चार करोड घर तथा सामान म लगी हुई थी। प्रत्यक मे १० हजार गाया वाले चार गोव्रज थे और फाल्गुनी नामक पत्नी थी।

मूलम—सामी समोसढे ! जहा आणदो तहेव गिहि धम्म पडिवज्जइ। जहा कामदेवो तहा जेट्ठ पुत्त ठवेत्ता पोसह सालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म पण्णत्ति उवसपज्जित्ताण विहरइ। नवर निरुवसग्गाओ एक्कारसवि उवासग पडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ, एव कामदेव गमेण नेयव्व जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उवव ने। चत्तारि पलिओवमाइ ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवो ॥ २७० ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाण दसम सालिहीपियाज्झयण समत्त ॥

छाया—स्वामी समवसत यथाऽऽन दस्तथव गहिधर्मं प्रतिपद्यते ! यथा कामदेवस्तथा ज्येष्ठ पुत्र स्थापयित्वा पौषधशालाया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धमप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति, नवर निरुपसर्गा एकादशाप्युपासकप्रतिमास्तथव भणितव्या । एव कामदेवगमेन ज्ञातव्य यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणकीले विमाने देवतयोपपन्न । चत्वारि पल्योपमानि स्थिति । महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति ।

शब्दाथ—सामी समोसढे—स्वामी समवसत हुए जहा आणदो तहेव गिहिधम्म पडिवज्जइ—आन द के समान उसने भी गृहस्थ धम स्वीकार किया जहा कामदेवो तहा जेट्ठ पुत्त ठवेत्ता—कामदेव के समान उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब भार सौप कर पोसहसालाए—पौषधशाला म समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ति

उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने ग्रहण की हुई धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा, नवरं निरुवसग्गाओ—इतना विशेष है कि उसे कोई उपसर्ग नही हुआ, एक्कारसवि उवासगपडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ—११ उपासक प्रतिमाओ का प्रतिपादन उसी प्रकार है। एवं कामदेवगमेण नेयव्वं—इसी प्रकार सारी घटनाएँ कामदेव श्रावक के समान ही समझनी चाहिएँ जाव—यावत् सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने—सौधर्मकल्प मे अरुणकील विमान मे देव रूप मे उत्पन्न हुआ। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई—चार पल्योपम की स्थिति है, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—यह महाविदेह क्षेत्र मे सिद्ध होगा।

भावार्थ—स्वामी समवसृत हुए। आनन्द के समान सालिहीपिया ने भी गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया और आनन्द के समान ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप कर पौषधशाला मे भगवान् महावीर से ग्रहण की हुई धर्म-प्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। विशेष इतना है कि उसे कोई उपसर्ग नही हुआ। ११ उपासक प्रतिमाओं का प्रतिपादन उसी प्रकार है। इसी प्रकार सारी घटनाएँ कामदेव श्रावक के समान समझनी चाहिएँ। यावत् सौधर्मकल्प मे अरुणकील विमान मे देवरूप मे उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी चार पल्योपम की स्थिति है तथा वहा वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा।

।। सप्तम अङ्ग उपासकदशा का दशम सालिहीपियाध्ययन समाप्त ।।

।। उपसंहार ।।

मूलम्—**दसण्हवि पणरसमे संवच्छरे वट्टमाणाणं चिंता। दसण्हवि वीसं वासाइं समणोवासय-परियाओ ।। २७१ ।।**

छाया—दशानामपि पञ्चदशे संवत्सरे वर्त्तमानाना चिन्ता। दशानामपि विंशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्याया·।

शब्दार्थ—दसण्हवि पणरसमे संवच्छरे वट्टमाणाणं चिंता—दसो ही श्रावको को १५ वर्ष मे कुटुम्ब का भार परित्यागकर विशिष्ट धर्म-साधना की चिन्ता उत्पन्न हुई। दसण्हवि वीसं वासाइं समणोवासयपरियाओ—और दसो ने ही २० वर्ष पर्यन्त श्रावक पर्याय का पालन किया।

भावार्थ—दसों श्रावकों को १५वें वर्ष में कुटुम्ब भार को त्याग कर धर्म साधना की चिन्ता हुई और दसों ने ही २० वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन किया।

मूलम्—एवं खलु जम्बू! समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते ॥ २७२ ॥

छाया—एवं खलु जम्बू! श्रमणेन यावत्सम्प्राप्तेन सप्तमस्याङ्गस्योपासक-दशानां दशमस्याऽध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—एवं खलु जम्बू!—इस प्रकार हे जम्बू! समणेणं जाव संपत्तेणं—श्रमण भगवान यावत् जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है सत्तमस्स अंगस्स—सातवें अङ्ग उवासगदसाणं—उपासक दशाङ्ग सूत्र के दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते—दसवें अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है।

भावार्थ—इस प्रकार हे जम्बू! श्रमण भगवान महावीर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है सातवें अङ्ग उपासकदशाङ्ग-सूत्र के दसवें अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है।

मूलम्—उवासगदसाणं सत्तमस्स अंगस्स एगो सुयक्खंधो। दस अज्झयणा एक्कसरगा दससु चेव दिवसेसु उद्दिस्सिज्जंति। तओ सुयक्खंधो समुद्दिस्सिज्जइ, अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु, अंगं वहेव ॥ २७३ ॥

॥ उवासगदसाओ समत्ताओ ॥

छाया—उपासकदशानां सप्तमस्याङ्गस्यैकः श्रुतस्कन्धः। दशाध्ययनानि एकस्वरकाणि, दशसु चैव दिवसेषु उद्दिश्यन्ते। ततः श्रुतस्कन्धः समुद्दिश्यते। अनुविज्ञायते द्वयोर्दिवसयोरङ्गन्तथैव।

शब्दार्थ—उवासगदसाणं—उपासकदशा नामक सत्तमस्स अंगस्स—सातवें अङ्ग का एगो सुयक्खंधो—एक श्रुतस्कन्ध है। दस अज्झयणा—दस अध्ययन हैं एक्कसरगा—प्रत्येक में एक जैसा स्वर या पाठ है दससु चेव दिवसेसु—और दस दिनों में

उद्दिस्सिज्जति—पढे जाते ह **तओ सुयखंधो समुद्दिस्सिज्जइ**—इस श्रुतस्कन्ध का पाठ पूरा हो जाता है। **अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु अंगं तहेव**—इसी प्रकार दो दिन मे भी इस अग के पाठ की अनुमति दी गई है।

भावार्थ—उपासकदशा नामक सातवे अङ्ग मे एक श्रुतस्कन्ध है। दस अध्ययन हैं। जिनमे एक ही सरीखा स्वर अर्थात् पाठ है। इसका पाठ दस दिनो मे पूरा किया जाता है। ऐसा करने पर श्रुतस्कन्ध का पाठ हो जाता है। इसका पाठ दो दिन मे करने की अनुमति भी है।

टीका—उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग के दस अध्ययन और एक श्रुतस्कन्ध है। श्रुतस्कन्ध का अर्थ है श्रुत अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान का स्कन्ध। जैन आगमो का ग्रन्थ विभाजन अनेक प्रकार से मिलता है। किसी आगम का मूल खण्डो के रूप मे जो विभाजन किया गया है, उन्हे श्रुतस्कन्ध कहा गया है। श्रुतस्कन्धो का विभाजन अध्ययनो के रूप मे किया जाता है और अध्ययनो का उद्देशो के रूप मे। उद्देश का अर्थ है—एक प्रकरण या पाठ जिसका स्वाध्याय प्राय एक ही वार मे किया जाता है। उपनिषदो मे इसके लिए प्रपाठक शब्द आया है। प्रस्तुत सूत्र मे एक श्रुतस्कन्ध है अर्थात् खण्डो मे विभाजन नही है। इसमे दस अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन मे एक श्रावक का वर्णन है। अध्ययनो का उद्देशो के रूप मे विभाजन नही है। यहाँ 'एक्कसरगा' शब्द का प्रयोग है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि पाठ मे एक ही शैली अर्थात् गद्य का प्रयोग किया गया है। गाथा या पद्य का नही। दूसरा अर्थ यह है कि प्रत्येक अध्ययन मे एक ही प्रकरण है अर्थात् उसका उपविभाजन नही है। प्रस्तुत सूत्र का स्वाध्याय दस दिनो में पूरा करने की परिपाटी है। किन्तु दो दिनो मे पूरा करने की अनुमति भी दी गई है।

इति श्री जैनधर्मदिवाकर जैनाचार्य पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज
द्वारा अनुवादित—

॥ श्री उपासकदशाङ्ग-सूत्र समाप्त ॥

संग्रह-गाथाएँ

वाणियगामे चम्पा दुवे य बाणारसीए नयरीए ।
आलभिया य पुरवरी कपिल्लपुर च बोद्धव्व ॥ १ ॥
पोलास रायगिह सावत्थीए पुरीए दोन्नि भवे ।
एए उवासगाण नयरा खलु होंति बोद्धव्वा ॥ २ ॥
सिवनद भद्द सामा धन्न बहुल पूस अग्गिमित्ता य ।
रेवई-अस्सिणि तह फग्गुणी य भज्जाण नामाइ ॥ ३ ॥
ओहिण्णाण पिसाए माया वाहि-धण उत्तरिज्जेय ।
भज्जा य सुव्वया दुव्वया निरुवसग्गया दोन्नि ॥ ४ ॥
अरुणे अरुणाभे खलु अरुणप्पह अरुणकत सिट्ठे य ।
अरुणज्झए य छट्ठे भूय वडिसे गवे कीले ॥ ५ ॥
चाली सट्ठि असीई सट्ठी सट्ठी य सट्ठी दस सहस्सा ।
असिए चत्ता चत्ता एए वइयाण य सहस्सा ॥ ६ ॥
बारस अट्ठारस चउवीस तिविह अट्ठारसाइ नेय ।
धन्नेण ति-चोवीस बारस य कोडीओ ॥ ७ ॥
उल्लण द तवण फले अब्भिगणुव्वट्टणे सणाणे य ।
वत्थ-विलेवण पुप्फे आभरण धूव पेज्जाइ ॥ ८ ॥
भक्खोयण सूय घए सागे माहुर जेमणऽन्नपाणे य ।
तम्बोले इगवीस आणदाईण अभिग्गहा ॥ ९ ॥
उड्ढ सोहम्मपुरे लोलूए अहे उत्तरे हिमवन्ते ।
पचसए तह तिदिसि, ओहिण्णाण दसगणस्स ॥१०॥
दसण वय सामाइय पोसह—पडिमा अबभ सच्चित्ते ।
आरम्भ—पेस—उद्दिट्ठ—वज्जए समणभूए य ॥११॥
इक्कारस पडिमाओ वीस परियाओ अणसण मासे ।
सोहम्मे चउपलिया, महाविदेहम्मि सिज्झहिइ ॥१२॥

॥ उवासगदसाओ समत्ताओ ॥

उपरोक्त सग्रह गाथाएँ ग्रन्थ का मूल पाठ नही है। उनमे निर्युक्तिकार ने सारे सूत्र का सक्षिप्त परिचय दिया है, जिसका भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है—

श्रावक और उनकी नगरियाँ

वाणिज्य ग्राम मे एक श्रावक हुआ	—आनन्द।
चम्पा मे	—कामदेव।
वाराणसी	—चुलनीपिता और सुरादेव।
आलभी	—चुल्लशतक।
काम्पिल्यपुर	—कुण्डकौलिक।
पोलासपुर	—सद्दालपुत्र।
राजगृह	—महाशतक।
श्रावस्ती	—नन्दिनीपिता और सालिहीपिया।

श्रावको की भार्याएँ

१ आनन्द की शिवानन्दा।
२ कामदेव की भद्रा।
३ चुलनीपिता की श्यामा।
४ सुरादेव की धन्या।
५ चुल्लशतक की बहुला।
६ कुण्डकौलिक की पुष्या।
७ सद्दालपुत्र की अग्निमित्रा।
८ महाशतक की रेवती आदि तेरह भार्याएँ।
९ नन्दिनीपिता की अश्विनी।
१० सालिहीपिया की फाल्गुनी।

विशेष घटनाएँ

१ आनन्द—अवधिज्ञान और गौतम स्वामी का सन्देह।

२ कामदेव—पिशाच का उपसर्ग और श्रावक का अन्त तक दृढ रहना।

३ चुलनीपिता—पिशाच द्वारा माता भद्राके वधका कथन सुनकर विचलित होना।

४ सुरादेव—पिशाच द्वारा सोलह भयकर रोग उत्पन्न करने की धमकी और उसका विचलित होना।

५ चुल्लशतक—पिशाच द्वारा सम्पत्ति बिखेरने की धमकी और उसका विच-लित होना।

६ कुण्डकौलिक—देव द्वारा उत्तरीयक तथा अगूठी का उठाना एव गोशालक के मत की प्रशसा करना, कुण्डकौलिक की दृढता और देव का निरुत्तर होना।

७ सद्दालपुत्र—सुव्रता अग्निमित्रा भार्या ने व्रत से स्खलित हुए को पुन धर्म मे स्थित किया। भगवान महावीर द्वारा नियतिवाद का खण्डन। और सद्दालपुत्र का गोशाल के मत को छोड कर उनका अनुयायी बनना।

८ महाशतक—रेवती का उपसर्ग। महाशतक द्वारा रेवती के भावी नरक गमन का कथन और भगवान महावीर द्वारा उसे अनुचित बता कर प्रायश्चित्त करने का आदेश।

९ नदिनीपिता
१० सालिहीपिया —इन दोनो के जीवन मे कोई उपसर्ग नही हुआ।

मृत्यु के पश्चात स्वर्ग में प्राप्त विमानों के नाम—

१ आनन्द—अरुण
२ कामदेव—अरुणाभ
३ चुल्लनीपिता—अरुणप्रभ
४ सुरादेव—अरुणकान्त
५ चुल्लशतक—अरुणश्रेष्ठ
६ कुण्डकौलिक—अरुण ध्वज
७ सद्दालपुत्र—अरुणभूत
८ महाशतक—अरुणावतंसक
९ नदिनीपित—अरुणगव
१० सालिहीपिया—अरुणकील

पशु धन की संख्या—

१ आनन्द—चार व्रज=४० हजार गौएँ।
२ कामदेव—छ व्रज=६० हजार गौएँ।
३ चुल्लनीपिता—आठ व्रज=८० हजार गौएँ।
४ सुरादेव—छ व्रज=६० हजार गौएँ।
५ चुल्लशतक—छ व्रज=६० हजार गौए।
६ कुण्डकौलिक—छ व्रज—६० हजार गौए।
७ सद्दालपुत्र—एक व्रज=१० हजार गौएँ।
८ महाशतक—आठ व्रज=८० हजार गौए।
९ नन्दिनीपिता—चार व्रज=४० हजार गौएँ।
१० सालिहीपिया—चार व्रज=४० हजार गौएँ।

सुवर्ण अर्थात मोहरो की संख्या—

१ आनन्द—१२ करोड तीन क्षेत्रो मे विभक्त अर्थात १ निधान २ व्यापार तथा ३ घर एव सामान के रूप मे प्रत्येक मे चार करोड।

२ कामदेव—१८ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड ।
३ चुल्लनीपिता—२४ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे आठ करोड ।
४ सुरादेव—१८ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड ।
५ चुल्लशतक—१८ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड ।
६. कुण्डकौलिक—१८ करोड—प्रत्येक क्षेत्र मे छ करोड ।
७ सद्दालपुत्र—३ करोड—प्रत्येक मे एक करोड ।
८ महाशतक—२४ करोड निजी । आठ करोड रेवती का था ।
९ नन्दिनीपिता—१२ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे चार करोड ।
१० सालिहीपिया—१२ करोड प्रत्येक क्षेत्र मे चार करोड ।

अभिग्रह अर्थात् भोग्य वस्तुओ की मर्यादा—

आनन्द आदि श्रावको ने नीचे लिखी २१ बातो मे मर्यादा कर रखी थी—

१ उल्लण—स्नान के पश्चात् अग पोछने के काम मे आने वाले अगोच्छे या तौलिये का ।
२ दन्तवण—दातुन ।
३ फले—फल ।
४ अभगण—अभ्यगन अर्थात् मालिश करने के तेल ।
५ उव्वट्टण—उवट्टन अर्थात् अङ्गो पर मलने के लिए सुगन्धित आटा ।
६ नहाण—स्नान के लिए पानी का परिमाण ।
७ वत्थ—वस्त्र, पहनने के कपडे ।
८ विलेपण—विलेपन, चन्दन कस्तूरी आदि लेप करने के द्रव्य ।
९ पुप्फे—पुष्प-फूल माला आदि ।
१० आभरण—आभूषण जेवर ।
११ धूव—धूपवत्ती आदि कमरे को सुगन्धित करने वाली वस्तुएँ ।
१२ पेज्ज—पेय-शरबत ठडाई आदि पीने की वस्तुएँ ।
१३ भक्ख—भक्ष्य-पकवान या मिठाई ।
१४ ओयण—ओदन अर्थात् चावल, यह उन दिनो विहार का मुख्य भोजन था ।
१५. सूय—सूप-दाले ।
१६ घए—घृत-घी ।

१७ साग—शाक पकाई जाने वाली सब्जिया ।

१८ माहुर—माधुर गुड चीनी ग्रादि भोजन मीठा बनाने वाली वस्तुएँ ।

१९ जेमण—दही बडे पकोडे पापड ग्रादि भोजनोपरान्त खाई जाने वाली वस्तुएँ ।

२० पाणे—पानीय कुग्रा नदी सरोवर, बादला ग्रादि का पानी पीने के लिए ।

२१ तम्बाल—ताम्बूल ग्रर्थात पान ग्रौर उसम खाये जाने वाले मसाले ।

ग्रवधिज्ञान की मर्यादा

दो श्रावको को ग्रवधिज्ञान उत्पन्न हुग्रा ग्रौर वे विभिन्न दिशाग्रो मे नीचे लिखे ग्रनुसार देखने जानने लगे ।

पूर्वदिशा—लवणसमुद्र म पाच सौ याजन तक । इसी प्रकार दक्षिण ग्रौर पश्चिम मे ।

उत्तरदिशा—चुल्ल हिमवान पवत तक ।

ऊर्ध्वदिशा—सौधम दवलाक म सौधम कल्प विमान तक ।

ग्रधोदिशा—प्रथम रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक मे लोलुपाच्युत नामक स्थान तक जहा चौरासी हजार वप की ग्रायु वाले नारकी जीव रहते हैं । महाशतक न तीनो दिशाग्रो मे हजार हजार याजन तक ग्रवधिज्ञान से जाना ग्रौर देखा ।

ग्यारह प्रतिमाएँ

प्रत्येक श्रावक न ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की थी । इनका निरूपण ग्रन्यत्र किया जा चुका है । उनके नाम नीचे लिखे ग्रनुसार हैं ।

१ दशन ७ सचित्त परित्याग

२ व्रत ८ ग्रारम्भ परित्याग

३ सामायिक ९ प्रेष्य ग्रर्थात नौकर ग्रादि भेजने का परित्याग ।

४ पौषध १० उद्दिष्ट भाजन परित्याग ।

५ दिवाब्रह्मचारी ११ श्रमणभूत

६ ब्रह्मचय

प्रत्येक श्रावक न बीस वप तक व्रत एव प्रतिमाग्रो का पालन किया ग्रौर ग्रन्त म सल्लेखना द्वारा देह का परित्याग करके सौधम देवलोक मे चार प ल्योपम की ग्रायु प्राप्त की । वहा स च्यव कर सबक सब महाविदेह क्षत्र म उत्पन्न होंग ग्रौर सिद्धि प्राप्त करग ।

परिशिष्ट

उपासकदशाङ्ग

प्रस्तुत सूत्र का नाम उवासगदसाओ है। साधारणतया इसे उपासकदशाङ्ग कहा जाता है। अङ्गसूत्रों में गणना होने के कारण इसके साथ 'अङ्ग' पद जोड़ दिया गया है। शेष दो अर्थात् 'उपासक और दश' शब्द इसके प्रतिपाद्य विषय को प्रकट करते हैं। इसमें दस उपासकों का वर्णन है। उपासक शब्द संस्कृत की आस उप-वशने धातु से पहले उप उपसर्ग लगाने पर बना है। इसी से उपासना शब्द भी बनता है। उपासक का अर्थ है उपासना करने वाला। उपासना का अर्थ है समीप बैठना। वेद तथा उपनिषदों में अग्नि, सूर्य, प्राण प्रणव अर्थात् ओंकार दहर अर्थात् हृदयाकाश आदि अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है। वहां इसका यही अर्थ है कि अपने लक्ष्य का बार २ चिन्तन करना और अन्य सब बातों से हटकर उसी के ध्यान में लगे रहना। किन्तु यहां इसका अर्थ है अरिहन्त तथा साधुओं की उपासना करने वाला अर्थात् उनके समीप बैठकर धर्मकथा सुनने वाला। उपनिषत् शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट करता है। नी पूर्वक सद् धातु का अर्थ है बैठना और उसका अर्थ है समीप। इसी प्रकार का दूसरा शब्द उपोसह है। इसका संस्कृत रूप है उपवसथ अर्थात् पास में बसना। जब श्रावक व्रत लेकर कुछ समय के लिए मुनियों के पास रहने का निश्चय करता है तो उसे उपवसथ कहा जाता है। उपवास शब्द भी इसी अर्थ को लिए हुए है किन्तु वहां आचार्य या गुरु के स्थान पर आत्मा अर्थ लिया जाता है। उपवास का अर्थ है भोजन आदि बाह्य व्यापार छोड़कर निरन्तर आत्मचिन्तन में लीन रहना। उपस्थिति शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट करता है।

अड्ढे जाव अपरिभूए—जिस प्रकार अग्निशिखा से प्रज्वलित तथा वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीप प्रकाश देता है रहता है उसी प्रकार आनन्द भी प्रदीप्त अर्थात् दूसरों के लिए प्रकाश दाता था। उसके पास जो सम्पत्ति थी उसकी तुलना तेल और बत्ती से की गई है। उदारता गम्भीरता आदि गुणों की शिखा से और दीप्ति से। और मर्यादा पालन की वायु रहित स्थान से। तेजस्वी जीवन के लिए इन सब बातों की आवश्यकता है अर्थात् उसके तीन तत्त्व हैं वैभव सद्गुण और मर्यादापालन इसी जीवन को आढ्य शब्द में प्रकट किया गया है। दूसरा विशेषण अपरिभूत है। इसका अर्थ है परिभव या अनादर का न होना जो व्यक्ति सम्पन्न

सद्गुणी, तथा मर्यादा मे स्थिर है उसका कही तिरस्कार नही होता। आढ्यता और अपरिभव आदर्श गृहस्थ के मूल तत्त्व है।

तस्स ण आणन्दस्स—प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द गाथापति की सम्पत्ति का वर्णन किया गया है उसके पास बारह कोटि सुवर्ण था। चार कोटि कोष मे सगृहीत तथा ४ वृद्धि के लिए व्यापार मे लगा हुआ था, और चार गृह सामग्री मे यह विभाजन तत्कालीन अर्थ व्यवस्था को सूचित करता है इसका अर्थ है उस समय सम्पत्ति के तीन विभाग किए जाते थे और प्रत्येक मे समान रूप से अर्थ का विनियोग किया जाता था। जितना व्यापार मे लगाया जाता था उतना ही कोष मे भी रखा जाता था, जिसका व्यापार मे क्षति या सकट के समय उपयोग हो सके। इससे तत्कालीन गृहस्थो की दूरदर्शिता प्रकट होती है।

उस समय सुवर्ण नाम का सिक्का प्रचलित था। शक काल मे इसे दीनार कहा गया। यह शुद्ध सुवर्ण और ३२ रत्ती का होता था।

मुद्रा के रूप उपरोक्त धन के अतिरिक्त आनन्द के पास गोधन भी विशाल सख्या मे था। यहाँ गो शब्द का अर्थ केवल गाय नही है, बैल, तथा अन्य पशु भी उसमे आ जाते हैं फिर भी यह मानना पडता है कि उस समय गृहस्थ के काम मे आने वाले मुख्य पशु गाय और बैल ही थे। गौओ से दूध घी मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थ प्राप्त होते थे।

महाकवि कालीदास ने राजा दिलीप के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए उसे वृषस्कन्ध कहा है, अर्थात् उसके कन्धे-बैल के समान उभरे हुए थे। जैन, बौद्ध, एव प्राचीन वैदिक साहित्य मे बैल को अत्यन्त शुभ, भार ढोने मे समर्थ तथा संकट काल मे साहस न तोडने वाला बताया गया है। साथ ही वह अहिसक भी होता है। कालान्तर मे जब हिंसा एव क्रूरता को क्षत्रियो का गुण माना जाने लगा तो उनकी उपमा सिह से दी जाने लगी।

अस्तिकवाद—आस्तिक और नास्तिक शब्द को लेकर अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। मनु-स्मृति मे आया है—

यो न धीत्य द्विजो वेदान्, अन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स शूद्रवत् वहिष्कार्य, नास्तिको वेदनिदक ॥

—मनु स्मृति।

अर्थात जो ब्राह्मण वेदो को विना पढे अ यत्र परिश्रम करता है वह नास्तिक तथा वदनिन्दक है। उसे शूद्र के समान बहिष्कृत कर देना चाहिए। मनु की दष्टि मे जो व्यक्ति वदो म श्रद्धा नही रखता वह नास्तिक है। किन्तु इस दष्टि स मीमासा तथा वेदान्त को छोड कर सभी दशनो को नास्तिक मानना होगा।

पाणिनीय मे आस्तिक और नास्तिक शब्द की व्युत्पत्ति के लिए नीचे लिखा सूत्र दिया है—"अस्ति नास्ति दिष्ट मति"। अर्थात जिस व्यक्ति के मत म परलोक है वह आस्तिक है। जिसके मत मे नही है वह नास्तिक है। और जो दिष्ट अथात भाग्य को मानता है वह दष्टिक है। कठोपनिषद इन शब्दो की व्याख्या मरने के वाद आत्मा के अस्तित्वको लेकर की गई है। जो लोग मत्यु के पश्चात आत्मा का अस्तित्व मानत हैं व आस्तिक हैं और जो नही मानत व नास्तिक हैं।

भगवान महावीर ने अपने आस्तिकवाद को आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ म प्रकट किया है। वहा उन्होन चार बात बताई हैं—

१ आत्मावादी—अथात आत्मा के अस्तित्व का मानने वाला।
२ लोकवादी—विश्व के अस्तित्व का मानने वाला।
३ कमवादी—पुण्पाप शुभाशुभ फल को मानने वाला।
४ क्रियावादी—पुरुषाथ मे विश्वास रखने वाला।

भौगोलिक स्थानों का परिचय

आलभिया (पाली-आलवी, अर्धमागधी-आलभी)

भगवान् महावीर १८ वे वर्षावास के लिए आलभिया आये और चुल्लशतक को श्रावक बनाया। यह नाम जनपद और नगर दोनो के लिए मिलता है। आलभिया नगर आलभिया जनपद की राजधानी थी। इसे श्रावस्ती से ३० योजन तथा बनारस से १२ योजन बताया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वह राजगृह तथा श्रावस्ती के बीच रही होगी। कन्निङ्घम तथा होरनले ने इसकी उत्तरप्रदेश के उनाओ जिले के नावाल अथवा नेवाल नामक स्थान के साथ एकता बताई है। परन्तु नन्द लालडे का मत है कि इटावा से २७ मील उत्तर पूर्व मे स्थित अविवा नामक स्थान ही आलभिया है।

कम्पिल्लपुर—भगवान महावीर ने अपना २१ वा वर्षावास कपिल्लपुर (स-काम्पिल्यपुर) मे किया और कुण्डकौलिक को अपना अनुयानी बनाया। इस स्थान का निर्देश महाभारत बौद्ध साहित्य तथा सस्कृत साहित्य मे अनेक बार आया है। ज्ञात होता है कि उन दिनो यह विशाल नगर और व्यापार का केन्द्र रहा होगा। बौद्धो के कुम्भकारजातक मे इसे उत्तर पञ्चाल की राजधानी और गङ्गा के उत्तरी तट पर बताया गया है। किन्तु महाभारत मे इसे दक्षिण पञ्चाल की राजधानी बताया है। वर्तमान फरूखाबाद जिले मे 'कम्पिल' नाम का गॉव है, कहा जाता है यही प्राचीन कम्पिलपुर था।

चम्पा—भगवान महावीर अपने ३०वे वर्षावास के लिए चम्पा आये और काम-देव को प्रतिबोध दिया।

बिहार के भागलपुर जिले मे चम्पापपुर नाम का गाव है जो गगा के तट पर बसा हुआ है भगवान महावीर के समय वह चम्पा नाम की विशाल नगरी के रूप प्रसिद्ध था। यह नगरी अगदेश की राजधानी थी, कहा जाता है कि वर्तमान भागल-पुर जिला ही उस समय अंगदेश के नाम से प्रसिद्ध था।

पोलासपुर—भगवान महावीर अपने २१ वे वर्षावास के लिए पोलासपुर मे आये और सद्दालपुत्र को अपना अनुयायी बनाया। पाली साहित्य मे इसका नाम पलासपुर मिलता है। पोलासपुर नगर के बाहिर ही 'सहस्राम्रवन' नाम का उद्यान था।

वाणियगाम वाणिज्यग्राम अ० १ सू० ३—भगवान महावीर अपने १५ वें वर्षावास के लिए वाणिज्यग्राम आये और गाथापति आनन्द को श्रावक धर्म में दीक्षित किया। यह चेटक की राजधानी वैशाली का उपनगर था और उसके पास ही बसा हुआ था मुख्यतया व्यापार का केन्द्र था। अब भी इसका नाम बानिया गाँव है और वह बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) के पास बसा हुआ है

वाराणसी—भगवान महावीर ने अपना १९ वाँ वर्षावास वाराणसी में बिताया और चुलनीपिता तथा सुरादेव को श्रावक बनाया। यह नगर गङ्गा के पश्चिमी तट पर बसा हुआ है और अब भी विद्या तथा व्यापार का विशाल केन्द्र है। इसके एक ओर वरणा नदी है और दूसरी ओर 'असि' नाम का बरसाती नाला। इन्हीं दोनों के बीच बसी होने के कारण इसे वाराणसी कहा जाता है। मुसलमान तथा अंग्रेजों के समय नाम को बिगाड़ कर इसे बनारस कहा जाने लगा। स्वतन्त्र भारत में पुनः वाराणसी प्रचलित कर दिया गया। यह २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की जन्म भूमि है। इससे कुछ ही दूर बौद्धों का प्रसिद्ध तीर्थ सारनाथ है जहाँ बुद्ध ने सर्व प्रथम उपदेश दिया था। इसी के आस पास का जंगल बौद्ध साहित्य में मृगदाव के नाम से प्रसिद्ध है। सारनाथ को जैन तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ की जन्मभूमि माना जाता है। उससे पाँच मील दूर चन्द्रावती नाम का स्थान है जो आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जन्म भूमि है। वैदिक साहित्य में वाराणसी का वर्णन काशी के नाम से मिलता है। और उसे दस पवित्र नगरियों में गिना गया है। इस प्रकार वाराणसी का जैन बौद्ध और ब्राह्मण तीनों परम्पराओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन तथा बौद्ध साहित्य में काशी का वर्णन जनपद के रूप में आता है और वाराणसी का उसकी राजधानी के रूप में। काशी के पूर्व में गङ्गा के पूर्वी तट पर मगध की सीमा प्रारम्भ हो जाती है। काशी के उत्तर में विदेह जनपद है और दक्षिण में कोशल। पश्चिम में वत्स जनपद था।

रायगिह (सं० राजगृह) भगवान महावीर ने यहाँ अनेक वर्षावास बिताये थे। यहीं पर २२ वें वर्षावास में महाशतक को श्रावक बनाया। जैन तथा बौद्ध साहित्य में राजगृह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ का राजा श्रेणिक भगवान महावीर का परम भक्त था। बौद्ध साहित्य में इसका नाम बिम्बसार के रूप में मिलता है। इसकी चेलणा आदि रानियाँ तथा मन्त्री अभयकुमार भी महावीर के

परम भक्त थे। बुद्धि वैभव के लिए जैन साहित्य मे अभयकुमार का सर्वोच्च स्थान है। रोहिणा चोर, धन्ना सार्थवाह आदि की कहानियां बड़ी २ सख्या मे राजगृह से सम्बद्ध हैं। श्रेणिक का दूसरा पुत्र कुणिक या अजातशत्रु था। उसने पिता को कैद मे डाल दिया और स्वय गद्दी पर बैठ गया। आस-पास के जनपदो को जीत कर उन्हे मगध साम्राज्य मे मिला लिया।

इस समय इस स्थान का नाम राजगिर है। यह पटना से ७० मील तथा नालन्दा से आठ मील है। चारो ओर पर्वतो से घिरा हुआ है। प्राचीन काल मे यह स्थान अत्यन्त महत्त्व का था तथा विभिन्न व्यापारिक मार्ग यही से होकर जाते थे -

सावत्थी—भगवान् महावीर २३ वे वर्षावास के लिए श्रावस्ती आये और नन्दिनीपिता को श्रावक बनाया, दसवाँ श्रावक सालीहिपिता भी यही का निवासी था। यह नगरी राप्ती (स० इरावती) नदी के तट पर बसी हुई थी। इसका वर्तमान नाम साहेत-महेत है। प्राचीन काल मे यह कोशल की राजधानी थी। और साकेत (वर्तमान अयोध्या) से छ योजन थी। राप्ती का प्राचीन नाम अचिरवती या अजिरवती है। जैन सूत्रो मे इसे इरावती कहा है।

सहस्राम्रवन—प्रस्तुत सूत्र मे सहस्राम्रवन का निर्देश दो स्थानो पर आया है। कुण्डकौलिक अध्ययन मे काम्पिल्यपुर के साथ और सद्दालपुत्र अध्ययन मे पोलासपुर के साथ। पाली साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि सहस्राम्रवन आजीविको का मुख्य केन्द्र था। प्रस्तुत सूत्र मे भी उपरोक्त दोनो श्रावको की मुख्य घटनाये आजीविक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हैं। दोनो के धर्मानुष्ठान का वर्णन भी अशोक-वनिका मे ही है।

ऐतिहासिक नामों का परिचय

गोशाल—उपासकदशाङ्गसूत्र में गोशालक और उसके सिद्धांत का वर्णन दो बार आया है। भगवतीसूत्र के पन्द्रहवें शतक में उसका विस्तृत वर्णन है। गोशालक छद्मस्थ काल में भगवान महावीर का शिष्य रहा और उसके पश्चात् उनका प्रतिस्पर्धी बन गया। वह आजीविक सम्प्रदाय का तीसरा आचार्य माना जाता है। भगवतीसूत्र में आया है कि गोशालक से ११७ वर्ष पहले आजीविक सम्प्रदाय प्रारम्भ हो चुका था।

गोशालक निमित्त शास्त्र का पण्डित था। उसने यह छः दिशाचर संन्यासियों से सीखा था। आजीविक सम्प्रदाय के अन्य साधु भी इसके अभ्यासी थे। आजीविक सम्प्रदाय की दूसरी विशेषता है कठोर तपश्चरण। स्थानाङ्गसूत्र में उनके द्वारा की जाने वाली चार प्रकार की तपस्याओं का उल्लेख है। उववाइसूत्र में आजीविकों की नीचे लिखी श्रेणियाँ बताई गई हैं—

१ प्रत्येक द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ अथवा सप्तम घर से भिक्षा लेने वाले २ केवल कमल नाल की भिक्षा लेने वाले, ३ प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले ४ बिजली चमकने पर भिक्षा छोड़ देने वाले ५ बड़े मटके में बैठ कर तपस्या करने वाले (उष्ट्रिक श्रमण)। आजीविक साधु अकेले रहते थे, ठंडे पानी का उपयोग करते थे। गेहूँ, चने आदि कच्चे अनाज को स्वीकार करते थे और अपने लिए बना हुआ भोजन अर्थात् आधाकर्मी आहार स्वीकार करते थे। स्त्रियों से सम्बन्ध रखते थे और दिगम्बर घूमते थे।

आजीविक सम्प्रदाय के गृहस्थ गोशालक को अर्हत्, जिन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा तीर्थङ्कर कह कर पूजते थे। माता पिता में भक्ति रखते थे। पाँच प्रकार के फलों का परित्याग करते थे। उदुम्बर, वट (बड़ का फल), बोर (मञ्जरी), सतर तथा पिलखु, कन्द मूल, गाजर, प्याज भी नहीं खाते थे। ऐसा व्यापार करते थे जिसमें जीवहिंसा न हो और खस्सी किये बिना ही बैलों को काम में लाते थे। वे भी १५ कर्मादानों द्वारा आजीविकोपार्जन नहीं करते थे। उपासकदशाङ्गसूत्र में सद्दालपुत्र का वर्णन आजीविकोपासक के रूप में आया है। श्रावस्ती और

पोलासपुर आजीविको के मुख्य केन्द्र थे। वहाँ एक आजीविकशाला का भी वर्णन मिलता है।

सद्दालपुत्र के कथानक से ज्ञात होता है कि गोशालक नियतिवादी था अर्थात् वह मानता था कि विश्व का परिवर्तन निश्चित है। पुरुषार्थ या पराक्रम के द्वारा उन मे कोई परिवर्तन नही किया जा सकता। सूत्रकृताङ्ग मे नियतिवाद की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि हमारे सुख दु ख न तो हमारे किए हुए हैं और न किसी दूसरे के। वे सब नियत हैं अर्थात् जो होने हैं हो कर रहेगे।

महावीर और गोशाल का परस्पर सम्बन्ध—भवगती सूत्र मे गोशालक का वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—वह शखवण नाम की वस्ती मे एक ब्राह्मण की गोशाला मे उत्पन्न हुआ था। उसके पिता का नाम मखलि था। मख का अर्थ है परिव्राजक। गोशाल का पिता हाथ मे एक चित्र ले कर घूमा करता था और उसे दिखा कर भिक्षा मागता था। इसीलिए उसका नाम मखलि पड गया।* घूमते हुए वह एक वार शखवण आया और एक ब्राह्मण की गोशाला मे ठहर गया। वही पर उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला मे उत्पन्न होने के कारण उसका नाम गोशाल पड गया। वडा होने पर गोशालक भी परिव्राजक वन गया और भिक्षा वृत्ति करने लगा। एक वार वह राजगृह मे आया और जुलाहे की तन्तुशाला (खड्डी या कपडा वुनने का स्थान) मे ठहर गया। भगवान् महावीर भी उस समय वहाँ ठहरे हुए थे। गोशालक ने महावीर के प्रति होने वाले पूजा सत्कार को देखा और उनका शिष्य वन गया।

एक वार शरत् काल मे जव वृष्टि नही हो रही थी। भगवान् महावीर गोशालक के साथ सिद्धार्थ ग्राम से कूर्म ग्राम की ओर जा रहे थे। मार्ग मे एक पत्र-पुष्पयुक्त तिल का पौधा था। उसको देख कर गोशालक ने पूछा—भगवन्! यह तिल का पौदा फलवान होगा या नही! पौधे पर लगे सात फूलो के जीव मर कर

---

* टिप्पण—संस्कृत मे मखलि का रूपान्तर मसकरी मिलता है। मसकर का अर्थ है—वास का डण्डा। उसे हाथ मे लेकर घूमने वाला परिव्राजक मसकरी कहा गया। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे इसका यही अर्थ वताया है। देखो—

—सू० मसकर, मसकरिणौ वेणुपरिव्राजकयो।

कहा उत्पन्न होगे ? भगवान ने उत्तर दिया—गोशालक ! यह तिल का पौधा फलवान होगा तथा ये सात तिल पुष्प के जीव मर कर इसी पौधे की एक फली में सात तिल होंगे।

वे दोनों कूर्म ग्राम में पहुंचे तो वैशपायन नाम के तपस्वी को देखा। वह ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड सूर्य में आतापना ले रहा था। हाथ ऊंचे उठा रखे थे और सिर पीछे की ओर झुका रखा था। उसका सिर तथा शरीर जुओं से भरा था। उसे देखकर गोशालक को हँसी आ गई। उसने तापस का मजाक उड़ाना शुरू किया। वैशपायन को क्रोध आ गया और उसने गोशालक को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या का प्रयोग किया। किन्तु महावीर ने शीतल लेश्या द्वारा उसे शान्त कर दिया और गोशालक के प्राण बचा लिए। गोशालक के पूछने पर उन्होंने यह भी बताया तेजोलेश्या किस प्रकार प्राप्त की जाती है।

तत्पश्चात वे सिद्धार्थग्राम लौट आए। मार्ग में सरसों के पौधे को देखा। यहीं पर मतभेद हो जाने के कारण गोशालक महावीर से पृथक हो गया। उसने कठोर तपस्या द्वारा तेजोलब्धि प्राप्त की और अपने आप को जिन कहने लगा। क्रमशः वह आजीविक सम्प्रदाय का नेता बन गया। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती था। वहां हालाहला नाम की आजीविकोपासिका रहती थी जो जाति से कुम्हार थी। परिव्राजक जीवन के २४ वें वर्ष में एक बार गोशालक उसके पास आपण में ठहरा हुआ था। छः दिशाचर भी वहां आये। उस समय भगवान महावीर भी श्रावस्ती में ठहरे हुए थे। उन्होंने गोशालक के जीवन का वर्णन किया और कहा कि वह जिन नहीं है। इस पर गोशालक क्रुद्ध हो गया और उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर कहा यदि महावीर मेरे विरुद्ध कुछ कहेंगे तो मैं उन्हें तेजोलेश्या द्वारा भस्म कर दूंगा। आनन्द ने महावीर के पास जाकर सारी बात कही। भगवान ने उत्तर दिया यह सत्य है कि गोशालक के पास तेजोलेश्या है किन्तु वह उसका प्रयोग अरिहन्त पर नहीं कर सकता अरिहन्त की शक्ति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। उन्होंने आनन्द के द्वारा अपने शिष्यों को कहलाया कि वे गोशालक के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क या वार्तालाप न करें।

एक दिन गोशालक अपने शिष्यों के साथ श्रमण भगवान महावीर के पास पहुंचा और उनसे कहने लगा— आपका शिष्य मंखलिपुत्र गोशालक बहुत दिन पहले

मर चुका है। मैं वह नहीं हूँ। मैं तो उदायी कौण्डिन्येय हूँ।" उसने अपने पिछले सात जन्म भी बताये। साथ ही अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया। उत्तर में महावीर ने कहा—"तुम अपने असली रूप को छिपाते हो किन्तु वह मुझसे छिपा नहीं रह सकता।" इस पर गोशालक को क्रोध आ गया और उसने तेजोलेश्या द्वारा महावीर के दो शिष्यों को भस्म कर दिया। गोशालक ने महावीर पर भी उसका प्रयोग किया किन्तु वह निष्फल गई।

महावीर पर प्रयोग की गई तेजोलेश्या निष्फल होने पर स्वयं गोशालक को जलाने लगी। अपने निवास स्थान पर लौट कर वह विक्षिप्त के समान रहने लगा। कभी नाचता, कभी गाता, कभी हालाहला के सामने कुचेष्टाएँ करता और कभी अपने शरीर को कीचड़ मे लीप लेता। अन्त मे जब उसने देखा कि मृत्यु समीप आ गई है तो अपने स्थविरों को बुला कर कहा--महावीर ही सच्चे जिन हैं। तुम लोग उन्ही की उपासना करना। मैं ने जो प्ररूपणा की है वह मिथ्या है। इस बात को सर्वसाधारण को घोषित कर देना।

गोशालक मर कर देवता के रूप मे उत्पन्न हुआ और अन्त मे मोक्ष को प्राप्त करेगा।

जैन और बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि उन दिनों आजीविको का सम्प्रदाय अत्यन्त प्रतिष्ठित था। इसके अनुयायियो की सख्या महावीर से भी अधिक थी। सर्वसाधारण के मानस पर नियतिवाद का काफी प्रभाव था। नन्दी सूत्र मे दृष्टि-वाद के ८८ सूत्रों या प्रवादो का वर्णन है। उनमे से २२ का सम्बन्ध आजीविको के साथ है और २२ का त्रैराशिको के साथ। अभयदेवसूरि के मतानुसार त्रैराशिक गोशालक के अनुयायी थे। अशोक की धर्मलिपि मे आजीविको का तीन बार उल्लेख आया है। उसके पौत्र दशरथ ने नागार्जुनी तथा बारावर की पहाड़ियो मे उनके निवास के लिए गुफाएँ प्रदान की थी। वराहमीहर (५५० ई० प०) ने अपने समय के सात धार्मिक सम्प्रदायो मे इसका भी उल्लेख किया है। निशीथचूर्णि मे ८०० पण्डरभिक्खुओ का वर्णन आया है जिन्हे गोशालक का अनुयायी माना जाता है। शीलाङ्काचार्य (८७६ ई० प०) ने आजीविको और दिगम्बरो की एकता का प्रतिपादन करके दोनो को गोशालक का अनुयायी बताया है। बृहज्जातक के टीकाकार भट्टोत्पल ने उन्हे एकदण्डी बताया है।

चेडग—अ० १ सूत्र ३ (चेटक)—महाराजा चेटक भगवान महावीर स्वामी के मामा और वशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष थे, जिसमें नौ मल्ली और नौ लिच्छवी गणराज्य सम्मिलित थे। उसकी बहन त्रिशला भगवान महावीर की माता थी। चेटक की सात कन्याओं का वणन जन साहित्य म बहुत जगह मिलता है। उनमे से मगावती प्रभावती आदि का स्थान सोलह महा सतियो मे है। व इस प्रकार हैं।

१ प्रभावती—(महासती) वीतभय के राजा उदयन की पत्नी।
२ पद्मावती—(महासती) चम्पा के राजा दधिवाहन की रानी।
३ मगावती—(महासती) कौशाम्बी के राजा शतानीक की पत्नी।
४ शिवा—(महासती) उज्जनी क राजा चण्डप्रद्योत की रानी।
५ जेष्ठा—कुण्ड ग्राम के राजा (महावीर के बडे भाई) न दीवधन की रानी।
६ सुजेष्ठा—इसने विवाह नहीं किया और भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली।
७ चेलना—राजगह के सम्राट श्रेणिक की रानी।

कहा जाता है कि जब अभयकुमार ने दीक्षा ले ली ता श्रणिक ने नन्दा (अभयकुमार की माता) को दवदूष्य भट किया। उसी समय हल तथा विहल नामक छोटे पुत्रा का सेचानक नाम का हाथी और एक बहुमूल्य हार दिया। इन दोना का मूल्य मगध साम्राज्य के बराबर था। जब कूणिक अपने पिता श्रणिक को कद करके सिहासन पर बठा ता उसने इन दाना की माग की। हल और विहल अपने नाना चटक की शरण म चले गये। परिणाम स्वरूप कूणिक और चेटक का भयकर युद्ध हुआ जिसम एक ओर मगध साम्राज्य था और दूसरी ओर वशाली का गण तन्त्र। भगवती सूत्र मे इस लडाई का विस्तत वणन है।

कूणिक—बौद्ध साहित्य मे इसका उल्लेख अजातशत्रु के नाम स मिलता है। यह चेलना का पुत्र था। कहा जाता है जब यह गभ मे आया तो एक दिन चेलना को अपने पति श्रेणिक का मास खाने की इच्छा हुई। चेलना ने समझा कि उसका भावी पुत्र पति के लिए अशुभ है। पदा होते ही उसे नगर क बाहर कचर क ढर पर फिकवा दिया। जब श्रणिक को यह बात ज्ञात हुई तो वह चेलना पर नाराज हुआ और पुत्र को वापिस मँगा लिया। जब वह कचरे पर पडा था, तो उसके

अगूठे को एक कुकुट ने काट डाला जिससे वह टेढा हो गया। इसी कारण बालक का नाम कूणिक पड गया। जब वह बडा हो गया श्रेणिक ने अपने ग्यारह पुत्रो को बुलाया और राज्य को उनमे बाट देने के लिए कहा। कूणिक सारे राज्य पर अकेला अधिकार करना चाहता था। उसने षड्यन्त्र करके पिता को कैद मे डाल दिया और स्वय गद्दी पर बैठ गया। श्रेणिक को भूखा तथा प्यासा रखा जाने लगा और प्रतिदिन १०० कोडे लगाए जाने लगे। चेलना को भी उससे मिलने की अनुमति नही मिली। कुछ दिनो बाद उसने किसी प्रकार अनुमति प्राप्त की और वह अपने बालो मे ऐसी वस्तुएँ छिपा कर ले गई जिस से पति की प्राण रक्षा हो सके।

एक दिन कूणिक कुछ शान्त हो कर माता से बाते कर रहा था। चेलना ने बताया कि किस प्रकार वह बाहिर फैंक दिया गया था और किस प्रकार पिता के कहने पर उसे वापिस लाया गया। उसका अगूठा सूज गया था और पीक भरने के कारण असह्य वेदना हो रही थी। उसी समय पिता ने अगूठे को मुँह मे ले लिया तथा पीक और गन्दे खुन को चूस लिया।

कूणिक को यह सुनकर बडा पश्चात्ताप हुआ और वह तत्काल पिता को मुक्त करने के लिए कारागार मे पहुँचा। श्रेणिक ने समझा कूणिक जेल से निकाल कर मुझे अन्य यातनाएँ देगा। अत उसने तालपुट विष खाकर आत्म हत्या करली।*

जियसत्तू (सं०–जितशत्रु)—प्रस्तुत सूत्र मे राजगृह का राजा श्रेणिक था और शेष ७ नगरो के नाम हैं—

१ वाणिज्य ग्राम। २ चम्पा। ३ वाराणसी। ४ आलभिका। ५ कम्पिलपुर। ६ पोलासपुर। ७ श्रावस्ती।

तत्कालीन इतिहास ग्रन्थों मे जितशत्रु नामक किसी राजा का नाम नही मिलता। श्रेणिक के पुत्र का नाम अजातशत्रु था जो पिता को कैद करके गद्दी पर बैठा था। जैन साहित्य मे उसका वर्णन कूणिक के नाम से आया है। उसने आस-पास के जनपदो को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया था। किन्तु वह जितशत्रु नही हो सकता। क्योकि भगवान महावीर अपने २२ वे वर्षावास के लिए जब राजगृह पहुँचे तो वहां श्रेणिक राजा था और १६ वे वर्षावास में उन्होने वाणिज्यग्राम

---

* निर्यावलीकासूत्र।

पहुँच कर आनन्द का प्रतिबोध दिया। उस समय वहां जितशत्रु का निर्देश आया है इसी प्रकार आलभिका नगरी में व १८ वे वर्षावास में पहुँचे। श्रेणिक के जीवन काल में वहां अजातशत्रु नहीं हो सकता। अतः यही मानना उचित है कि जितशत्रु केवल विशेषण है वह व्यक्तिवाचक नाम नहीं।

पुण्णभद्द चेइए (पूर्णभद्र चैत्य)—चम्पा नगरी के बाहिर पूर्णभद्र चैत्य का निर्देश आया है। यक्ष पूजा भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है। अब भी प्राचीन नगरों के प्रवेश द्वारों पर यक्षायतन या मन्दिर मिलते हैं। जैन मन्दिरों में भी प्रवेश द्वार पर रक्षक के रूप यक्ष एवं यक्षणी की मूर्ति बनाई जाती है। भारतीय संगीत नृत्य चित्र मूर्ति तथा अन्य कलाओं का विकास यक्ष एवं यक्षणियों को लक्ष्य बना कर हुआ है। कालिदास का मेघदूत नामक गीतिकाव्य का नायक एक यक्ष ही है। जहां एक यक्ष तथा यक्षणी के प्रेम का चित्रण किया गया है।

आजकल जो स्थान मनोरंजनगृह (क्लबों) का है प्राचीन समय में वही स्थान यक्षायतनों का था। वहां लोग इकट्ठे होकर संगीत नृत्य, मल्लयुद्ध जादूगरी तथा अन्य प्रकार से मनोरञ्जन करते थे।

यक्ष' शब्द का अर्थ है—देदीप्यमान या चमकती हुई आकृति। केनोपनिषद में इसका यही अर्थ आया है। यह शब्द संस्कृत यज धातु से बना है जिसके तीन अर्थ हैं। (क) देव पूजा (ख) संगतिकरण (ग) और दान। यक्षायतनों के मुख्यतया दो कार्य होते थे—देव पूजा और संगति अर्थात् मेला।

जैन साहित्य में मुख्यतया दो यक्षों का वर्णन मिलता है—मणिभद्र और पूर्णभद्र। उववाइ सूत्र मे पूर्णभद्र के चैत्य का निम्नलिखित वर्णन आया है—

उस पर छत्र बना हुआ था। विशाल घण्टे लटक रहे थे। ध्वजाएं फहरा रही थी और वह मयूर पंखों से सुशोभित था। उसके चारों ओर छज्जे थे। आगन गोबर से लिपा हुआ था। दिवारों पर सफेदी की हुई थी। उस पर रक्त (गोशीर्ष) तथा श्वेत चन्दन द्वारा हाथों की छाप लगी हुई थी। उसके द्वार पर चन्दन कलश वाले तोरण लटक रहे थे। अन्य स्थानों पर भी चन्दनघट सुशोभित थे। आगन में सुगन्धित जल छिड़का जाता था और द्वारों पर पुष्प मालाएँ लटक रही थी। भिन्न भिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्प लगे हुए थे। अभिनेता नर्तक नट पहलवान मुष्टिक योद्धा, नकलची सूत (वीरगाथाएँ गाने वाले) कथावाचक बांस पर

नाचने वाले, चित्र प्रदर्शक, तूर्ती बजाने वाले, मुरली बजाने वाले तथा वीणा आदि बजाने वाले वहाँ सम्मिलित होते रहते थे। बहुत से लोग मन्दिर मे पूजा करने भी आते थे।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि यक्षपूजा मनोरंजन एव लौकिक सुख के लिए साधारण जनता मे प्रचलित थी। इसी दृष्टि से यक्षायतन बनाए जाते थे। आत्म-साधना मे उनका कोई स्थान नही था।

संख–(शङ्ख) अ० २ सू० ११६–श्रावक का वर्णन भगवती सूत्र मे इस प्रकार है श्रावस्ती नगरी मे अनेक श्रमणोपासक रहते थे। वही शख तथा पुष्कली नामक श्रमणोपासक भी थे। शख की पत्नी का नाम उत्पला था। एक बार भगवान महावीर श्रावस्ती आये और शख आदि श्रावक धर्मोपदेश सुनने गए। धर्मकथा के अन्त मे शख ने अपने साथियो से कहा–"आओ हम लोग पौषधशाला मे रह कर धर्म-जागरणा करे। इसके लिए अशन-पान आदि तैयार करालो," शख के साथी भोजन तैयार करने मे लग गए, इधर शख के मन में पौषधोपवास करने का विचार आया और वह ग्यारहवाँ प्रतिपूर्णपौषध अङ्गीकार करके पौषधशाला मे धर्म जागरण करने लगा। साथी भोजन तैयार करके शख को बुलाने गए तो उसने कहा आप लोग इच्छापूर्वक भोजन करके पौषध कीजिए, मैंने तो उपवास कर लिया है। साथियो को शख की यह बात अच्छी नही लगी। दूसरे दिन भगवान महावीर की धर्मकथा के बाद इस बात की चर्चा होने लगी तो भगवान ने कहा कि शख की निन्दा मत करो, वह उच्चकोटि का श्रमणोपासक है और धर्मानुष्ठान मे आगे बढ रहा है।

कल्पसूत्र में भगवान महावीर के श्रावको की सख्या बताते समय शख और महाशतक का प्रमुख रूप उल्लेख है।

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

अवसर्पिणी—विश्व के विषय मे आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि इसमे प्रति-दिन विकास हो रहा है दूसरी ओर वैदिक परम्परा के अनुसार इसमे प्रतिदिन ह्रास हो रहा है। जैन धर्म न विकासवादी है और न ह्रासवादी। वह परिवर्तनवादी है इसका अर्थ है उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान। इसी परिवर्तन को एक कालचक्र के रूप मे उपस्थित किया गया है उसके बारह आरे हैं छ ऊपर से नीचे अर्थात पतन की ओर जा रहे हैं और छ नीचे से ऊपर अर्थात उत्थान की ओर। पतन की ओर जाने वाले आरो का अवसर्पिणी काल तथा उत्थान की ओर जाने वाले आरो का उत्सर्पिणी काल कहा जाता है।

इस समय अवसर्पिणी काल का पञ्चम आरा चल रहा है इसके प्रथम दो आरा तथा तृतीय के प्रारम्भिक तीन चरणो मे भारतवर्ष भोगभूमि था, अर्थात व्यक्ति प्रकृति द्वारा स्वय प्रदत्त सामग्री पर निर्वाह करते थे। आजीविका के लिए पुरुषार्थ या कर्म करने की आवश्यकता नही थी। तृतीय आरे के अन्त मे प्रकृति के वरदान लुप्त हो गए और परस्पर सघर्ष के अवसर आने लगे। उस समय प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव हुए। उन्होने राज्य सस्था की नीव डाली। और आजीविका के लिए आग जलाना बर्तन बनाना खेती करना आदि विद्याओ का आविष्कार किया। उस समय से यह देश भोगभूमि के स्थान पर कर्मभूमि बन गया। उन कर्मों को असि अर्थात सैनिक वृत्ति २ मसी अर्थात विद्यावृत्ति तथा ३ कृषी (कृषि) अर्थात खेती आदि वैश्यवृत्ति के रूप मे विभक्त किया गया। वैदिक परम्परा मे जो स्थान मनु का है वह जैन परम्परा मे ऋषभ देव का है। इसके पश्चात चौथे आरे मे अन्य तईस तीर्थङ्कर हुए। इसके अन्त मे भगवान महावीर जिनका समय ईसवी पूर्व ५९८ माना जाता है। महावीर ३० वर्ष तक गृहस्थ मे रहे उसके पश्चात १२॥ वर्ष साधना मे बिताए और ३२॥ वर्ष तक धर्मोपदेश किया। प्रस्तुत घटना उस समय की है जब उन्हे कैवल्यप्राप्ति हो चुकी थी और गौतम आदि गणधर भी दीक्षित हो चुके थे। अत इसे स्थूल रूप मे ईसवी पूर्व ५८० के लगभग रख सकते हैं।

अमत्त (अमात्य)—सस्कृत व्याकरण मे इस शब्द का अर्थ बताया गया है 'अमा' अर्थात् सहभव अमात्य, अर्थात् वह मन्त्री जो राजा के साथ रहता हो। राजा प्रत्येक कार्य में उसकी सलाह लेता है राजा के अनुचित कार्य की ओर प्रवृत्त होने पर वह उसे रोकता है।

'आवश्यकचूर्णि' मे इस बात का उल्लेख भी आया है कि राजा के कर्तव्यभ्रष्ट होने पर अमात्यपरिषद् ने उसे सिंहासन-च्युत कर दिया। वसन्तपुर में जितशत्रु नाम का राजा था। वह अपनी सुकुमारिका नामक रानी मे अत्यन्त आसक्त रहने लगा और राज्य मे अव्यवस्था फैलने लगी। परिणामस्वरूप अमात्य-परिषद् ने उसे हटाकर राजकुमार को गद्दी पर बैठा दिया। बौद्ध साहित्य के सच्चकिर जातक में भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

अहासुह (यथा सुखं) अ० १ सू० १२—भगवान महावीर के सामने जब कोई व्यक्ति धर्मानुष्ठान मे अग्रसर होने का निश्चय प्रकट करता था तो भगवान कहा करते थे (अहासुह देवाणुप्पिया! मा पडिबन्ध करेह) अर्थात् हे देवानुप्रिय! जैसे तुम्हे सुख हो, देर मत करो। भगवान महावीर की दृष्टि मे धर्माचरण ऊपर से लादी गई आज्ञा या कष्ट नही था। व्यक्ति के मन मे जब अपने आप उत्साह जागृत होता था और वह साधना मे अग्रसर होने के लिए अपनी उमग प्रकट करता तभी भगवान उपरोक्त उत्तर देते थे। उस उत्साह मे तपस्या एव अन्य कठोरताएँ भी सुखद प्रतीत होती थी। साथ में भगवान यह भी कह देते थे कि जब तक उत्साह है, आगे बढते चले जाओ। देर करके उत्साह को ठण्डा मत होने दो। उपरोक्त वाक्य मे भगवान महावीर का प्रेरक सन्देश मिलता है।

अमाघाए (अमाघात)—यह शब्द महाशतक के अध्ययन मे आया है और कहा गया है कि राजगृह मे एक बार अमाघात की घोषणा हुई। इसका अर्थ है—हिसा या प्राणीवध का निषेध। महावीर तथा बुद्ध के समय मगध मे यह प्रथा थी कि पवित्र तिथि या मगलमय अवसर पर राजा की ओर से प्राणी हिसा बन्द करने की आज्ञा हो जाती थी। बौद्ध साहित्य मे भी ऐसी घोषणाओ के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मध्यकाल मे इसी के लिए अमारी शब्द का प्रयोग किया जाता था। राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तो मे, जहाँ सर्व साधारण पर जैन सस्कृति का प्रभाव है, अब तक ऐसी घोषणाएँ होती रही हैं। राष्ट्रीय जीवन मे ऐसी

घोषणाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस दिन को सारी प्रजा पवित्र मानती है और पाप कार्यों से अलग रहती है। परिणामस्वरूप हृदय में पवित्र विचार उठते हैं और सर्वसाधारण का झुकाव धर्म एवं सदाचार की ओर हो जाता है।

आजीविक–(गोशालक के अनुयायी)—सगस्थनीज तथा तत्कालीन अन्य वर्णनों से ज्ञात होता है कि उन दिनों समाज में श्रमणों की बहुत प्रतिष्ठा थी। भगवान महावीर के लिए आया है कि जब चम्पा के नागरिकों ने उनके आगमन का समाचार सुना तो दर्शनार्थ जाने वालों की भीड़ लग गई।

इभ—इभ शब्द का अर्थ है धन सम्पन्न व्यापारी नगर का साहूकार यह वैश्य जाति का होता था। जिसके पास हाथी जितना धन हो वह तीन प्रकार का होता है—जिसके पास मणि मुक्ता मूंगा सोना चांदी द्रव्य हाथी शरीर के प्रमाण हो वह जघन्य इभ है। जिसके पास हीरा और माणिक्य की राशि हाथी के तुल्य हो वह मध्यम इभ है। जिसके पास केवल हीरों की राशि हाथी के समान हो वह उत्कृष्ट इभ होता है।

ईसर–(ईश्वर)—इसका अर्थ है युवराज या राज्य का उत्तराधिकारी। वह राजा का पुत्र भाई या निकटतम सम्बन्धी होता था। सर्वसाधारण पर उसका प्रभाव होता था और वह राज्य संचालन में सक्रिय भाग लेता था। उसके गुणों में बताया गया है कि ७२ कलाओं, सभी शास्त्रों का जानकार होता था। राजनीति तथा धनुर्विद्या में विशेष निपुणता रखता था।

कोडुंबिय–अ० १ सू० १२ (कौटुम्बिक)—इसका अर्थ है परिवार का मुखिया। आनन्द श्रावक को राजा ईश्वर आदि जो प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मान की दृष्टि देखते थे और उसका परामर्श लेते रहते थे। उनमें इसका उल्लेख भी आया है।

कोल्लाक सन्निवेश—सन्निवेश का अर्थ है—पड़ाव। कोल्लाक सन्निवेश का निर्देश आनन्द नामक अध्ययन में आया है। यह वाणिज्य ग्राम (आनन्द का निवास स्थान) से उत्तर पूर्व में है। कहा जाता है कि भगवान महावीर का सर्व प्रथम भिक्षा कोल्लाक में प्राप्त हुई थी। वे उस समय कम्मार (कर्मकार अर्थात लोहारों के गांव से आए थे और कोल्लाक सन्निवेश की ओर विहार कर गये। भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति भी कोल्लाक सन्निवेश में गए थे और आनन्द

श्रावक से मिले थे। यहाँ आनन्द के जाति-बन्धु रहते थे। यही पर उसने उपाश्रय मे रह कर ग्यारह प्रतिमाएँ अङ्गीकार की और सलेखना द्वारा शरीर का त्याग किया। विहार के मुजफरपुर जिले मे बसार नाम का गॉव है जो प्राचीन वैशाली के खण्डरो पर बसा हुआ है। उस से मील उत्तर-पश्चिम की ओर कोलुआ नाम का गॉव है। कहा जाता है इसी का प्राचीन नाम कोल्लाक सन्निवेश था।

गाहावई–गृहपति या गाथापति अ० १ सू० २—जैन तथा बौद्ध साहित्य मे नगर या राज्य के प्रधान पुरुषो मे गाथापति का भी उल्लेख मिलता है उसे चक्रवर्ती का एक रत्न माना जाता है। सेना के लिए खाद्य सामग्री उपलब्ध करना उसका कार्य है। शान्ति के समय उसका सम्बन्ध राजकीय कोष्ठागार के साथ रहता है अर्थात् राजा के लिए अन्न आदि की व्यवस्था करना उसका कार्य होता है। किन्तु बौद्ध तथा जैन कथा-साहित्य मे उसका वर्णन अनेक चमत्कारिक घटनाओं के साथ मिलता है। यहाँ उनका उल्लेख आवश्यक नही जान पडता। उपासक-दशाङ्ग मे आनन्द आदि कई श्रावको के साथ यह विशेषण है।

घरसमुदाण–गृहसमुदान–अ० १ सू० ७७—जैन मुनि के लिए यह विधान है कि भिक्षा के लिए घूमते समय घरो मे किसी प्रकार का भेद-भाव न करे। सम्पन्न घरो मे अच्छी भिक्षा मिलेगी और दूसरो मे न्यून कोटि की, इस विचार से घरो को चुन कर भिक्षा-वृत्ति न करे। इस बात को लक्ष्य मे रख कर भिक्षा-वृत्ति के लिए कुछ चर्याएँ बताई गई हैं। उदाहरण के रूप मे साधु पहले से ही यह निश्चय कर के चलता है कि आज मै गली मे भिक्षा के लिए घूमते समय सर्व प्रथम एक ओर के पहले घर मे जाऊँगा फिर दूसरी ओर के दूसरे मे, फिर पहली ओर के तीसरे मे। इस प्रकार घूमते हुए आवश्यक आहार प्राप्त हो जाने पर वापिस लौट आऊँगा। इस वृत्ति को गोमुत्रिका कहा गया है अर्थात् जहाँ चलते हुए बैल के मूत्र के समान एक बार इधर और एक बार उधर जाना होता है। गृह-समुदान चर्या में एक ओर के प्रत्येक घर से भिक्षा ली जाती है। बीच में किसी को नही छोडा जाता।

चुल्लहिमवंत—जैन भूगोल के अनुसार पृथ्वी के मध्य मे जम्बूद्वीप है जो लवण-समुद्र से घिरा हुआ है। जम्बूद्वीप के बीच मेरु पर्वत है। उसके दक्षिण तथा उत्तर मे सात-सात वर्ष या देश हैं। इनका विभाजन वर्षधर पर्वत करता हैं। चुल्ल-

हिमवान का अर्थ है छोटा हिमालय। यह भरत क्षेत्र या भारतवर्ष के उत्तर मे है।

चेइअ—इसका संस्कृत रूप चैत्य है। वैदिक काल मे "इष्टक चितम" शब्द का प्रयोग मिलता है इसका अर्थ है 'ईंटो से बना हुआ चबूतरा' जो यज्ञ की वेदी के रूप मे बनाया जाता था। यहा चित शब्द चिन्न चयने धातु से बना है जिसका अर्थ है चिना हुआ। चिता शब्द भी इसी धातु से बना है। चिता के ऊपर निर्मित स्तूप या छतरी आदि को चैत्य कहा गया है। प्राचीन प्रथा के अनुसार ऐसे स्थानो पर किसी यक्ष की मूर्ति भी स्थापित कर दी जाती थी और नगर के समृद्ध व्यक्ति उसके चारो ओर उद्यान बना देते थे। इन सबको प्राचीन साहित्य मे चैत्य कहा गया है। संस्कृत मे चिती संज्ञाने धातु भी है। इस से चित्त या चित शब्द बनता है। चित का अर्थ है शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा और चित्त का अर्थ है मन या बुद्धि। चित से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व को भी चैत्य कहा जा सकता है अर्थात आत्मा के अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य को भी चैत्य कहा जा सकता है।

तलवर—तल शब्द का अर्थ है खडग मुष्टि अर्थात तलवार की मूठ। तलवार का अर्थ है राजा का अङ्ग रक्षक। संभवतया तलवर शब्द इसी से बिगडकर बना हो। प्रारम्भ मे इसका अर्थ था वह चिन्ह जिसे प्रतिष्ठा के रूप मे राज दरबारी धारण किया करते थे। बाद मे यही खड्ग के अर्थ मे रूढ होगया। अब भी पजाब मे क्षत्रियो की तलवार नामक जाति है। प्रतीत होता है उनके पूर्वजो को यह उपाधि राज दरबार मे सम्मान के रूप मे प्राप्त हुई थी किन्तु बाद मे जाति वाचक बन गई। दीवान आदि जातियाँ इसी तथ्य को सिद्ध करती हैं।

दुविहं तिविहेणं—इसका अर्थ है दो करण तीन योग। जैन धर्म मे त्याग का जितना सूक्ष्म विवेचन है उतना अन्यत्र नही मिलता। श्रावक तथा साधु दोनो के लिए अनेक प्रकार के व्रत, नियम एव त्यागो का विधान है। और उनकी बहुत सी कोटियाँ हैं। उदाहरण के रूप मे एक व्यक्ति यह नियम करता है कि वह अमुक कार्य स्वयं नही करेगा किन्तु दूसरे से कराने की छूट रखता है। इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति यदि उस अपनी इच्छा से करता है तो वह उसकी निन्दा नही करता प्रत्युत अनुमोदन कर सकता है। इस दृष्टि से जैन शास्त्रो मे त्याग के ४९ भेद बताये

गए हैं। करना, कराना और अनुमोदन करना ये तीन करण कहे जाते हैं और मन, वचन तथा काया को योग कहा जाता है। इन्ही के परस्पर मेल से उपरोक्त भेद हो जाते हैं। हीनतम कोटि का त्याग एक करण एक योग से है अर्थात् अपने हाथ से न करना। सर्वोत्कृष्ट कोटि का त्याग तीन करण तीन योग से होता है अर्थात् मन, वचन और काया से न स्वय करना, न दूसरे से कराना और न करने वाले का अनुमोदन करना।

धम्म-पण्णत्ती (धर्म-प्रज्ञप्ति)—भारतीय सम्प्रदायो मे धार्मिक अनुष्ठान के लिए शास्त्राज्ञा, देशना, प्रज्ञप्ति आदि अनेक शब्द मिलते हैं। वे तत्-तत् सम्प्रदाय के मूल दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं। वैदिक परम्परा मे आदेश या आज्ञा शब्द मिलता है। वहा वेद की आज्ञा को ही धर्म माना गया है। मनुष्य को उसके सम्बन्ध मे विचार करने या ननुनच करने का अधिकार नहीं है। बौद्धो मे बुद्ध देशना शब्द मिलता है। देशना का अर्थ है मार्ग-दर्शन, बुद्ध का मुख्य लक्ष्य जीवन के मार्ग का प्रतिपादन करना था। वे तत्त्व चर्चा मे नही गए। भगवान महावीर के लिए प्रज्ञप्ति शब्द मिलता है। इसका अर्थ है अच्छी तरह सम्यक् रूप से ज्ञान कराना। भगवान महावीर का लक्ष्य यह था कि व्यक्ति को सत्य का ज्ञान करा देना चाहिए। उसे बता देना चाहिए कि हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, यथार्थ सुख कहाँ है और उसे प्राप्त कराने वाला मार्ग कौन सा है? इसके पश्चात् मार्ग को चुनना और उस पर चलना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर है। प्रज्ञप्ति शब्द का यही अर्थ है। इसी अर्थ को लक्ष्य मे रखकर शामाचार्य ने पण्णवणा (प्रज्ञापना) सूत्र की रचना की है।

निग्गंथं पावयणं—नैर्ग्रन्थ प्रवचन अ० १ सू० १२।

पत्तियामि (प्रत्येमि) अ० १ सू० १२।

रोएमि (रोचे) अ० १ सू० १२।

जब कोइ नया व्यक्ति भगवान महावीर का उपदेश सुनकर उनका अनुयायी बनना चाहता है तो वह उपरोक्त शब्दो मे अपनी इच्छा प्रकट करता है। वह कहता है—हे भगवन्! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन रुचता है अर्थात् अच्छा लगता है। उसे सुन कर मेरे मन मे प्रसन्नता होती है। पातञ्जल योग दर्शन की व्याख्या मे व्यास ने इस प्रसन्नता को श्रद्धा कहा है (श्रद्धा मनस सम्प्रसाद यो० सू० १-२०)।

इस वाक्य का दूसरा पद है पत्तियामि। इसका अर्थ है प्रत्यय अर्थात विश्वास करता हू। श्रद्धा दृढ होने पर अपने आप विश्वास के रूप परिणित हो जाती है।

तीसरा पद है निग्रंथ। इसका अर्थ है जो ग्रंथ (गाठ) अर्थात परिग्रह को त्याग चुका है। यह शब्द जैन परम्परा के श्रमणो के लिए प्रयुक्त होता है। विशेषतया भगवान महावीर के लिए।

चौथा पद है प्रवचन। इसका अर्थ है उत्तम वाणी। वैदिक परम्परा म इसके स्थान पर अनुशासन शब्द मिलता है। उसका अर्थ है परम्परा प्राप्त आज्ञा। जैन धर्म उक्त परम्परा का अधिक महत्व नही देता। वह अपने नए अनुभव के साथ नई परम्परा का जन्म देता है। तीर्थंकर अपने युग म इसीलिए नए तीर्थ की स्थापना करते हैं। प्रवचन का अर्थ है वह शब्द जो अपने आप म प्रमाण है। जिसके सत्य असत्य का निर्णय किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर नही किया जाता। इसके लिए वक्ता मे दो बात होनी आवश्यक है—

१ वह वीतराग हो अर्थात कोई बात रागद्वेष या स्वार्थ से प्रेरित होकर न कहे।

२ वह सर्वज्ञ हो अर्थात प्रत्येक बात को पूरी तरह जानता हो जिससे भूल या गलती की शङ्का न रहे।

भगवान महावीर म यह दोनो बातें थी। इसीलिए उनकी वाणी को प्रवचन कहा गया है।

पल्योपम—एक योजन लम्बे एक योजन चौडे और एक योजन गहरे गोलाकार बाल खडो से भरे कूप की उपमा से जो काल गिना जाए उसे पल्योपम कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं—

१ उद्धार पल्योपम २ अद्धा पल्योपम ३ क्षेत्र पल्योपम।

चारो गतियो के जीवो की आयु की गणना सूक्ष्म अद्धा पल्योपम से की जाती है। इसका विशेष विवरण अनुयोगद्वार सूत्र म है।

पव्वइत्तए—प्रव्रजितुम अ० १ सू० १२—जैन साहित्य म पव्वज्जा (प्रव्रज्या) का अर्थ है—घर बार तथा कुटुम्ब छोड कर मुनिव्रत अङ्गीकार करना। यह शब्द व्रज धातु से बना है जिसका अर्थ है चले जाना प्र उपसर्ग सदा के लिए अर्थ प्रकट करता है। वैदिक परम्परा का परिव्राजक शब्द भी इसी धातु से बना है किन्तु वहा

परि उपसर्ग है जिसका अर्थ है चारो ओर इधर उधर चारो दिशाओ मे घूमने वाले सन्यासी को परिव्राजक कहा जाता है। प्रव्रज्या की तुलना मे वैदिक परम्परा का सन्यास शब्द है। यह शब्द असुङ्-क्षेपणे (दिवादिगण) धातु से बना है। इसका अर्थ है फेंकना। जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन के समस्त उत्तरदायित्व को तथा उसके लिए आवश्यक कार्यों को छोड कर चला जाता है वह सन्यासी कहा जाता है।

परियण--परिजन अ० १ सू० ८--परिवार के व्यक्तियो के लिए उन दिनो दो शब्दो का प्रयोग होता था स्वजन और परिजन। पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि कुटुम्ब के व्यक्ति स्वजन कहे जाते थे और नौकर-चाकर आदि परिजन।

प्राणातिपात--जैन धर्म मे प्राणो की संख्या १० है पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, अर्थात् मन, वचन और काया, श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य। इनमे से किसी का नाश करना, कष्ट पहुँचाना या प्रतिबन्ध लगाना हिसा है। उदाहरण के रूप मे यदि हम किसी के स्वतन्त्र चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाते हैं तो यह मनोरूप प्राण की हिसा है। यदि उसे बोलने से रोकते हैं तो यह वचन रूप प्राणो की हिसा है। यदि स्वतन्त्र विचार अथवा हलचल से रोकते हैं तो यह काया रूप प्राण की हिसा है। इसी प्रकार सुनने, देखने, सूघने, स्वाद लेने अथवा स्पर्श करने से रोकना तत्तत् प्राणो की हिसा है।

पासंड (पाषण्ड) अ० १ सू० ४४--इस शब्द का आधुनिक रूप पाखण्ड है जिसका अर्थ हैं ढौग। पाखण्डी-ढौगी को कहा जाता है। परन्तु प्राचीन समय मे यह अर्थ नही था। उस समय इसका अर्थ था धार्मिक सम्प्रदाय या पन्थ। अशोक की धर्मलिपियो मे भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है। इसीलिए सम्यक्त्व व्रत के अतिचारो मे पासड शब्द से पहले 'पर' शब्द लगा हुआ है। इसका अर्थ है दूसरे धर्म वाले की प्रशसा करना या उसके साथ परिचय बढाना श्रावक के लिए वर्जित है।

पोसहोवास अ० १ सू० १६--यह शब्द पौषध और उपवास (पौपधोपवास) दो शब्दो से बना है। पौषध शब्द सस्कृत के उपवास का रूपान्तर है। इसका अर्थ है धर्माचार्य के पास निवास करना। जब आठ पहर के लिए उपवासपूर्वक घर से अलग हो कर धर्माचार्य के पास या धर्म स्थान में रहा जाता है तो उसे पौपधोपवास कहते हैं। यह श्रावक का ग्यारहवाँ व्रत है और आत्म शुद्धि के लिए किया जाता

है। जन परम्परा मे अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियो पर इसे करने की प्रथा है। पर्यूषण अर्थात सांवत्सरिक पर्व के दिन तो प्राय सभी वयस्क जन इसकी आराधना करते हैं।

माडबिय अ० १ सू० १२—मडब का अर्थ है १८ हजार गावो का समूह इसके मुखिया या अध्यक्ष को माडम्बिक कहा जाता था। जो स्थान आजकल जिलाधीश या Deputy Commissioner का है वही उन दिनो माडविक का था।

राजा—उपासकदशाङ्ग मे राजा शब्द का उल्लेख दो रूपो मे आया है। पहले रूप मे यह जितशत्रु श्रेणिक तथा कूणिक के साथ आया है जहा इसका अर्थ है सम्राट या राज्य का सर्वोच्च सत्ताधीश। बुद्ध के समय मगध साम्राज्य के साथ वैशाली का गणतन्त्रीय शासन भी विद्यमान था। वहा सर्वोच्च सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ मे नही थी। उसमे अनेक गण सम्मिलित थे। प्रत्येक गण से एक व्यक्ति प्रतिनिधि के रूप मे निर्वाचित होकर आता था और वह राजा कहा जाता था। भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ ऐसे ही राजा थे। आनन्द श्रावक के वर्णन मे आया है कि वह अनेक राजाओ ईश्वरो तलवरो माण्डविको आदि मे प्रतिष्ठित था। वहा राजा शब्द का अर्थ इसी प्रकार चुने हुए प्रतिनिधि हैं। इनकी सख्या घटती बढ़ती रहती थी। उन्हे राजा गणराजा या सघमुख्य कहा जाता था।

वण्णओ—सूत्रो मे स्थान स्थान पर वण्णओ शब्द आया है। इसका अर्थ है अन्यत्र सूत्र मे वर्णित। प्राचीन परम्परा मे धर्मोपदेश करते समय इन स्थानो पर राजा नगरी चैत्य आदि के वर्णन की प्रथा थी। पचम शताब्दी मे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय जब आगमो को लिपिबद्ध किया गया तो एक ही सरीखे वर्णन को पुन पुन लिखने के स्थान पर केवल सकेत करके छोड दिया गया। इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि इस प्रकार के वर्णन केवल अर्थवाद थे और धर्मोपदेश को रोचक बनाने के लिए किये जाते थे। उन्हे ऐतिहासिक महत्त्व नही दिया जा सकता। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के सकेतो के आधार पर आगमो के पौर्वापर्य का निर्णय नही करना चाहिए क्योकि यह सकेत लिपिकाल से सम्बन्ध रखते हैं रचना काल से नही।

वड्ढावए-वर्धापक (अ० १ सू० ५)।

सव्व कज्ज वड्ढावए (सर्व कार्य वर्धापकः)।

यह आनन्द श्रावक के विशेषण के रूप मे आया है। इसका अर्थ है सब कार्यो को वढाने वाला। यह विशेषण श्रावक के महत्त्व को प्रकट करता है, इससे प्रकट होता है कि श्रावक प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य मे प्रोत्साहन देता है, उसे आगे वढाता है और इस प्रकार समाज की उन्नति मे सहायक वनता है।

समोसरिए-समवसृत अ० १ सू० २—प्राचीन साहित्य में धार्मिक तथा अन्य प्रकार की सभाओ के लिए समवसरण, सङ्गीति, सङ्गत, सस्था, समिति, परिषद्, उपनिषद् आदि अनेक शव्द आये हैं। वे सव स्थूल रूप मे एकार्थक होने पर भी सूक्ष्म भेद प्रकट करते हैं जो प्रत्येक परम्परा की विभिन्न दृष्टियो के सूचक है। इन शव्दो मे सम् उपसर्ग प्राय सर्वत्र है। यह समूह या एकत्रित होने का बोधक है।

१ **समवसरण**—यह शव्द 'सृ' धातु से वना है जिसका अर्थ है घूमना या किसी लक्ष्य को सामने रखे बिना चलते रहना। इसके पहले लगा हुआ 'अव' उपसर्ग 'नीचे की ओर' का द्योतक है। जिस प्रकार पानी बिना किसी लक्ष्य को सामने रखे नीचे की ओर वहने लगता है उसी प्रकार भगवान् सर्वसाधारण को उपदेश देने के लिए स्थान विशेष को लक्ष्य में न रख कर घूमते रहते हैं। इस प्रकार घूमते हुए जहाँ वे अटक जाते हैं और उपदेश देने लगते हैं उसी का नाम समवसरण है। तीर्थकरो के समवसरण मे सव जातियो के स्त्री पुरुष ही नही देवता और पशु भी उपदेश श्रवण के लिए उपस्थित होते हैं।

२. **सङ्गीति**—शव्द वौद्ध परम्परा मे प्रचलित है। इसका अर्थ है इकट्ठे होकर गाना। वौद्ध भिक्षुओ ने इकट्ठे होकर त्रिपिटको का पाठ किया उसी को सङ्गीति कहा गया।

३ **सङ्गत**—वैदिक परम्परा मे, साधु-सन्यासियो या परिव्राजको का इकट्ठा होना सङ्गत कहा जाता है। इसका अर्थ है एक साथ मिलकर चलना। इसी का समानार्थक सङ्गम शव्द है जिसका अर्थ है नदियो का मिल कर वहना।

४. **संस्था**—इसका अर्थ है मिलकर वैठना। यह शव्द उपनिषदो मे मिलता है, जहाँ ऋषि-मुनि एक साथ वैठ कर आत्म-चर्चा करते हैं।

५ **समिति**—यह शव्द 'इ' धातु से वना है जिसका अर्थ है 'चलना', समीति का अर्थ है एक साथ मिल कर प्रगति करना।

६ परिषद—इसका अर्थ है 'चारों ओर बैठना'। जहाँ गुरु या राजा केन्द्र एक व्यक्ति केन्द्र में बैठता है और दूसरे सभासद उसे रूप में घेरे रहते हैं उसे परिषद् कहा जाता है। 'सम' उपसर्ग से बने हुए उपरोक्त शब्दों में किसी एक की प्रधानता का द्योतन है। वहाँ सब मिलकर चर्चा करते हैं किन्तु परिषद में एक बोलता है और दूसरे सुनते हैं।

७ उपनिषद—इसका अर्थ है पास में बैठना गुरु शिष्य को पास में बैठाकर रहस्य के रूप में जो उपदेश देता है उसी का नाम 'उपनिषद' है।

"समणे" (अ० १ सू० २)—आगम साहित्य में जहाँ भगवान महावीर का नाम आया है उसके साथ 'समणे निग्गंथे' विशेषण भी मिलता है साधारणतया इसका संस्कृत रूपान्तर श्रमण तथा अर्थ मुनि या साधु किया जाता है। उत्तराध्ययन में 'समयाए समणो होइ' पाठ आया है। इसका अर्थ है 'श्रमण समता से होता है। श्रमण शब्द भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण धारा का प्रतीक है जिसका ब्राह्मण धारा के साथ संघर्ष रहा है। हेमचन्द्र ने श्रमण और ब्राह्मण के परस्पर विरोध को शाश्वत वैर के रूप में प्रकट किया है। श्रमण परम्परा के मुख्य तीन तत्त्व हैं—

१ श्रम—व्यक्ति अपने ही परिश्रम एवं तपस्या द्वारा ऊँचा उठ सकता है। इसके विपरीत ब्राह्मण परम्परा में यज्ञ का अनुष्ठान पुरोहित करता है बलिदान पशु का होता है और फल यजमान को मिलता है।

२ सम—समस्त प्राणियों में मौलिक समानता है। प्रत्येक प्राणी साधना द्वारा उच्चतम पद को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्राणी को सुख अच्छा लगता है और दुःख बुरा। आचाराङ्ग सूत्र में भगवान महावीर कहते हैं कि जब तुम किसी को मारने या कष्ट देने की इच्छा करते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचो। परस्पर व्यवहार में समता का ही दूसरा नाम अहिंसा है जो कि जैन आचार शास्त्र का मूल है। विचार में समता का अर्थ स्याद्वाद है। इसका अर्थ है हम अपने विचारों को जितना महत्त्व देते हैं उतना ही दूसरे के विचारों को भी दें। केवल दूसरे के होने के कारण उन्हें बुरा न मानें और केवल अपने होने के कारण उन्हें अच्छा न मानें।

३. शम—इसका अर्थ है क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो तथा इन्द्रिय लालसाओ का शमन। श्रमण परम्परा का यह विश्वास है कि कषायो एव भोग-लालसाओ का शमन ही कल्याण का मार्ग है। समणे के साथ जो निग्गथे (निर्ग्रन्थ) विशेषण आया है उससे यह सिद्ध करना है कि निर्ग्रन्थ श्रमणो का एक भेद था।

"सुहम्मा–सुधर्मन्"—भगवान महावीर के ग्यारह गणधर अर्थात् प्रधान शिष्य थे। उनमे सुधर्मा स्वामी पाँचवे हैं। सभी गणधर अपने पूर्व जीवन मे कर्मकाण्डी श्रोत्रीय ब्राह्मण थे। भगवान महावीर के पास शास्त्रार्थ के लिए आये और अपनी शकाओ का उचित समाधान प्राप्त करके उनके शिष्य हो गए। सुधर्मा स्वामी को यह शका थी कि प्रत्येक जीव जिस योनि मे है मरकर भी उसी योनि को प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने बताया कि ऐसा नही है। जीव अपने भले बुरे कर्मो के अनुसार, नई-नई योनियो को प्राप्त करता रहता है।

सेट्ठि–(श्रेष्ठिन्)—इस शब्द का रूप सेठ या सेट्ठी है और आज भी इसका वही अर्थ है जो उन दिनो मे था। उस समय विविध प्रकार के व्यापारियो एव शिल्पियों के १८ गण माने जाते थे। सेट्ठि उन सबका मुखिया होता था और प्रत्येक कार्य मे उनकी सहायता करता था। आजकल वाणिज्य सघ (Chamber of Commerce) के अध्यक्ष का जो स्थान है वही स्थान उन दिनो सेट्ठी का था। 'सेट्ठि' शब्द का निर्देश राज्य मान्य व्यक्ति के रूप मे भी मिलता है जो अपने मस्तक पर सुवर्णपट धारण किया करता था। सस्कृत व्याकरण के अनुसार श्रेष्ठ शब्द का अर्थ है—प्रशस्ततम या सर्वोत्तम, तदनुसार श्रेष्ठि का अर्थ है वह व्यक्ति जो सर्वोत्तम पद पर प्रतिष्ठित है।

हिरण्णकोडीओ—वैदिक साहित्य को देखने पर पता चलता है कि उन दिनो धन-सम्पत्ति का परिमाण गाय, या पशुओ की सख्या मे होता था। लेन-देन तथा वाणिज्य का आधार भी वही था छान्दोग्य उपनिषद् मे राजा जनक ब्रह्म-विद्या सम्बन्धि शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करने वाले ऋषियो के लिए सौ गौएँ देने की घोषणा करता है। कठोपनिषद् मे आता है कि वाजश्रवा नाम ऋषि ने स्वर्ग प्राप्त करने के लिए सर्वस्व-दक्षिणा यज्ञ किया। यज्ञ के अन्त मे ब्राह्मणो को दक्षिणा के

रूप म जो गौए प्राप्त हुई वे बूढी तथा मरणासन्न थी। किन्तु प्रस्तुत सूत्र म पता चलता है कि उस समय गाय के स्थान पर सिक्को का प्रयोग होने लगा था।

हिरण्य सुवण—प्रधान सिक्का हिरण्य या सुवण कहलाता था। यह ३२ रत्ती सोने का होता था। अनेक स्थानो पर सुवण और हिरण्य शब्दो का एक साथ उल्लेख है और अनेक स्थानो पर वे अलग अलग हैं। भण्डारकर का कथन है कि जहा सुवण शब्द हिरण्य के साथ आता है वहा उसका अथ सुवण न होकर एक प्रकार का सिक्का है जिसका वजन ७ माशे ३२ रत्ती होता है था।

२ सुवण माष—(Ancient Indiao Numismtics P 51) इससे छोटा सिक्का सुवण माष होता है। यह भी माने का हुआ करता था इसका उल्लेख उत्तराध्ययन म आया है।

३ कार्षापण—(प्रा० काहावण)—तीसरे प्रकार का सिक्का कार्षापण या काहावण कहा जाता था। बिम्बसार के समय राजगह म इसका प्रचलन था। बुद्ध ने भी जहा रुपये पसे की बात आई है कार्षापण उल्लेख किया है। यह तीन प्रकार का होता है —(१) सोने का बना हुआ (२) चादी का बना हुआ, और ( ) ताम्बे का बना हुआ। यह चोकोण होता था और वजन लगभग १८ रत्ती होता था (Rhys Davids—'Buddhist India) उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २० गाथा ४२) मे कूटकार्षापण का उल्लेख आया है। इससे ज्ञात होता है कि उन दिनो खोटा सिक्का भी प्रचलित था।

४ माषक—(मास)—आजकल इसे मासा कहा जाता है।

५ अधमाषक—(अधमास)—आधा मासा।

माषक का उल्लेख सूत्रकृताङ्ग (द्वितीय अध्ययन) तथा उत्तराध्ययन (अ० ८ गाथा १७) म आया है। जातको मे (I पृ० १२०, III पृ० ४४८) माषक तथा अधमाषक दोनो का उल्लेख मिलता है। खुद्दकपाठ की टीका परमत्थजोतिका मे (I पृ० ३७) लोहमाषक ताम्रमाषक तथा जतुमाषक का भी उल्लेख है।

६ रुवग—(रूप्यक)—आजकल इसे रुपया कहा जाता है। आवश्यकचूर्णि म कूट रूप्यक अर्थात खोटे रुपये का भी उल्लेख है।

७ पणिक—(स० पणिक)—संस्कृत म पण्य शब्द का अथ है बाजार म बिकने वाली वस्तुएँ। इसी आधार पर दुकान को आपण कहा जाता है। इसका उल्लेख

व्यवहार भाष्य (३ तथा ७-८) मे आया है। कात्यायन के मतानुसार मासे को भी पण कहा जाता था और इसका वजन कार्पापण का २० वॉं भाग होता था।

८. पायङ्कक—यह भी पण के ही समान है। इसका उल्लेख हरिभद्रीय आवश्यक मे आया है। बृहत्कल्प भाष्य तथा उसकी टीकाओ में भी कई प्रकार के सिक्को का उल्लेख है।

९. कवड्डग-(कपर्दक)—हिन्दी मे इसे कौडी कहा जाता है। यह समुद्री जीव का शरीर होता है। सिक्के के रूप मे इसका प्रचलन अनेक स्थानो पर अब भी विद्यमान है

१०. काकिणि—यह ताम्बे का सबसे छोटा सिक्का होता था और दक्षिणापथ मे प्रचलित था। इसका उल्लेख उत्तराध्ययन टी० (अध्ययन ७ गाथा ११) मे आया है। इसका वजन ताम्बे के कार्पापण का चतुर्थांश होता था।

११. द्रम—यह चान्दी का सिक्का था और भिल्लमाल मे प्रचलित था। निशीथचूर्णि मे इसका दूसरा रूप चम्मलातो दिया हुआ है। अर्थात् यह चर्म का भी बनता था। मलधारी हेमचन्द्र कृत भवभावना मे भी चमडे के सिक्के का उल्लेख आया है। वहाँ बताया गया है कि यह सिक्का नन्द-साम्राज्य मे प्रचलित था। द्रम शब्द ग्रीक भाषा के द्रच्म शब्द से बना है। ई० पू० २०० से लेकर ई० पश्चात् २०० तक उत्तर पश्चिमी भारत मे ग्रीस निवासियो का राज्य था।

१२. दीनार—यह सोने का होता था और पूर्व मे प्रचलित था। यह सिक्का रोम निवासियो से लिया गया है। भारत मे इसका प्रचार प्रथम ई० मे कुशान मे हुआ।

१३. केवडिग—यह भी सोने का होता था और पूर्व मे प्रचलित था।

१४ सामरक—यह चान्दी का होता था और उत्तरापथ मे अठन्नी के बराबर था। उत्तरापथ के दो सिक्के पाटलीपुत्र के एक सिक्के के बराबर होते थे। दक्षिणापथ के दो रुपये कॉंची के एक नेला के समान होते थे। कॉंची के दो सिक्के कुसुम नगर अर्थात् पाटलिपुत्र के एक सिक्के के समान होते थे।

सत्थवाह-सार्थवाह (अ० १ सू० ५)।

उन दिनो यात्रा इतनी सरल नही थी जितनी आजकल है। मार्ग ऊबड खाबड थे बीच मे कही नदियाँ, कही पर्वत और कही भयकर वन आ जाते थे। जगली पशुओ और डाकुओ का भय बना रहता था। अत विकट मार्गों को पार करने के लिए व्यापारी इकट्ठे होकर चलते थे। उनके इस काफिले को सार्थ कहा जाता था और उसके सचालक को सार्थवाह। सार्थवाह प्राय राज्य का उच्चाधिकारी या राजमान्य सामन्त होता था। शस्त्रविद्या तथा शासन व्यवस्था का पर्याप्त अनुभव रखता था। यात्रा से पहले वह नगर मे घोषणा कर देता था कि अमुक तिथि को अमुक नगर के लिए सार्थ प्रस्थान करेगा। मार्ग मे भोजन पानी, वस्त्र निवास औषध तथा सुरक्षा की निशुल्क व्यवस्था की जायेगी। इतना ही नही व्यापार प्रारम्भ करने के लिए आर्थिक सहायता भी की जायेगी। घोषणा के उत्तर में सैकडो व्यापारी बैलगाडियो या बैलो पर अपना अपना सौदा लाद कर विदेशो मे व्यापार के लिए चल पडते थे।

सार्थवाह का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा आदर प्राप्त था। वह पथ प्रदर्शक सकटो का निवारक तथा लक्ष्य प्राप्ति मे परम सहायक माना जाता था। उसी की उपमा पर भगवान महावीर को महासार्थक कहा गया है जो चतुर्विध-सङ्घ रूपी सार्थ को ससार रूपी भयङ्कर वन से पार ले जाते है और सकटो से बचाते हुए मोक्ष रूपी नगर मे पहुचाते हैं।